लेखक एव सकलनकर्ता—
वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु० बृह०, साहित्य रत्न, एम.ए
अधीक्षक–श्री उमाशङ्कर आयुर्वेद भवन,
सरदारशहर (राजस्थान)





मूल्य —
साधारण सस्करण —२० रुपये (पोस्ट व्यय सहित)
ग्लेज कागज पर छपा—२० रुपये (पोस्ट व्यय अतिरिक्त)



प्रकाशक—
निर्मल आयुर्वेद संस्थान,
डी–७८ औद्योगिक नगर,
अलीगढ–२०२००१



मुद्रक—
मीरा प्रिन्टिङ्ग प्रेस, अलीगढ।
के आदेश से
प्रतिभा प्रिन्टर्स, अलीगढ मे मुद्रित।

प्रकाशकीय



✫✫✫✫✫
✫✫✫✫
✫✫✫
✫✫
✫

अपने कृपालु पाठकों की सेवा मे चिर प्रतीक्षित "सक्रामक रोग चिकित्सा" प्रस्तुत करते हुये हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। सक्रामक रोग भारत सरकार, राज्य सरकारो, चिकित्सको एव जनता के लिये एक महान समस्या बने हुये है। सरकारे करोडो-अरबो रुपया व्यय करती है लेकिन दुर्भाग्य है कि इतनी विपुल राशि व्यय करने पर भी ये रोग यदा-कदा फैलते ही है। भारतवर्ष गर्म जलवायु का देश है जिससे यहा पर इन सक्रामक रोगो का फैलाव और भी शीघ्रता तथा तीव्रता से होता है। चरक सहिता मे जिस प्रकार जनपदोध्वस का विवरण दिया है कभी-२ तो स्थिति उससे भी बदतर हो जाती है। सक्रामक रोगो के प्रसार मे जहा भारतवर्ष की गर्म जलवायु सहायक है वही पर नगरो गावो मे गन्दगी, भारतीय जनता की कुछ गलत आदतें यथा जहा जी चाहा वहा थूक देना–नाक सिनक देना, रास्ते के किनारे या तालाब-पोखर-नदी आदि के किनारे मल-मूत्र त्याग करना और अच्छी तरह स्वच्छता न रखना, नगे पैर घूमना, सक्रामक रोगग्रस्त व्यक्ति को घर से पृथक कर अस्पताल मे चिकित्सा न करवाकर अपने घर पर ही चिकित्सा कराना तथा परिवारीजनो द्वारा उसकी सुश्रुषा करना आदि भी सहायक है। आजकल दूध देने वाले पशु प्राय सक्रामक रोगो मे ग्रस्त होते है, दूधिया (गाव से दूध लाकर शहर मे दूध बेचने वाले) अधिक लाभ कमाने के लिये पोखर आदि का पानी दूध मे मिलाते है जो स्वय सर्वाधिक दूषित (सक्रमित) होता है। सभी नगरो, महानगरो तथा ग्रामो मे सफाई व्यवस्था नाम मात्र की है, सडको पर गन्दगी का साम्राज्य रहता है। सडक के किनारे की नालियो का पानी सडको पर बहता रहता है, सडको की सफाई नही होती तथा यदि सफाई हो भी जाती है तो सडको का कूडा हटाकर वहा से हटाया नही जाता। कुछ अपवादो को छोडकर सभी दुरावस्था प्राय सभी जगह है। इन सभी कारणो से सक्रामक रोग पूरी तीव्रता से फैलते है। इन्ही सब बातो पर विचार करके हमे 'सक्रामक रोग चिकित्सा' प्रकाशित करना आवश्यक लगा और [illegible] तथा [illegible] से [illegible] किया। हमे [illegible] है कि आपने हमारा यह अनुरोध स्वीकार कर इस सुन्दर [illegible] किया। [illegible]

आजकल एक जनधारणा है कि आयुर्वेद मे सक्रामक रोगो का विवरण नही है। लेकिन वास्तव मे ऐसा नही है। यह धारणा इसी ग्रन्थ के कुछ प्रारम्भिक लेखो को पढकर निर्मूल होती है। लेकिन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने जीवाणु विज्ञान, रोग प्रतिरोधार्थ टीका लगाना आदि का जो विकास किया है उसके लिये सभी ऋणी है। भारतवर्ष से चेचक, प्लेग आदि कुछ रोगो का पलायन हो गया है। चेचक के पलायन हेतु आधुनिक विज्ञान की टीका प्रणाली तथा सरकार द्वारा उसको ठीक से योजनाबद्ध कर लागू करना ही कारगर हुये।

इस 'सक्रामक रोग चिकित्सा' मे सभी सक्रामक रोगो का विवरण दिया गया है ऐसा दावा हम नही कर सकते। कतिपय ऐसे रोग जिनकी चिकित्सा साधारण चिकित्सक नही करता यथा कैंसर आदि तो उन पर मामूली जानकारी ही दी गई है। इसका कारण इस ग्रन्थ को सीमित पृष्ठो मे समेटना रहा। इस प्रकार के लेखो को विपुल स्थान दिया गया है जिनमे अधिकाधिक वैद्य लाभान्वित हो सके।

सक्रामक रोगो की सख्या करना कठिन है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, जोकि जीवाणुवाद का सिद्धान्त सर्वोपरि मानता है उसकी दृष्टि से सभी रोग (कुछ अपवाद छोडकर) सक्रामक हो जाते हैं। हमने इस ग्रन्थ मे यथाशक्य ऐसे रोगो का वर्णन दिया है जो प्राय होते रहते है, तथा उनके रोगी चिकित्सको के पास प्राय आते रहते है जिससे अधिकाधिक चिकित्सक लाभान्वित हो सके। विषय को सुगमता से सुस्पष्टार्थ लगभग १५० चित्र दिये गये है। इस सख्या मे लेखको के फोटो चित्र, लेखो के शीर्षको के ब्लाक सम्मलित नही है।

हमारे पाठको को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हमने छपाई सिलण्डर मशीन लगाली है। यह पूरा ग्रन्थ उसी मशीन पर छापा गया है, कागज भी पहले प्रकाशनो से उत्तम लगाया गया है। अभी और अनेको सुधार अपेक्षित है लेकिन बीस रुपये की सीमा मे बधे होने के कारण नही कर पाते है। फिर भी इसे अधिकाधिक उपयोगी एवं सुन्दर बनाने के लिये हमारा पाठक वर्ग जो सुझाव देगा उन पर हम सहर्ष विचार करेगे।

इस सक्रामक रोग चिकित्सा के प्रकाशन मे जिनसे भी सहयोग प्राप्त हुआ है उनका अत्यन्त आभारी हूँ। श्री वैद्य ओ० पी० वर्मा का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने अल्प समय मे ही इसका लेखन-सम्पादन किया जो कि आपकी अद्भुत लेखन कर्मठता एव विद्वता का द्योतक है। आपका जीवन परिचय आगे प्रकाशित है जिससे आपकी विद्वता का परिचय प्राप्त होगा। आप प्रसिद्धि से दूर भागने वाले व्यक्ति है। कई बार आग्रह पर आपका जीवन परिचय मिल सका, आपके फोटो प्राप्त करने के लिये तो बीसियो पत्र लिखने पडे। पहले तो आपका फोटो न भेजने का पत्र ही आगया था लेकिन हमारे अत्यन्त आग्रह पर विवश होकर अपना फोटो भेजा। श्री वर्मा जी के अतिरिक्त अनेको आयुर्वेदज्ञो-विद्वान लेखको का भी सहयोग एव सत्परामर्श हमे पग-पग पर उपलब्ध होता रहा है इस हेतु उन सभी का आभारी हू। इसके चित्रकार श्री पुष्पकुमार का आभारी हू। मेरा ज्येष्ठ पुत्र चि० नवीन कुमार गर्ग सरोजिनी नायडू मैडीकल कालेज मे एम० बी० बी० एस० के अन्तिम वर्ष का छात्र है तथा विषय से सम्बन्धित अधिकतर चित्र उसी के द्वारा बनाये गये है। उसी के कारण हम इतने अधिक चित्र दे पाते है। कम्पोजीटर सर्व श्री पन्नालाल, सनपाल, (मशीनमैन) महेन्द्रकुमार, घाने कर्मचारी सर्वश्री राकेश कुमार शर्मा, किशन लाल शर्मा, राकेश सक्सैना, दिनेशपाल सिंह, ओमप्रकाश शर्मा का आभारी हूँ जिनका कि सम्पूर्ण सहयोग मिला है।

निर्मल आयुर्वेद संस्थान,
डी-७८, औद्योगिक नगर (फैक्ट्री एरिया), अलीगढ-२०२००१

संक्रामक रोग चिकित्सा

की

विषय-सूची

संक्रामक रोग चिकित्सा

संक्रामक रोग चिकित्सा की चित्र सूची

इस ग्रन्थ के टाइटिल पर दिये गये चित्रो का विवरण

१—एण्टेमीवा हिस्टोलिटिका (एमीवा)
२—योनि प्रदाह उत्पादक जीवाणु (ट्राइकोमोनास)
३—मलेरिया जीवाणु
४—घातक मलेरिया जीवाणु
५—कालाजार का जीवाणु-एल० टी० वाडीज
६—श्लीपद कृमि
७—क्षयग्रस्त फुपफुस
८—तन्त्रिका ज्वर जीवाणु

—**—

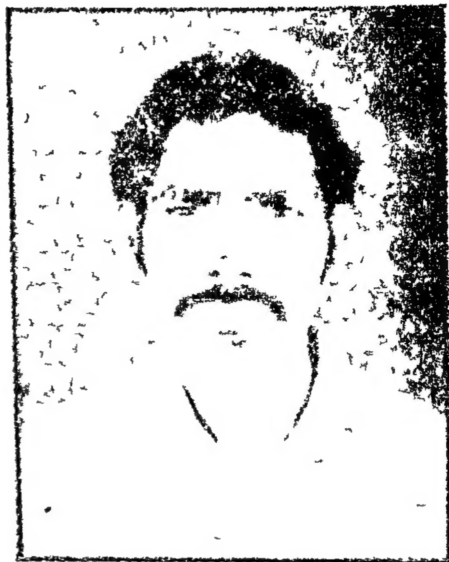
संक्रामक रोग चिकित्सा

के लेखक एवं संकलनकर्ता

आयु० बृह० वैद्य श्री ओ० पी० वर्मा

का

संक्षिप्त जीवन परिचय



परिवार परिचय--

पिता का नाम—स्व वैद्य श्री रिछपाल सिंह

माता का नाम—श्रीमती शारदा देवी

पत्नी का नाम—श्रीमती पद्मा देवी

पुत्र—सदीप कुमार, निर्मल कुमार एव महेन्द्र कुमार।

पुत्री—हेमलता, ललिता

वैद्य ओमप्रकाश वर्मा का जन्म चिडावा जिला झुझुनू (राजस्थान) मे आयुर्वेद परिवार मे हुआ। आपके पिता स्व० श्री रिछपाल सिंह जी आयुर्वेद के ख्याति प्राप्त चिकित्सक थे। वे आयुर्वेद की उडनशील औषधियो की भस्म बनाना जानते थे। इसीके साथ-साथ उन्होने कई पेटेण्ट योग तैयार किये। श्री वर्मा का जन्म क्योकि आयुर्वेद परिवार मे हुआ अत बचपन से ही इनकी रुचि आयुर्वेद क्षेत्र मे हो गई। धीरे-धीरे अपने अनुभवो से लाभ उठाकर अपनी बुद्धि से इस क्षेत्र मे आगे बढते गये।

आपके इस समय तक एक सौ से ज्यादा निबन्ध विभिन्न आयुर्वेदिक पत्र-पत्रिकाओ धन्वन्तरि, सुधानिधि, शुचि, आयुर्वेद विकास, सचित्र आयुर्वेद, राष्ट्रदूत, वल्गा, वैद्य सन्देश, महासम्मेलन पत्रिका आदि मे प्रकाशित हो चुके है। आपके अधिकतर लेख काय चिकित्सा पर ही प्रकाशित हैं। आप काय चिकित्सा के माने हुये विद्वान है। आपने कई असाध्य रोगो की सफल चिकित्सा करके हजारो व्यक्तियो को जीवनदान दिया है। आपके पास रोजाना कई निराश रोगियो के पत्र आते रहते है, उनमे परामर्श तथा औषधि व्यवस्था हेतु लिखा रहता है। आप इन सभी रोगियो के पत्रो का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक करके उन्हे उचित सलाह भेजकर कृतार्थ करते रहे हैं।

आपके द्वारा निम्नलिखित दो ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है—

[१] आयुर्वेदीय गृहवस्तु चिकित्सा

[२] ज्वर एक अध्ययन

दोनो ही पुस्तको का आयुर्वेद जगत मे बडा आदर हुआ है। आपकी उक्त पुस्तको की साहित्यालोचन देखने पर पता लगता है कि आप जितने सफल चिकित्सक हैं उतने ही सफल लेखक भी है।

आपके लेखन से प्रभावित होकर ही हमने इस 'सक्रामक रोग चिकित्सा' के लेखन एव संकलन का भार आपके ऊपर डाला है। इस के अलावा आपने 'धन्वन्तरि' के निम्नलिखित अको का भी विशेष सम्पादन किया है—

[१] नि सतति चिकित्साक (स्त्री खंड) प्रथम भाग

[२] निःसतति चिकित्साक „ द्वितीय भाग

आपको समय समय पर आयोजित गोष्ठिया तथा

सम्मेलनो मे आमन्त्रित किया जाता है। आयुर्वेद के विकास मे आप तन, मन और धन मे समर्पित है। समय समय पर आयुर्वेद से सम्बन्धित समस्याओ के समाधान हेतु अपने विचार आयुर्वेद पत्र-पत्रिकाओ के अलावा आयुर्वेद विभाग को प्रेषित करते रहे है। विभिन्न आयुर्वेद विषयो पर आयोजित आपके भाषण ससम्मान पढे जाते हैं। जहा पर आप जाने मे समर्थ होते हैं वहा खुद अपना भाषण देकर आयुर्वेद के विकास मे सलग्न रहे हैं।

आप वर्तमान मे राजस्थान वैद्य महासभा के मन्त्री पद को धारण किए हुये ह। आयुर्वेद सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ का समय समय पर निराकरण इस सङ्घ द्वारा किया जाता रहा है। आयुर्वेद की विभिन्न विकास योजनाओ की भी क्रियान्विति इसके द्वारा की गई है। आप उमाशकर आयुर्वेद सस्थान, सरदारशहर के मानद व्यवस्थापक हैं।

वैद्य वर्मा जी एक उद्भट विद्वान, आयुर्वेद मनीषी, भेषजविद् तथा पीयूषपाणी चिकित्सा मर्मज्ञ है। 'धन्वन्तरि' परिवार से आपका हार्दिक लगाव है, इसी प्रेम तथा सौहार्दपूर्ण वातावरण मे अपने व्यस्ततम समय मे से कुछ समय निकालकर अथक परिश्रम तथा लगन से इसका लेखन एव सम्पादन कर अपनी कुशलता और विद्वत्ता का परिचय दिया है। इस कृति को पढने के बाद आप भी मेरे इन विचारो से अवश्य सहमत होगे। मै ईश्वर से आपकी दीर्घायु तथा प्रगति की कामना करता हूँ।

सरकार को आपकी सेवाओ का लाभ उठाना चाहिये। आयुर्वेद परामर्शदाता के रूप मे आपकी नियुक्ति सरकार को करनी चाहिये।

—डा० दाऊदयाल गर्ग
सम्पादक—'धन्वन्तरि'

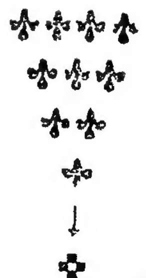
—✿✻✿—



समर्पण

स्व० वैद्यराज श्री रिछपाल सिह जी
को
"संक्रामक रोग चिकित्सा"
सादर समर्पित है।

—वैद्य ओ० पी० वर्मा



संक्रामक रोग चिकित्सा

मिथ्याहार विहार किये से, दोष कुपित हो जाता ।
दोष विषमता रोग दोष, समता आरोग्य बताता ॥१॥
हेतु पूर्व परिरूप रूप, उपशय सम्प्राप्ति बताते ।
रोग ज्ञान समुपाय पाच, 'धन्वन्तरि' सब समझाते ॥२॥
गुप्तयोग दे गुप्त--चिकित्सा, दूर करे विचिकित्सा ।
करके प्रकट वैद्यवर करदे-दे सिखलाय चिकित्सा ॥३॥
शुभ नूतन वर्षोपलक्ष में, अङ्क विशेष दिखाता ।
सक्रामक--रोगाङ्क प्रकाशित, कर आनन्द बढाता ॥४॥
यक्ष्मा, हैजा, प्लेग, कुष्ठ ये सक्रामक कहलाते ।
रोक--थाम इनकी कर जग में, ऊचा नाम जताते ॥५॥
संक्रामक की ना कर सकते, वैद्य लोग कुछ शाति ।
गर्वपूर्ण है बात उन्हो की, गलत धारणा भ्राति ॥६॥
'निर्मल संस्थान' ने प्रण ठाना, ना रहे वैद्य पिछाड़ी ।
कर प्रतिकार औपसर्गिक का, सबसे रहे अगाड़ी ॥७॥
सक्रामक--रोगो का कर प्रतिकार तुरत दिखलादो ।
धन्वन्तरे ! दया कर आयुर्वेद प्रचार बढ़ादो ॥८॥
भारत भू पर होरहा हमला सक्रामक रोगो का ।
'सक्रामक रोग चिकित्सा' खड्ग है सभी वैद्य लोगो का ॥९॥

—रचियता—

श्री प० शकरलाल गौड 'शम्भू कवि'
शकर साहित्य सदन, दूरा (आगरा) उ० प्र०

प्रस्तावना

आयुर्वेद सक्रामक रोगो की मूल उत्पत्ति कीटाणुओ से नही मानता। 'सक्रामक' और 'रोग' इन दो शब्दो के पद विच्छेद से भी यही बात सिद्ध होती है कि रोग-कारणता शारीरिक द्रव्य दोष धातुओ मे है न कि कीटाणुओ मे। सक्रामक शब्द 'सम' उपसर्गपूर्वक 'क्रमपादु विक्षेपे' धातु से तद्धितान्त प्रत्यय द्वारा बना है जिसका कि अर्थ है सम यानी सम्यक् रूप से, या समान रूप से, साथ चलने वाले या फैलने वाले, और दूसरा शब्द है 'रोग' जो "रुजो भगे" धातु से निष्पन्न होता है, जिसका मतलब है कि शरीर की प्राकृतिक स्थिति मे भग अर्थात् शारीरिक दोष, धातु, मलो मे विषमता होना। जैसाकि कहा गया है—

रोगस्तु दोष वैषम्य दोष साम्यमरोगता।

अब 'सक्रामक रोग' इस पद का अर्थ हुआ अच्छी तरह या समानता के साथ चलने या फैलने वाली शारीरिक पदार्थो की विषमावस्था। शारीरिक द्रव्यदोष धात्वादिको के गतिशील एव क्रियावान होने से गुणो मे भी क्रिया होना स्वाभाविक है। अत निश्चित है कि यावन्मात्र रोग दोषज एव सक्रामक है। केवल कुछ रोगो को सक्रामक मानना और उनकी उत्पत्ति मे कीटाणु आदि की कल्पना करना केवल भ्रम या अपूर्ण ज्ञान का परिचय देना है। यही कारण है कि प्राचीन आयुर्वेद शास्त्राकारो ने महात्ययिक, सहज, वशज, कायिक, मानसिक, आगन्तुकादि विविध रोगो की उत्पत्ति, लक्षण, चिकित्सादि पर यत्रतत्र काफी प्रकाश डालते हुये भी सक्रामक रोगो की उत्पत्ति, चिकित्सादि पर कुछ विशेष विचार नही किया। महर्षि सुश्रुत ने कुष्ठ निदान के अन्त मे केवल प्रासङ्गिक रूप मे लिखा है—

प्रसङ्गात् गात्र ससर्गान्निश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चैव वस्त्र माल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

तथा इसीकी टीका मे हाराणचन्द्र जी ने लिखा—

मसूरिका सरोमात्यो ग्रन्थि विसर्प एव च। उपदशश्च कड्वाद्या औपसर्गिक सज्ञका ॥

ये सब रोग प्रसङ्ग (मैथुन), शरीर सस्पर्श, नि श्वास, सहभोजन, एक साथ सोने बैठने या एक दूसरे के वस्त्र, माला, चन्दनादि लगाने से एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य मे चले जाते है। इस प्रकार से प्राचीन शास्त्रज्ञो ने इन रोगो की तीव्र गतिशीलता का परिचय दिया है न कि आधुनिक चिकित्सको की तरह केवल कुछ रोगो को सक्रामक मानकर उनकी उत्पत्ति, लक्षण, चिकित्सा आदि मे कीटाणु आदि की कल्पना करना। चरकाचार्य जी ने जनपदोध्वसनीय अध्याय मे जिनके प्रभाव से सैकडो मनुष्य एक समय मे ही काल के कराल गाल मे प्रविष्ट हो जाते है ऐसे तीव्रतम गतिशील (प्लेग, हैजा आदि) सक्रामक रोगो के ४ कारणो का स्पष्ट निर्देश किया है —"वायुरुदक देश काल इति"।

अर्थात् वायु, जल, देश और काल—ये चारो प्रथक्-प्रथक् सक्रामक रोगो के फैलाने वाले है। क्योकि इन चारो से बचाव होना प्राणिमात्र के लिये कठिन है। इन चारो के दूषित होने के लक्षण भी चरक ने विस्तार से बताये है जिसका कि चरक सहिता मे यथास्थान अवलोकन प्रार्थनीय है।

अब जरा अन्वर्थ तथा समूलोन्मूलनी इसकी आर्ष चिकित्सा को भी ध्यान मे रखना होगा। प्राचीन शास्त्रो मे निर्देश है कि—जिस क्रिया द्वारा शरीर के विषम हुये धातु समान हो वह ही सब रोगो की चिकित्सा एव वैद्यो का कर्तव्य है। जिनको उस रोग से अवश्यम्भावी मृत्यु नही है, या जिनके रोग का कर्म से सम्बन्ध नही है (केवल दोषज है) उनके लिये वमन विरेचनादि पचकर्म परम औषध है।

अत्र शङ्का यह होती है कि जब सभी रोग दोषज होते है तब कुछ रोगो का ही इस प्रकार तीव्र गतिशील होने एव विभिन्न आकृति, प्रकृति, आहार, देह वल, शरीर वाले मनुष्यो को एक ही प्रकार के रोग, लक्षण, चिकित्सादि के एक साथ होने तथा विभिन्न प्राणियो म एक ही प्रकार का रोग विष पाये जाने का क्या कारण है ? इस शङ्का का निराकरण भी महर्षि आत्रेय जी ने उसी जनपदोध्वसनीय अध्याय मे निम्न प्रकार किया है—

मनुष्यो की प्रकृति आदि विभिन्न होने पर भी जो भाव सबके लिये समान हैं उनके विपरीत गुण से मनुष्यो को एक ही समय मे एक ही लक्षण वाले रोग होकर शहरो (नगरो-जनपदो) का विध्वस करते हैं। वायु, जल, देश और काल—ये सवके लिये समान भाव है तथा ये एक से एक स्वभाव से दुष्परिहार्य हैं। वायु की अपेक्षा जल, जल की अपेक्षा देश तथा देश की अपेक्षा काल भारी है और दूपित वायु आदि चारो से होने वाले दोपो के प्रतिकार की सहलियत से काल की अपेक्षा देश, देश की अपेक्षा जल, तथा जल की अपेक्षा वायु हल्का है। किन्तु साथ ही यह भी उपदेश हे कि वायु, जल, देश और काल इन चारो के दूपित होने पर भी यथायोग्य औपधियो द्वारा चिकित्सा करने से मनुष्य रोगी नही होते या रोगी होने से बच जाते है। अपने यहा वायु शोधन के लिये हवन, धूप (कतिपय विपनाशक प्रयोगो के धूप, वाद्य विशेप आदि) सुगन्धित, दुर्गन्ध एव कृमिनाशक पुष्प पत्र आदि के प्रयोग बतलाये गये हैं जिनसे साथ ही साथ देश या स्थान शुद्धि भी हो जाती है। काल शुद्धि के लिये सद्वृत्त, अनुष्ठान आदि का विस्तृत उल्लेख किया गया है। जल शुद्धि के लिये भी विशेष विधान निर्दिष्ट हैं।

यद्यपि, जैसाकि ऊपर सिद्ध किया हे, हमारे यहा सक्रामक रोगो पर पूर्ण विवेचन, चिकित्सा आदि उपलब्ध हैं (प्रमुखता दोप विकृति को दी है) लेकिन आधुनिक विज्ञान के जीवाणु विज्ञान, विकृति विज्ञान की भी पूर्णत अवहेलना नही की जा सकती। इस कृति 'सक्रामक रोग चिकित्सा' मे प्राचीन वैज्ञानिक विवेचन के साथ-साथ आधुनिक मत से भी प्रत्येक सक्रामक रोग का विवेचन एव चिकित्सा आदि का सचित्र साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। चिकित्सक का मुख्य उद्देश्य अपने पास आये रोगी की चिकित्सा करना है। अब उसे कौन-कौन औषधिया दी गई हैं (प्राचीन पद्धति की या अर्वाचीन पद्धति की) इससे उसे कोई विशेप प्रयोजन नही होता। इस 'सक्रामक रोग चिकित्सा' के लिये लेख चयन करते समय इसी दृष्टिकोण को समक्ष रखा गया है।

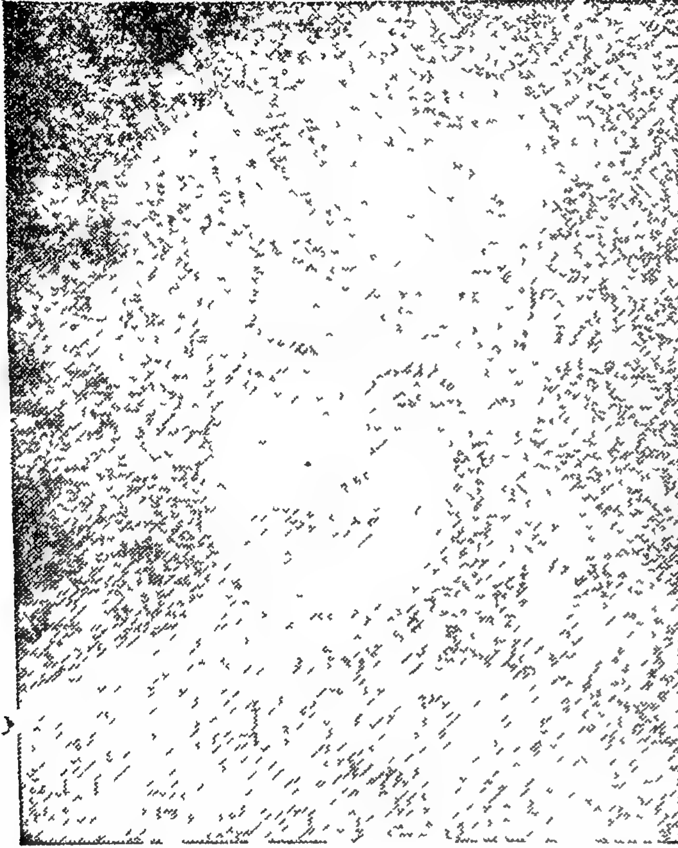
सक्रामक रोगो पर साहित्य प्रकाशित करने के लिये पाठको के आग्रहपूर्ण पत्र श्री दाऊदयाल गर्ग को प्राप्त हुये होगे और उन्होने इस हेतु मुझसे आग्रह किया। विषय महत्त्वपूर्ण तथा जनसाधारण एव चिकित्सको दोनो के लिये ही उपयोगी था अत मैने अपनी स्वीकृति तथा प्रस्तावित विषय-सूची बनाकर तुरन्त ही भेज दी तथा कार्यारम्भ कर दिया गया। मैने अनेको व्यक्तिगत पत्र भेजकर भी विद्वान लेखको से लेख भेजने हेतु आग्रह किया। आशा से भी अधिक विद्वान लेखको का सहयोग प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम मैं 'धन्वन्तरि' के सम्पादक श्री डा० दाऊदयाल जी गर्ग का आभारी हू जिन्होने मुझे यह कार्यभार सौपकर आयुर्वेद सेवा का अवसर प्रदान किया तथा उन सभी विद्वान लेखको का भी आभारी हू जिनका सहयोग मुझे मिला। आशा है कि इस कृति से जनसाधारण तथा चिकित्सक बन्धुओ को अवश्य ही सहायता मिलेगी। इसी आशा के साथ—

—विदुषामनुचर
वैद्य ओमप्रकाश वर्मा

******

संक्रामक रोगों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

श्री वैद्य पं० अम्बालाल जोशी आयु० केशरी, पुंगलपाड़ा, मकराना मुहल्ला, जोधपुर (राज०)



समय समय पर सक्रामक जनपदोध्वस व्याधियो का भी प्रादुर्भाव जीव मात्र के लिए घातक प्रमाणित हुआ है। अस्तु, उससे बचने का प्रयास भी तो मानव को ही करना पडा। इस कार्य के लिए उन्ही मे से कुछ भगवान आत्रेय पुनर्नवसु, अग्निवेश, महर्षि चरक, सुश्रुत, धन्वन्तरि, काश्यप आदि ने समय समय पर कुष्ठ आदि रोगो पर प्रयोग कर नूतन अनुसन्धान किये और जनहित की भावना मे वे आविष्कार जनता की सेवा मे रक्खे। यह आज से ३५०० वर्ष पूर्व की बात है।

महर्षि चरक ने अपने ग्रन्थो मे स्पष्ट कहा है 'सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्या' फिर केवल यही नही कि एक आचार्य का अन्धानुकरण दूसरे आचार्य ने कर लिया हो, उदाहरणार्थ क्रिमि का वर्णन करते समय चरक मे जिन जन्तुओ का नाम लिखा है सुश्रुत ने भिन्न नाम लिखे है। हो सकता हे दोनो ने अलग अलग अनुसन्धान किया हो। सम्भव है उनके यहा बडी बडी प्रयोगशालाये न हो। फिर भी उन्होने नेत्र से न दीखने वाले कीटाणुओ का पता लगाया। 'सूक्ष्मारक्तजान्तवोऽणव ।' रोगो की उत्पत्ति के बारे मे निम्नलिखित ४ सिद्धान्त निश्चित किये—

(१) कुपित त्रिदोष धातुओ को दूषित कर रोग पैदा करते है।

(२) कुपित दोष कई स्थानो पर रक्त मे या अन्य धातुओ मे क्रमि पैदा कर देते है और इसी प्रकार वह क्रिमिज रोग होता है। प्रत्येक रोग क्रिमिज रोग नही।

(३) सक्रामक रोगो का उन्हे ज्ञान था। कुछ व्याधिया ऐसी है जो प्रसङ्ग (मैथुन), स्पर्श, वस्त्र श्वास और साथ भोजन करने आदि के कारण एक से दूसरे मनुष्य के शरीर मे प्रवेश कर जाती है—

प्रसङ्गाद्गात्र सस्पर्शान्नि श्वासात् सहभोजनात् ।
एक शय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगांश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

—माधव निदान (कुष्ठ रोगाधिकार)

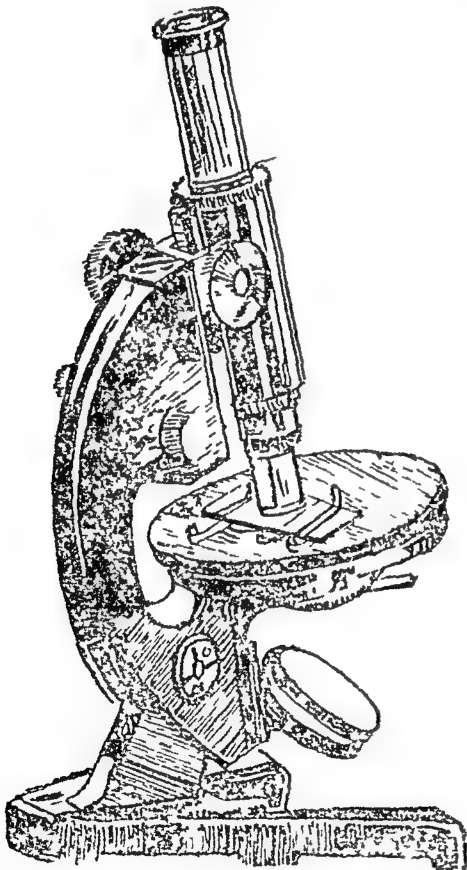
यह ईस्वी ७वी सदी की बात है।

(४) परन्तु वे कहा करते थे कि क्रिमि रोगोत्पादन का मूल कारण नही रोग प्रसारक हो सकते है।

परन्तु इससे आगे बढने की शक्ति बाद के आयुर्वेदज्ञो मे न रही। समय का प्रभाव था, उन्हे अपना अस्तित्व रखना भी दुष्कर हो गया। उनके स्थायी साहित्यो को ध्वस किया गया। उनकी प्रयोगशालाओ को नष्ट किया गया। परन्तु इतने पर भी अस्तित्व न न मिटता देख पुरातन आयुर्वेद को निराश्रय छोडकर नवोढ़ा एलोपैथी को उसके मुकाबले मे खड़ा किया गया।

नूतन इतिहास

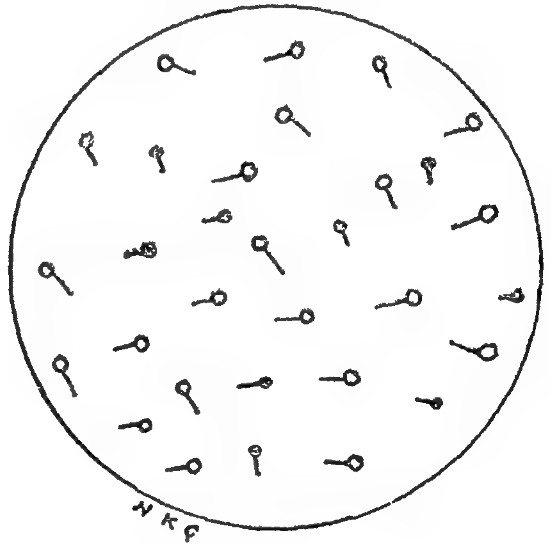
यह १९ वी सदी की बात है जब फ्रान्स के एक छोटे से गाव मे साधारण चरम व्यवसायी के घर मे एक सुकुमार का जन्म हुआ। भौतिक विज्ञान का विद्यार्थी 'लुई' किशोरावस्था से ही प्रतिभाशाली था। शनै शनै उसकी प्रवृत्ति रसायन की ओर झुकी और वह रसायन का एक प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी हो गया। प्राचीनकाल से ही फ्रास और चीन मे रेशम का व्यापार अत्यधिक है। किसी विकृति के कारण रेशम की फसल बिगडने लगी तो वहा के व्यापारी बहुत घबडाये और राज्य की ओर सहायतार्थ दौडे। राज्य ने प्रसिद्ध रसायनज्ञ 'लुई' को इसका कारण



ज्ञात करने का कार्य सौपा जिसने अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता मे ज्ञात किया कि एक विशिष्ट प्रसार के जीवाणु उन रेशम के कीडो मे उपस्थित है। उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ये गतिशील हैं और इस रोग का कारण है। इनका नाप १/५०००० इन्च लम्बा है। कालान्तर मे उसने एक मिश्रण तैयार किया ,जो उन कीटाणुओ का नाश करने मे समर्थ था। आधुनिक काल का यह सर्वप्रथम वैज्ञानिक अन्वेपण था जिसे हम 'वृक्षो मे सक्रामक रोग का सर्वप्रथम अनुसन्धान' कह सकते है।

अब क्या था लूई पाश्चूर की प्रतिष्ठा मे चार चाद लग गये। उसे राज्य का आश्रय मिला। उसने और भी आविष्कार किये, कीटाणुओ को नापने के लिये उसने नए पैमाने का प्रचलन किया जिसे म्यू (u) कहते है ? (u) म्यू=१/१००० mm (सहस्राश मिलीमीटर के बराबर होता है)। इसी प्रकार एक कीटाणु १/२५००० इन्च (पच्चीस सहस्राश इन्च मोटा) तथा १/५००००० इन्च (पचलक्षाश इन्च लम्बा) होता है। उसने कीटाणु सिद्धान्त के आधार पर ही इन्जेक्शन थ्योरी (सूचीवेध चिकित्सा) का आविष्कार किया। पागल कुत्ते के काटने पर भी उसने एक विशेष प्रकार के कीटाणु देखे। इसके प्रतिकारार्थ एक विशिष्ट औषधि का आविष्कार किया।

फिर तृतीय प्रजातन्त्रीय राज्य के समय दोषपूर्ण प्राकृतिक उत्पातो के कारण १८८३ मे फ्रास के एक नगर मे मन्थर ज्वर का भीषण प्रकोप हुआ। विजयी वैज्ञानिक लुई पाश्चर को फिर इस कार्य के लिए नियत किया गया। उसने ज्वरी के रक्त की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से परीक्षा की। फिर उसने एक नए प्रकार के कीटाणु देखे जिनका नामकरण 'टाइफायड बैसली" किया गया। इसी प्रकार उन्होने अनेक रोग जीवाणुओ का पता लगाया।★



धनुर्वात रोग का कारणभूत जीवाणु—
क्लौस्ट्रिडियम टिटेनी

जीवाणुवाद एवं आयुर्वेद

डा० कृष्ण कान्त

डा० श्री कृष्णकान्त आयुर्वेद के उस नगर मे अधिष्ठित है जहा के नाम से हर भारतीय आतङ्कित रहा है। आपने उस सङ्कट की घडी मे भी आयुर्वेद को प्रतिष्ठित रखा।

वर्तमान मे आप श्री लक्ष्मीनारायण आयुर्वेद महाविद्यालय, अमृतसर मे प्राचार्य पद पर आसीन हैं। आप इस संस्था से पूर्व 'पचनद आयुर्वेद महाविद्यालय' मे आचार्य पद पर सुशोभित थे। गुरु नानक देव विश्वविद्यालय की आयुर्वेद फैकल्टी के आप डीन है। आपसे आयुर्वेद जगत को बहुत कुछ आशाये है। आशा है आप पूर्ण लगन से आयुर्वेद सेवा मे सलग्न रहकर योग्य आयुर्वेदाचार्यो को प्रतिष्ठित करेगे।

आपका जन्म आयुर्वेद परिवार मे ही हुआ है। आप श्री नामधारी जी शास्त्री के सुपुत्र है जोकि पजाब मे आयुर्वेद के स्तम्भ हैं। संक्रामक रोग चिकित्सा हेतु आपने 'जीवाणुवाद एव आयुर्वेद' लेख भेजा है। लेख रुचिकर एव पठनीय है।

—वैद्य ओ० पी० वर्मा।

जीवाणुवाद ओर सक्रामक रोगो के विषय मे धारणा है कि इस विषय का ज्ञान आधुनिक युग मे ही हुआ है। प्राचीन चिकित्सा विज्ञान मे इस प्रकार की कोई उपलब्धि नही है क्योकि वर्तमान मे सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे जीवाणुओ की आकृति, उनमे उत्पन्न रोग एव तत्तद् जीवाणुनाशक औषधि का प्रयोग इस बात का समर्थन करते है। जीवाणु सवर्धन (Culture) पद्धति जो कि अत्याधुनिक उपलब्धि है इस बात को और भी अनावृत करती है।

इसके अतिरिक्त १८४९ मे डा० हाल्डर, १८५० मे डा० ड्यून एव १८७६ मे जर्मन के डा० काक ने जीवाणु विज्ञान पर विशेष अन्वेषण और परीक्षण किये और रोगो के मूल कारण जीवाणुओ के सिद्धान्त की नीव रखी। अत विभिन्न जीवाणुओ का ज्ञान, सक्रामक रोगो का ज्ञान एव उनकी चिकित्सा व्यवस्था आदि का श्रेय आधुनिक वैज्ञानिको को ही जाता है और इससे सम्बद्ध विषय को आधुनिक युग की देन समझा जाना स्वाभाविक है। परन्तु प्राचीन वैदिक साहित्य और चिकित्सा विज्ञान का परिशीलन करने पर तथ्य इसके विपरीत दिखाई देते है और सबल प्रमाण मिलते है कि जीवाणुवाद, सक्रमण, सक्रामक रोग एवं उनका प्रतिरोध तथा चिकित्सा व्यवस्था आदि का विस्तृत वर्णन और तत्सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्त हजारो वर्ष पूर्व वैज्ञानिक रूप मे स्थापित किये गये थे। इन सिद्धान्तो और निर्देशो के अनुसार प्राचीनकाल मे ही सक्रामक रोगो की चिकित्सा, जीवाणुहरण, वातावरण का शुद्धिकरण आदि किया जाता रहा है। प्राचीन ग्रन्थो मे शतश जीवाणुनाशक औषधिया तथा उनकी प्रयोग विधि, जीवाणुजन्य रोग एव जनपदोध्वस (Epidemic) का योजनाबद्ध विस्तृत वर्णन और विवेचन इस बात के सजीव प्रमाण है। जीवाणु नाश के लिए औषधिया, मन्त्र, अग्नि, विद्युत, सूर्य रश्मि आदि अनेक विधि उपायो का विभिन्न शास्त्रो मे निर्देश है। निम्नलिखित अथर्ववेद के मन्त्रो से यह बात स्पष्ट है कि अदृश्य ओर दृश्य कृमियो का ज्ञान वैदिककाल से ही मालूम था।

ये क्रिमय पर्वतेषु कनेषुओषधिशु पशुस्वपस्वन्त ।
ये अस्माक तन्व मा विविशु
सर्वं तद् हन्मिऽर्वि क्रमीणाम् ॥
ओतो मेधावा पृथ्वी ओता देवी सरस्वती।
ओतो ये इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमि जम्भयतामिति ॥

इन उद्धरणो मे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीनकाल मे उस बात का पूर्ण ज्ञान था कि समस्त वायु मण्डल मे अदृश्य और दृश्य असख्य जीवाणु है।

उस काल मे जीवाणुओ का ज्ञान ही न था अपितु

इनकी विभिन्न जातियो और तदनुसार शरीर पर इनके विभिन्न कुप्रभावो का सूक्ष्मतम ज्ञान भी था जैसा कि नीचे दी जा रही अथर्ववेद मे वर्णित इनकी विभिन्न जातियो की शृङ्खला से व्यक्त होता है—

१ रक्ष या राक्षस—रक्त पीने वाले सूक्ष्म क्रिमि

असृग्जानि ह कै रक्षासि रक्षो रक्षितममस्मात् ।

२ मातुधान—वेदना उत्पादक क्रिमि

मातु—वेदना दधतीति

दहन्नप. द्वयाविनो मातुधानान् किमीदनः

३ पिशाच—मास खाने वाले जीवाणु

पिशितं—मासमाचमतीति पिशाच ।

४ अप्सर—जल मे रहने वाले सूक्ष्म क्रिमि

अप्सु सरन्तीति

५ गन्धर्व—सुन्दर रूप पर प्रभाव करने वाले

अथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्स रसश्चरन्ति ।

त्वमा वसमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे ।

अजशृङ्ग्मज रक्ष सर्वान् गन्धेन नाशम् ॥

६ अथर्ववेद का एक और उद्धरण इस वात को स्पष्ट करता है कि सूक्ष्म क्रिमि वाहर से शरीर मे प्रवेश कर रोग उत्पन्न करते है । जैसे—

येऽस्माक तन्व मा विविशु

इसी प्रकार उत्तरोत्तर काल मे चिकित्सा विज्ञान की प्रगति के साथ साथ आयुर्वेदीय सहिताओ मे जीवाणुवाद की अभिव्यक्ति और भी दिखाई देती है । चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थो मे सक्रामक (Infectious) तथा औपसर्गिक (Epidemic) रोगो का स्पष्ट रूप से समावेश है । उदाहरण—

प्रसगात् गात्र सस्पर्शात् नि श्वासात् सहभोजनात् ।
एक शय्यासनाच्चापि वस्त्र माल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

उपर्युक्त उद्धरण से यह वात निर्विवाद हो जाती है कि सक्रामक रोगो के जो जो माध्यम वर्तमान काल मे माने गये है वे ही माध्यम प्राचीन चिकित्सा विशेषज्ञो द्वारा भी स्थापित किये गये थे ।

यहा पर प्रसङ्ग से अभिप्राय स्त्री प्रसङ्ग से हे । तज्जन्य रोग उपदश, पूयमेह एव गात्र सस्पर्श से होने वाले रोग कुष्ठ, विसर्प, धनुस्तम्भ, मसूरिका, कर्णमूल ग्रन्थि शोथ आदि हे । नि श्वास मे राजयक्ष्मा, कुकुर काम, इन्फ्लूएन्जा, न्यूमोनिया आदि है । सहभोजन से प्रवाहिका, विसूचिका, ज्वर आदि का सक्रमण होता हे। एवमेव सहशय्या, सहवस्त्र, माला, अनुलेपन आदि से नेत्राभिष्यन्द, कुष्ठ, शोष, ज्वरादि व्याधिया एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य मे सक्रमण करती है । इसी श्लोक मे अन्त मे निर्दिष्ट औपसर्गिक रोगो से प्लेग, डिफ्थीरिया, मसूरिका, धनुस्तम्भ आदि महामारी के रूप मे फैलने वाले घातक रोगो का सकेत हे ।

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण मे स्पष्ट रूप से दो प्रकार के रोग कारण माने गये हे—(१) वाह्य और (२) आभ्यन्तर । 'निजागन्तु विभागेन रोगाश्च द्विविध मता' यहा पर वाह्य अथवा आगन्तुज कारणो से मुख्य रूप मे जीवाणुओ का ही निर्देश किया गया है । आधुनिक युग मे सहज (शरीरमारक) और रोगोत्पादक (Nonpathogenic and Pathogenic) दो प्रकार के जीवाणुओ का जो सिद्धान्त स्थापित किया गया हे वह मूल रूप से प्राचीन चिकित्सा विज्ञान का ही सिद्धान्त हे । पौराणिक और आयुर्वेदिक सहिताकारो को उपर्युक्त दो प्रकार के क्रिमियो का वातावरण मे व्याप्त होने का पूर्ण और चिरन्तन ज्ञान था । इस विषय मे चरक का मत है—

इह खल्वाग्निवेश । विंशतिविधा क्रिमय पूर्वमुद्दिष्टा, नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्य, ते पुन प्रकृतिभि विद्यमान्त चतुर्विधा' भवन्ति तद्यथा पुरीषजा, श्लेष्मजा, शोणितजा', मलजाश्चेति । —चरक

शरीर सहजास्त्ववैकारिका. क्रिमय । —चक्रपाणि

सूक्ष्मत्वाश्चैके भवन्त्यदृश्या. । —चरक ।

उपर्युक्त समस्त विवरण का आमूलचूल गवेपणात्मक गहन विश्लेषण करने पर यह वात स्वयसिद्ध हो जाती हे कि प्राचीनो को अणुवीक्षण यन्त्रो के समान कोई विधि ज्ञात थी जिससे उन्होने दृश्य और अदृश्य क्रिमियो का विस्तृत विवेचन किया ।

जीवाणु प्रतिकार व्यवस्था—

दृश्य, अदृश्य, सहज और रोगोत्पादक क्रिमियो के ज्ञान के आधार पर उनका प्रतिकार और शारीरिक रक्षा एव वातावरण की शुद्धि आदि के लिए वैदिक ग्रन्थो

और आयुर्वेदिक सहिताओ मे विविध विधानो, औपधियो और नियमो के निर्देश अजस्र धारा के रूप मे वर्णित किए गये जिनके कुछ उद्धरण नीचे दिये जा रहे हे—

१ क्रिमि नाश के लिये सूर्यकिरणो का प्रभाव—

उद्यन्नादित्य क्रमीन् हन्तु निम्नोचन रश्मिभि· ।।
(अथर्ववेद)

२ अग्नि द्वारा क्रिमियो का नाश—

उप प्रागाद्देवो अग्नि रथोहा अमीवचहन. ।
दहन्नप' द्वयाविनो यावुधानान् क्रिमीदन ।। (अथर्व)

३ औपधियो द्वारा—

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नु रक्षास्यौषधे । (तैत्तरीय)

४ सुगन्ध द्रव्यो द्वारा—

अज श्रृ ग्मज रक्ष सर्वान् गन्धेन नाशय । (शतपथ)

५ आयुर्वेद सहिताओ मे भी—जीवाण नाश के लिए गुग्गुल, गन्धक, अगरु, कर्पूर, विडग, वट, नीम आदि अनेक विध औपधियो का वर्णन है ।

६ यकृत्—पित्ताशय, वृक्क, फुफ्फुसादि आभ्यन्तरिक अङ्गो मे सक्रमण जन्य रोगो की अवस्था मे निम्व, कुटकी, पचक्षीरी वृक्ष, वरुण, वासा, वशलोचन आदि द्रव्य जीवाणु नाश (Antiseptic) का सशक्त प्रभाव रखते है।

७ उदर क्रिमियो मे—विडङ्ग, काम्पील्लक, पलाश आदि का शताब्दियो पूर्व से प्रयोग होता रहा हे और इनका विशिष्ट प्रभाव होता हे ।

८ जीवाणुओ का अस्थिगत प्रभाव (Bone T B) होने पर गुग्गुल के योग, स्वर्ण योग, एव कूपीपक्व रसो का प्रभाव निश्चित लाभकारी है ।

९ क्रिमिजन्य मस्तिष्क शोथ (Encephelitis) मे शङ्खपुष्पी, सर्पगन्धा, पटपल घृत आदि का वाह्य तथा आभ्यन्तरिक प्रयोग चिकित्सा के विशेप अङ्ग माने जाते हे । इसी अवस्था मे वृ० कस्तूरी भैरव, वृ० वातचिन्तामणि आदि योग क्रिमि नाशकत्व के आधार पर अपना विशेप प्रभाव रखते हे ।

आधुनिक देन—

प्राचीन जीवाणुवाद के अस्तित्व पर ही आधुनिक जीवाणु विज्ञान की आधार शिला स्थापित हुई और अणुवीक्षण अध्ययन के माध्यम से जीवाणुवाद के इतिहास मे एक नये युग ने करवट ली । इस युगमे विभिन्न जीवाणु और उनसे उत्पन्न होने वाले साधारण,भयङ्कर और घातक रोगो का एक विस्तृत साहित्य और विज्ञान विद्यमान है।

अद्यावधि उपलब्ध प्रमुख जीवाणुओ
का सक्षिप्त वर्गीकरण

काकस नामक जीवाणु—Strepto Coccus, Stephylococcus, Pneumococcus, Gonococcus, Meningo Coccus

जीवाणुओ की वेसिलस जाति—Typhoid Bacillus,Phobsa Bacillus (Vibrio-Cholera), Diphtheria Bacillus, B Pertusis, Bacillary Dyscentry, Bacillus Tetanus, B Coli

अन्य जातिया—Triponima Pellidum (Spirocheta Pellida), Microbacterium Tuberculosis, Posturella Pestis, Malarial Parasite, Entemaeba Histolica,

विपाणु (Viruses)—virus Small Pox, Virus Influenza, Virus Dengue Fever आदि ।

उदर क्रिमि—सूक्ष्म वीक्षण यन्त्र की उपलब्धि से बहुत से उदर क्रिमियो का भी ज्ञान हुआ ।

जैसे—Tenia Solium, Tenia Seginata, Ascaris Lumbricoids, Trichusis Trichusia, Vermicularis, Ankylostoma Duodenale

आधुनिक काल मे इन जीवाणुओ के अविरत अणुवीक्षण अध्ययन (Microscopic study & research) से ही जीवाणु सवधन (Culture), रोग क्षमता (Immunity), मसूरी करण (Vaccination) प्रतिरोधक (Prophylaxis) रोगनाशक (Curative) चिकित्सा के सिद्धात एव इन्जेक्शन और औषधियो का आविष्कार हुआ जो मानव रक्षा के लिये वरदान सिद्ध हुआ है ।

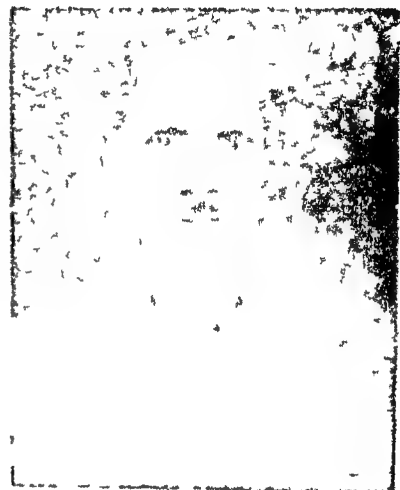
इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन वैज्ञानिको के सन्तुलित प्रयासो और गहन गवेपण अन्वेपण से ब्रह्माण्ड मे व्याप्त विषैले जीवाणुओ के बारे मे विश्व को ज्ञान प्राप्त हुआ और चिकित्सा सिद्धान्त मे एक नई धारा का जन्म हुआ ।

—डा कृष्णकात जी प्रिन्सीपल,
सेनेटरी एव डीन आयुर्वेद सकाय, अमृतसर,
श्री लक्ष्मीनारायण आयुर्वेद कालेज, अमृतसर।

त्रिदोष एवं जीवाणु

डा० बी० एन० गिरि ए० एम० बी० एस०

श्री डा० बी. एन गिरि आयुर्वेद के जाने माने चिकित्सक ही नहीं अपितु विद्वान हैं। आप इस समय डगरा जिला गया (बिहार) मे चिकित्सारत हे। आपने अब तक हजारो रोगियो को जीवन दान दिया है। आप असाध्य समझे जाने वाले रोगो की सफल चिकित्सा हेतु अपने क्षेत्र के जाने माने प्रसिद्ध चिकित्सक हैं।



आयुर्वेद जगत मे ऐसा कौन सा चिकित्सक है, जो कि आपको नहीं जानता हो। आप अपने अनुभवो से समय समय पर विभिन्न पत्र पत्रिकाओ के माध्यम से अवगत कराते रहते हैं। प्रस्तुत लेख सक्रामक रोग चिकित्सा के प्रथम खण्ड हेतु लिखा गया हे। लेख मे त्रिदोष एव जीवाणुओ का सही ढग से पूर्णरूपेण वर्णन किया गया हे। जगह-२ पर आयुर्वेद ग्रथो का उद्धरण देकर विषय को रोचक एव पुष्ट बनाया गया हे।

—वैद्य ओ० पी० वर्मा (विशेष सम्पादक)

जीवाणुओ द्वारा किस प्रकार रोगोत्पन्न होते है और मनुष्य शरीर पर किस प्रकार क्या प्रभाव पडता है इस सम्बन्ध मे क्रमश वर्णन किया जायगा। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तको के अवलोकन से यह पता चलता हे कि कतिपय रोगो को छोडकर शेष सम्पूर्ण रोगो का उत्पन्न होने का प्रधान कारण जीवाणु हे। प्रकृति मे कोई स्थान ऐसा नही है जहा पर रोगोत्पादक जीवाणु नही पाया जाता हो। वायु, जल पृथ्वी एव पृथ्वी के नीचे सभी स्थानो पर जीवाणु पाये जाते है। गर्म और मध्यम जलवायु वाले देशो मे शीत प्रधान देशो की अपेक्षा अधिक जीवाणु पाया जाता हे। वैज्ञानिको ने अब तक विभिन्न प्रकार के लाखो जीवाणुओ की खोज की हे, किंतु रोगोत्पादक जीवाणु लगभग ५० प्रकार के है, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। अभी तक इन्ही के बारे मे नामकरण कर पाये हे शेष का नामकरण अभी तक नहीं किया गया हे। लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व अणुवीक्षण यन्त्र के आविष्कार के साथ ही कीटाणुओ की खोज की गई थी परन्तु इन कीटाणुओ का वर्गीकरण उस समय तक नही किया गया था।

सन् १८४० ई० मे हेनल नामक विद्वान ने सब प्रथम सूक्ष्म जीवाणुओ का सक्रामक रोगो से सम्बन्ध सिद्ध किया था। सन् १८५० ई० मे लूई पास्चर Luce Pasture नामक वैज्ञानिक ने ही रोगाणुओ का स्वरूप निश्चित कर बताया था कि मनुष्य शरीर मे अधिकाश रोगो का जनक कीटाणु है। वास्तव मे आधुनिक जीवाणु विज्ञान के प्रतिष्ठापक लूइ पास्चर ही थे। लूई पाश्चर के खोजबीन के परिणाम स्वरूप विश्व मे खलबली मच गई और रोगो के कारणो की जाच होने लगी। इसके पश्चात काक नामक वैज्ञानिक ने जीवाणुओ तथा रोग का निश्चित सम्बन्ध सिद्ध करके जीवाणु विज्ञान की नीव डाली।

इसके पश्चात् गत एक शताब्दी मे जीवाणु विज्ञान ने अभूतपूर्व उन्नति की और विभिन्न प्रकार के जीवाणुओ की खोज की गई और वर्गीकरण एव नामकरण किया गया जो इस प्रकार से है—

जीवाणुओं का नाम	आंग्ल भाषा में	रोगों से सम्बन्ध
(१) वैसीलस ट्युबरक्लासिस	Bacillus Tuberculosis	राजयक्ष्मा (टी० बी०)
(२) वैसीलस टायफोसिस	Bacillus Typhosis	आन्त्रिक ज्वर
(३) वैसीलस पैराटायफायड	Bacillus Para-typhoid	उपान्त्र ज्वर
(४) वैसीलस डिसेन्ट्री	Bacillus dysentry	प्रवाहिका, रक्तातिसार
(५) वैसीलस एन्थ्रेसिस	Bacillus Anthrasis	ऊनधुनों का रोग
(६) वैसीलस प्लेग	Bacillus Plague or Pasturella Pastis	प्लेग
(७) वैसीलस डिफ्थेरिया	Bacillus Diphtheria	झिल्ली प्रदाह, रोहिणी
(८) ,, ,, टिटेनी	,, ,, Tetani	धनुष्टकार (टिटैनश)
(९) ,, ,, परटुसिस	,, ,, Pertusis	कुकर खासी (हूपिंग कफ)
(१०) ,, ,, इन्फ्लूएन्जा	,, ,, Influenza	वात श्लैष्मिक ज्वर
(११) ,, ,, डुक्रे	,, ,, Ducreys	उपदंश का कोमल व्रण
(१२) ,, ,, मेलिटेनसिस	,, ,, Meltenesis	माल्टा ज्वर
(१३) ,, ,, लेप्रो	,, ,, Lepro	कुष्ठ
(१४) ,, ,, कोलाई	,, ,, Coli	मूत्र सस्थान का रोग

नोट—वैसीलस कोलाई नामक जीवाणु से कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हे जैसे एपेण्डीसाइटिस (आन्त्रपुच्छशोथ), उदरावरण प्रदाह, प्रसूति ज्वर इत्यादि

(१५) वैसीलस एक्नी	Bacillus Acni	नये मुहासे
(१६) ,, रैबिज	,, ,, Rabies	अलर्क विष, कुत्ता काटे का विष
(१७) वोरेलिया रिकरैन्टिस	Borelia Recurrantis	पुनरावर्तक ज्वर
(१८) लेप्टोस्पाइरो-इक्टेरो ,, हेमोरेजिका	Leptrospiro Ictiero ,, Haemorrhagica	कामला, सक्रामक कामला जौन्डिस।
(१९) लिशमानिया ट्रोपिका	Lishmania tropica	प्राच्य व्रण
(२०) ,, डोनोवनी	,, ,, Donovani	कालाजार
(२१) मिजल्स वाइरस	Measles Virus	खसरा
(२१) मम्पस ,,	Mumps Virus	कर्णमूल शोथ
(२३) मेनिन्गो कोक्कस	Meningo Coccus	मस्तिष्क सुषुम्नावरण प्रदाह
(२४) माइक्रो कोक्कस कैटेरल	Micro Coccus Catarrhalis	सर्दी, जुकाम, प्रतिश्याय
(२५) चिकन पौक्स वाइरस	Chiken pox Virus	छोटी चेचक
(२६) स्माल पौक्स ,,	Small Pox Virus	शीतला, चेचक
(२७) स्पाइरोलम माइनस	Spirillum Mines	मूषक दंश ज्वर
(२८) स्ट्रेप्टो कोक्कस	Strepto Coccus	विसर्प, सन्धि शोथ आदि
(२९) स्टेफ्लो कोक्कस	Stephylo Coccus	फोड़े, फुन्सी, पूय, उत्पादक
(३०) एन्टेमीवा हिस्टोलिटिका	Entemoeba Hystolitica	अमेविक, पेचिस, अतिसार
(३१) वाइवैक्स मलेरिया या प्लाज्मोडियम वाइवैक्स	Vibex Malaria or Plasmodium vibex	विषम ज्वर

जीवाणुओ का नाम		आग्ल भाषा मे	रोगो मे सम्बन्ध
(३२)	ट्रोपोनिमा पिलिडम अथवा स्पाइरोनिमा पालिडम	Treponima Pallidum or Spironema Pallidum	उपदश, आतसक, फिरङ्ग
(३३)	वाइब्रो कॉलरा	Vibrio Cholera	विशूचिका, हेजा
(३४)	न्यूमो कोक्कस	Pneumo Coccus	न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर)
(३५)	गोनो कोकस	Gono Coccus	सुजाक, पूयमेह, उष्णवात

इसके अतिरिक्त अन्य रोगो के भी कीटाणु है तथा वाइरस टाइप के जो जीवाणु है उनका वर्गीकरण अभी तक नही किया गया है। सक्षेप मे लम्बी आकृति वाले जीवाणु को वैसीलस, गोल आकृति वाले को कोक्कस तथा टेढी-मेढी आकृति वाले को स्पाइरिला कहते है।

जीवाणु के प्रकार—स्थूल एव सूक्ष्म ये दो प्रकार के जीवाणु होते है जो सक्रामक हो सकते है। स्थूल मे सर्प, बिच्छू, वर्रे आदि जीवो के दश मे भी शरीर मे विष फैलता है किन्तु इनका विष प्रभाव प्राय फैलने वाला सक्रामक नही होता। इनके दश मे वही मनुष्य पीडित होता है जिन्हे ये कीडे अथवा जानवर काटते है। यदि अधिक तीव्र विष हुआ तो मृत्यु तक हो जाती है। अन्यथा ज्वर का आविर्भाव होता है। प्रकृति के अनुकूल शरीर मे दाह, प्रदाह, वेदना अथवा स्थानिक प्रदाह आदि प्रभाव मात्र होता है।

दूसरे प्रकार के वे जीवाणु होते है जो अति सूक्ष्म प्रकार के होते है जिन्हे अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से देखा जा सकता है। यह भी कई प्रकार के होते है। वैक्टिरिया (Bactria)—यह भी दो प्रकार के होते है। एक तो वह जो रोग उत्पादक है और दूसरे वह है जो हमारे शरीर के लिए आवश्यक है। यह दूसरे प्रकार के शारीरिक हितकारी जीवाणु ही दही, पनीर, खमीर आदि बनाने मे सहायक होते है। प्रथम प्रकार के जीवाणुओ मे अति सूक्ष्म प्रकार के वैसीलस नाम से जाने जाते है। आयुर्वेद मे इसे दण्डाणु नाम से ग्रहण किया गया है। टी० बी० क्षय रोग के जनक ऐसे ही जीवाणु होते है जिन्हे टियूब्युकुलर वैसीलस कहते है।

तीसरे प्रकार के जो जीवाणु है वे कोक्कस जाति के है। ये बिन्दु आकार के होते है। परन्तु इस कोक्कस जाति मे भी कई प्रकार के भिन्न-भिन्न जातियो के है जो इस प्रकार से है—

[१] स्टैफिलो कोक्कस—ये बिन्दु आकार के है साथ ही कई मिलकर समूह रूप मे होते है, जिस प्रकार रात्रि को आकाश मे सप्तऋषि तारा मण्डल दिखलाई पडते है।

[२] स्ट्रेप्टो कोक्कस—ये भी बिन्दु आकार मे एक ही सीध मे अथवा पक्तिबद्ध रहते है।

[३] डिप्लोकोक्कस—ये हर जगह एक साथ दो बिन्दुओ के रूप मे इकट्ठा विसर्ग रूप मे रहता है।

इस प्रकार वैक्टिरिया, वैसीलस, कोक्कस आदि वर्ग के सक्रामक जीवाणु वनस्पतिक श्रेणी के माने जाते है। परन्तु प्राणिज श्रेणि मे दिखाई पडने वाले सर्प, बिच्छू आदि जीव ही नही होते। इस श्रेणि म भी इस प्रकार के जीवाणु होते है जो अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा ही देखे जा सकते है। इनमे प्लाज्मोडियम मलेरिया ज्वर के जन्म दाता, लिशमानिया लोकल सोर एव कालाजार, ट्रोपोनोसोमी ओमेवा, वैलनटिडियम कोलाई, जियार्डिया, लैम्बलिया, स्पाइरोकैटल (जिनसे उपदश, फिरङ्ग, रिलैप्सीग फिवर चूहा काटे का ज्वर इत्यादि होते है।) इसे और भी अच्छी तरह स्पष्ट समझने के लिए निम्न प्रकार से विवेचन कर देना आवश्यक है—

(१) ग्राम धनात्मक (Gram positive)—इनमे पाच प्रकार के होते है। (क) बी डिफ्थीरिया (B Diphtheria) का उत्पादक जीवाणु (ख) वैसीलस टिटैनी-यह टिटनस (धनुर्वात) का उत्पादक जीवाणु, इसका आकार ढोल बजाने के डण्डे के समान होता है। इसलिए इसे दण्डाणु कहते है। (ग) वैसीलस ट्यूवर क्यूलोसिस—यह क्षय रोग को उत्पन्न करता है। (घ) वैसीलस एन्थ्रेसिस—यह एन्थ्रेक्स रोग को उत्पन्न करने वाला जीवाणु है जो आकार मे बडा होता है तथा जोडे अथवा शृङ्खलाबद्ध पाया जाता है। (ङ) स्ट्रप्टोथ्रिक्स एक्टीनोमायकोसिस—यह फुफ्फुस अथवा यकृत मे विकृति उत्पन्न करता है।

(२) ग्राम धनात्मक विन्द्वाकार—यह विन्दु आकार मे तीन प्रकार का जीवाणु होता है। (क) स्ट्रेप्टोकोक्काई—यह शृङ्खला रूप मे रहते है। (ख) स्टेफिलो कोक्काई—यह गुच्छो के रूप मे देखे जाते है। ये दोनो प्रकार के जीवाणु पूय उत्पादक होते है। (ग) न्यूमोकोक्कस—न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर) के जीवाणु, ये जोडा मे दिखाई पडते है और जीवाणु के चारो ओर आवरण सा दिखाई पडता है।

(३) ग्राम ऋणात्मक (Gram Negative)—दण्डाकार-इसमे चार प्रकार के होते है। (क) बैसीलस पेस्टिस-प्लेग का जीवाणु। ग्रन्थि के अन्तर्गत पूय मे तथा रक्त मे एवं फुफ्फुस मे विकृति होने पर कफ मे भी देखा जा सकता है। (ख) बैसीलस पर्टुसिस—कुकर खासी का जीवाणु, यह अण्डाकार छोटी जीवाणु है। (ग) बैसीलस टाइफाइड, डिसेन्ट्री कोलाई—ये सभी दण्डाकार जीवाणु आकार मे लगभग मिलते जुलते है। (घ) बैसीलस इन्फ्लूएन्जा—यह अति छोटा दण्डाकार ग्राम ऋणात्मक जीवाणु है जो वातश्लैष्मिक ज्वर को उत्पन्न करता है।

(४) ग्राम ऋणात्मक विन्द्वाकार—इसमे भी चार प्रकार के होते है। (क) मेनिन्गो कोक्कस, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर के जीवाणु। (ख) गोनो कोक्कस— यह पूयमेह (सुजाक) का जीवाणु है जो दो-दो के जोडा मे दिखाई पडता है। यह वृक्काकार होता है। (ग) मायक्रोकोक्कस कटारलिस—यह कफ एव नासास्राव मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के जीवाणु है। (घ) स्पाइरोकीटा पैलिडा अथवा ट्रोपोनिमा पैलिडा— यह उपदंश, फिरङ्ग के जीवाणु है। इसका आकार कार्क स्क्रू (Cork screw) के समान होता है। इसके अतिरिक्त ओर भी अन्य प्रकार के वायरस टाइप के जीवाणु है जिनका वर्गीकरण ठीक-ठीक निर्णय नही किया गया है।

मनुष्य के मल (विष्ठा) मे भी लगभग छ प्रकार के कीटाणु पाये जाते है—

(१) स्फीत कृमि (Tap worm)—यह ८ से १२ फीट तक होते है। इसके सिर की मोटाई आलपिन के सिर के बराबर होती है।

(२) विफ स्फीत कृमि (Beef tape worm)—यह १० से २५ फुट तक लम्बा, शिर छोटा चौकोर होता है।

(३) केचुये (Round worm)—यह पीत वर्ण पुरुष कृमि ५ से ८ इन्च तक लम्बा पुच्छ टेढी होती है। स्त्री कृमि ७ से १४ इन्च लम्बी पुच्छ सीधी होती है।

(४) प्रतोद कृमि (Whip worm)—४ पुरुष कृमि लगभग २ इन्च लम्बी चाबुक के समान एव स्त्री कृमि लगभग २॥ इन्च लम्बी सीधी होती है।

(५) अकुश मुख कृमि (Hook worm)—छ गोल, लम्बा श्वेत अथवा धूसर वर्ण के किंचित पीला, पुरुष कृमि लगभग आधी इन्च लम्बा, इसका पिछला हिस्सा छुरा के समान होता है। स्त्री कृमि आधी इन्च लम्बा, मुख भाग लम्बा नुकीला, जिसमे दात तथा अकुश होते हैं, पिछला भाग मोटा तथा थोथा होता है।

(६) तन्तु कृमि (Thread worm)--५ पुरुष कृमि १/६ इन्ची लम्बी थोडी गोल तथा कण्टक युक्त पुच्छ एव स्त्री कृमि १/२ इन्ची लम्बी पतली तथा नोकदार पूछ मृत के समान सफेद वर्ण का होता है।

पूर्व मे लिखे गये ग्राम ऋणात्मक एव ग्राम धनात्मक जीवाणुओ मे जो भी रोग उत्पन्न होते है उनमे रोग की चार अवस्थाये प्रकट होती है—

१ टाक्सिमियाँ-- इस अवस्था मे जीवाणुओ का विष रक्त मे प्रवेश करता है। पश्चात् रोगोत्पत्ति हुआ करती है।

२ वैक्टिरीमिया --इस अवस्था मे रक्त के साथ जीवाणू प्रवाहित होते है और विषाक्त होकर रोगोत्पन्न होते है।

३ सैप्टीसीमिया—इस अवस्था मे जीवाणु रक्त मे मिलते और मवाद (पूय) उत्पन्न करने लगते है अथवा अनुकूल वातावरण रक्त मे उत्पन्न करते है।

४ पायोमिया— इस अवस्था मे रक्त मे पूय का निर्माण आरम्भ हो जाता है और पूय शरीर के एक-एक अङ्ग से फूटकर बाहर निकलने लगता है अथवा निकलने का प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त यह जीवाणु दो प्रकार से प्रभावकारी होते हैं। एक सार्वदैहिक, दूसरा स्थानीय प्रभाव उत्पन्न करते है। ये सारे जीवाणु शरीर मे अथवा समस्त शरीर मे नही फैलते, प्रकृति के अनुसार एक ही स्थान मे रहकर वृद्धि होते और जब अत्यधिक वृद्धि होकर विष रक्त मे

पहुँच जाता है तब रोग लक्षण प्रकट होता है। कुछ ऐसे प्रकार के भी होते हैं जो एक स्थान में एकत्रित न होकर रक्त मे भ्रमण करते हैं और वृद्धि होकर विष भी बढाते रहते हैं। जो सार्वदैहिक होते हैं। यदि स्थानीय होते हैं तब तो वही कोई लक्षण प्रकट होताहै और सार्वदैहिक हुआ तो परिणाम अन्य प्रकार का होता है।

इनमें मलेरिया, कालाजार, आवर्तक ज्वर श्लीपद के जीवाणु रक्त मे पाये जाते हैं। आन्त्र ज्वर, उपान्त्र ज्वर के जीवाणु भी प्रारम्भिक अवस्था मे रक्त मे पाये जाते हैं। परन्तु स्ट्रेप्टो कोक्काई, स्टैफिलो कोक्काई, न्यूमो कोक्काई, नेसिन्गो कोक्काई, बी० कोलाई, गोनो कोक्काई, क्षय के जीवाणु आदि हमेशा विकृत स्थान में ही पाए जाता है। रक्त मे नही पाया जाता है। कभी ये जीवाणु जब सीधे रक्त मे पाये जाते हैं तब यह भयंकर अवस्था के सूचक हुआ करते हैं।

अस्तु संक्षेप मे यही जीवाणु विज्ञान है जिससे अनेकों प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है। इन्ही जीवाणुओ की प्रतिक्रियाओ को दृष्टि मे रखते हुए नित नई-नई एन्टी बायोटिक (भूतघ्न) औषधियों आविष्कार की जा रही हैं। किन्तु रोगो पर विजय पाने की मृगतृष्णा मे प्रतिक्रियास्वरूप नित नई-नई व्याधियो की उत्पत्ति भी होती जा रही है। वर्तमान समय मे शीघ्र रोग निवृत्ति की दृष्टि से अच्छे से अच्छे ख्याति प्राप्त चिकित्सक धड़ल्ले से एनलजैसिक एव हाई एण्टीबायोटिक औषधियो का प्रयोग करते जा रहे हैं। यह भविष्य मे स्वास्थ्य के लिए विशेष हानिकारक सिद्ध होगा। क्योकि साग, सब्जी से लेकर सभी खाद्य वस्तुओ मे (चावल, गेहू आदि) किसी न किसी रूप मे विषाक्त रासायनिक द्रव्यो का कुछ न कुछ अंश रहता ही है। दूसरे मे अनाडी स्वास्थ्य कर्मचारियो एव नवसिखियो अर्ध चिकित्सको के द्वारा अन्धाधुन्ध औषधियो के प्रयोग से ऐसा लगता है कि यदि यही क्रम जारी रहा तो आने वाले १०-२० वर्षो मे प्रत्येक मनुष्य औषधि पर ही निर्भर रहेगा।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि रोगो को नष्ट करने और स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से आधुनिक चिकित्सा पद्धति ही सर्वमान्य श्रेष्ठ चिकित्सा है। परन्तु यह अत्यन्त ही भ्रामक बातें हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अभी तक पूर्ण निश्चितता के साथ यह तय नही कर पाया है कि कोई मनुष्य क्यो अस्वस्थ हो जाता है और किस प्रकार वह स्वस्थ हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि रोगो का मूल कारण जीवाणु है तो यह भी ठीक प्रतीत नही होता, क्योकि अनेक ऐसी व्याधियां हैं जिनकी उत्पत्ति मे जीवाणुओ का कुछ भी अंश नही रहता अथवा पाया जाता।

इस प्रकार की व्याधियो को फक्शनल डिसीज कहा जाता है। इसके अतिरिक्त एक नगर अथवा एक ही मकान मे निवास करने वाले सभी लोगो के सम्पर्क मे जीवाणु आते हैं, किन्तु जीवाणुओ के सम्पर्क मे भी क्यो कुछ ही लोग रोगग्रस्त होते हैं, जबकि अन्य लोगो पर इन जीवाणुओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है और वे लोग पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। मेहतर तथा अन्य लोग सदैव धूल और गन्दगी मे रहकर कार्य करते है उन पर भी जीवाणुओ का कोई प्रभाव नही पडता है तब कहा जाता है कि इन लोगो की रोग प्रतिरोधक शक्ति अथवा रोग क्षमता प्रबल है। उन पर जीवाणुओ का प्रभाव नही पडता है और सर्वथा अप्रभावित रहते हैं। इससे तो स्पष्ट होता है कि रोगोत्पत्ति का मूल कारण जीवाणु नही हैं। मनुष्य की प्रतिरोधक शक्ति मे कमी है। इसलिए कुछ दशाओं मे टीका (Vaccinations), कुछ रोगो मे विटामिन्स एवं अन्य शक्तिवर्द्धक औषधियां देकर रोग क्षमता एवं प्रतिरोधक शक्ति मे वृद्धि की जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे एकमात्र जीवाणुनाशक ही चिकित्सा नही है।

विटामिन्स और अन्य शक्तिवर्द्धक औषधियां भी मानव स्वास्थ्य रक्षा के लिए अनिवार्य हैं। यही कारण है कि जीवाणुनाशक औषधियो से अस्थाई रूप मे ही आरोग्यता प्राप्त होती है। परन्तु यदि रोग की प्रतिरोधक शक्ति अथवा रोग क्षमता नही बढ पाती है तब रोग का पुन: आक्रमण होता है। बारम्बार हाइ एन्टीबायोटिक, सल्फा ड्रग्स एव अन्य चमत्कारी औषधियो की आवश्यकता पड़ती रहती है और कुछ काल के पश्चात इन औषधियो का भी कुछ प्रभाव रोग निवृत्ति मे नही पडता है।

आधुनिक चिकित्सक प्रत्यक्ष दृष्टि अर्थात अणु-

वीक्षण यन्त्र की सहायता से देखकर जीवाणुओं के द्वारा रोगोत्पन्न कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि मे जीवाणु ही व्याधि उत्पत्ति का निमित्त कारण है। किन्तु यह युक्तिसंगत प्रतीत नही होता क्योकि जीवाणु साक्षात् रूप मे रोगजनक नही है। जीवाणु शरीर मे प्रवेश करते ही रोगोत्पन्न नही करते। सचय, प्रकोपादि क्रम मे वातादि दोषो मे विकृति उत्पन्न करने मे समर्थ होते है। दोष की विकृति भी स्वय जीवाणु नही करते, परन्तु जीवाणुओ के शरीर से जो विष निकलता है उससे दोषो की विकृति होती है। क्योकि जीवाणु के शरीर मे प्रवेश करने के पश्चात् जब तक दोषो मे रोगोत्पत्ति के अनुकूल विकृति नही होती तब तक उतने समय को रोगोत्पत्ति काल कहते है।

शरीर मे जीवाणु प्रवेश करके निश्चित रूप मे रोगोत्पन्न नही करते, परन्तु जिस शरीर मे जीवाणु को वृद्धि करने की अनुकूल परिस्थिति मिलती है वहा वृद्धि करके अपने विष द्वारा वातादि दोषो को विकृत कर रोगोत्पन्न करने मे सक्षम होते है और जिस शरीर मे अनुकूल परिस्थितिया नही मिल पाती वहा जीवाणु जाकर मृत हो जाते है अर्थात् स्वस्थ शरीर मे जीवाणु प्रवेश कर शीघ्र विनष्ट हो जाते है। अतएव जिन रोगो मे जीवाणु प्रत्यक्ष दिखाई देते है, वे दोष विकृति के कारण ही क्योकि वहा भी दोष ही साक्षात कारण है। जैसे बीज और भूमि का सम्बन्ध है ठीक उसी प्रकार मनुष्य शरीर और जीवाणु का सम्बन्ध है।

आप देखते होगे कि वर्षा, हवा, धूप, सिचाई इत्यादि के अच्छी स्थिति मे रहने के पश्चात भी भिन्न-२ खेतो मे बीज का अंकुरण एव उपज एक समान नही हो पाता है, उसी प्रकार भिन्न-२ मनुष्यो मे रोग अवरोधक शक्ति पृथक-२ होती है। जैसेकि किसी भूमि मे उपज अधिक होती है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर मे उत्पन्न रोग भी किसी विशिष्ट व्यक्ति मे कई एक रोग शीघ्र फैल जाता है। उदाहरण स्वरूप किसी फल को ही ले लीजिये, वृक्ष से फल तोडने पर प्रथम फल बासी पडता है, उसके पश्चात् विकृत होता तब गलता है। गलने के पश्चात् ही सडन उत्पन्न होती और सडने के पश्चात् वाह्य वातावरण की सहायता से उसमे कीटाणु की उत्पत्ति होती है।

ठीक इस प्रकार मनुष्य शरीर मे किसी स्थान विशेष पर रक्त सचार वातादि दोषो के कारण दूषित होता है। रक्त सचार की कमी से वह भाग निर्बल होकर गलने लगता अथवा दूषित होता, पश्चात सडन उत्पन्न होकर अन्य वाह्य कारणो की सहायता से जीवाणु की उत्पत्ति होती है। इस सम्बन्ध मे सुश्रुत सहिता का कितना अकाट्य प्रमाण स्पष्ट रूप मे मिलता है—

> वातादृते नास्ति रुजा न पाक
> पित्ताहृते नास्ति कफाच्च पूय ।
> तस्मात् समस्तान परिपाक काले
> पचन्ति शोफा स्त्रय एव दोषा ॥
>
> —सु सू अ १७

व्रण शोथ पाक मे पूयोत्पत्ति होती है तब वेदना, पाक तथा पूय भाव होता है। आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार वेदना (दर्द) का कारण वायु है। पाक पित्त के बिना नही हो सकता और पूय कफ के बिना नही होता। इस प्रकार व्रण शोथ पाक मे तीनो दोषो की क्रमश क्रिया होकर पाक होता है।

अतएव जीवाणु का विष जब शरीर मे व्याप्त हो जाता है। तब उस समय परीक्षा (जाच) करके पुष्टि के आधार पर कारण बतलाते हुए रोग निश्चित करते है और भ्रमवश यह मान लेते है कि सबसे आरम्भ मे रोग का कारण वास्तविक मे जीवाणु है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। मनुष्य शरीर असख्य रोगो का घर है जो उनकी जाच पडताल पहचान अभी भी आधुनिक विज्ञान वेत्ताओ के लिए असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि जीवाणु तब तक शरीर मे कोई रोग उत्पन्न नही कर सकते जब तक शरीर मे स्वत कोई रुग्ण स्थान न हो जाय अर्थात् जब तक दोषो की विषमता होकर रस, रक्तादि धातुओ मे विकृति उत्पन्न न हो जाय तब तक रोगोत्पन्न होना सम्भव नही है। जैसा कि प्राय आन्त्रिक ज्वर डिफ्थेरिया और मस्तिष्कावरण के जीवाणु गिनाये जा सकते है। इनमे आन्त्रिक ज्वर, डिफ्थेरिया के जीवाणु प्राय सक्रमण के बाद ही उत्पन्न होते है अथवा दिखाई देते है। जबकि तीसरा मस्तिष्कावरण के

जीवाणु प्राय रोग जनक स्थिति के बदने मडन वाले ही प्रमाणित हुए हे ।

कॉलरा विशूचिका के जीवाणु को ही लीजिये ये मनुष्य के मुखमार्ग द्वारा प्रवेश कर प्राय कै, दस्त, मूत्रावरोध, प्यास, हाथ, परो की ऐठन, नीलमा आदि लक्षण उत्पन्न करते हे । परन्तु यह जीवाणु युक्त भोजन, पानी उसी मात्रा मे यदि १०-२० व्यक्तियो ने खालिया हो तो यह आवश्यक नही कि उन सभी व्यक्तियो की अवस्था भी एक जेसी हो जाय । इनमे कई व्यक्तियो को बिलकुल ही किसी प्रकार का कष्ट नही होता हे जबकि इनमे से कई व्यक्ति उग्र रूप मे पीडित हो जाते हे । तथा पीडित व्यक्तियो मे से तीन चार की मृत्यु भी हो जाती हे । प्राय यह भी देखने मे आया हे कि एक ही परिवार के व्यक्ति दूषित आहार तथा जीवाणुयुक्त कुआ का पानी पीने वाले सहसा सबके सब एक साथ रोगग्रस्त नही होते अपितु कुछ व्यक्ति बिलकुल ही स्वस्थ रह जाते हे ।

इससे स्पष्ट होता है कि रोगोत्पत्ति मे एक मात्र कारण जीवाणु ही नही हे । वातादि दोष ही विषम होकर रोगोत्पत्ति मे विशेष कारण प्रतीत होता हे । यदि वातादि दोष स्वाभाविक अवस्था मे रहते हे तब बाहरी अथवा भीतरी जीवाणु रोगोत्पन्न करने मे निष्क्रिय रहते हे और जब वातादि दोष विषम अवस्था मे रहते हे तब जीवाणु रोगोत्पादन मे सक्रिय होकर रोग उत्पन्न करते हैं । इस क्रिया को आधुनिक विज्ञान की दृष्टि मे स्वाभाविक शक्ति Natural Immunity और दूसरे को कृत्रिम शक्ति के नाम से जानते हैं । कृत्रिम शक्ति मे भी प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष Active and Passive शक्ति होती है ।

इस विचित्रता के विश्लेषण की तह तक पहुचने मे अभी भी वैज्ञानिक लोग असमर्थ हे । देखा गया हे कि प्लेग, कॉलरा चेचक आदि सक्रामक व्याधिया तीव्र रूप मे फैली है, परन्तु उसी स्थान पर एक ही घर मे रहने वाले कितने ही व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाते है और कुछ लोग रोगरहित रह जाते है । इसका विशेष कारण वातादि दोष का सामान्य अवस्था मे रहना ही जान पडता हे । आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त हे कि यदि मिथ्याहार विहारादि के सेवन से वातादि दोष कुपित होने मे समर्थ हो गया तब तो रोगोत्पत्ति होना निश्चित है, अन्यथा रोगोत्पन्न होना असम्भव है । यह सम्भव नही कि वातादि दोष कुपित हो और रोग उत्पन्न न हो ।

आयुर्वेद शास्त्रानुसार मिथ्याहार-विहारादि अप्रत्यक्ष कारण तथा प्रकुपित दोष प्रत्यक्ष कारण अथवा निमित्त कारण है । ऐसी स्थिति मे जीवाणुओं की समता वातादि दोषो का कोई अर्थ नहीं रखता उनका स्थान कारण कक्षा मे तृतीय हो सकता है । जबकि वातादि दोष का प्रथम स्थान हे । जीवाणु मिथ्याहार-विहार के समकक्ष अवश्य हे ।

ससार के प्राचीनतम चिकित्सा विज्ञान मे विकारोत्पादक एव सक्रामक कीटाणुओं का पर्याप्त वर्णन मिलता हे । यह बात निर्विवाद सत्य है कि प्राचीन आयुर्वेदज्ञो को जीवाणुओं की कारणता पूर्णरूपेण ज्ञात थी फिर भी उन्होने जीवाणु को प्राथमिकता नही दी । आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक मूर्त पदार्थ जड अथवा अचेतन चेतन के कारण तथा समस्त शारीरिक क्रियाओ के हेतु त्रिदोष सिद्धान्त को महत्व दिया है, जिनका मुख्य आधार पञ्च भूतात्मक हे । आयुर्वेदीय सहिताओ मे कृमि एव सूक्ष्म जीवाणुओ का वर्णन मिलता है । 'विशेषत कृमि जातिना त्रिविध सम्भव स्मृत । सु० उ० त०' । कृमि की २० जातियो के उत्पत्ति स्थल तीन बताये गये हे—शरीर के मल, कफ एव रक्त । इसे चरक सहिताकार भी स्वीकार करते हुए लिखते है 'विशति कृमि जातय ।' इस प्रकार सूक्ष्म जीवाणुओ का उन्हे पूर्ण ज्ञान था जेसे कि कुछ ऐसे रोग है जिनका मुख्य उत्पादक हेतु कीटाणु बतलाये गये है—

सर्वाणि कुष्ठाणि सवातानि सपित्तानि ।
सश्लेष्माणि सकृमीणि च भवन्ति ।।
—सु० नि० अ० ५

आगे लिखते हे—

प्रसंगाद् गात्र सस्पर्शान्नि श्वासात् सह भोजनात् ।
एक शैय्यासनाच्चैव वस्त्र माल्यानुलेपनात् ।।
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।।
—सु० नि० अ० ५

सभी कुष्ठ रोग वात, पित्त एव कफ और कृमि स होते है और उन्ही के द्वारा उनका विभिन्न व्यक्तियो मे सक्रमण भी होता है। कोढ, ज्वर, यक्ष्मा, आख दुखने, खसरा, चेचक, कॉलरा (विसूचिका), प्लेग, सुजाक आदि ये सभी सक्रामक रोग है जो एक दूसरे के ससर्ग से प्रसार पाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि जब प्राचीन आयुर्वेदज्ञो को जीवाणुओं का इतना सूक्ष्म ज्ञान था तो भी आयुर्वेदज्ञो ने जीवाणुवाद का विस्तृत वर्णन क्यो नही किया? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार हो सकता है कि आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिक जिनका आधारभूत सिद्धान्त कीटाणुवाद है जो ऐसा मानते है कि जब किसी रोग विशेष के जीवाणु मनुष्य शरीर मे प्रवेश करते हैं तब शरीर मे एक प्रकार का विष उत्पन्न करते हैं जिसे आग्ल भाषा मे टौक्सिन कहते है।

यह विष किसी विशेष स्थान पर पहुचकर तन्तुओ मे यदि विकृति कर सकने मे समर्थ हो गया तब तो रोगोत्पन्न होना सम्भव है अन्यथा निष्क्रिय अवस्था मे ही रहकर शरीर मे बने रह जाते अथवा विनष्ट हो जाते है। इस प्रक्रिया के अनुसार जीवाणु रोग उत्पन्न करने मे प्रत्यक्ष अथवा निमित्त कारण नही है। निमित्त कारण तो यहा पर वातादि दोष एव धातुओ की विकृति है। तन्तुओ मे विकृति उत्पन्न होती है तभी रोगोत्पन्न होना सम्भव है।

आयुर्वेद मे व्याधियो के उत्पन्न होने के दो भेद माने गये है। प्रथम दोषज एव द्वितीय आगन्तुक। दोषज व्याधिया मिथ्याहार-विहार आदि के कारण वातादि दोष विषम अवस्था मे होकर रोगोत्पत्ति करते है। आगन्तुक सर्वप्रथम शरीर मे अपना स्थान बनाते है पश्चात वातादि दोषो से सम्बन्ध स्थापित कर जैसे कि चोट, खरोच लगने, कटने पर सर्वप्रथम क्षत उत्पन्न होता है और जब दोषो का सम्बन्ध हो जाता है तब दाह, वेदना पूय (मवाद), शोथादि लक्षण प्रकट हो जाते है। इसी प्रकार आगन्तुक व्याधियो का दोषो से सम्बन्ध हो जाता है तब ही रोगोत्पत्ति होती है।

दोषो की समता और विषमता को नापने के लिए आयुर्वेद मे कोई प्रत्यक्ष यन्त्र तो है नही, फिर भी यह अकाट्य प्रमाण है कि मल, दोष, दूष्य आदि का यथा कमानुसार चलना, आत्मा, मन एव इन्द्रियो का प्रसन्न रहना ही दोषो की समता है और इसके विपरीत रहना रोग का सूचक है। सुश्रुत सहिताकार ने स्वस्थ की परिभाषा इस प्रकार की है जो आज भी उतनी ही सार्थक है जितनी कि पूर्व मे थी---

समदोष समाग्निश्च समधातु मलक्रिय।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मना स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

—सु० सू० अ० ५

जिस मनुष्य के शरीर मे समदोष (वात, पित्त, कफ) हो, पाचकाग्नि एव शरीर की अन्य अग्नि समान हो रस, रक्त, मास, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र ओज सप्त धातुएं सामान्य रहकर कार्य कर रही हो, मल, मूत्र, पसीना आदि का निष्कासन नियमित हो रहा हो तथा ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो की क्रियाये सामान्य रूप मे कार्यशील हो, आत्मा, मन, प्रसन्न रहते हो वही मनुष्य रोग रहित और स्वस्थ कहा जा सकता है। इसके विपरीत लक्षण रोग अथवा विषमता ही है।

जीवाणु साक्षात रूप मे रोगोत्पादक नही है क्योकि शरीर मे प्रवेश होने के पश्चात् ये जीवाणु सचय, प्रकोपादि मे दोषो मे विकृति करके ही रोग उत्पन्न करते है। इस प्रकार रोगोत्पत्ति मे दोषो की विषमता ही प्रमुख कारण प्रतीत होती है। अतएव कुछ व्याधिया ऐसी होती है जिनमे जीवाणुओ का निशान तक भी नही पाया जाता और स्वस्थ व्यक्ति के शरीर मे रोगाणु पाये जाने पर भी रोगोत्पत्ति नही होती। इससे सिद्ध होता है कि रोगोत्पत्ति मे प्रमुख कारण त्रिदोष की विषमता ही है।

— डा० वी० एन० गिरि ए एम बी एस, एस सी डी,
पो० डगरा, जिला गया (विहार)

—❦❦—

आर्ष-ग्रन्थो में—

जीवाणु विज्ञान एवं संक्रामक रोग

आयुर्वेद चक्रवर्ती डा० गिरिधारी लाल मिश्र, आयुर्वेद मार्तण्ड,
प्रधान चिकित्सक—केदारमल आयुर्वेदिक हास्पीटल, तेजपुर (असम)

—०❦०—



आयुर्वेद चक्रवर्ती श्री गुरु मिश्र जी एक प्राणाचार के व्यापक मूल्यों के सवाहक हैं। शालीनता, विनम्रता एव कर्तव्य के प्रति समर्पण आपके चरित्र के ऐसे गुण है जिससे प्रान्तेतर मनीषी भी आपसे प्रभावित हैं। आपके भाषण, लेख सरस होते हैं। सरस कृति का आदि मध्य अन्त सरस होना है—

सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुञ्चति।

आपने सदैव सृजनशील समर्पित सेवा को अपनाया है, जिसके लिये स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था—'मुझे मुक्ति या भुक्ति की परवाह नहीं, वसन्त की भांति मौन दूसरों की सेवा करना मेरा धर्म है।'

मेरे आग्रह पर आपने "आर्ष-ग्रन्थो मे जीवाणु विज्ञान एव सक्रामक रोग" विषयक लेख प्रेषित कर कृतार्थ किया है।

—वैद्य ओ पी वर्मा (विशेष सम्पादक)

नि सन्देह आयुर्वेद भारत की अमूल्य निधि है, जो अन्य चिकित्सा प्रणाली की तरह केवल चिकित्सा-शास्त्र मात्र ही नही अपितु जीवन का परिपूर्ण विज्ञान है। आज के वैज्ञानिक युग मे एलोपैथिक की धूम मची हुई है और उसे आधुनिक वैज्ञानिको द्वारा सार्वभौम समर्थन प्राप्त है और इसका प्रधान कारण है—'एलोपैथिको का जीवाणु विज्ञान और जीवाणुनाशक सशक्त औषधिया' और इसका आधार है अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) जिसका आविष्कार सन् १६८३ मे गैलीलियो नामक वैज्ञानिक ने किया था अत यह स्पष्ट है कि अणुवीक्षण यन्त्र के आविष्कार से पूर्व आधुनिक वैज्ञानिक जीवाणु के विषय मे पूर्णत अनभिज्ञ थे।

आज के पाश्चात्य वैज्ञानिको की यह धारणा है कि भारतीय चिकित्सक जीवाणु विज्ञान व सक्रामक रोग विज्ञान मे सर्वथा शून्य होते है क्योकि आधुनिक वैज्ञानिको के मतानुसार सन् १८४९-५० मे डा० हारडर एव डा० ड्यून ने जीवाणु विज्ञान पर अन्वेषण कार्य प्रारम्भ किया था एव सन् १८५० मे लूई पाश्चर ने खोज करके बताया कि कीटाणु ही हमारे बहुत से रोगो का कारण है। आधुनिक जीवाणु विज्ञान के प्रतिष्ठापक लूई पाश्चर ही माने जाते है पर सन् १८७६ मे जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान डा० काक ने विशेष अनुसन्धान करके इस सिद्धात की स्थापना की कि बहुत से रोग अर्थात् सौ मे से निन्यानवे रोग जीवाणुओ द्वारा होते है तथा जीवाणु और रोग का निश्चित सम्बन्ध सिद्ध करके इस शास्त्र की नीव डाली और विगत एक शताब्दी मे जीवाणु विज्ञान ने

आशातीत उन्नति की है।

सच तो यह है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक जिस जीवाणु विज्ञान के आविष्कार का श्रेय डा० काक को देते हैं उसका पर्याप्त वर्णन अथर्ववेद में उपलब्ध है तथा आयुर्वेद के तपपूत आत्मवादी मन्त्र द्रष्टा आयुर्वेद-मनीषियों ने वैदिककाल में ही जीवाणु विज्ञान के सूक्ष्मतम पहलुओं के सिद्धान्त स्थिर किये थे। आयुर्वेद-चक्षु चरकाचार्य ने—'सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्य' कहकर दृश्य-अदृश्य जीवाणुओं की व्यापक सत्ता को स्वीकार किया है। अथर्ववेद का वर्णन द्रष्टव्य है—

ये क्रिमय पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्त ।
ये अस्माक तन्व मा विविधु
सर्वं तद्हन्मिजनिम् क्रमीनाम् ।।
ओतो मे द्यावापृथ्वी ओतो देवी सरस्वती ।
ओतो मे इन्द्राग्निश्च क्रिमि जम्भयतामिति ।।
—अथर्ववेद काण्ड ५, सूक्त २३-१

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पृथ्वी और द्युलोक मे सर्वत्र क्रमि व्याप्त है तथा इनको नष्ट करने वाली जगती चिकित्सा—अथर्व सम्प्रदाय का मन्त्र औषधि-चिकित्सा तथा अग्नि, विद्युत, सूर्यरश्मि और हवन है। अत सहस्रो वर्ष पूर्व वैदिककाल मे मन्त्र द्रष्टा आयुर्वेद तत्त्वमर्मज्ञो ने रोगोत्पादक सूक्ष्म क्रिमियो का अनुभव किया और उनका अपने सूत्रो (मन्त्रो) मे उल्लेख किया—

दृष्टमदृष्टम् तुहग् द्यो कुरु सम द्दहम ।
आलगण्डू न सर्वाञ्छलुनाम् क्रमीन् वचना जम्भयारिच ।
—अथर्ववेद २-३१-२०

इतना ही नही, इन जीवाणुओ का वर्गीकरण तथा कौनसा जीवाणु किस अङ्ग पर क्या क्रिया करता है, यह भी इन्हे मालूम था।

अथर्व वेद मे जीवाणु का वर्णन, उनका जल, रुधिर, मास, दूध, गन्ध आदि मे निवास तथा सूर्य किरण, अग्नि, गुग्गुल, पीलु धातकी, जटामासी, अश्वत्थ, वट, अजश्रृगी प्रभृति की धूप से उनको नष्ट किये जाने का विस्तृत वर्णन है। क्रमियो का राक्षस, यातुधान, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा प्रभृति नामो से भी उल्लेख है—

कीटाणुओ के नाम	हिन्दी अर्थ	शास्त्र प्रमाण
१—राक्षस	रुधिर पीने वाले क्रमि	असृग्भाजान ह्वै रक्षासि कै० १०/४ रक्षो रक्षितव्यमस्तात्—निरुक्त ४/१८
२—यातुधान	वेदना देने वाले क्रमि	धातु वेदना दधनीति यातुधाना यातवो धीयन्ते क्रियन्ते समिरिति—वेदनोत्पदका क्रमिघ्न
३—पिशाच	मास को खाने वाले सूक्ष्म क्रमि	पिशित मासमाम्मतीति पिशाच —वाचस्पत्य कोप पिशित मासमश्नातीति पिशाच—शब्द कल्पद्रुम
४—अप्सरा	जल मे निवास करने वाले क्रमि	अप्सु सरन्तीत्यप्सरस —शतपथ
५—गन्धर्व	गन्ध मे रहने वाले क्रमि	गन्ध इत्यप्सरसा उपाय हो —शतपथ १०/५/२/२०

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद मे कफजन्य क्रमि, रक्तजन्य, पुरीपजन्य, मलजन्य क्रमियो का वर्णन उपलब्ध है।

वैदिककाल मे जलजीव 'अमीवा' का वर्णन इस प्रकार आया है—

शवचाः पीता भवत. यूयमापो-
ऽस्माकमन्त रुदरेसुशेवा ।
ताऽस्त्वस्यमगक्ष्माऽनमीवा अनागत
स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध ।।

इस वैदिक ऋचा मे स्पष्टत अमीवा रहित जलपान का सकेत किया है। महर्षि वेदव्यास ने भी महाभारत मे जीवाणुओ की व्यापकता को स्वीकार किया है—

उदके बहव प्राणा पृथिव्या च फलेषु च ।
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्क गम्यानि मदत
यक्ष्मणोपि निपातेन येषा स्यात् स्कन्धपर्यय ।

जीवाणुओं की संक्रमणशीलता के विषय में भी महाभारत के अनुशासन पर्व में उल्लेख है—

उपानहौ च वस्त्रञ्च धृतमन्येन धारयेत्।
ब्रह्मचारी च नित्य स्यात् पाद पादेन नाक्रमेत्।
अन्यस्य चाप्यवस्नात दूरत परिवर्जयेत् ।।

आचार्य वेदव्यास का कहना है कि दूसरे का पहना हुआ वस्त्र और जूता कभी भी नही पहनना चाहिये। आहार आदि के विषयों मे संयम रखना चाहिए। पैर मे पैर मिलाकर न रखे और दूसरा के स्नान किये हुए जल से कभी भी स्नान न करे। सत्य पूछिये तो महाभारत की इन पंक्तियों मे 'आधुनिक जीवाणु विज्ञान' का सार 'गागर मे सागर' की तरह समाविष्ट है।

आयुर्वेद के जीवनवेत्ता मनीषी, जो हमारे स्वास्थ्य के रक्षक थे, रोगोत्पत्ति एव संक्रमण, रोग निरोध तथा चिकित्सा के तथ्यों मे पूर्णत परिचित थे। सुश्रुताचार्य ने कुष्ठ रोग के संक्रमण का उल्लेख करते हुए लिखा है—

प्रसङ्गात् गात्र संस्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात्।
एक शैय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ।।
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।।

आचार्य सुश्रुत ने गागर मे नही एम्पूल मे सागर भर दिया है। चार ही पंक्तियों मे संक्रामक व्याधियों की गणना ही नही उनकी संक्रमण प्रक्रिया, उनके प्रसार (Routs of infection) का भी स्पष्टत उल्लेख है। प्रसङ्गवश उक्त श्लोक की व्याख्या अपेक्षित है—

प्रसगात्—प्रसग का अर्थ सम्भोग कर्म से है जिसके द्वारा अनेक रतिज रोगो (Venereal diseases) का संक्रमण होता है विशेषकर उपदंश तथा फिरङ्ग रोगों का प्रसार दुष्टयोनि मे समागम करने से होता है। आचार्य सुश्रुत के शब्दों मे—

अप्रक्षालित योनि योनिरोगोपसृष्टा स्वभावतो वा दुष्टयोनि वियोनि वा नारीमत्यर्थ 'सेव्यमानस्य' उसी प्रकार फिरंग रोग के प्रसरण मे भी आचार्य भावमिश्र ने 'फिरंगिण्या प्रसंगत'' का उल्लेख किया है।

गात्र संस्पर्शात्—रोगी व्यक्ति के गात्र स्पर्श से भी रोग फैलते हैं। आधुनिक विज्ञान मे Contageous disease के नाम से प्रचलित रोग समूह। स्पर्शज रोगी के शरीर के सम्पर्क से ही फैलते है। जैसे कुष्ठ, विसर्प, मसूरिका आदि का प्रसार रोगी शरीर के स्पर्श से ही होता है।

निश्वासात्—रोगाक्रान्त व्यक्ति के उच्छ्वास (Expiration) के साथ रोगाणु निकल कर वायु मे फैलते हैं। उस वायु को यदि स्वस्थ व्यक्ति श्वास प्रश्वास (Inspiration) मे ग्रहण करे तो उसको रोग का संक्रमण हो जाता है। आचार्य डल्हण के शब्दों मे—

तत्र नासारन्ध्रेणानुगते वायुनाश्वासम् कास प्रतिश्याय, त्वगिन्द्रिय गतेन ज्वर मसूरिकाद्या. ।।

अत प्रतिश्याय, कुक्कुर कास, यक्ष्मा आदि रोगों का प्रसार मुख्य रूप से निश्वास से होता है। रोगी के छींकने, खांसने से निकलने वाले जीवाणु वायु मे मिलकर श्वास के द्वारा शरीर मे पहुच जाते है। अत आचार्य चरक ने छींकते-खांसते समय मुख-नासा को ढक लेने का निर्देश दिया है—

नानावृतमुखो जृम्भा क्षवथु हास्य वा प्रवर्तयेत्।

श्रीमाधव निदानकार ने 'प्रदुष्ट पवनोद्धतं' लिखकर वायु द्वारा मसूरिका के प्रसार का वर्णन किया है।

सहभोजनात्—साथ-साथ भोजन या जूठन सेवन से भी व्याधि का प्रसार होता है इस हेतु बिना हाथ-पैर धोये भोजन करने का निषेध है—नाप्रक्षालित पाणिपादवन्दन आदहीन—चरक। अत जूठन, व रोगी के जूठे बर्तनों मे व रोगी के साथ भोजन करने से आन्त्रिक ज्वर, अतिसार, प्रवाहिका, हैजा आदि व्याधियां फैलती है।

एक शय्यासनात—एक ही शय्या से रोगी के साथ सोने से भी दद्रु, यूका, लीक्षा तथा पुनरावर्तक ज्वर आदि रोगों का प्रसार होता है।

वस्त्र माल्यानुलेपनात्—रोगी के वस्त्र, माला, अनुलेपन द्रव्य आदि का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति करे तो उसको रोग का संक्रमण हो जाता है। रोगी के शरीर पोंछे हुए तौलिए से शरीर पोंछने मे दद्रु, कुष्ठ आदि रोगों का संक्रमण हो जाता है।

प्रतिषेध—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यो को संक्रामक रोग, जीवाणु द्वारा रोग प्रसार का

गहन ज्ञान महस्रो वर्ष पूर्व था और इस प्रकार जनपदोध्वंस द्वारा सक्रामक रोगो द्वारा नगर के नगर, रोगाक्रान्त होकर नष्ट हो जाते थे अत उन्होने सक्रामक रोगो से स्वच्छता (शुद्ध आहार-विहार) पर बडा जोर दिया था—

लाभ प्रज्ञापराधाना इन्द्रिययोग शम स्मृति ।
देशकालज्ञ विज्ञान सदवृत्तस्य च सेवनम् ॥

अर्थात् प्रज्ञापराध का त्याग, इन्द्रियो का उपशमन, देशकाल का ज्ञान, सदाचार का पालन करने से निज एव आगन्तुज-सक्रामक व्याधिया शान्त होती ह। आयुर्वेदीय दिन चर्या, ऋतुचर्या का पालन करने से शरीर मे रोग निरोधक क्षमता (immunity) बनी रहती हे। आयुर्वेदज्ञ बीजरूप जीवाणु को महत्त्व न देकर क्षेत्र रूप शरीर को अधिक महत्व देते ह। रोग प्रतिरोधक क्षमता से युक्त मनुष्य शरीर मे जीवाणुओ के उपस्थित रहने पर भी रोगोत्पत्ति ठीक उसी प्रकार नही होती जिस प्रकार ऊसर धरा मे डाले गए बीज से बिना काल (ऋतु) एव वर्षा के अकुरोत्पत्ति नही होती। अत रोग प्रतिरोध के लिए ही आयुर्वेद मे हितकर आहार-विहार पथ्य तथा सद्व्रत पालन पर जोर दिया हे और स्वस्थ वृत्त का पालन करने वाला व्यक्ति सदा निरोग रहता हे।

सन् १६८३ मे गैलीलियो नामक वैज्ञानिक के द्वारा अणुवीक्षण यन्त्र के आविष्कार के एक शताब्दी बाद आधुनिक वैज्ञानिको ने २ प्रकार के जीवाणुओ का अन्वेषण किया। एक वे जो शरीर की रक्षा करते है जिनको आयुर्वेद मे सहज नाम से कहा हे और दूसरे वे जो रोगोत्पादक होते है। इन दोनो प्रकार के जीवाणुओ का ज्ञान महस्रो वर्ष पूर्व आयुर्वेदज्ञो को था। आचार्य चरक लिखते है—

इह खलुमग्निवेश विंशति विधा क्रमय पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेवाल महजेनम ते पुन प्रकृतिभिर्भिद्यमाना चतुर्विधा भवन्ति तद्यथा-पुरीपजा श्लेष्मजा शोणितजा मलजाश्चेति।

शरीर जीवाणुमय हे और सहज जीवाणु शरीर रक्षक हे। इस प्रकार दो भेद से क्रमियो के दो प्रकार के जीवाणुओ का वर्णन है— दृश्य और अदृश्य। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से भी क्रमियो के दो प्रकार है तथा स्थान भेद से भी इन्हे चार प्रकार का माना हे।

(१) बाह्य मलज क्रमि-यूका (जू) और निक्षा (लीख)

(२) कफज जैसे—अन्नाद्, उदरावेष्ट हृदयाद, महागुद, चुरव, दर्भ कुसुम, सुगन्ध।

(३) रक्तज जैसे—केशाद, रोमविध्वस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस और मातर।

(४) पुरीषज जैसे—ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद्, सशूल और लेलिह।

उन बीस प्रकार की क्रमियो से से होने वाले कोठ, पिडका, कण्डू, गण्ड (बाह्य क्रमियो से) आनाह, श्वयथु, पीनस (कफज क्रमियो से) कुष्ठ (रक्तज क्रमियो से) विड्भेद शूल, कार्श्य (पुरीष क्रमियो से) आदि विकार सक्रमण द्वारा एक दूसरे मे फैलते ह।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से उसके जीवाणुओ को प्रत्यक्ष देख लिया हे किन्तु अभी भी अनेक ऐसे रोग है जिन्हे केवल विष (Virus) जन्य माना हे जैसे रोमान्तिका (Measles) मसूरिका (Small Pox) कर्णमूल शोथ (Mumps) जलसन्त्रास (Rebies) आदि। मानव आयुर्वेद मे भी इनको विषजन्य माना ह जैसे शुष्येन स्वय विष मरण न जीवति स मानव जलसन्त्रासमे सुश्रुत' इन रोगो का प्रसार भी अन्य सक्रामक रोगो की तरह होता हे। जल सन्त्रास मे पीडित प्राणी जब दूसरे प्राणी को काटता हे तो उसकी लाला मे उपस्थित विष दूसरे प्राणी के रुधिर मे पहुच जाता हे तथा जलसन्त्रास रोग का सक्रमण हो जाता हे। प्राचीन सहिता ग्रन्थो मे जो सक्रमण सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध होता हे वह रोगो के गभीर अध्ययन तथा प्रत्यक्ष कर्माभ्यास पर आधारित हे। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष क्रमियो, रोगोत्पादक विष, इनका वायु जल आदि के द्वारा प्रसार, शयन, प्रसग, निश्वास, सहभोजन आदि का रोग फैलने मे सहयोग आदि पर सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता हे।

रोग प्रसार अथवा रोग सक्रमण भिन्न-२ प्रकृति वाले मनुष्यो और आहार-विहार, बल, सात्म्य, सत्व, अवस्था आदि भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले प्राणियो मे एक ही समय मे फैलकर महामारी का रूप लेता है उसे चरकाचार्य ने 'जनपदोध्वंस' कहा है। जब वायु, देश, काल जोकि सामान्य होते है अधर्म के कारण विकृत हो जाने से समान काल मे समान लक्षण वाले सक्रामक रोग उत्पन्न

होकर जनपद को को नष्ट कर देते है। एक ही व्याधि सामूहिक रूप मे फैल कर देश के देश को मिटा देती है। विसूचिका, प्लेग, वातश्लेष्मिकज्वार (फ्लू) के सक्रमण काल मे हजारो लोगो की इन रोगो मे मृत्यु इसका प्रमाण है। आयुर्वेदज्ञो को इसका ज्ञान था।

अग्निर्वृत्राणिजङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया
समिद्ध शुक्र आहुत।
—सामवेद छन्द आर्यिक अ० १/क ७

उपरोक्त ऋचा मे होमाग्नि को रोगनाशक बताया गया है। रोगनाशक द्रव्यो से आहत की गई अग्नि कष्ट-दायक रोगो और रोगो के कारणो को नष्ट कर देती है।

धूप-हवन—प्राचीनकाल मे आयुर्वेद मनीपियो ने ऐसी वस्तुओ की खोज करली थी जिनको अग्नि मे डाल-कर धूप करने व हवन करने से कीटाणुओ का विनाश हो जाता था तथा वायु मण्डल निर्मल (शुद्ध) हो जाता है और इस प्रकार सामूहिक स्वास्थ्य की रक्षा कर जन-पदोध्वस एव सक्रामक महामारियो पर नियन्त्रण पाया जाता था।

आधुनिक वैज्ञानिको ने भी अनुसन्धान करके पाया है कि हवनीय सामग्री को अग्नि मे डालने से जो गैस बनती है उससे दूषित कीटाणुओ का विनाश तो होता ही है साथ ही वायु मडल (Atmosphere) भी शुद्ध हो जाता है। इससे मलेरिया, क्षय, शीतला, प्लेग आदि व्याधिया आसानी से नष्ट हो जाती है। हेनकिन महोदय ने अपनी पुस्तक 'ब्यूबोनिक प्लेग' मे लिखा है कि अग्नि मे केशर घृत डालने से प्लेग के कीटाणु नष्ट हो जाते है।

जर्मनी के टिलिट नामक विद्वान् ने लिखा है कि खाड को अग्नि मे जलाने से 'फार्मिकएलडीहाइड्' उत्पन्न होकर रोग के कीटाणुओ का नाश करता है। कई पश्चिमी विद्वानो ने हवनीय सामग्री के तेल को पानी मे डालकर उस जल को गरम करके रोगियो को सूघने दिया। इससे उनके शरीर की पीडा, स्फोट एव वेदना दूर हो गये।

सूर्य के प्रकाश से भी रोगोत्पादक कीटाणुओ का प्रभाव कम होता है तथा सभी प्रकार के रोगाणु न्यूना-धिक काल मे समाप्त हो जाते हैं।

आयुर्वेद को इस बात का भी ज्ञान था कि श्लीपद रोग के कीटाणु मध्यरात्रि मे ही वृद्धि पाकर रोग को तीव्र करते है। डा० सर हैवलौक चार्ल्स ने आयुर्वेद के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा था कि ये वैद्य समझते है कि श्लीपद रोग मानो कोई प्रेमी है जो चादनी रात मे सोते अपनी प्रेमिकाओ (रोगियो) को पकड लेता है और दिन उगने पर छोड देता है। पर जब डा० विडाल तथा डा० जावाल ने सिद्धकर दिया कि यह ज्यो-ज्यो रात बढती है श्लीपद के कीटाणुओ की सख्या बढती है ओर मध्यरात्रि मे इसकी सख्या सर्वाधिक होती है। एतदर्थ श्लीपद के रोगी का मध्यरात्रि मे ही रक्त परीक्षण आधुनिक वैज्ञानिक करते है और कृमि का नाम रात्रिका (Nocturna) रखा गया है, इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर हेवलाक चार्ल्स ने कलकत्ता मेडि-कल कालेज के प्रधानाध्यापक पद से सेवानिवृत्त होते समय भारतीय छात्रो को अपने उपरोक्त कथन के लिए दुख प्रकट करते हुए कहा था—हमारे अधिकाश नये आविष्कार आपके पूर्वजो के शताब्दियो पूर्व विदित सत्यो के 'पुनराविष्कार' मात्र है और कुछ नही।

अत आयुर्वेदज्ञो को जीवाणु विज्ञान का पूर्ण ज्ञान था तथापि उन्होने जीवाणु विज्ञान को प्राथमिकता नही दी थी और इसका कारण है—सृष्टि का पञ्च महाभूता-त्मक होना। आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ चाहे वह जड हो या चेतन पञ्च महाभूतात्मक है, मानव शरीर भी पञ्च महाभूतात्मक है अत समस्त शारीरिक क्रियाओ के हेतु तीन ही मौलिक पदार्थ हैं। त्रिदोष-वात, पित्त, कफ।

आधुनिक चिकित्सक जीवाणुओ को ही रोगोत्पत्ति का कारण मानते है किन्तु आयुर्वेद का यह सिद्धान्त अकाट्य है कि जीवाणु 'दोष प्रकोप' की अपेक्षा रखते है एतदर्थ त्रिदोष ही रोगोत्पत्ति के कारण है, अत आयुर्वे-दीय चिकित्सा पद्धति 'दोष प्रत्यनीक' होती है अर्थात् त्रिदोष मे जो विकृतिया आती है उनको दूर करने पर ही मूलत ध्यान दिया जाता है और 'दोष साम्यमरोगता' दोषो के समावस्था मे आ जाना ही शरीर का प्राकृत स्वरूप है, आरोग्यता है। अत आयुर्वेद रोगी की चिकित्सा करता है।

संक्रामक रोग और आयुर्वेद

वैद्य लक्ष्मीशंकर त्रिवेदी

मनुष्यो मे होने वाले रोगो के अनेक भेद किये गये है। आश्रय भेद मे दो भेद शारीर और मानस। शारीर के फिर दो भेद निज और आगन्तु। विरुद्ध आहार-विहार से शारीरिक दोष धातु मल विकृत होकर जो रोग उत्पन्न होते है वे निज रोग कहे जाते है और बाह्य कारणो से शारीरिक दोष धातु मल विकृत होकर जो रोग उत्पन्न होते है वे सब आगन्तुज रोग कहे जाते है। रोगो का आगन्तु कारण यद्यपि बाह्य कारण होता है परन्तु जब वह शरीर के सम्पर्क मे आता है तब शारीरिक दोष धातु अग्नि और मल क्रियाओ मे वैषम्य उत्पन्न करता है और रोगोत्पादक कारण बन जाता है।

सक्रामक रोग भी आगन्तुज रोगो के अन्तर्गत आते है। उन्हे सक्रामक इसलिए कहा जाता है कि उनका एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे सक्रमण होता है। अर्थात यदि सक्रामक रोग से ग्रसित कोई रोगी है तो उसके निकट सम्पर्क मे आने वाले अन्य व्यक्तियो मे वह रोग सक्रमण कर सकता है। यह सक्रमण रोगी के स्पर्श से, श्वास-प्रश्वास द्वारा दूषित वायु से, रोगी के मल मूत्र मे बैठी मक्खियो द्वारा दूषित खाद्य पेय का सेवन करने से, रोगी के साथ शयन भोजन आदि करने से हो सकता है। सक्रामक रोगो का सक्रमण वायु जल खाद्य पेय मक्खी मच्छर आदिको के माध्यम से दूरस्थ स्थानो तक पहुच जाता है और स्थानीय रोग कभी-कभी पूरे जनपद मे फैल कर जनपदोध्वस का कारण बन जाता है।

सभी आगन्तु रोग सक्रामक नही होते और न सभी दूषित जल वायु खाद्य पेय के सेवन से सक्रामक रोग ही होते है। जब जल वायु खाद्य पेय किसी सक्रामक रोग से दूषित होता है तब उसका सेवन करने वाले व्यक्तियो को उस रोग का सक्रमण होता है। तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न सक्रामक रोगो का सक्रमण या तो रोगी के साथ सीधे सम्पर्क मे आने से होता है या फिर उनके द्वारा दूषित माध्यमो से होता है। वे माध्यम जल वायु की तरह व्यापक हुए तो रोग का प्रसार भी व्यापक होता है और यदि खाद्य पेय जैसा अल्प व्यापक हुआ तो प्रसार का क्षेत्र भी सीमित रहता है। सक्रमण के सम्बन्ध मे यह बात भी ध्यान देने की है कि दूषित जल वायु खाद्य पेय का प्रभाव सम्पर्क मे आये सभी व्यक्तियो पर समान नही होता। कुछ व्यक्ति आशिक रूप से प्रभावित होते है कुछ पूर्ण रूप मे और कुछ अप्रभावित रहते है। इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य की दृष्टि मे असमान विभिन्न लोगो की रोग प्रतिरोधी क्षमता भिन्न होती है। यह रोग प्रतिरोधी क्षमता सक्रामक रोगो के प्रसार रोकने मे महत्व पूर्ण कार्य करती है। सक्रामक रोगो की चिकित्सा मे भी रोग प्रतिरोधी क्षमता की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

अनेक सक्रामक रोगो का आयुर्वेद के चिकित्सा तथा निदान के ग्रन्थो मे उल्लेख है जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे सीधा सम्पर्क होने से अथवा किसी माध्यम से सक्रमित होते है। कुष्ठ, विसर्प, ज्वर, क्षय, चेचक, नेत्राभिष्यन्द चर्म रोग आदि रोगो का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्तियो मे सक्रमण होता है। इन रोगो के उत्पादक कारण सूक्ष्म जीवाणु होते है। इन्हे आयुर्वेद मे क्रिमि, राक्षस, भूत, पिशाच कहा गया है। ये जीवाणु इतने सूक्ष्म होते है कि नेत्रो के द्वारा उन्हे देख पाना सभव नही है। अब सूक्ष्मदर्शी यत्र के सुलभ होने पर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे इन सूक्ष्म जीवाणुओ पर अधिक खोज हुई है और उपर्युक्त रोगो के अतिरिक्त कुछ अन्य रोगो के कारणभूत जीवाणुओ की भी खोज करली गई है और उनकी पहिचान सुनिश्चित करके उसके जीवन-

वृत्त भी अध्ययन किया गया है।

जीवाणु विज्ञान आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का एक अङ्ग बन गया है। जीवाणुजन्य रोगों की चिकित्सा का भी त्वरित विकास हुआ और ऐसा प्रतीत होने लगा कि जब सभी जीवाणुज रोगों को समूल नष्ट किया जा सकेगा। यह आश्चर्यजनक प्रगति अर्धशताब्दि में ही प्राप्त कर ली गयी। सन् ३० में प्रथम सफल जीवाणु नाशक औषधि सल्फा ड्रग बाजार में सुलभ होगई जिसने अनेक संक्रामक रोगों पर प्रभाव दर्शाया। कुछ वर्षों में ही पेन्सलीन ने चिकित्सा जगत में तहलका मचा दिया जिसने अनेक घातक जीवाणुज रोगों पर नियन्त्रण स्थापित किया। पेन्सलीन को जीवन रक्षक औषधि घोषित किया गया। फिर तो क्लोरोमाइसटिन, स्ट्रोप्टोमाइसिन, टेट्रामाइसिलन, टेरामइसिन जैसी जीवन रक्षक औषधियां तथा क्षयनाशक औषधियों ने सफलता का उत्तरोत्तर उच्च कीर्तिमान स्थापित करने का क्रम जारी रक्खा। यह क्रम सन् ७० तक (चालीस वर्ष) अबाध गति से चलता रहा। परन्तु इसके बाद उनकी गुणवत्ता में न्यूनता आने लगी और इच्छित लाभ के लिये औषधि की मात्रा बढ़ाई जाने लगी। फिर भी उसका जीवाणु नाशक प्रभाव कम ही होता गया। चिन्ताजनक बात तो यह हुई कि इन औषधियों का मनुष्य शरीर पर हानिकारक प्रभाव होने लगा जो प्रायः घातक भी होता है। इन औषधियों का यदि अधिक समय तक प्रयोग किया गया तो अन्य अनेक उपद्रव स्वरूप नये-नये रोग उत्पन्न हो जाने लगे। परिणामस्वरूप उक्त औषधियों का प्रयोग उनके आविष्कारक देशों में भी बहुत सीमित कर दिया गया है और अन्य निरापद औषधियों की खोज की जा रही है।

आयुर्वेद का क्षेत्र, बीज और निरापद औषधि सिद्धांत

चिकित्सा के क्षेत्र में आयुर्वेद का सिद्धान्त मौलिक एवं पूर्ण निरापद दोषरहित है। आयुर्वेद के अनुसार रोगोत्पादक क्षेत्र मनुष्य का शरीर यदि रोगोत्पादक बीज जीवाणु की वृद्धि तथा प्रसरण के अनुकूल न रहे तो जीवाणु के संक्रमण होने पर भी वह रोगोत्पादक नहीं हो सकता। यदि रोग उत्पन्न भी हुआ तो परिस्थिति अनुकूल न होने के कारण रोग का प्रसार नहीं हो पाता और वह प्रारम्भ में ही नष्ट हो जाता है। सामान्य [illegible] शारीरिक बल बढ़ाने में [illegible] औषधियों का प्रयोग किया जाता है। औषधि के सम्बन्ध में आयुर्वेद का यह प्राथमिक सिद्धान्त है कि ऐसी औषधि का प्रयोग करना उचित है जो रोग का शमन करे परन्तु मनुष्य शरीर पर किसी प्रकार का दुष्प्रभाव न करे। संक्रामक रोगों में प्रयुक्त होने वाली आयुर्वेदिक औषधियों में यह विशेषता है कि उनसे जीवाणु का विनाश तो होता है परन्तु मनुष्य शरीर पर उनका किसी प्रकार का दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। नीम इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

लगभग दो हजार वर्ष से आयुर्वेदज्ञों को यह जानकारी थी कि संक्रामक रोग सूक्ष्म अदृश्य जीवाणुओं से उत्पन्न होते हैं और उनका संक्रमण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में होता है। तभी से संक्रामक रोगों और [illegible] जीवाणुओं के विरुद्ध आयुर्वेद का अभियान चल रहा है। इस बीच में अनेक प्रभावी औषधियों की खोज हुई है जिनमें नीम, चिरायता, गुर्च, तुलसी, [illegible], [illegible], कन्नेर, कुटज, अगर, गुग्गुल, तुवरक, [illegible], [illegible], अजवाइन, अनन्तमूल, मूर्वा, अडूसा, पुष्करमूल, मुलैठी, हल्दी, त्रायमाण, स्नुही, सरसों, नागरमोथा, निर्गुण्डी चक्रमर्द, चमेली, शिरीष, अमलतास, पीपल, [illegible], [illegible] पाकड़, बबूल, चन्दन, शीतल चीनी, चोपचीनी, कपूर खैर, मुण्डी, एरण्ड, लौंग, पिप्पली, उनाब आदि प्रमुख हैं। आज भी संक्रामक रोगों की आयुर्वेदिक चिकित्सा ही सर्वश्रेष्ठ है। अन्य चिकित्सा पद्धतियों की तरह आयुर्वेदिक औषधियों का दुष्प्रभाव नहीं होता, रोग निर्मूल होता है, धातुओं में उपजे वैषम्य में समता स्थापित होती है और रोगी पूर्ण स्वास्थ्य का अनुभव करता है।

शल्य शालाक्य साध्य रोगों को छोड़कर आंख, नाक, कान, मसूढे और गले के सामान्य संक्रामक रोगों की आयुर्वेदिक सफल चिकित्सा होती है। अनेक नेत्र द्रव, नेत्र विन्दु, लेप, आश्च्योतन, पुल्टिस, कर्ण विन्दु, तैल, वटी, षडविन्दु तैल, मंजन, दशन संस्कार चूर्ण, मुखशोधक क्वाथ, इरिमेदादि तैल, चित्रक हरीतकी, खदिरादि वटी, मरिचादि वटी, तुलसी, मुलैठी, कालीमिर्च, दालचीनी, सोंठ आदि अनेक औषधियां हैं जिनसे ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों की सफल चिकित्सा की जाती है। शल्य साध्य फेफड़े के

रोगो को छोडकर सभी रोगो की आयुर्वेदिक चिकित्सा सफलतापूर्वक की जाती है। यकृतप्लीहा गुर्दे और आतो के सभी सक्रामक रोग (शल्यसाध्य रोगो को छोडकर) आयुर्वेदिक चिकित्सा से ठीक होते है। सन्धिशोथ मे त्वचा के रोगो मे गुग्गुल, रास्नादि क्वाथ, पुनर्नवादि क्वाथ, मजिष्ठ्यादि क्वाथ, सारिवाद्यरिष्ट, खदिरारिष्ट, गधक रसायन, तैल, मलहम आदि सफल औषधिया है। चेचक की सफल चिकित्सा होती है। मूत्र सस्थान के सक्रामक रोगो मे शिलाजीत, चन्द्रकला, चन्दनासव, चन्दनादि वटी, गोक्षुरादि गुग्गुल, गोक्षुर क्वाथ, पञ्चतृण क्वाथ आदि प्रभावी औषधिया है। सभी क्षुद्ररोग फोडा-फुन्सी, विद्रधि व्रण आदि के लिए लेप, क्वाथ, कल्क, तैल आदि अनेक उत्तम सफल योग ग्रन्थो मे लिखे है जिनका व्यापक प्रयोग देश मे होता है। स्त्री गुप्ताङ्गो के सक्रामक रोगो की भी सफल चिकित्सा आयुर्वेदिक पद्धति से होती है। यद्यपि लोकमान्यता यह हो गई है कि इसके लिए लेडी डाक्टर के पास जाना चाहिए क्योकि स्त्री वैद्याओ का अभाव है और वैद्य इन रोगो की चिकित्सा नही करते। जहा तक पथ्यापथ्य की बात है रोगी की प्रकृति देशकाल बलाबल के अनुसार चिकित्सक बताता है। वैसे प्रत्येक रोग मे आचार्यो ने निर्देश किया है। आयुर्वेद के प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थो मे जो योग लिखे गये है वे सभी अनुभूत है। अवस्था के अनुसार उनका चुनाव करना चाहिए। विशेष कर स्वर्णघटित योगो पर ध्यान देना चाहिए। क्योकि उनसे रोगी की आन्तरिक शक्ति बढकर रोग प्रतिरोधी क्षमता बढती है। वर्तमान मे जब पर्यावरण प्रदूषण बढा है और खाद्य पेय भी अच्छे नही मिल पाते तब रोगी का बल और रोग प्रतिरोधी क्षमता बढाना आवश्यक हो गया है।

इसका तात्पर्य यह नही है कि आयुर्वेद ने सक्रामक रोगो को निर्मूल करने मे सफलता प्राप्त कर ली है। इसके लिये अभी बहुत कुछ करना शेष है। वस्तुत वर्तमान मे जो कुछ आयुर्वेदिक चिकित्सा उपलब्ध है वह सब आज से हजार वर्ष पूर्व आयुर्वेदज्ञो के परिश्रम का फल है तब से इस दिशा मे कुछ विशेष कार्य नही हुआ है। अब ऐसे वैज्ञानिक साधन उपलब्ध है जिनसे अधिक कार्य किया जा सकता है। सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से जीवाणुओ का विस्तृत अध्ययन सरल हो गया है। अब उनका जातिगत वर्गीकरण करके अधिक प्रभावी औषधि निश्चित की जा सकती है। जीवाणुओ का जीवनवृत्त जानकर उनसे बचाव का भी निर्देश किया जा सकता है। क्षय, कुष्ठ, कैंसर जैसे कुछ ऐसे घातक रोग है जिनका समाधान शीघ्र खोजा जाना चाहिए। प्रत्येक आयुर्वेद विद्यालय मे एक गवेषणा कक्ष होना चाहिए जिसमे स्थानीय वनौषधियो पर विशेष रूप से तथा सामान्य वनौषधियो पर सामान्य रूप से कार्य किया जाये। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाश्चात्य चिकित्सा वैज्ञानिको ने जीवाणुनाशक उच्चकोटि के रासायनिको की खोज की थी परन्तु उन सबका मानव शरीर पर घातक दुष्परिणाम होता है इसलिए वनौषधिया ही एकमात्र आशा है जो निरापद औषधि दे सकती है। इस गवेषणा के कार्य मे आयुर्वेदिक फार्मेसिया उपयोगी सहायता कर सकती है।

संक्रामक रोगाणु-एक अध्ययन

डा० ओ० पी० वर्मा एम० ए०, डी० एस्-सी० ए०

संक्रामक रोग मानव जगत के विनाश का कारण बने हुए है, जिनमे हजारो मनुष्य काल कवलित होते आ रहे है। चिकित्सा-विज्ञान ने निरन्तर इस ओर ध्यान देकर अपने अनुसन्धानो के माध्यम से इन रोगो पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया है लेकिन फिर भी पूर्णरूप से रोकथाम मे सक्षम नही हो पाये है। इन रोगो के मूल मे सूक्ष्म जीवाणुओ और विषाणुओ का हाथ है। सभी प्रकार के जीवाणु मनुष्य को हानि नही पहुचाते है बल्कि कुछ तो जीवन के लिए आवश्यक भी है। जबकि दूसरे ऐसे कई जीवाणु और विषाणु है, जो रोग उत्पन्न करने की क्षमता रखते है। खासी, न्युमोनिया, गले मे शोथ, क्षय आदि रोग जीवाणुओ की देन है। विषाणु से उत्पन्न रोग इनसे भी अधिक घातक एव भयानक होते है। विषाणुओ का आकार अति सूक्ष्म होता है। रोग उपचार मे इनकी जानकारी से चिकित्सा करना सरल हो जाता है। मुख्य सक्रामक रोगो के घटक निम्नलिखित है—

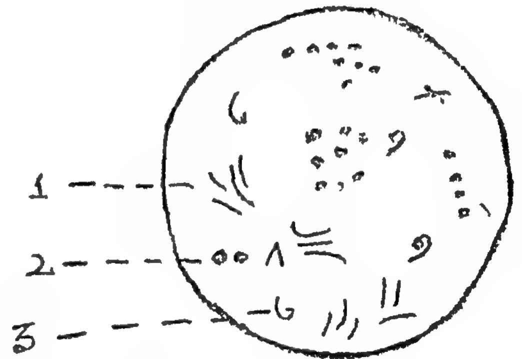
१ जीवाणु (Bacterium)
२ विषाणु (Virus)
३ एक कोशिक जीव या प्रोटोजोआ (Protazoa)
४ रिकेट्सी (Rickettssia)
५ कवक या फजाई (Fungi)
६ बहुकोशिक जीव या मेटोजोआ (Metazoa)

१ जीवाणु—जीवाणुओ को सूक्ष्मदर्शी द्वारा आसानी से देखा जा सकता है। ये आकार मे विषाणुओ की अपेक्षाकृत बडे होते है। अनुमानत एक जीवाणु का आकार एक मि०मी० का १/१००० भाग होता है। मुख्य रूप मे ये तीन प्रकार के होते है, देखो चित्र स०—१

(१) छडीनुमा। (२) कोकई (गोलाकार)। (३) अकुशनुमा।

(१) छडीनुमा जीवाणु—छडीनुमा जीवाणु आकृति मे छडी के आकार के होते है। ये आन्त्र शोथ, निकाला आदि रोग के मूल कारण होते है। जीवाणुओ का यह वर्ग आकार मे सबसे अधिक है।

(२) कोकाई (गोलाकार) जीवाणु—ये जीवाणु आकृति मे गोलाकार होते है। सूक्ष्मदर्शी द्वारा इन्हे आसानी से पहचाना जा सकता है। इनके द्वारा न्युमोनिया, गलवातामकोप, फुन्सी आदि रोग उत्पन्न होते है।



विभिन्न प्रकार के जीवाणु
(१) छडीनुमा (२) कोकाई (गोलाकार) (३) अकुशनुमा

(३) अकुशनुमा जीवाणु—ये जीवाणु आकृति मे अकुश या कौमा के आकार के होते है, इनके द्वारा हेजा आदि बीमारिया पैदा होती है। कुछ जीवाणु विकट परिस्थितियो मे भी अपने को जीवित रखते है। ये अपने ऊपर एक कडे पदार्थ मे ढक लेते है एव जब भी अनुकूल पर्यावरण मिलता है, ये पुन सक्रिय हो जाते है यथा—धनुष स्तम्भ के जीवाणु। जीवाणुओ मे पुनरुत्पादन की क्षमता होती है, जिससे ये प्रत्येक २०-३० मिनट मे दुगनी सख्या मे हो जाते है। इस तरह पन्द्रह घण्टो मे एक जीवाणु दस लाख जीवाणुओ को जन्म देकर अपना वश

बढा लेते है। यह अवस्था कितनी भयकर होगी।

जीवाणु जब पुनरुत्पादन की क्रिया म रत होते है तो "एक्सोटॉक्सिन विष" पैदा करके अति सूक्ष्म मात्रा मे भी हमारे शरीर मे विकार उत्पन्न करने मे सक्षम होता है। जब जीवाणुओ की मृत्यु होती है तो इनसे टॉक्सिन या आविष निकलता है, जिसे एण्डोटॉक्सिन कहते है। किसी भी जीवाणु की बीमारी उत्पन्न करने की शक्ति ऐसे आविष बनाने की शक्ति पर निर्भर रहती है। यह आविष कितना भयङ्कर होता है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आविष की सौ ग्राम की मात्रा समस्त विश्व की जनसख्या को समाप्त करने के लिए काफी है।

(२) विषाणु (Virus)—यह भी रोगोत्पत्ति मे सहायक है लेकिन सभी विषाणु हानिकारक नही होते है। कुछ विषाणु ही शरीर मे रोग उत्पन्न करते है। ये जीवाणुओ की अपेक्षा बडे सूक्ष्म होते है। ये विषाणु भी जीवाणुओं की तरह कई आकृतियो मे पाये जाते है। इनमे छडीनुमा, षटकोण, गोलाकार आदि आकृति के ही विषाणु अधिक देखने को मिलते है। ये विषाणु इतने सूक्ष्म होते ह कि सूक्ष्मदर्शी से देखने पर भी दिखाई नही देते है। अत इनका पता लगाने हेतु विशेष यन्त्र "इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी" का प्रयोग करते है। इनका आकार १० से ५० मि० माईक्रान्स तक होता है। अनुसधान से पता चला है कि विषाणु न्युक्लिक एसिड के बने होते ह तथा इनकी ऊपरी परत प्रोटीन की बनी होती है। विषाणु का परिपोषण केवल जीवित कोश मे ही हो सकता है। जब विषाणुओ का न्युक्लिक एसिड कोशिकाओ मे प्रवेश करता है तब यह सक्रामक होकर रोग फैलाता है।

अत विषाणु जीवाणुओ की अपेक्षा अधिक भयङ्कर होता ह एव आकृति मे अति सूक्ष्म होते है। अत इनका पता लगाना बहुत ही जरुरी हो जाता ह अन्यथा रोग का प्रसार होकर सक्रमण क्षमता बढाकर यह सार्वजनिक रूप मे फैल सकता है।

(३) प्रोटोजोआ (एककोशिक जीव)—प्रोटोजोआ क्योकि एक कोशिका के बने होते है, अत इनकी आकृति सरल होती है। ये आसानी मे सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखे जा सकते है। ये प्रोटोजोआ हमारे शरीर मे मलेरिया, जिआर्डियता, एमीबता, ट्राइकोमोनराता आदि रोग फैलाते एव पैदा करते है।

(४) रिकेट्सी—इनका आकार जीवाणुओ स छोटा एव विषाणुओ से बडा होता ह। इन्हे सूक्ष्मदर्शी से आसानी से देखा जा सकता ह। इन रिकेट्सी के वाहक जू। चिचडे आदि है। ये इनके माध्यम से मनुष्य शरीर मे रिकेट्सी को प्रविष्ट कराके रोग उत्पन्न करते ह। इसका उदाहरण (Typhus) बुखार है।

(५) कवक (फगाई)—यह एक तरह की पौधजीवी है, जिन्हे आसानी से सूक्ष्मदर्शी से देखा जा सकता है। हमारे समूचे पर्यावरण मे ये विद्यमान रहते है, लेकिन सभी प्रकार के कवक हानिकारक नही होते ह। खाद्य पदार्थ, पेय पदार्थ, त्वचा, आते आदि पर अनेक प्रकार की कवको की परते जमी रहती है। ये कवक प्राकृतिक रूप मे हानिकारक होते हुए हमारे शरीर को हानि पहुचाने मे सक्षम नही होती ह। व्यक्ति की प्रतिरक्तक क्षमता कम होने पर यह रोग उत्पन्न करने मे सफल होजाते है।

(६) मेटोजोआ (बहुकोशिक)—जैसा कि नाम से जाना जा सकता ह, य बहुकोशिका के बने होते है। इन्हे भी आसानी से सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखा जा सकता है। इनका प्रभाव शरीर पर तभी देखने को मिलता है जबकि हम लापरवाही करके समान्य स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो की अवहेलना करना शुरु कर देते है। इनकी उत्पत्ति व्यक्तिगत अस्वच्छता रखने और अशुद्ध भोज्य पदार्थ एव पानी के सेवन से होती है। अत इनको आसानी से रोका जा सकता है। अगर मनुष्य सामान्य स्वास्थ्य के नियमो के साथ-साथ शुद्ध भोजन एव पानी का सेवन करे तो इनके द्वारा उत्पन्न रोगो से बचा जा सकता है।

रोग फैलाने वाले साधन—हमारे शरीर मे रोग फैलने की क्रिया मे अनेक साधन अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इन माध्यमो का सक्षेप मे वर्णन करना सामयिक रहेगा—

[१] वायु।
[२] भोज्य पदार्थ।
[३] स्पर्श।
[४] कीट वाहिन।
[५] पान द्वारा।

[६] वाहको द्वारा।
[७] जल।

१ वायु—वायु रोगाणुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का मुख्य साधन है। रोगी के खांसने, छींकने या जोर से बोलने पर छोटी-छोटी बूंदों के रूप मे जीवाणु या विषाणु निकल कर हवा मे दूर तक फैल जाते है, जिन्हे देखना सभव नही होता है। जब स्वस्थ व्यक्ति श्वास लेता है तो वातावरण मे फैले हुए ये जीवाणु नाक या मुंह के माध्यम से शरीर मे प्रवेश करके रोग का कारण बनते है। इस क्रिया को बिन्दुक सक्रमण (Droplet Infection) कहते है। वायु द्वारा फैलने वाले रोगो मे खसरा, चेचक, स्ट्रेप थ्रोट, क्षय, न्युमोनिया, डिफ्थीरिया आदि प्रमुख है।

२ भोज्य पदार्थ—अशुद्ध भोजन के द्वारा जीवाणुओ का प्रवेश शरीर मे हो जाता है। इन शुद्ध भोज्य पदार्थो को दूषित करने का कार्य मक्खियो द्वारा सम्पादित किया जाता है। मक्खिया मल, मूत्र आदि पर बैठकर उनमे व्याप्त रोगाणुओ को अपने पैरो मे ले आती है एव जब वह शुद्ध भोजन पर बैठती है तो उसमे वे कीटाणु छोड देती है जिससे वह भोज्य पदार्थ अशुद्ध हो जाता है। नाखूनो मे व्याप्त मैल भी भोज्य पदार्थो को दूषित कर सकता है। क्षय, हैजा, पेचिस आदि रोग के रोगाणुओ का प्रसारण भोजन के द्वारा होता है। दूध देने वाले पशुओ के द्वारा भी जीवाणुओ का प्रसार बहुत बडी सख्या मे होते देखा गया है। गाय, भैस मे भी मानव शरीर की तरह क्षय रोग होता है। जब ऐसे पशुओ का दूध हम अपने दैनिक भोजन मे प्रयोग करते है तो दूध मे आये हुए जीवाणुओ द्वारा वह हमारे शरीर मे प्रविष्ट होकर क्षय रोग उत्पन्न कर देते है। इससे साथ-साथ गली-सडी वस्तुओ तथा फल एव सब्जियो के प्रयोग से हैजा, पेचिश आदि रोग के कीटाणु हमारे शरीर मे प्रविष्ट हो जाते है।

३ स्पर्श—कुछ रोग स्पर्श होने पर फैलते है। जब कोई स्वस्थ व्यक्ति रोगी मनुष्यो के वस्त्र-बर्तन या अन्य वस्तुओ के सम्पर्क मे आता है तो जीवाणु उसके शरीर मे इन माध्यमो से प्रविष्ट होकर रोग उत्पत्ति मे सहायक होते है। स्पर्शजन्य रोग का फैलाव केवल शारीरिक स्पर्श तक ही सीमित नही रहता है बल्कि रोगी के दैनिक उपयोग मे आने वाली वस्तुओं रुमाल, फर्नीचर, तौलिया, चद्दर, बर्तन आदि के स्पर्श से भी हो सकता है। उपदश तथा सुजाक जैसी-जैसी लैगिक बीमारिया शारीरिक सम्भोग से फैलती है। स्पर्श द्वारा दाद, खुजली, फोडे-फुन्सी, आखो का आना आदि रोग फैलते है।

४ कीट वाहित—कीट के काटने पर फैलने वाला रोग मलेरिया (विषम ज्वर) है। मलेरिया फैलाने वाले मच्छर ऐनाफेलीज वर्ग के होते है। जब ये मच्छर किसी मलेरिया सक्रमित व्यक्ति को काटते है जिससे उसके शरीर मे मलेरिया के जीवाणु आ जाते है। जब यह सक्रमित मच्छर किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटते है तो उसके खून मे मलेरिया के जीवाणु छोड जाते है, जिससे कालान्तर मे वह व्यक्ति मलेरिया से पीडित हो जाता है। इसके अतिरिक्त चूहो द्वारा प्लेग रोग भी इस वर्ग मे आता है।

५ घाव द्वारा—घाव द्वारा भी रोग का सक्रमण होता है, इसका उदाहरण धनुस्तम्भ रोग है। घाव द्वारा इसके जीवाणु शरीर मे प्रविष्ट हो जाते है। ये जीवाणु घोडा, गाय आदि पशुओ की आतो मे निवास करते है। जब ये पशु गोबर आदि करते है तो इनके जीवाणु उस गोबर मे आ जाते है। धीरे-धीरे ये जीवाणु सडक, खेत के मैदानो तक फैल जाते है। कई बार बच्चे खेलते-२ गिर पडते है एव उन्हे चोट आकर घाव होजाता है क्योकि मिट्टी मे वे जीवाणु पहले से ही विद्यमान रहते रहते है, अत उस घाव के माध्यम से वे शरीर मे पहुच कर रोग का सक्रमण करते है।

६ वाहको द्वारा—कई मनुष्यो मे जहरीले जीवाणु निवास करते हुए भी खुद बीमार नही होते हैं, लेकिन ऐसे व्यक्तियो मे व्याप्त जहरीले जीवाणु दूसरे स्वस्थ व्यक्तियो के लिए रोग का कारण बन सकते है। इसी क्रिया को वाहक (Carriers) कहते है।

इसके पूर्व के इतिहास को देखने से यह पाया गया है कि मनुष्य रोगी होने पर ठीक हो जाते है, लेकिन उस रोग के जीवाणु उसमे ठीक होने के उपरान्त भी विद्यमान रहते है। अन्य माध्यमो की तरह वाहक भी रोग उत्पन्न करने मे घातक सिद्ध होते है। अत स्वस्थ व्यक्ति को यथा सम्भव ऐसे व्यक्तियो से दूर रहना ही

श्रेयस्कर रहता है। इन व्यक्तियों के मल, मूत्र, थूक, इत्यादि से दूर रहना चाहिए। ऐसे रोगों मे स्ट्रेपथ्रोट आदि आते हैं।

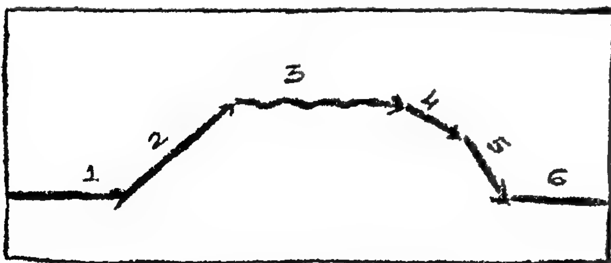
७ जल द्वारा—दूषित जल भी सक्रमण रोग उत्पन्न कर रोग फैलाने मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हे। रोगी के वस्त्र, बर्तनादि को तालाब, जलाशयो मे धोने से रोगी मे व्याप्त जीवाणु उस जल मे चले जाते हे। जब ऐसे जल का उपयोग एक स्वस्थ मनुष्य करता है तो वह उस रोग से पीडित हो जाता हे। जल द्वारा हैजा, टाईफाइड, पेचिश, आत्र शोथ, नारु (बाला) रोग फैलते है।

संक्रामक रोगों का जीवन चक्र—

जैसाकि हम जान चुके है कि सक्रामक रोगो के कारण और माध्यम अलग-२ होते है, फिर भी इन रोगो के जीवाणु एव विषाणुओ के शरीर मे प्रविष्ट होने, उनके फैलाव अवधि आदि निश्चित होते ह जिसे हम रोग का जीवन चक्र कहते हे।

सक्रामक रोगो के जीवन चक्र को हम छ भागो मे विभाजित कर सकते है—

[१] रोग की प्रारम्भिक अवस्था—जीवाणुओं के शरीर मे प्रविष्ट होकर लक्षण प्रकट होने तक की अवस्था ही प्रारम्भिक अवस्था कही जा सकती है। इस अवस्था मे जीवाणु धीरे-२ अपने वन्श की वृद्धि मे जुटे रहते है। इस समय रोगी मे व्याधि के लक्षण प्रगट नही होते हे, नही रोग सक्रामक होता हे।



सक्रामक रोगो का जीवन चक्र

(१) रोग की प्रारम्भिक अवस्था (२) प्रारम्भिक लक्षण (३) रोग की शिखरावस्था (४) रोग की शिथिलता (५) रोग का समाप्तिकाल (६) कीटाणु का परित्याग

[२] प्रारम्भिक लक्षण—इस अवस्था मे रोग के प्रथम लक्षण (पूर्वरूप) परिलक्षित होते है। श्वसन-तत्र के सक्रामक रोगो मे ये लक्षण सामान्य होते ह—जैसे नाक और आख से पानी बहना, सिर अथवा हाथ-पाव मे दर्द और खासी। यह अवस्था एक दिन तक रहती हे। इन लक्षणो के आधार पर पूर्णरूप से यह निदान नही हो पाता हे कि रोगी अमुक रोग मे पीड़ित हे। फिर भी यह अवस्था सक्रमण अवस्था होती हे, अत सक्रामक रोग को रोकने सम्बन्धी बातो एव व्यक्तिगत स्वच्छता और सामान्य स्वास्थ्य सम्बन्धी अवस्था का पालन अनिवार्य ही नही अपरिहार्य होता है।

[३] रोग की शिखरावस्था—जैसाकि नाम से ही विदित हो रहा हे कि इस अवस्था मे रोग अपनी चरम सीमा पर होता हे। इस अवस्था मे व्यक्ति के रोग के लक्षण पूर्णरूप मे प्रगट हो जाते हे, जिससे कि रोग का सही निदान करने मे कठिनाई नहीं होती है। इस अवस्था मे रोग का सक्रमण भी चरम सीमा पर होता हे। अत स्वस्थ व्यक्ति को यथासभव बचने का प्रयास करना ही श्रेयस्कर रहता हे।

[४] रोग की शिथिलता—रोग की यह अवस्था शिखर से नीचे की ओर उतरने वाली अवस्था होती है। रोग के लक्षण धीरे-धीरे कम हो जाते हैं, रोग का वेग भी कम हो जाता हे।

[५] रोग समाप्ति काल—इस अवस्था मे रोगी धीरे-२ स्वस्थ होता चला जाता है। रोग के लक्षण पूर्णत समाप्त हो जाते हे।

[६] कीटाणुओ का परित्याग—यह अवस्था कीटाणुओ की समाप्ति का काल होता है। लेकिन यह आवश्यक नही हे कि रोग के लक्षणो के समाप्त होते ही कीटाणुओ ने भी शरीर को छोड दिया हे। अत रोगी के लक्षणो का ठीक होना रोग की सक्रमणता का ठीक होना नही। अत किसी रोगी की पृथक्कीकरण की अवस्था रोग के लक्षणो की समाप्ति तक न मानकर जीवाणुओ की समाप्ति तक समझनी आवश्यक है। कई बार रोग की शिथिलावस्था के बाद रोग के लक्षण समाप्त होकर रोग का पुन आक्रमण होता देखा गया हे। इस अवस्था

को रोग का पुनरावर्तन रहते है। यह अवस्था भयङ्कर होती है क्योकि इसमे जीवाणु सक्रिय होकर पुन अपने वश की वृद्धि करने लग जाते है। लेकिन यह अपवाद स्वरूप ही होता है। ऐसी अवस्था सभी रोगियो मे नही होती है।

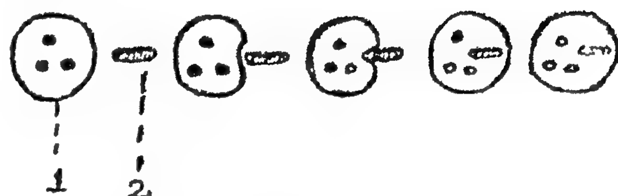
शरीर की प्रतिरोध क्षमता बनाम सक्रमण—सभी जीवो को अपने जीवन के लिए सघर्ष करना पडता है। जीवन सम्बन्धी प्रतिस्पर्धा और सघर्ष एक प्रक्रिया है जो निरन्तर चलती रहती है। इस सघर्ष मे हमे स्पष्ट रूप मे दो दल दृष्टिगोचर होते है। पहला मानव है एव दूसरा जीवाणुओ का दल है। इन दोनो मे निरन्तर सघर्ष चलता रहता है।

जीवाणु आकार मे सूक्ष्म होते हैं एव एक कोशिका के द्वारा निर्मित होते है। इनकी नियन्त्रण शक्ति केन्द्रक होती है। अपने निर्वाह के लिए यह कभी-कभी मानव शरीर पर आक्रमण करते है। इनकी शक्ति की अपेक्षा मानव शरीर मे प्रतिरोधात्मक शक्ति कई गुणा अधिक होती है। अत सौ बार मे ९९ बार तो ये जीवाणुओ को भगाने या नष्ट करने मे सफल हो जाता है। अत बीमारी जीवन का नियम न होकर एक अपवाद स्वरूप है।

जीवाणुओ के आक्रमण क्योकि शरीर पर निरतर होते रहते है, अत शरीर अपने विभिन्न उपक्रमो के द्वारा इनका मुकाबला करता है। इन उपक्रमो को हम प्रतिरक्षा, असक्रामकता, रोगक्षमता, अथवा बीमारी की रोकथाम की शारीरिक क्षमता कह सकते है। निम्नलिखित उपक्रम शरीर को जीवाणुओ से बचाये रखते है—

(१) त्वचा।
(२) श्लेष्मकला का कवच।
(३) श्वेत रुधिराणु।
(४) प्रतिरक्षी।
(५) भोजन एव विटामिन।

१ त्वचा—त्वचा मानव शरीर का पहला दुर्ग है जिसका कार्य जीवाणुओ के आक्रमणो से शरीर की रोक थाम करना है। ये जीवाणुओ के प्रवेश करने से रोकती है। कई जीवाणु तो त्वचा के ससर्ग से ही नष्ट होजाते है। कुछ जीवाणु त्वचा के माध्यम से शरीर मे प्रवेश करना चाहते है लेकिन पहुचने मे असमर्थ रहते है। ये जीवाणु शरीर मे उस स्थिति मे ही प्रवेश करने मे सक्षम होते है, जबकि शरीर मे कही छिद्र हो गया हो या त्वचा फट गई होती है। कुछ जीवाणु बडे शक्तिशाली होते है, एव शरीर मे प्रविष्ट हो जाते है। डाक्टर ऑपरेशन के पूर्व कितनी ही सावधानी बरते हाथ इत्यादि धो ले, लेकिन फिर भी वे अपना दुष्प्रभाव दिखाये बगैर नही रहते है।



जीवाणुओ को श्वेत रुधिराणु द्वारा भक्षण प्रक्रिया
(१) श्वेत रुधिराणु (२) जीवाणु

२ श्लेष्म कला का कवच—त्वचा की भाति हमारे शरीर के आतरिक अङ्गो मे आखें, नाक, गला एव मुह आदि पर श्लेष्म कला कवच रहता है जो कि हमारी जीवाणुओ से प्रतिरक्षा करते है। नाक एव आखो पर छोटे-छोटे बाल उगे रहते है। उनके माध्यम से भी कीटाणुओ को रोकने मे सफलता मिलती है। कभी-कभी जीवाणु आख एव नाक के माध्यम से इन अङ्गो मे प्रवेश होने मे सफलता प्राप्त कर लेते है। लेकिन आख मे आसू के द्वारा और नाक मे छीक या श्लेष्म के माध्यम से बाहर धकेल दिये जाते है। इसके उपरात भी अगर जीवाणु प्रविष्ट होने मे सफल हो जाते है, तो शरीर के इन अगो मे लाइसोजाइम नामक पदार्थ से नष्ट कर दिये जाते है। लाइसोजाइम अधिक शक्ति सम्पन्न होता है, कि अगर आख का आसू कीटाणुओ पर गिर जाये तो इससे वे नष्ट हो जाते है। आमाशय अम्ल भी कीटाणुओ को नष्ट करने मे सक्षम है। योनि सम्बन्धी रोगो को बचाने मे योनि मे व्याप्त एक प्रकार का जीवाणु पलता है जो अम्ल बनाता है, जिससे कि योनि सम्बन्धी शोथ नही होती है। छोटी बालिकाओ की योनि मे यह जीवाणु नही होता, अत बडी स्त्रियो की अपेक्षा इनमे शीघ्र योनि शोथ हो जाती है।

३ श्वेत रुधिराणु—श्वेत रुधिराणु हमारे शरीर

की एक किले के समान रक्षा करता है, यह हमारे शरीर की सही एवं समग्र रूप से प्रतिरक्षा करता है। बाहरी जीवाणु जब शरीर में प्रविष्ट हो जाते है तो उन्हें इन श्वेत रुधिराणु से आक्रमण में सतर्क होना ही पडता है। प्राय ये श्वेत रुधिराणु उन जीवाणुओ को खा जाती है और हमारे शरीर की समुचित रूप मे रक्षा करती है। अगर हमारे शरीर में ये श्वेत रुधिराणु विद्यमान नही हो तो मानव शरीर कभी का पीडित होकर मृत्यु को प्राप्त होता। जब शरीर मे कीटाणु प्रवेश करते है या किसी भाग मे चोट लग जाती है तो तन्त्रिकायें इसका सदेश मस्तिष्क तक पहुचा देती है। इससे प्रभावित अङ्गो मे रक्त सचार तेज हो जाता है और श्वेत रक्तकणिकाये इस क्षेत्र में पहुच जाती है। ये श्वेत रुधिराणुओ तक पहुच कर उसको नष्ट कर देती है। इस क्षेत्र की केशिकाओं का फैलाव बढ जाता है जिससे रक्त की गति धीमी पड जाती है। जिस प्रकार धीरे नाले मे कूडा-कचरा दीवारो मे चिपक जाता है उसी प्रकार श्वेत रुधिराणु भी केशिकाओ की दीवारो पर चिपक जाते है। यहा पर कुछ तो रक्त के दाब के कारण एव कुछ जीवाणुओ से निकले पदार्थ उन्हे अपनी ओर खीचकर प्रभावित करती है। धीरे धीरे ये श्वेत रुधिराणु केशिकाओ की दीवारो से निकलकर आक्रमण के स्थान पर पहुच जीवाणुओ को अपने घेरे मे फसा लेता है और धीरे-धीरे उस घेरे को बन्द कर जीवाणुओ को नष्ट कर उनकी मृत्यु का कारण बनते है।

जब कभी जीवाणु शरीर के अवयवो मे प्रवेश करने मे सफलता प्राप्त कर लेते है तो शरीर की कुछ विशेष लसिकाओ (Lymphatics) द्वारा लसिका ग्रन्थियो मे पहुचा दिये जाते है, जिससे कि वह शरीर के अन्य भागो मे फैलकर अपना आक्रमण न कर सके। व्यावहारिक जीवन मे हम देखते है कि शरीर के किसी अङ्ग मे चोट लगने पर उसके ऊपरी भाग मे गाठ बन जाती है। ये गाठे उपर्युक्त तरीको से लसिका ग्रन्थियो द्वारा ही निर्मित होती है। कभी कभी जीवाणुओ का आक्रमण इतना अधिक शक्तिशाली होता है कि वे इन प्रति रक्षात्मक किलो को तोडने मे सफलता प्राप्त कर लेते है। यह सफलता या तो अपने ऊपर एक कवचनुमा पदार्थ निर्मित करने से या जीवाणुओ द्वारा एक ऐसे पदार्थ जोकि श्वेत रुधिराणु को नाकाम करने मे सफल होता है से मिलती है।

यह सारी क्रिया अदृश्य रूप से घटित होती रहती है। इन क्रियाओ की तो हमे जानकारी नही मिलती है लेकिन शरीर में परिवर्तन होने पर कई लक्षण उत्पन्न हो जाते है, जिसके द्वारा हमे जानकारी प्राप्त होती है। जहाँ शरीर के अङ्गो मे यह सघर्ष होता है उस प्रभावित क्षेत्र मे जलन एव पीडा होने लगती है। इसका कारण तन्त्रिकाओ पर सोजिश का दाब व सघर्ष से उत्पन्न कुछ रासायनिक पदार्थ जैसे 'पी फैक्टर' है। ऐसे स्थान पर अधिक रुधिर परिवहन के फलस्वरूप ही सोजिश और लाली हो जाती है। सूजन धीरे धीरे बढकर फुन्सी का रूप धारण कर लेती है। शरीर के विभिन्न भागो मे उत्पन्न शोथ (सूजन) को भिन्न भिन्न नामो मे पुकारा जाता है जैसे एपेन्डिक्स की शोथ को एपेन्डिसाईटिस, ब्राकाई की शोथ को ब्राकाइटिस कहते है। शोथ के अन्तर्गत श्वेत रुधिराणुओ और जीवाणुओ के बीच सघर्ष मे इनके मृत शरीरो से बने पदार्थ को ही मवाद कहते है।

(४) प्रतिरक्षी—उपर्युक्त उपायो के असफल होने पर अर्थात् जीवाणुओ के शरीर मे प्रवेश कर जाने पर इन उपक्रमो से बच जाने पर एक ओर क्रिया जीवाणुओ को नष्ट करने मे सक्षम होती है जिसे प्रतिरक्षी (Antibody) कहते है। अधिकतर जीवाणु अपने को श्वेत रुधिराणुओ से बचाने के लिए अपने ऊपर एक कडे पदार्थ का दुर्ग बनाकर निर्मित कर लेती है। प्रतिरक्षी ऐसे दुर्ग को नष्ट करने मे सफल होते है। इससे श्वेत रुधिराणु के लिए उन्हे हजम कर समाप्त करने का अवसर मिल जाता है। प्रतिरक्षी वास्तव मे प्रोटीन से बनी होती है जोकि किसी भी प्रतिजन (Antigen) को करने पर निर्मित होती है। जीवाणु भी इसी तरह के प्रतिजन है जो हमारे शरीर मे प्रवेश करने पर शरीर को उनके विरुद्ध प्रतिरक्षी बनाने को बाध्य कर देते है। हर प्रतिजन के लिए अलग अलग प्रकार की प्रतिरक्षी बनती है, जो मात्र उन्ही प्रतिजन को समाप्त करने मे सक्षम होती है। इसलिए जो प्रतिरक्षी निर्मित हुई वह उसी प्रतिजन को नष्ट करने मे सफल होती है। ये प्रतिरक्षी

श्वेत रुधिराणु के ही विशिष्ट प्रकार है जिसे लिम्फोसाइट कहते हैं, द्वारा निर्मित होती है। जीवाणुओं की तरह विषाणुओं के प्रति भी इसी प्रकार से प्रतिरक्षी निर्मित करते हैं, जो हमें विषाणुओं से रक्षा करने में सहायता प्रदान करते हैं। विषाणुओं से बचने के लिए और भी रक्षात्मक क्रियाएं हैं। यदि कोई निरीह विषाणु कोशिका में विद्यमान हो तो उस कोशिका में आक्रमणकारी विषाणु आसानी से प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि निरीह विषाणु कोशिका को एक ऐसे रसायनिक पदार्थ, जिसे इन्टरफरोन कहते हैं बनाने के लिए उत्तेजित करता है। ऐसे पदार्थ यदि आक्रमणकारी विषाणु पहले प्रवेश कर जाये तो भी निर्मित होता है और विषाणुओं के कुप्रभाव से थोड़े समय तक शरीर को बचाता है। इन्टरफरोन का योगदान इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि यह अन्य कोशिकाओं की भी रोगों से रक्षा करने की क्षमता रखता है। यह प्रतिरक्षी से भी जल्दी निर्मित होता है और अवयवों में गहराई तक पहुंच सकता है। श्वेत रुधिराणु में निहित जीवाणुओं को नष्ट करने की क्षमता विषाणुओं के लिए सक्षम नहीं है। जीवाणुओं के आक्रमण का विरोध करने के लिए शरीर श्वेत रुधिराणु द्वारा भक्षण, प्रतिरक्षी और इन्टरफेरोन के अलावा और भी कई रासायनिक पदार्थों का उपयोग करती है। इनमें से मुख्य Properdin System और Bactericidins हैं। इनके सम्बन्ध में चिकित्सा विज्ञान अभी तक पूर्ण जानकारी जुटाने में सफल नहीं हो पाया है।

(५) भोजन एवं विटामिन—शरीर में जीवाणुओं एवं विषाणुओं द्वारा जो सक्रामक रोग उत्पन्न किये जाते हैं उनको रोकने में भोजन एवं विटामिन भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्रोटीन, ऊर्जा एवं विटामिन की चिरकालीन कमी हमारे शरीर में प्रतिरक्षात्मक शक्ति को कम कर देती है, अतः ऐसे व्यक्तियों के क्षय रोग हो जाता है। अतः विटामिन एवं भोजन का सतुलित होना अनिवार्य है।

विटामिन 'ए' श्वास की नलियों एवं आखों के रोगों से हमारी रक्षा करता है। विटामिन [illegible] [illegible] विटामिन [illegible] [illegible] द्वारा निर्मित [illegible] विटामिन के [illegible] होता, किन्तु [illegible] विटामिन का प्रयोग [illegible] होता इसकी जानकारी नहीं है।

अनुसन्धान के आधार पर यह निष्कर्ष है कि उम्र बढ़ने तथा रोगों में [illegible] से शारीरिक प्रतिरक्षात्मक शक्ति कम हो जाती है। लेकिन ऐसा क्यों होता है इस प्रश्न का पूर्ण रूप उत्तर देना इस समय कठिन है। अतः हम मानसिक [illegible] होता है [illegible] अधिक मानसिक रोग से [illegible] दिलाने या प्रतिरक्षात्मक शक्ति को बढ़ा देता है। इसी प्रकार [illegible] उपचार से [illegible] इन रोगों में मलेरिया रोग पैदा करके इनकी चिकित्सा किया करते थे। शरीर की प्रतिरक्षा शक्ति को कम करने में थकान का भी योगदान रहा है। इसको पूर्णरूप से चिकित्सा जगत नहीं मानता है। फिर भी पैतृक गुणों का प्रभाव इस क्रिया पर अवश्य पड़ता है इसको मानना ही पड़ेगा। विज्ञान यह तथ्य स्वीकार करता है कि प्रतिरक्षा शक्ति का पैतृक परम्परा से घनिष्ट अटूट सम्बन्ध है। इसका प्रमाण शारीरिक रचना में मिलता है। हमारा शरीर पैतृक गुणों को लिए हुए होता है, अतः अन्य तत्वों का समायोजन होना स्वाभाविक है। व्याधियों की प्रचुरता अथवा पुनरावृत्ति के पीछे यह भी कारण निहित है कि शरीर प्रतिरक्षात्मक शक्ति को अर्जित करने की प्रक्रिया में होता है। वह पूर्ण शक्ति अर्जित किया नहीं होता। यही कारण है कि वह समय समय पर रोगग्रस्त हो जाता है। अतः हम इस प्रक्रिया को क्यों नहीं प्राकृतिक रूप से पनपने दें।

अक्सर हम लोग इन व्याधियों के लिए औषधियों को अधिक महत्व देते हैं जोकि अच्छी बात नहीं है।

समन्वयात्मक उपसर्ग विमर्श

डा० जगदीशचन्द्र असावा

'समन्वयात्मक उपसर्ग विमर्श' नामक लेख के लेखक डा जगदीशचद्र असावा, अध्यक्ष-शारीर विभाग, ललितहरि रा आ महाविद्यालय, पीलीभीत (उ प्र) मे कार्यरत हैं। आप अपने विषय के माने हुए विद्वान है। आपके व्यक्तित्व की छाप हर लेख मे देखने को मिलती है।

आप मृदु भाषी, मिलनसार, विद्वान तथा प्रसिद्ध लेखक है। आप कर्मक्षेत्र मे भी उतने ही ईमानदार है जितने कि लेखन क्षेत्र मे। किसी भी कार्य को हाथ मे लेकर उसको पूर्ण किये बिना आपको चैन नहीं मिलता है। आप अनुसंधान प्रवृत्ति के अनुभवी प्राध्यापक है। आपमे आयुर्वेद जगत मे कई रहस्य प्रगट करने की क्षमता है उसका उपयोग करके पाठको को समय-२ पर उनसे आलेख रूप मे प्रगट करते रहेगे ऐसी मुझे आशा है।

प्रस्तुत लेख मे उपसर्ग के अलावा उपसर्ग कारक जीव, उपसर्ग सम्बन्धी आवश्यक शब्दावली, रोग ग्रहण शक्ति, उपसर्ग सम्वाहन, औपसर्गिक सम्प्राप्ति के माध्यम से आदि के माध्यम से इसका सागोपाग विवरण दिया गया है। लेख मे अग्रेजी शब्दो की भरमार है इसे देवनागरी लिपि मे देना चाहिये था।

—डा० दाऊदयाल गर्ग (सम्पादक 'धन्वन्तरि')



उपसर्ग परिभाषा—किसी भी व्याधिजनक सूक्ष्म जीव का शरीर मे प्रवेश करना तथा वहा व्याधि उत्पन्न करना उपसर्ग अथवा सक्रमण कहलाता है। व्याध्युत्पादक सूक्ष्म जीव शरीर मे विष उत्पन्न करते यह विष यदि स्वस्थ शरीर मे प्रवेश करा दिये जाये तब उसी प्रकार का रोग उत्पन्न होता है। ऐसे रोग औपसर्गिक अथवा सक्रामक रोग कहलाते हैं। ये रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे प्रसारित होते है।

सुश्रुत सहिता निदान स्थान अ० ५-३३-३४ मे स्पष्ट रूप से औपसर्गिक व्याधियो के नाम, उनके सक्रमण के प्रसार का वर्णन किया गया है—

प्रसङ्गाद्गात्र सस्पर्शाद् नि श्वासात् सहभोजनात्।
सह शैयासनाच्चैव गध माल्यानुलेपनात्॥
ज्वरश्च शोषश्च कुष्ठश्च नेत्राभिष्यन्दैव च।
औपसर्गिक रोगाश्च सक्रमन्ति नरान्नरम्॥

"सक्रमन्ति नरान्नरम" से सक्रामक रोगो का एक व्यक्तिमे दूसरे व्यक्ति मे प्रसार का स्पष्ट बोध होता है।

उपसर्ग कारक जीव—

उपसर्ग सूक्ष्म जीवो से होता है जोकि सामान्य चर्म चक्षुओ से दृश्य नही होते। इन जीवो को आयुर्वेद ग्रन्थो मे जन्तवोऽणव, सौक्ष्म्यात्, केचित दर्शन आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा अध्ययन कर इन सूक्ष्म जीवो के आकार प्रकार, जीवन वृत्त (Morphology) का पूर्ण ज्ञान कर रहे है तथा इसके परिणामस्वरूप इन सूक्ष्म जीवो के विभिन्न प्रकार इस प्रकार है—

[1] Bacteria [2] Protozoa [3] Helminth [4] Spirochete [5] Fungus [6] Virus

यहां इनका संक्षिप्त परिचय देना अपेक्षित है—

[1] Bacteria—सृष्टि में वनस्पति वर्ग के एक कोषीय जीव होते हैं। इनमे हरित द्रव्य Chlorophil नही होता है। इनका आयाम १/५००० से १/५०० इन्च तक होता है। यह जल, वायु, धरा तथा अन्यत्र उपलब्ध होते हैं विभाजन अति तीव्र गति से होता है।

आकार की दृष्टि से निम्न भेद होते हैं।

(अ) गोलाणु या Cocci—यह गोल आकृति के होते हैं।

(ब) दण्डाणु या Bacilli—दण्डवत आकृति के होते होते हैं।

(स) सर्पिलाणु या Spirilla—वेल्लित आकार वाले होते हैं।

[2] Protozoa—प्राणि वर्ग के सूक्ष्म जीव होते हैं। इनमे केन्द्रक (Nucleus) स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ये अनियमित आकार के होते हैं जैसे मलेरिया पेरासाइट अथवा आन्त्र मे रहने वाला एण्ट अमीबा हिस्टोलीटीका।

[3] Helminth—यह यद्यपि आकार मे बड़े तथा चक्षुगम्य होते है तथापि कृमि वर्ग मे आने के कारण अनेक प्रकार के रोगकारक होते हैं। यह आन्त्रो मे रहकर पुनर्जनन करते हैं। गडूपद कृमि (Round worm), स्फीन कृमि (Tap worm), सूत्रकृमि (Thread worm) तथा अंकुश मुख कृमि (Hook worm) इनके मुख्य प्रकार होते हैं।

[4] Spirochaet—यह भी जीवाणु (Bacteria) के समान जीव होते हैं। इनका आकार वेल्लिताकार होता है। फिरङ्गकारक Spirocheat Palleda इसका उदाहरण है।

[5] Fungus—यह भी रोगोत्पादक होते हैं। फफूंदी के सदृश इनका प्रसार होता है। यह शरीर तल पर अथवा आर्द्र तल पर पाये जाते हैं। त्वक् तल, योनि अथवा लिङ्ग आदि अङ्गो पर यह रोग उत्पन्न करते हैं।

[6] Virus—ये अति सूक्ष्म जीव होते हैं। यह फिल्टर पेपर के आर पार जा सकते हैं तथा Electron microscope द्वारा इनका अध्ययन होता है। ये विष उत्पन्न कर रोगोत्पन्न करते हैं। खसरा, कर्णफेर, गल सन्नाग आदि रोग वाइरसजन्य होते हैं। सुश्रुत संहिता में भी सचारा का कारण विष कहा है।

उपसर्ग सम्बन्धी आवश्यक शब्दावली—

1 Host—मानव या कोई अन्य जीवधारी जो सामान्य परिस्थितियों मे उपसर्गात्मक जीवाणुओं को धारण करता हो कुछ जीवाणु या कृमि जीवन चक्र को पृथक पृथक अवस्थाओं मे पृथक धारकों मे रहते हैं अत धारक (Host) प्राथमिक (Primary) एवं द्वितीयक (Secondary) भेद से दो प्रकार के होते हैं।

2 Infestation—शरीर तल, वस्त्र तथा आन्त्रों में जीवों का वास एवं पुनर्जनन Infestation कहलाता है यथा यूका लिक्षा आदि (Arthropad) का शरीर तल पर एवं आन्त्र कृमियों (Helminths) का आन्त्रों मे वास।

3 Contamination—शरीर तल अथवा अन्य पदार्थों मे संक्रमण की उपस्थिति Contamination कही जाती है।

4 Contagion—संक्रमण का वहन करने वाला Contagion कहा जाता है।

5 Contact—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संक्रमण का सम्पर्क Contact कहलाता है।

6 Incidence—जनसंख्या के अनुपात से एक निश्चित समय मे रोग पीडितो की गणना करना Incidence कहलाता है।

7 Epidemic—समान कारणो से वृहत्त क्षेत्र मे व्याप्त व्याधि Epidemic कहलाती है।

8 Endemic—जब औपसर्गिक रोग एक निश्चित क्षेत्र या समुदाय मे फैले।

9 Pandemic—जब रोग अति दीर्घ क्षेत्र यथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त हो।

10 Sporadic—जब संक्रामक व्याधि कुछ समय के अन्तराल से एक ही क्षेत्र या समुदाय मे फैले।

11 Exotic—जब व्याधि क्षेत्रीय न हो वरन किसी देश या समुद्र पार से आई हो यथा भारत मे फिरङ्ग।

12 Incubation Period (सम्प्राप्ति काल)–किसी भी जीवाणु या विष के शरीर मे प्रवेश से रोग के लक्षण

प्रकट होने तक का काल सम्प्राप्ति काल कहलाता है। यह पृथक पृथक रोगो मे प्रथक होता है ।

13. Infection Period (सक्रमणकाल)—रोग मुक्त होने पर भी शरीर मे जीवाणु की विद्यमानता का काल सक्रमणकाल कहा जाता है ।

कुछ प्रमुख सक्रामक व्याधियो के सम्प्राप्ति काल एव सक्रमण काल की तालिका देना यहा युक्ति सगत होगा ।

व्याधि	सम्प्राप्ति काल	सक्रमणकाल
आन्त्रिक ज्वर (टायफाइड)	४ से २० दिन	६ सप्ताह
विसूचिका (कालरा)	कुछ घण्टे से ३ दिन तक	२ ,,
रोहिणी (डिफ्थीरिया)	१ से ८ दिन	६ ,,
मसूरिका (स्मालपाक्स)	१२ दिन	६ ,,
कर्णफेड (मम्प्स)	१२-१५ दिन	३ ,,
खसरा (मीजिल्स)	८ से १५ दिन	४ ,,
वात बलासक ज्वर (इन्फ्लूएन्जा)	१ से ४ दिन	२ ,,
कुक्कुर कास (हूपिग कफ)	४ से १४ दिन	८ ,,

रोग वाहक व्यक्ति—

वे व्यक्ति जो सक्रामक रोग को अन्य व्यक्तियो मे फैलाये। इन व्यक्तियो को ४ श्रेणी मे बाटा जा सकता है।

(१) उदभवन वाहक (Incubation Carriers)—वे व्यक्ति जो जीवाणु से सक्रमित है परन्तु अभी रोग के लक्षण प्रकट नही है ।

(२) सम्पर्क वाहक (Contact Carriers)—रोग ग्रस्त व्यक्तियो के सम्पर्क मे आने से स्वस्थ व्यक्ति मे भी समानधर्मी जीवाणु पाये जाते है परन्तु उनकी शक्ति मन्द होती है।

(३) रोगोत्तर वाहक (Convulscent Carriers)—रोग शान्ति के पश्चात भी जीवाणु का उपसर्ग करने वाले व्यक्ति रोगोत्तर वाहक होते है। इनको Acute Carriers भी कहते है ।

(४) जीर्ण वाहक (Chronic Carriers)—स्वास्थ्य लाभ के पश्चात् दीर्घकाल (३ माह से अधिक) जीवाणु उपसर्गकारक व्यक्ति जीर्ण वाहक कहे जाते है । ऐसे वाहक सर्वाधिक घातक होते है । बीच-बीच मे ये जीवाणु रहित भी हो जाते है ।

उपसर्ग प्रवेश मार्ग—

मानव शरीर मे उपसर्ग का जो मार्ग है उसका उल्लेख आयुर्वेद मे स्पष्ट रूप से किया गया है । सुश्रुत–प्रसग-गात्र सस्पर्श-निश्वास, सहभोजन, सह शय्या, आसन, गध-माला-अनुलेपन आदि मे त्वक् मार्ग—श्वास मार्ग तथा आहार मार्ग से उपसर्ग का होना कहा गया है ।

सक्रमण के निम्नलिखित मार्ग होते है—

१ त्वक् मार्गसे एथ्राक्स, धनुर्वात, अलर्क विष जन्य जल सत्रास आदि व्याधियो का सक्रमण त्वचा मार्ग से होता है। त्वचा के ऊपर व्रण इन व्याधियो के सक्रमण मे सहायक होते है। कीटदश भी त्वक् मार्ग से रोग प्रसार करते है यथा विषम ज्वर, श्लीपद, पीत ज्वर, प्लेग, डेगू फीवर आदि ।

२ श्वास सस्थान द्वारा—श्वसन मार्ग से बिन्दूत्क्षेप (droplet) सक्रमण होना है । श्वास—भाषण तथा क्षवथु की अवस्था मे उपसर्ग पीडित व्यक्ति के श्लेष्मा के अण वायु मडल मे फैल जाते ह जिनमे स्थित रोगाणु स्वस्थ व्यक्ति द्वारा श्वसन मे ग्रहण कर लिए जाते है। भीड स्थल इस प्रकार के रोग प्रसार मे प्रमुख स्थान होते है, डिफ्थीरिया, कुक्कुरकास, प्रतिश्याय, रोमान्तिका, राजयक्ष्मा आदि व्याधिया श्वसन मार्ग से प्रसृत होती ह ।

३ पाचन सस्थान–भोज्य एव पेय पदार्थ इस प्रकार के सक्रमण का कारण होते है । विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर, प्रवाहिका आदि रोगो का प्रसार इसी मार्ग से होता है ।

उपसर्ग सम्वाहन—

सुश्रुत मे प्रसगादि को उपसर्ग सम्वाहन का कारण कहा है—उसका उल्लेख ऊपर किया गया है—

भावप्रकाश मे सक्रमण के प्रसार का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

स्पर्शकाहार शैया सेवनात् प्रायशो गदा ।
सर्व संचारिणी नेत्र त्वग्विकार विशेषत. ।।
कुष्ठ कुष्ठोपदंशश्च भूतोन्माद व्रण ज्वर ।
औपसर्गिक रोगाश्च सक्रमन्ति नरान्नरम् ।।

आधुनिक विज्ञान मे उपसर्ग सम्वाहन निम्न प्रकार कहा गया है—

प्रत्यक्ष ससर्ग—इसमे किसी माध्यम का स्थान नही होता है। शरीर का स्राव रोग के सक्रमण का कारण होता है। रोगी स्वस्थ व्यक्ति मे बिन्दूत्क्षेप सक्रमण द्वारा रोग प्रसार करता है। २-३ फीट के क्षेत्र मे सक्रमण होता हे। शारीरिक स्रावो से युक्त अगुली आदि भी सक्रमण प्रसार कराती है। फिरङ्ग आदि रोग रोगाक्रात एव स्वस्थ व्यक्ति के परस्पर जननागो के सम्पर्क से फैलते हे।

अप्रत्यक्ष विधि—इस प्रकार के रोग प्रसार मे किसी अन्य पुरुष या कीट आदि के माध्यम से रोग प्रसार होता है जो कि निम्नवत हे—

(A) In animate —उपसर्ग युक्त सामिग्री यथा डिश पात्र खिलौने पुस्तक लेखनी आदि तथा उपसर्गयुक्त भोजन इसके अन्तर्गत आते है।

(B) Animate—कीट जो रोग प्रसार मे माध्यम होते हे यथा मशक, मक्षिका आदि।

(C) Carriers—वाहक जो रोग प्रसार करते है। वाहक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

औपसर्गिक रोग सम्प्राप्ति—

सुश्रुतोक्त सामान्य दोपज व्याधियो मे कहे गये क्रिया काल सचय-प्रकोप-प्रसार-स्थान सश्रय-व्यक्त एव भेद की अवस्थाये सक्रामक रोगो मे भी लागू होती हे।

सचय—सक्रमण का शरीर मे प्रवेश।

प्रकोप—जीवाणु की वश वृद्धि।

प्रसर—जीवाणु का रक्त सचार मे आना।

स्थान सश्रय—क्षमता हीन स्थान पर जीवाणु पहुचना।

व्यक्त—रोग के लक्षण व्यक्त होना।

भेद—रोग भेद प्रकट होना।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सक्रामक रोगो की सामान्य सम्प्राप्ति इस प्रकार होती है—

i Incubation Period—इसका वर्णन ऊपर कर आये है।

ii Onset or Predermal Stage—रोग के प्राथमिक लक्षण आरम्भ होने पर यह अवस्था होती है तथा पूर्ण लक्षण प्रकट होने तक बनी रहती हे। आयुर्वेद विज्ञान मे निदान पचक के अन्तर्गत पूर्वरूप की अवस्था उसकी प्रतीक होती है।

iii Period of Advance or Fastigium—सभी लक्षण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते है। आयुर्वेदोक्त रूप या लिङ्ग इसी अवस्था का प्रतीक होते है।

iv Period of Deferescence—लक्षणो की उग्रता समाप्त हो जाती है, रोगी आराम का अनुभव करता है।

v Period of Convalescence—रोगोत्पादक जीवाणु एव तज्जन्य विप मे रोगी मुक्त हो जाता है परन्तु दौर्बल्य एव धातु क्षय के लक्षण होते है।

—रोग क्षमता—

सक्रामक रोगो के प्रसङ्ग मे व्याधि क्षमता का विशेप स्थान हे। किसी जीवाणु अथवा व्याधि के प्रति प्रतिरोध क्षमता का होना ही व्याधि क्षमता होती ह। तात्पर्य यह है कि समान परिस्थितियो मे यदि कुछ व्यक्तियो को एक ही रोग के जीवाणुओ से प्रभावित किया जाये तब उनमे से कुछ को रोगोत्पत्ति होती है तथा कुछ पर प्रभाव नही होता तथा वे स्वस्थ रहते है। ऐसे व्यक्ति सम्वद्ध जीवाणु के प्रति Immune कहे जाते है तथा इस गुण को Immunity कहा जाता है।

रोग क्षमता (Immunity) सहज एव उपार्जित भेद से दो प्रकार की होती है। उपार्जित व्याधि क्षमता पुन सक्रिय एव निष्क्रिय भेद से दो प्रकार की होती हे। औपसर्गिक व्याधियो के बचाव एव उनके उपचार मे इस व्याधि क्षमता का विशेप महत्व है। विस्तारभय से यहा व्याधि क्षमता का पूर्ण विवेचन सम्भव नही हे।

—संक्रामक रोगों के सामान्य उपचार—

व्याधि भेद से चिकित्सा के साथ सक्रामक रोगो की रोकथाम के लिए सामान्य सिद्धान्त स्थापित किये गये हे। आयुर्वेद वाङ्मय विशेपकर चरक सहिता मे जनपदोध्वस वर्णन मे महामारी व्याधियो के प्रतिषेध हेतु जल, वायु, काल, देश आदि की शुद्धि का निर्देश किया हे।

आचार्य वाग्भट्ट ने कहा है—

त्याग प्रज्ञापराधाना इन्द्रिय योग शम स्मृतिः।
देशकालस्य विज्ञान सद्वृत्तस्य च सेवनम्॥

अर्थात् प्रज्ञापराध का त्याग, इन्द्रियों का शमन, देश का ज्ञान एवं सद्वृत्त (Hygiene) का पालन रोग शांति के उपाय कहे गये हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार संक्रामक रोगों के निवारण हेतु निम्न विधान बताया गया है—

१ सूचना (Notification)।
२ पृथक्करण (Isolation)।
३ कारेन्टीन (Quarantine)।
४ विसंक्रमण (Disinfection)।

(१) सूचना—किसी व्यक्ति के रोग पीडित होने पर शीघ्र ही स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों को सूचित किया जाता है। इसके कई लाभ हैं—

रोग प्रसार का ज्ञान होता है।
रोगी को स्वस्थ समाज से अलग किया जाता है।
रोग की रोकथाम हेतु आवश्यक कदम उठाये जाते हैं।
रोग रोधक टीके आदि लगाये जाते हैं।

(२) पृथक्करण—रोगी को स्वस्थ व्यक्ति से पृथक करना ही पृथक्करण कहा जाता है। इस हेतु निवास स्थान पर ही व्यवस्था की जाती है। यदि निवास स्थान पर सम्भव न हो तो चिकित्सालय में व्यवस्था की जाती है। पृथक कक्ष की व्यवस्था की जाती है। कक्ष—वायु-प्रकाश से युक्त होना चाहिए। केवल आवश्यक वस्तुयें ही कक्ष में रहनी चाहिए। केवल रोगी के परिचारक ही कक्ष में आ जा सकते हैं। रोगी के पात्र, वस्त्र आदि पृथक रहें। रोगी के मल-मूत्र आदि का विसंक्रमण करना चाहिए। रोगी की वाहक अवस्था बीतने पर या चिकित्सक की आज्ञा से ही अन्य व्यक्ति रोगी के सम्पर्क में आयें। रोगी कक्ष में कीट-मक्षिका आदि का प्रवेश रोकना चाहिए। पृथक्करण चिकित्सालय नगर के बाहर बनाये जाते हैं।

(३) कारेन्टीन—इसका अभिप्राय है यातायात पर नियन्त्रण अर्थात् जिस क्षेत्र में संक्रमण व्याप्त हो उस क्षेत्र के व्यक्तियों का स्वस्थ क्षेत्र में तथा स्वस्थ क्षेत्र से संक्रमण क्षेत्र में जाने पर नियन्त्रण लगाया जाता है। यह कार्य कई प्रकार से किया जाता है—

१ नगर से नगर—रेल मार्ग तथा सड़क मार्ग बन्द कर दिये जाते हैं।

२ राष्ट्र से राष्ट्र—वायुयान आदि पर नियन्त्रण

३ विद्यालय परिसर—रोगाक्रान्त छात्र को विद्यालय न भेजना।

४ परिवार परिसर—स्वस्थ व्यक्ति का परिवार के रोगी कक्ष में जाने पर प्रतिबन्ध लगाना।

(४) विसंक्रमण—संक्रमण को नष्ट करना विसंक्रमण कहलाता है। इस प्रक्रिया में जीवाणु नाशक एवं तज्जन्य विष को नष्ट किया जाता है।

आयुर्वेद विज्ञान में संहिता ग्रन्थों में विसंक्रमण का विधान कहा गया है।

आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार—

शुचि सूक्ष्म दृढ पट्टा कवल्या सविकेशिकः।
धूपित मृदव श्लक्ष्ण निर्वलीके कर्णे हित ॥

सुश्रुताचार्य ने व्रण शोधन कुमारागार में रक्षाकर्म आदि का वर्णन विसंक्रमण का ही रूप है।

"अग्नि तप्तेन शस्त्रेण" आदि वाक्य शस्त्र विसंक्रमण (Instrument Sterlization) का ही उदाहरण है। तीन प्रकार के विसंक्रमण द्रव्य प्रयोग में लाये जाते हैं—

१ प्राकृतिक २ भौतिक ३ रसायनिक

प्राकृतिक—सूर्य का प्रकाश एवं स्वच्छ वायु इसके उदाहरण हैं।

भौतिक—मुख्यरूप से उष्णता का प्रयोग किया जाता है। यह दो रूप में प्रयोग की जाती है—

(अ) शुष्क उष्णता—जलाना, तथा शुष्क उष्ण वायु इस हेतु प्रयोग की जाती है।

(आ) आर्द्र उष्णता—उबालना एवं वाष्प का प्रयोग इस निमित्त किया जाता है।

रसायनिक—इस विधि में जीवाणु मारक रसायन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। ये द्रव्य जीवाणुओं की शक्ति को क्षीण एवं उनकी वृद्धि को बाधित करते हैं। ये रसायन द्रव्य ठोस, तरल अथवा गैस किसी भी रूप में प्रयुक्त होते हैं।

रासायनिक विसंक्रामक में निम्नलिखित गुण होने चाहिए—

१ जीवाणु नष्ट करने की क्षमता होनी चाहिए।
२ जीवाणु विशेष पर क्रिया करने वाले द्रव्य का

—शेषांश पृष्ठ ७३ पर देखें।

व्यक्तिगत स्वच्छता एवं संक्रमण

वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु०वृह०, विशेष सम्पादक 'सक्रामक रोग चिकित्सा'



व्यक्तिगत स्वच्छता मानव जीवन मे बहुत ही महत्वपूर्ण है। अगर हम अपनी स्वच्छता की तरफ ध्यान नही देंगे तो कई रोगो से पीडित हो जायेंगे। व्यक्तिगत स्वच्छता मे बालो की स्वच्छता, दातो की स्वच्छता, आखो की स्वच्छना, कानो की स्वच्छता, नाखूनो की स्वच्छना, त्वचा की स्वच्छता, वस्त्रो की स्वच्छता आती है। अगर हम अपने दैनिक जीवन मे इन स्वच्छनाओ की ओर नियमित और सामान्य स्वास्थ्य आचरण का कठोरता मे पालन करे, तो सक्रामक रोगो मे बचाव हो सकता है।

व्यावहारिक जीवन मे हम यह देखते हैं कि जो व्यक्ति रोजाना स्नान करता है, वह अपने शरीर मे स्फूर्ति महसूस करता है वही स्नान न करने वाला व्यक्ति आलस्य से पीडित होकर उसके सिर मे जू इत्यादि पड जाती हैं। दातो की सफाई भोजन के बाद सुबह शाम अनिवार्य है। मैंने कई ऐसे व्यक्ति देखे है जो अपनी जिन्दगी मे कभी भी मजन नही करते है और न ही दातो की सफाई करते है। इसका परिणाम यह होता है कि उनके मुँह मे एक प्रकार की दुर्गन्ध आने लगती है, वह पायरिया से पीडित हो जाता है जिससे उम्र से पहले ही उसके दात उसका साथ छोड देते हैं। यही नही अन्य प्रकार के संक्रामक रोग भी हो जाते हैं। जिनसे फिर छुटकारा आसान नही रहता है। आखो की स्वच्छता भी जरूरी है। अगर हम इसकी स्वच्छता की तरफ ध्यान नही देंगे तो रोहे, नेत्राभिष्यन्द, पूतिनस्य आदि रोग हो सकते है। नाखूनो की स्वच्छता की तरफ हमारे समाज मे अनपढ लोग अधिक ध्यान नही देते हैं जिससे भोज्य पदार्थ दूषित होकर हमे नाना प्रकार के सक्रामक रोग हैजा, पेचिश, नहरवा, आत्र कृमि आदि अनेको रोग हो जाते हैं। त्वचा एव वस्त्रो की स्वच्छता का ध्यान नही देने पर हम फोडा, फुन्सी, खाज-खुजली जैसे चर्म रोगो से पीड़ित हो जाते है। इसलिए यह अनिवार्य है कि सक्रमण को रोकने के लिए व्यक्तिगत स्वच्छता की तरफ नियमित ध्यान दिया जाये।

(१) बालो की स्वच्छता—सिर के बाल हमारी शोभा है तथा साथ ही व्यक्ति का निखार भी इनके द्वारा आता है। इनकी सफाई रखना अनिवार्य है नही तो सिर मे जूंएं गिर जाती है, जोकि सिर मे घाव तक कर सकती हैं। ये रक्त चूसती हैं तथा साथ मे ही विष छोडती है। ये हमारे शरीर मे सक्रमण करके वाहन के रूप मे ट्रेंच (Trench) फीवर, टाईफ्स, रिलेप्सिंग फीवर आदि रोग उत्पन्न कर देते हैं।

(२) दातो की स्वच्छना—अच्छे स्वास्थ्य के लिए दातो की स्वच्छना भी उतनी ही अनिवार्य है जितना कि शरीर के लिए भोजन एव पानी। दात हमारे शरीर मे भोजन को चबाकर भेजता है जिससे कि पाचन क्रिया सरल हो जाती है। जिससे कि बाद मे भोजन शीघ्र पच जाता है और मन्दाग्नि जैसे रोग नहीं होते हैं। अगर हम दातो को रोजाना साफ करते है तो कई रोगो से तो हम स्वत ही बचे रहेंगे बल्कि हमारा स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा। इसलिए बच्चे को शुरू से ही ऐसी आदत डालनी चाहिए कि वह सुबह उठते ही कुल्ला कर मंजन आदि करे। हो सके तो भोजन के बाद भी दातो की सफाई करवाने की आदत डाले। दातो को ठण्ड और गरम पदार्थों के एकदम प्रयोग से बचाये रखे। ठण्डे पदार्थो पर गरम और गरम पदार्थों पर ठण्डे पदार्थों का तुरन्त सेवन से दात चटक जाते है एव इससे ये कमजोर होकर क्षतिग्रस्त हो सकते है।

दातो पर गन्दगी रखने से मुँह मे दुर्गन्ध आने लग जाती है। दातो मे से खून तथा पीव आकर पायरिया रोग हो जाता है। मसूढे फूल जाते हैं। अत नियमित दांतो की सफाई की आदत का विकास करे।

(३) आखो की स्वच्छता—मानव जीवन मे आख ही ससार है। बिना आंखो के यह जीवन दुखमय हो

जाना है। इसका अङ्कन मूल्य मे नही आका जा सकता है। अत इतनी अमूल्य निधि की तरफ हम लापरवाह रहे, एक अच्छी बात नही है।

सुबह उठते ही ठण्डे पानी मे आखो को धोना चाहिए। धूँआ और धूल आखो के लिए बहुत ही भयङ्कर है, अत यथासम्भव आखो को इससे बचाना चाहिए। धूल के कण आखो की झिल्ली मे शोथ उत्पन्न करके सक्रामक रोग उत्पन्न कर देते है। आखो की अस्वच्छता से आखो का आना, आखो मे शोथ, रोहे आदि सक्रामक रोग उत्पन्न हो सकते है।

(४) कानो की स्वच्छता—कान भी हमारे शरीर के अभिन्न एव अनिवार्य अङ्ग है। जिस व्यक्ति को सुनता नही है, उसकी हालत क्या होगी। यह हम भली प्रकार से जानते है। कई बार पानी मे कूदते समय कर्ण पटल पर आघात पहुचने की सम्भावना रहती है। अधिक तेज ध्वनि भी कानो को नुकसान पहुचा सकती है, अत इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

कानो की सफाई का ध्यान न रखने पर कान बहना, कान मे प्रदाह, कम सुनना आदि रोग हो सकते है।

(५) नाखूनो की स्वच्छता—नाखूनो की अस्वच्छता शरीर के लिए हानिकारक हो सकती है। अत नाखूनो की स्वच्छता की तरफ भी हमे समुचित ध्यान देना अनिवार्य है। नाखूनो की सफाई नही करने पर उसमे काला-काला मैल जम जाता है। गन्दे नाखूनो और हाथो से खाना खाने पर उस भोज्य पदार्थ के साथ कई विषैले पदार्थ, जीवाणु, विषाणु तथा अनेक पराजीवी शरीर मे प्रविष्ट होकर कई सक्रामक रोगो को जन्म देते है। इससे आत्र शोथ, पीलिया, एमीबीयता, पटाट, सूत्र कृमि आदि रोग हो सकते हैं। अत शौच आदि के बाद साबुन से हाथ धोना चाहिए एव नाखूनो को बढने से रोकना चाहिए।

(६) त्वचा की स्वच्छता—त्वचा हमारे शरीर की मास पेशियो से रक्षा करती है। इससे मनुष्य का व्यक्तित्व आकर्षक बनता है। त्वचा से पसीना निकलता है एव इसमे धूलादि के कण, अनेक जीवाणु भी इसमे रहते है। अगर इसकी सफाई नही की जाती है तो जीवाणु शरीर मे प्रविष्ट होकर कई प्रकार के सक्रामक रोगो को पैदा कर देते है। अत हमेशा स्नान करना चाहिए। त्वचा की अस्वच्छता मे फोडे-फुन्सी, खुजली, दाद आदि रोग हो जाते है।

(७) वस्त्रो की स्वच्छता—वस्त्रो की स्वच्छता का भी मानव जीवन मे एक विशेष महत्व है। यह भी व्यक्तित्व का निखार करते है। गन्दे कपडे वाले मनुष्यो को कई प्रकार के रोग होते देखे गये है जबकि साफ कपड़ो से कई प्रकार के सक्रामक रोगो से सहज ही मे बचा जा सकता है। इसीके साथ साथ (अन्तर्वसन) बनियान, चड्डी आदि की सफाई भी उतनी ही जरूरी है जितनी कि शरीर के बाहरी भागो वाले वस्त्रो की सफाई।

वस्त्रो की स्वच्छता नही रखने से फोडा-फुन्सी, खुजली, दाद और ससर्ग से फैलने वाले अन्य रोग उत्पन्न हो जाते है।

इस प्रकार व्यक्तिगत स्वच्छता से सक्रामक रोगो से बचा जा सकता है। 

—पृष्ठ ७१ का शेषाश—

प्रयोग करना चाहिए। सभी रसायनिक द्रव्य सभी प्रकार के जीवाणुओ पर क्रिया नही करते है।

३ रसायनिक द्रव्य शरीर तन्तुओ को हानि रहित होना चाहिए।

४ विसक्रामक की पात्र या वस्त्र पर क्रिया नही होनी चाहिए।

५ घुलनशील होने चाहिए।

भौतिक एव रसायनिक विसक्रमण हेतु आज के वैज्ञानिक युग मे अनेक प्रकार के अनेक वैज्ञानिक यन्त्रो का प्रयोग होता है। हर विधि के गुण दोषो के आधार पर इनका चयन किया जाता है।

जिज्ञासु पाठक सम्बद्ध विषय का अनुशीलन करे।

—डा जगदीश चन्द्र असावा बी ए ,ए एम बी एस
अध्यक्ष—शारीर विभाग, ललितहरि राजकीय आयु कालेज,
पीलीभीत (उ० प्र०)

संक्रमण की रोकथाम

आयु० बृह० वैद्य ओ०पी० वर्मा

सक्रमण की रोकयाम के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाने चाहिए—

(१) सूचना (Notification)
(२) पृथक्करण (Isolation)
(३) रोगाणुनाशन (Disinfection)
(४) रोग प्रतिरक्षा (Immunisation)
(५) सङ्गरोध अवधि (Quarantine Period)

(१) सूचना—

सक्रामक रोगो की रोकथाम के लिए यह अनिवार्य है कि इसकी फैलने की सूचना जनता को सही समय पर दे दी जाये। राजकीय चिकित्सालय के प्रभारी चिकित्सक का यह नैतिक दायित्व हे कि वह अपने क्षेत्र मे कही पर भी सक्रामक रोग फैल रहे है, उसकी सूचना रखे, उसको नियन्त्रण करने हेतु उसकी रोकथाम के लिए सार्वजनिक स्थानो पर जनता के लिए विज्ञप्ति प्रसारित करे एव रोकने के उपायो पर प्रकाश डाले। जनता का भी यह दायित्व है कि उनके क्षेत्र मे अगर सक्रामक रोग फैल गया है तो उसकी सूचना निकट के स्वास्थ्य केन्द्र मे दें।

(२) पृथक्करण—

पृथक्करण से तात्पर्य यहा इसमे लिया जाना चाहिए कि सक्रामित व्यक्ति से स्वस्थ व्यक्ति को अलग रखना ही है। क्योकि सक्रामक रोग फैलता हुआ समय नही लेता है, इसलिए सक्रामक रोग से पीडित व्यक्ति के पास स्वस्थ व्यक्ति को नही जाना चाहिए। रोगी को अलग कमरे मे रखा जाये। उसके वर्तन, वस्त्रादि भी अलग रखे। परिचारक के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियो को यथासम्भव रोगी व्यक्ति से दूर रखा जाये। अगर रोग सार्वजनिक रूप मे फैल गया हो तो उस रोगी को सक्रामक चिकित्सालय मे भर्ती कर देना चाहिए। डाक्टर की सहायता से उस रोगी को उस मौहल्ला से दूर स्थानान्तरित कर देना चाहिए, जिससे कि रोग की रोकथाम की जा सके।

(३) रोगाणुनाशन—

हेजा, मियादी बुखार, प्लेग, पेचिश आदि रोगो के रोगाणु शरीर मे किसी न किसी साधन द्वारा प्रवेश करके एक स्वस्थ व्यक्ति को आक्रान्त कर देते है। अत इन रोगाणुओ का फैलाव रोकना अनिवार्य ही नही अपितु अपरिहार्य है। जहा तक सम्भव हो इन रोगाणुओ का नाश करना ही हितकर है। इन रोगाणुओ को नष्ट करने मे जिन साधनो का प्रयोग किया जाता है उन्हे रोगाणुनाशन कहते है। इसमे अग्नि तथा कार्बोलिक एसिड। रोगाणुओ की वृद्धि कई पदार्थो द्वारा रोकी जाती है उन्हे प्रतिरोधि (Antiseptics) कहा जाता है जैसे अत्यधिक सर्दी तथा बोरिक एसिड। कुछ पदार्थ दुर्गन्ध का नाश करते हैं, ऐसे पदार्थो को गन्धहर पदार्थ (Deodorants) कहते है। इसमे फिनाइल आदि आते है।

रोगाणुनाशन पदार्थो को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—

१ प्राकृतिक। २ भौतिक। ३ रासायनिक।

१ प्राकृतिक रोगाणुनाशन—प्राकृतिक रोगाणुनाशन मे प्रकृति द्वारा प्रदत साधन आते है। इनमे वायु तथा धूप प्रमुख है। शुद्ध वायु रोगाणुनाशन मे बहुत ही धीमी गति से काम करती है। आक्सीजन रोगाणुओ का नाश करती है। इससे रोगाणुओ की वृद्धि भी रुक जाती है। सूर्य का प्रकाश भी रोगाणुनाशक है। सूर्य की तीव्र किरणे रोगाणुओ को नष्ट करने मे सक्षम है। क्षय के कीटाणु धूप मे प्रकाश के कारण आधा घण्टा मे नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार टाईफाइड के रोगाणु भी धूप के कारण नष्ट हो जाते है। धूप मे एक प्रकार की अल्ट्रा-वायलेट किरणे निकलती है जोकि इन कीटाणुओ के लिए घातक होती हैं। अत रोगी के कपड़ो आदि को धूप मे

है। यदि इसका एक भाग पाच सौ भाग मे डाल दिया जाये तो यह अधिक शक्तिशाली होकर स्पोर्स (spores) को मारने, कपडे, विस्तर आदि के लिऐ प्रभावशाली रासायनिक रोगाणुनाशक हो सकता है। यह अत्यधिक विषैला पदार्थ है, इसलिए दुर्घटनाओ से बचने के लिए इसमे नीला रङ्ग मिलाकर गोलिया बनायी जाती हैं। उपदश, गर्मी, सुजाक जैसे भयङ्कर सक्रामक रोगो मे यह औषधि के रूप मे प्रयुक्त की जाती है। इसका चिकित्सा मे सावधानीपूर्वक प्रयोग करते हे।

क्रियोसोल—यह सस्ता काले रङ्ग मे उपलब्ध हे। इसको घोल के रूप मे प्रयुक्त किया जाता हे। घोलने पर यह सफेद रग मे परिवर्तित हो जाता हे। नालियो, गन्दे वस्त्रो एव अन्य सक्रमित वस्तुओ को रोगाणुरहित करने हेतु इसका प्रयोग किया जाता हे। यह विषैला पदार्थ नही है।

फिनाइल—इसका उपयोग भी हम दैनिक जीवन मे करते हैं। यह कार्बोलिक एसिड से दुगना तीव्र होता हे। यह सस्ता रोगाणुनाशक पदार्थ हे जिसका प्रयोग नालियो, शौच स्थानो को साफ करने मे होता हे।

कार्बोलिक एसिड—इसका उपयोग हैजा, पेचिश, टाईफाइड, दस्त आदि के रोगी के मल-मूत्र आदि को रोगाणुरहित करने मे प्रयुक्त किया जाता है। इसका एक भाग जल के बीस भाग मे मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिए।

डी० डी० टी०—यह सफेद रग का एक पाउडर होता है, जिसका उपयोग प्राय घरो मे मच्छरो को मारने आदि के लिये किया जाता है। सरकार द्वारा घरो मे इसके घोल की स्प्रे करवायी जाती है। इसके प्रयोग से मक्खिया, चीटिया, जुऐं तथा अन्य कीडे-मकोडे नष्ट हो जाते है।

सल्फर डाई आक्साइड—यह एक गैस रूप मे रासायनिक पदार्थ होता है। इसमे तीव्र गन्ध होती है। कमरो की शुद्धि के लिए इस गैस का उपयोग किया जाता हे। इसकी एक किलो ग्राम की मात्रा तीस घन मीटर स्थान की शुद्धि के लिए पर्याप्त होती है। इसकी क्रियाशीलता के लिए नमी अनिवार्य है।

क्लोरीन—हरे रग की भारी गैस होती है। यह भी कमरे के शुद्धिकरण मे काम मे ली जाती है। इसकी क्रियाशीलता के लिए भी नमी अनिवार्य है।

फौर्मेल्डीहाइड—यह बहुत ही शक्तिशाली रोगाणुनाशक गैस है। इसका तरल रूप भी होता है। इन दोनो रूप मे इसका प्रयोग होता है। सल्फर डाई आक्साइड एव क्लोरीन दोनो की अपेक्षा यह शीघ्र फैलती है तीव्र असरकारक हे। यह कमरो के शुद्धिकरण मे प्रयुक्त होती हे। धातुओ पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नही होती है।

रोग प्रतिरक्षा—

रोगो को टीके लगाकर उनके फैलने मे रोका जा सकता हे। कृत्रिम सक्रिय अर्जित प्रतिरक्षात्मक तरीके ही सबसे अधिक उपयुक्त और लाभदायक हैं। इसमे जो शक्ति अर्जित होती हे वह लम्बे समय तक टिकी रहती है और कही अधिक शक्तिवर्धक होता हे। इसके लिए हमे जीवाणु या विषाणुओ को ताप द्वारा, कुछ रसायन द्वारा अथवा उसके सवर्धन द्वारा व्याधि उत्पन्न करने की क्षमता क्षीण करनी होती हे। लेकिन इनकी प्रतिरक्षी उत्पन्न करने की शक्ति बनी रहती हे, जिससे ये प्रतिरक्षात्मक हो जाते है। जीवाणुजन्य टीके ताप से या फिनोल अथवा एलुमिनियम हाइड्रोक्साइड द्वारा प्रतिरक्षातमक बनाये जाते हे।

इसके मुख्य उदाहरण है—रोहिणी, कुकर खासी व धनु स्तम्भ, टीका, हेजा का टीका आदि। बी सी जी का टीका क्षय के जीवाणुओ को सवर्द्धित कर बनाया जाता है। पोलियो जैसे विषाणुजन्य रोग के टीको को भी सवर्द्धित कर बनाया जाता है।

(५) संगरोध अवधि—

जिन लोगो के रोगी होने की सम्भावना हो उस व्यक्तियो को उस क्षेत्र या उस गाव या शहर मे जाने से रोक देना चाहिए जहा पर इसका प्रसार है।

इस प्रकार से उपर्युक्त साधनो के द्वारा सक्रमण को फैलने से रोका जा सकता है। सभी का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि सक्रामक रोगो को रोकने मे मदद करे। सक्रामक रोगो को रोकने मे यही साधन अनिवार्य नही है बल्कि व्यक्तिगत स्वच्छता तथा स्वास्थ्य के सामान्य नियमो का पालन भी अनिवार्य है। ✤



वैक्सीन का सामान्य परिचय व्याधि प्रतिरोध के परिप्रेक्ष्य में

डा॰ इन्द्र सिंह बीका

आयु के सम्पूर्ण विज्ञान का महत्वपूर्ण अङ्ग समाज को स्वस्थावस्था मे रखने हेतु रोगो से बचाव का है। जहा आधुनिक चिकित्सा पद्धति के उपासक Prevention is better then Cure (चिकित्सा से बचाव उत्तम है) का उद्‌घोष करते है वहा आयुर्वेद के मनीषी "स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्" की सर्व प्रथम कामना करते हैं।

जैसाकि प्रस्तुत ग्रन्थ सक्रामक रोग पर लिखा गया है जिनकी रोकथाम एव बचाव हेतु वैक्सीन के प्रयोगो की चर्चा रोगो सम्बन्धी लिखे गये लगभग प्रत्येक लेख मे आवश्यक रूप से की गई है। अत कुशल चिकित्सको एव चिकित्सा विज्ञान मे रुचि रखने वालो की जिज्ञासा को ध्यान मे रखते हुए खासतौर से यह लेख आपकी सेवा समर्पित कर रहा हू। वैक्सीन का महत्व चिकित्सा से हजारो गुना बढकर है। बहुत से ऐसे रोग हैं, विशेषत वायरस जन्य व्याधियो जैसे चेचक, पोलियो, पागल कुत्ता काटने से उत्पन्न हिडकिया रोग (Rabbies) जिनको असाध्य रोगो की श्रेणी मे लिया गया है परन्तु वैक्सीन का यदि समय पर प्रयोग किया जाये तो इन प्राणलेवा असाध्य व्याधि से शतप्रतिशत रक्षा की जा सकती है। जहाँ रोगो की चिकित्सा करना एक बहुत ही जटिल एव महगी प्रक्रिया है वहा वेक्सीनेशन एक सरलतम एव बहुत सस्ता साधन है जिसके द्वारा स्वस्थ समाज की कामना की जा सकती है।

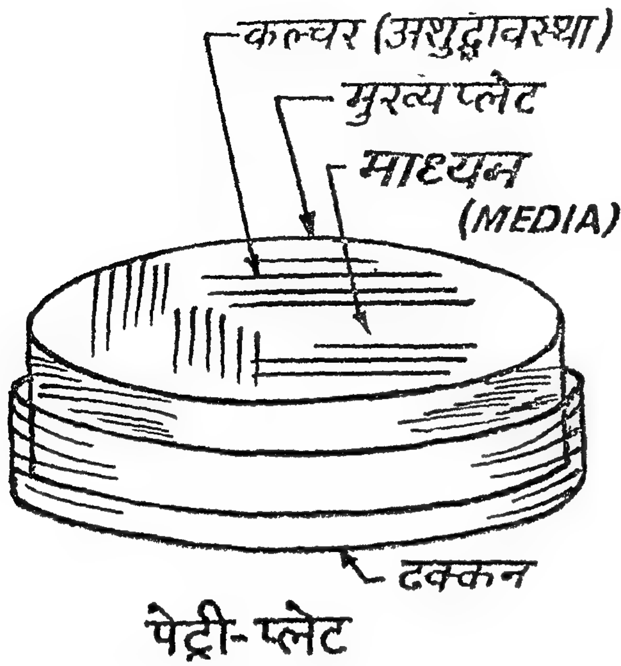
वैक्सीन की सरलतम व्याख्या—

सक्रमण के हेतु जीवाणुओ की विशेष विधियो द्वारा रोगोत्पादन क्षमता समाप्त करके जीवित अथवा मृतावस्था मे ही उनके कल्चर का उचित मान निर्धारण (Standardization) करके सूचिभरण अथवा मुख द्वारा भी सूक्ष्म अश मे स्वस्थ प्राणी शरीर मे प्रविष्ट किया जाता है।

फलस्वरूप ग्राहता को रोग की सम्प्राप्ति तो नही हो पाती है परन्तु जिस रोग के जीवाणुओ के कल्चर से जो वैक्सीन तैयार की जाती है उस रोग के हल्के लक्षण उस प्राणी शरीर मे उत्पन्न हो जाते है जिनका प्रतिरोध करने के लिए ग्राहता के शरीर मे एन्टीबॉडी तैयार हो जाती है जोकि काफी लम्बे समय तक, बहुधा आयुपर्यन्त, उस रोग के वास्तविक आक्रमण से उसकी रक्षा करती है।

वैक्सीन कैसे तैयार की जाती है ?

वैसे तो वैक्सीन का उत्पादन एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया है परन्तु यहा केवल सामान्य सिद्धान्तो की ही परिचर्चा करूगा। जिस रोग विशेष की वैक्सीन तैयार करनी हो केवल उसी रोग के जीवाणुओ का शुद्ध कल्चर प्रयोग मे लाना चाहिए, उसके साथ किसी दूसरी किस्म के रोगो के जीवाणुओ का मिश्रण कदापि नही होना चाहिए। विशेषत कल्चर की शुद्धता का महत्व उस अवस्था मे और भी बढ जाता है जहा वैक्सीन निर्माण मे जीवित जीवाणु का ही उपयोग किया जाता है। बी सी. जी, स्वाइन इरिसिपेलास वर्ग की व्याधि आदि की वेक्सीन मे जीवाणुओ का प्रयोग जीवितावस्था मे ही किया जाता है। रोग विशेष की वैक्सीन उत्पादन के लिए भिन्न-भिन्न रोगो की वैक्सीन हेतु भिन्न-भिन्न तकनीको का प्रयोग किया जाता है जिनकी पूर्ण जानकारी के लिए तद्-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थो का अवलोकन करना चाहिए। फिर भी इस लेख मे केवल वैक्सीन निर्माण विधि का सामान्य परिचय ही करवाने का प्रयास कर रहा हू। यदि पाठक वृन्द इस सन्दर्भ मे विशेष जानकारी चाहे तो लेखक से कभी भी सम्पर्क कर सकते है यथासम्भव जैसा सैद्धान्तिक एव प्रायोगिक दोनो ही प्रकार से आपकी शकाओ का समाधान किया जा सकता है। मोटे रूप से वैक्सीन



पेट्री-प्लेट

चित्र स० १

निर्माण की प्रक्रिया को इस प्रकार से जाना जा सकता कि—

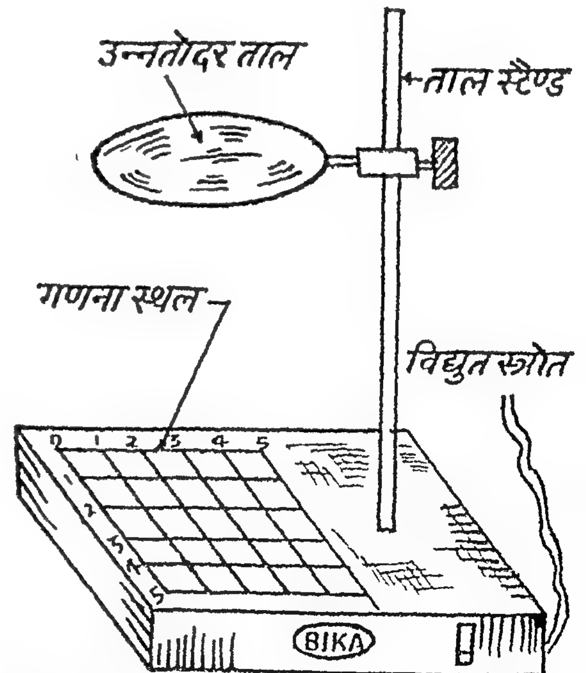
१—सर्व प्रथम रोग विशेष के जीवाणुओ का शुद्ध कल्चर किसी ठोस माध्यम (Solid media) पर तैयार कर लेना चाहिये। वाल्ड अगर, सीरम अगर, हॉर्स-फ्लेश-अगर अथवा नैसर का माध्यम इसमे कोई भी आवश्यकतानुसार इस कार्य हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। क्योकि नाजुक परिस्थितिओ मे वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीवाणुओ के लिये उपरोक्त माध्यम सर्वोत्तम माने जाते है। कल्चर ट्यूब्स के स्थान पर यदि पेट्री-प्लेट्स बनाई जावें तो ज्यादा उत्तम रहती हे क्योकि उनमे कल्चर के लिए ज्यादा बडा क्षेत्र उपलब्ध रहता हे।

२—एक प्लेटिनम वायर लूप अथवा स्वच्छ फोहा (स्वाव) की सहायता से इनोकुलम को पेट्री-प्लेट के ठोस माध्यम पर जैसाकि चित्र स १ मे दिखाया गयाहै उसे लकीरो के रूप मे सक्रमणहीन अवस्था मे ही प्रस्थापित कर देना चाहिये ताकि जीवाणु तनुता का लाभ उठाकर आसानी से अपने-अपने पृथक कुटुम्बों मे समूह के रूप मे पनप सकें। (देखे चित्र स० २)

३—अब उन पृथक-पृथक कुटुम्बो से जीवाणु वाहिनी कृत प्लेटिनम लूप या जीवाणु विहीन वातावरण मे ही स्वतन्त्र नमून लेकर उनकी स्लाइड्स बनाकर एव उन स्लाइड्स को विधिपूर्वक अभिरञ्जित[1] करके उनकी सूक्ष्मदर्शन परीक्षा द्वारा जीवाणुओ की किस्म एव मिश्रण मे उनके अनुपात को जाना जा सकता है।

४—उपरोक्त प्रकार से तैयार की गई कल्चर युक्त पेट्रीप्लेट को कुटुम्ब-गणक (Colony Counter) पर रख कर जीवाणु के कुटुम्बो (Colonies of organisms) का भलीभाति निरीक्षण करके आप निर्णय करले कि अमुक कुटुम्ब उस जीवाणु का है जोकि सभावित रोग का हेतु है जिसका विनिश्चय आप करने जा रहे है। अब एक प्लेटिनम लूप की सहायता से उस कालोनी के कल्चर का थोडा सा अश लेकर पुन एक पेट्री-प्लेट को चार्ज करदे व इन्कूबेटर मे रखकर रोग के हेतु जीवाणुओ का शुद्ध कल्चर प्राप्त करले।

५—इस शुद्ध कल्चर के अश प्लेटीनम लूप द्वारा लेकर उपयुक्त माध्यमो युक्त कई परख नलियो मे पुन



कुटुम्ब-गणक (COLONY COUNTER)

चित्र स० २

१ अभिरजन—इस हेतु विशेष जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक व्याधि नैदानिकी का अवलोकन करे।

कल्चर बनाकर बहुत भारी मात्रा मे जीवाणुओ की अभिवृद्धि की जा सकती है जिनका वैक्सीन निर्माण मे उपयोग किया जा सकता है।



बहुत अधिक मात्रा मे कल्चर बनाने के लिये एक पौंड वाली बडी बोतल मे माध्यम भरकर उन्हे आडी रखते हुए सरलता से उपयोग मे ली जा सकती है।

६—उपरोक्त प्रकार से तैयार किये गये कल्चर को कार्बल सेलाइन घोल मे मिलाकर सस्पेन्सन तैयार कर लिया जाता है जिसे पिपेट की सहायता से रबर की डाट युक्त जीवाणु विहीन नलिकाओ (Sterilized Tubes) मे भर देना चाहिए तथा इन नलिकाओ को कम्पनयन्त्र (Shaking machine) पर रखकर भली प्रकार से एक जैसा सस्पेन्सन तैयार किया जा सकता है। यदि अब भी इन नलिकाओं मे कल्चर का कोई अश पृथक रह गया हो तो उन्हे थोडे समय के लिये स्टेण्ड पर खडी करदे ताकि वे तलछट के रूप मे पृथक किये जा सके। नलिकाओ से सस्पेन्शन को पिपेट द्वारा अलग करके किसी स्वच्छ जार मे भरकर इन्कूबेटर मे रख दे।

७—उपरोक्त प्रकार से तैयार किये गए सस्पेन्सन को पुन कार्बल सेलाइन के साथ तनु करके उसका मान निर्धारण करके "स्टॉक सस्पेन्सन" प्राप्त किया जा सकता है जिसके प्रति मिलिलीटर मे विद्यमान जीवाणुओ की वास्तविक सख्या आपको ज्ञात होती है।

८—प्रयोगार्थ इस स्टाक सस्पेन्सन से आवश्यकतानुसार घनत्व का सस्पेन्सन कार्बल सेलाइन से तनु करके पुन वैक्सीन का घोल भी तैयार किया जा सकता है।

वैक्सीन का माननिर्धारण

१ वास्तविक जीवाणु गणना (Actual Counting)—

आवश्यक उपकरण—(१) हिमॉसाइटोमीटर (२) श्वेतरक्तकोशिका पिपेट (३) लोफलर की क्षारीय मिथाइलिन ब्ल्यू (४) जीवाणु स्टॉक सस्पेन्सन (परीक्ष्य वैक्सीन) (५) कार्बल सेलाइन घोल (६) सूक्ष्मदर्शक यन्त्र।

विधि—१. जीवाणु सस्पेसन्सन मे लॉफलर की क्षारीय मिथाइलिन ब्ल्यू के घोल की कुछ बूदे डाले ताकि जीवाणुओ का अभिरञ्जन हो जावे।

२ एक श्वेतरक्त कोशिका पिपेट की सहायता से परीक्ष्य जीवाणु सस्पेन्सन का कार्बल सेलाइन गोल के साथ १ . २० अनुपात का सस्पेन्सन तैयार करले।

३ उक्त सस्पेन्सन से हिमोसाइटोमीटर को विधिपूर्वक चार्ज करले।

४ सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा हिमोसाइटोमीटर के न्यूनतम चौखाने मे विद्यमान जीवाणुओ की गणना करले व प्राप्त मान को ८०,०००,००० से गुणा करने से एक मि लि मे विद्यमान जीवाणुओ की सख्या ज्ञात की जा सकती है।

स्पष्टीकरण—आपके पास मान लीजिये ५००० मिलियन जीवाणु प्रति मि लि का स्टॉक सस्पेन्सन है और आप उससे ५०० जीवाणु प्रति मि लि क्षमता वाली वैक्सीन बनाना चाहते है तो एक सीधा सा सूत्र याद रखे कि एक मि लि स्टॉक सस्पेन्सन मे ९ मि लि. कार्बल सेलाइन मिलावे अर्थात् १ १० के अनुपात मे स्टॉक सस्पेन्सन को तनु करले। बस आपका काम बन जायेगा।

२. राइट की विधि—

(१) जीवाणुओ के स्टॉक सस्पेन्सन को बराबर की मात्रा मे स्वस्थ मानव रक्त के साथ मिश्रित करके रक्त फिल्म बनाले व उस फिल्म का लीशमान की विधि मे अभिरञ्जन करले।

(२) जीवाणुओ तथा लाल रक्त कणो (RBC) का उक्त फिल्म को सूक्ष्म दर्शक यन्त्र मे लगाकर अनुपात ज्ञात करलें।

(३) अब उसी रक्त के नमूने मे विद्यमान लाल रक्त कोशिकाओ की विधिपूर्वक अलग से वास्तविक सख्या ज्ञात करले।

(४) जब लाल रक्त कोशिकाओ की सख्या ज्ञात हो जावे तो जीवाणुओ की सख्या भी जिस अनुपात मे वे रक्त के साथ मौजूद है ज्ञात करके उस सख्या को दुगना करने से उनकी वास्तविक सख्या ज्ञात की जा सकती है।

(३) ब्राउन-ट्यूब विधि—

यह सबसे सरल विधि है क्योकि ब्राउन की (मानक

नलिकाए) स्टेन्डर्ड ट्यूबे[1] बाजार मे उपलब्ध है जिन पर जीवाणु/मि लि की क्षमता अङ्कित रहती है । इन स्टन्डड नलिकाओ के साथ स्टॉक सस्पेन्सन की घनता की तुलना एक कम्परेटर यन्त्र द्वारा करके अप्रत्यक्ष (Indirect) रूप मे ज्ञात की जा सकती हे ।

मिश्रित वैक्सीन (Mixed Vaccine) बनाना—

भिन्न-२ जीवाणुओ का पृथक-२ मान निर्धारण करने के बाद उन्हे आवश्यक अनुपात मे मिश्रित करके एक मिश्रित सस्पेन्सन वना लेना चाहिए ।

-वैक्सीन को सक्रमण रहित करना-

१ वैक्सीन का जीवाणु विहीनीकरण—उपरोक्त प्रकार से तैयार शुदा सस्पेन्सन को जल स्नान मे ६०°मे तापक्रम पर एक घन्टा भर रखना चाहिए ताकि रुई की डाट लगी सस्पेन्सन युक्त नलिकाओ का भली प्रकार मे वाष्पोचार हो सके । यह भी ध्यान रहे कि नलिकाओ मे भरे सस्पेन्सन का स्तर (Level) जल स्नान के पानी के स्तर से लगभग एक इञ्च नीचा होना चाहिए ताकि पूर्ण सस्पेन्सन एक जैसा गर्म हो सके व उसकी रोगोत्पादन क्षमता का पूर्णतया ह्रास हो सके ।

अब इस सस्पेन्सन को ठडा होने देवे । ठडा होने पर एक लूप भर सस्पेन्सन का अश लेकर एक वाइरान अथवा वॉइलानहर्ट मिडियम वाली अन्य नलिका मे मिलाकर ४८ घटे के लिए उसे इन्क्यूवेटर मे छोड दे व बाद मे उस नलिका मे से थोडा का अश एक प्लेटिनम लूप द्वारा एक स्लाइड पर लेकर उसकी फिल्म वना कर विधिपूर्वक उसका अभिरञ्जन करके सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करके यह निश्चय करले कि सस्पेन्सन पूर्णतया स्टेरलाइज्ड (जीवाणु विहीन) हो चुका है तत्पश्चात् ही उस वैक्सीन को स्वच्छ ग्लास एम्पुल्स अथवा रवर की डाट वाली स्वच्छ (Sterilized) वोतलो मे भरकर कोल्ड स्टोरेज मे सग्रह करना चाहिए ।

२ वैक्सीन को सेन्सिटाइजेशन रहित करना—जीवाणु सस्पेन्सन को उसी जीवाणु की एन्टीसीरम के साथ तीन घन्टा तक सम्पर्क मे रखने के बाद उस सीरम-वैक्सीन मिश्रण को सेन्ट्रीफ्यूज करने व ऊपर का स्वच्छ द्रव पृथक करने के पश्चात नीचे की तलछट को धोकर उसे सावन सेलाइन मे मिला दे व उसको ५६° से तापक्रम पर एक घटा के लिये रखदे ।

३. वैक्सीन को विषहीन करना (Detoxication of Vaccine) जीवाणु सस्पेन्सन को फोर्मलिन मिला ढक्कन युक्त स्वच्छ वोतलो मे भर दे व उसे २४-४८ घटे तक इन्क्यूवेटर मे रखने के बाद सेन्ट्रीफ्यूज करके तलछट को पृथक करके व अच्छी प्रकार से जल धवन क्रिया द्वारा उसको फोर्मलिन से मुक्त करले व कार्वन सेलाइन के साथ उसका पुन सस्पेन्सन तैयार करके उसका विधिपूर्वक जीवाणु विहीन स्टेरिलिटी—परीक्षण[2] करके यह निश्चय करले कि उसमे कोई भी कीटाणु जीवितावस्था मे विद्यमान नही है । इस स्टेरलाइज्ड (जीवाणु विहीन) सस्पेन्सन का वैक्सीन के रूप मे स्वच्छ काच के पात्र मे सग्रह कर लेना चाहिए ।

वैक्सीन का प्रयोग—

अब तक पाठकगण शायद भली प्रकार से परिचित हो चुके होगे कि वैक्सीन निर्माण की प्रक्रिया कितनी जटिल है तथा इस पूर्ण प्रक्रिया मे किसी भी अवस्था मे जरा सी असावधानी के परिणाम वडे घातक सिद्ध हो सकते हैं । जिस प्रकार वैक्सीन का उत्पादन अति सावधानी पूर्वक होना अनिवार्य है उसी प्रकार से इसका प्रयोग भी सावधानीपूर्वक होना अति आवश्यक है । वैक्सीन का प्रयोग निश्चय ही एक योग्य कुशल चिकित्सक के हाथो होना चाहिये जिसके चिकित्सालय मे वैक्सीन सग्रह हेतु कोल्डस्टोरेज, स्टेरिलाइजेशन आदि की पूर्ण व्यवस्था हो । वैसे तो हर वैक्सीन की पैकिंग के साथ एक निर्देश पत्र उसे वनाने वाली फर्म की ओर से अलग से दिया हुआ होता है जिसको अच्छी प्रकार मे पढ कर ही वैक्सीन का प्रयोग

१—ब्राउन्स स्टेन्डर्ड ट्यूब—प्रयोगशाला मे तैयार करने की विधि विस्तारपूर्वक लेखक की 'व्याधि नेदानिकी' पुस्तक मे देखी जा सकती है ।

२—स्टेरिलिटी परीक्षण—वैक्सीन निर्माण हेतु यह परीक्षण एरोबिक एव एनेरोबिक दोनो ही विधियो से करना चाहिए । विस्तृत जानकारी हेतु लेखक की 'व्याधि नैदानिकी' पुस्तक का अवलोकन करे ।

करना चाहिए परन्तु फिर भी कुछ सामान्य बातें जो सभी अवस्थाओं में जाननी चाहिए, यहां लिखना अति आवश्यक समझता हूं जिनकी अनुपालना हर वैक्सीन-क्लीनिक में होनी ही चाहिए।

(१) वैक्सीन हमेशा रेफ्रीजिरेटर में रखनी चाहिए परन्तु उसका संग्रह फ्रिजिंग चेम्बर में कभी भी नहीं करना चाहिए जिसका तापक्रम 0°c से भी नीचे रहता है। विशेष तौर से तरल वैक्सीन्स के लिये तो यह बहुत ही अनिवार्य है।

(२) फ्रिज ड्राइड वैक्सीन को घोलने के बाद शीघ्रता में ही उपयोग कर लेना चाहिए तथा वैक्सीन के साथ निर्देशपत्र में दर्शाये समय तक उसे फ्रिज में ही रखें।

(३) वैक्सीन की पैकिंग को तोड़ने के बाद उसका प्रयोग तुरन्त ही कर लेना चाहिए।

(४) वैक्सीन को निर्धारित मात्रा से अधिक या कम नहीं देना चाहिए।

(५) वैक्सीन में काम आने वाले समस्त उपकरणों का जीवाणु विहीनी करण (स्टेरिलाइजेशन) भली प्रकार से कर लेना चाहिए तथा यथासंभव शुष्कावस्था में ही स्टेरिलाइजेशन (होटएयर ऑवन) करना चाहिए। यदि सीरिंज व नीडिल को पानी में उबाला गया हो तो उसे स्वच्छ स्थान पर सुखाकर ही प्रयोग में लाना चाहिए।

(६) वैक्सीन के प्रयोग में मार्ग (Route) का विशेष ध्यान रखना चाहिए जैसे अधोत्वकीय(सबक्यूटेनियस मार्ग, अन्तरात्वकीय)इन्टरा डरमल मार्ग, मुख मार्ग आदि-२।

(७) टीका देने के स्थल को अच्छी प्रकार से स्वच्छ कर लेने के बाद ही वक्सीन का टीका देना चाहिए।

(८) वेक्सीनेशन हेतु प्रयुक्त नीडल का बोर बहुत ही पतला व नीडल की नोक अति तीक्ष्ण (Sharp) होनी चाहिए। इस प्रयोजनार्थ २६ न हाइपोडरमिक निडिल उपयुक्त होती है।

(९) वेक्सीन देने के बाद ग्राहता को कम से कम आध घंटा तक क्लिनिक में ही बैठा कर प्रतिक्रिया आदि की पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

(१०) वैक्सीन क्लिनिक में रिएक्सन, एनाफाइलेटिक शॉक आदि संभावित परिस्थितियों से निपटने हेतु आक्सीजन व अन्य प्राणरक्षक औषधियों की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये।

(११) वेक्सीन के प्रभाव को जाँचने हेतु ग्राहता समय-समय पर क्लिनिक में उपस्थिति देने हेतु निर्देशित कर देना चाहिए।

(१२) वैक्सीन की आगे की क्रम-मात्राओं को निर्देशानुसार समय पर अवश्य ही देनी चाहिए अन्यथा वांच्छित परिणाम प्राप्त नहीं होंगे।

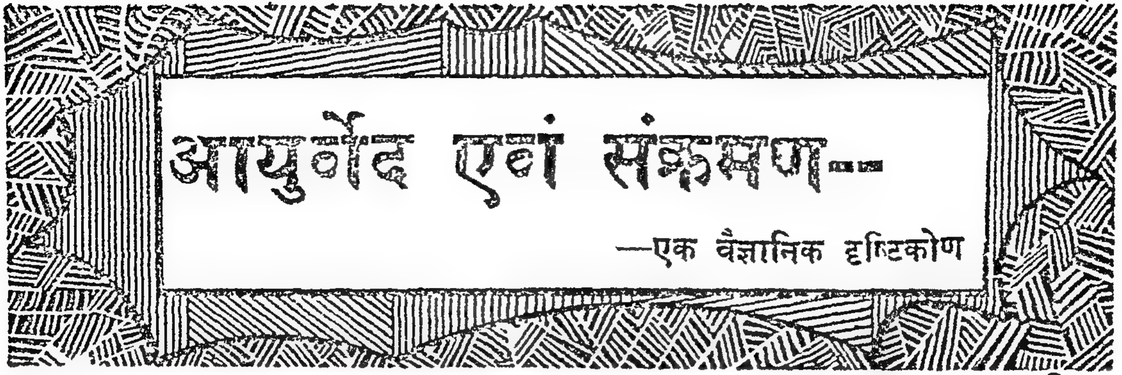
(१३) बूस्टर-डोज निर्धारित समय पर अवश्य ही करनी चाहिए। इस हेतु ग्राहता के वैक्सीन कार्ड में दिनांक अङ्कित कर देना चाहिए तथा साथ में चिकित्सक को भी अपने रजिस्टर में उन तिथियों का अङ्कन अवश्य ही कर लेना चाहिए।

एक सफल चिकित्सक के नाते आपका एक नैतिक कर्तव्य भी हो जाता है कि आप व्याधि उन्मूलन कार्यों के प्रति सजग रहें। वेक्सीनेशन के कार्य को मैं एक यज्ञ की संज्ञा देता हूं जो आप तपस्वी चिकित्सा मर्मज्ञ चिकित्सकों के हाथों होता है, हो रहा है व होना ही चाहिए। इन्हीं यज्ञों के माध्यम से आप मानवता की सच्ची सेवा कर सकते हैं जिसका आपने व्रत किया है—

न त्वहं कामये राज्यं नस्वर्गम् न च पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनां चार्ति नाशनम्॥

—डा० इन्द्र सिंह बीका
निदेशक—आरोग्य मन्दिर ग्रुप आफ हास्पीटल्स,
सरदारशहर (चूरू) राजस्थान।





आयुर्वेद एवं संक्रमण--

—एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

आयुर्वेदिक वाग्मय मे कृमियो का वर्णन किया गया है। यह वर्णन सक्षेप मे है, परन्तु इसके अन्तर्गत आधुनिक विज्ञान मे वर्णित सभी Pathological Organism जैसे Bacteria, Virus, Parasite आदि का समावेश हो जाता हे। कृमियो द्वारा पाडु, ग्रहणी, कुष्ठ, फिरङ्ग, राजयक्ष्मा, मसूरिका, उपदश, रोमान्तिका, नेत्र रोग, अपस्मार आदि रोगो का होना माना है। आचार्य उरभ्र ने देखने मात्र से रोग हो जाता है ऐसा माना हे—

त्वगक्षिरोगापस्मार राजयक्ष्मा मसूरिका ।
दर्शनात् स्पर्शनाघ्राणात् सक्रमन्ति नरान्नरम् ॥

उपरोक्त सूत्र से ज्ञात होना है, कि आयुर्वेद शास्त्र ने सक्रामक रोगो को माना ह तथा उनका वर्णन अपने ढङ्ग से किया है। पाडु, कुष्ठ, फिरङ्ग, राजयक्ष्मा, मसूरिका, उपदश, रोमान्तिका आदि का कारण Micro-organism ह। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा भी प्रमाणित हो चुका है। आयुर्वेद का उद्देश्य रोगी की चिकित्सा तथा आरोग्य को वनाये रखना है। इमी कारण आयुर्वेदिक चिकित्सा रोग से सम्वन्धित न होकर रोगी से सम्वन्धित है। आरोग्य का प्रमुख कारण रोगक्षमता है। क्षमता शब्द प्राचीन ह। जैसे—'न च सर्वाणि शरीराणि व्याधि क्षमत्वे समर्थानि भवन्ति।' (च०सू० २८)

चक्रपाणिदत्त ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप मे कहा ह। 'व्याधि क्षमत्व व्याधि वलविरोधित्व व्याध्युत्पाद प्रतिवन्धकत्वमिति यावत।' प्रतिवल या प्रत्यनीक वल का प्रयोग भी सहिता ग्रन्थो मे अनेक स्थानो पर उपलब्ध हुआ है। व्याधि क्षमता का वर्णन भी अप्रत्यक्ष रूप मे सूक्ष्म जीव Micro-organism का वर्णन आयुर्वेद सहिताओ मे हुआ हे ऐसा प्रमाणित करता है। क्योकि व्याधि क्षमता Micro-organism के लिए ही होती है या पैदा की जाती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी Natural & Aquired Immunity को मानता हे। आयुर्वेदिक निदान भी इसका प्रमाण देते हैं जसे राजयक्ष्मा निदान मे वताया हे—वेगविधारण साहस, क्षय, विषमाशन आदि विप्रकृष्ट कारण है। इसका अर्थ हुआ कि इसके द्वारा रोगी की व्याधिक्षमता कम हो जाती है। इसी कारण सन्निकृष्ट कारण Tuberculas Bacilli का सक्रमण हो जाता हे। वैसे भी इसको सक्रामक रोग माना गया हे। इसी प्रकार कुष्ठ के निदान दुष्ट मछली खाने से कुष्ठ का होना माना है। उपदश मे दुष्ट योनि (Infected vagina) का ससर्ग निदान मे वर्णित हे। उपदश व्रण का रस दूसरे स्थान पर लगने से फैलता है, ऐसा वताया गया है। ये भी प्रमाणित करता हे कि सक्रमण व्याधियो का वर्णन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान सम्मत है।

भाव प्रकाश ने फिरग के विषय मे कहा है कि यह ससर्गज व्याधि है अर्थात् आधुनिक भाषा मे Sexual Trasmitted Disease कहा है।

आचार्य सुश्रुत ने कुष्ठ को औपसर्गिक वताते हुए तथा सक्रमण की विधियो का वर्णन करते हुए कहा है कि मैथुन, गात्रस्पर्श, रोगी के नि स्रत नि श्वास को लेने, एक साथ एक पात्र मे भोजन करने मे, एक शैय्या पर सोने से, एक आसन पर वैठने से तथा उच्छिष्ट वस्त्र तथा माल्य धारण से, कुष्ठ, ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य मे चले जाते हे।

प्रसंगाद् गात्र सम्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात् ।
एक शय्यासनाच्चैव वस्त्र माल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगांश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥
(सु० नि० ५ ३३-३४)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी उपरोक्त कारण सक्रमण के हैं ऐसा मानता है ।

आयुर्वेदोक्त कृमियो मे रक्तज कृमि का वर्णन मिलता उसमे हम Malerial parasite Filerial parasite तथा अन्य Pathological organism (Bacteria, Virus) आदि का समावेश कर सकते है । जैसाकि आभ्यन्तर कृमियो के लक्षण बताते हुए कहा है 'ज्वरो विवर्णता शूल हृद्रोग सदन भ्रम । भक्त द्वेषोऽतिसारश्च सजात कृमि लक्षणम् ॥ (सु० उ० ५४/६) ।' उपरोक्त से प्रतीत होता है—ये लक्षण Septicaemia तथा Intestinal worm infection मे होते है । इसी कारण रक्तज कृमियो मे सभी वैकारिक जीवाणुओ का समावेश है ऐसा कह सकते है ।

मसूरिका के निदान मे क्रूर ग्रह का पाठ आया है जिन्हे अदृश्य बताया है । कौमार भृत्य मे भी ग्रहो का वर्णन किया गया है । ये ग्रह कोई नही बल्कि Pathological organism ही है । अतिसार के निदान मे दुष्ट अन्नपान का वर्णन भी सक्रमित खाद्यान्न एव जल से सम्बन्धित है जोकि Pathological organism द्वारा दूषित किया गया है । मै समझता हू कि आयुर्वेदिक संहिताओ मे वर्णित जनपदोध्वस भी सक्रामक व्याधियो के ज्ञान का एक प्रमाण है जो प्रमाणित करता है कि हमारे आचार्य सक्रामक व्याधियो से भली प्रकार परिचित थे ।

चिकित्सा क्रिया क्रम—सभी कृमियो मे अपकर्षण प्रथम उपचार है जिसका अर्थ है खीचकर निकालना । परन्तु दृश्य कृमियो के लिए ऐसा किया जा सकता है। आचार्यो ने अदृश्य व आभ्यन्तर कृमियो का अपकर्षण भैषज द्वारा सम्भव है ऐसा बतलाया है । अपकर्षण वमन, विरेचन, शिरोविरेचन,आस्थापन वस्ति से किया जाता है।

प्रकृति विघात—प्रकृति विघात का अर्थ उन कारणो जिनसे कृमि की उत्पत्ति हुई है को नष्ट करना अर्थात् उनकी प्रकृति के विपरीत (Pathological organism) स्थिति पैदा करना । या आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार Bacteriocidal or Bacteriostatic औषधियो का प्रयोग करना । आयुर्वेद मे कटु, तिक्त एव कषाय रस प्रधान पदार्थो का सेवन तथा क्षारीय एव उष्ण द्रव्यो का प्रयोग करना ।

निदान परिवर्जन—जिस निदान से व्याधि उत्पन्न हुई है उनका निराकरण करना या उसको छोडना ।

अपकर्षणमेवादौ कृमिणा भैषज स्मृतम् ।
ततो विघात प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम् ॥
(च० वि० ८)

औषधि व्यवस्था—विडङ्ग, पारसीक यवानी, भल्लातक, दाडिम, कम्पिल्लक, पलाश आदि द्रव्य तथा दीपन, पाचन, वातहर, कफहर, कृमिघ्न द्रव्यो का प्रयोग ।

कुछ विशेष योग—(१) बाह्य कृमियो मे कृमिनाशक धूप, विशाल धूप, विडङ्गादि तैल, पारदादि यूकापातन योग रसादि लेप, सिन्धाष्टक चूर्ण आदि का प्रयोग ।

(२) आभ्यन्तर कृमियो मे पलाश बीजादि चूर्ण, विडङ्गासव, कृमि मुद्गर, कृमिनाशक चूर्ण, कृमिकुठार रस, नवायस लौह ।

(३) रक्तज कृमियो की कुष्ठवत चिकित्सा करना बताया है ।

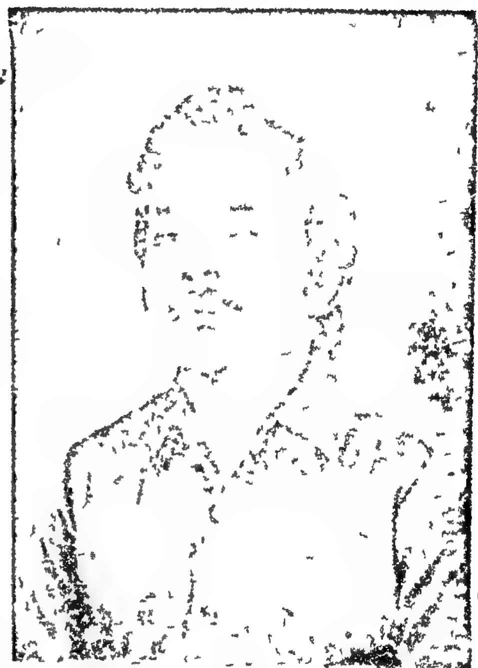
प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ—चरक संहिता (सूत्र स्थान १९, विमान स्थान ७), सुश्रुत संहिता (उत्तर तन्त्र ५४), अष्टाङ्ग हृदय (कुष्ठश्वित्र कृमि निदान १४, चि० २०) एव माधव निदान ।

—डा० नन्दकिशोर
बी०ए०एम०एस० [दिल्ली विश्वविद्यालय],
पी०जी०सी०आर० [बम्बई],
सी०सी०वाई०पी० [बी०एच०यू०],
डिप्लोमा योग [बी०एच०यू०],
एम०डी० [आयु० काय चिकित्सा] [बी०एच०यू०],
एफ०एम०ए० [डेनमार्क],
काय-चिकित्सा विभाग,
श्री लक्ष्मीनारायण आयुर्वेदिक कालेज,
सन्त तुलसीदास मार्ग, अमृतसर—१४३००१ ।

—०※०—

व्याधि प्रतिरोध क्षमीकरण

डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र एम०डी०



उत्तर प्रदेश आयुर्वेद विद्वानो का गढ है। यहा अनेको आयुर्वेदकि महाविद्यालयो मे बुन्देलखण्ड राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय झासी एक प्रसिद्ध सस्थान है। इसी महाविद्यालय की एक विभूति श्री डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र प्रसूति तन्त्र, स्त्री रोग एव बालरोग विभाग को सम्भाले हुए है। आपका परिचय देना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। आप मृदु भाषी, आयुर्वेद मनीषी, उद्‌भट विद्वान, पीयूषपाणी चिकित्सक है। आपने प्रथम खण्ड हेतु व्याधि प्रतिरोध क्षमीकरण नामक लेख भेजा है। लेख ज्ञान बर्द्धक तो है ही, इसके साथ इसमे सक्रमण को रोकने हेतु विभिन्न टीको के बारे मे जानकारी दी गई है। टीका किस उम्र मे लगाना चाहिए, टीके के कौन योग्य है, कौन अयोग्य है, इससे क्या-क्या उपद्रव हो सकते है ? आदि पर विचार प्रस्तुत किये गये है।

लेख रुचिकर, ज्ञानवर्द्धक है। सामान्य पाठक जो इन टीको की उपयोगिता नही समझते ह, उनके लिए यह लेख ज्ञान का पुज होगा। एव असमय होने वाले सक्रामक रोग फैलने से रोकने मे सहायक होगा। आशा है भविष्य मे भी पाठको के लिये आप लेख लिखते रहेगे।

—डा० दाऊदयाल गर्ग सम्पादक "धन्वन्तरि"

आयुर्वेद सहिता ग्रन्थो मे नवजात शिशु के पालन पोषण के वर्णन मे "रक्षाकर्म" का विधान बताया गया है। उसी प्रकार आज "शिशु रक्षा विज्ञान" (Preventive Paediatrics) का विकास हुआ है। इस कार्य के लिए ३ वर्गो का उल्लेख ह—

१ व्याधि प्रतिरोध क्षमीकरण
२ कुपोषण जन्य प्रभाव से रक्षा
३ व्याधि एव खतरो मे सुरक्षा

—व्याधि प्रतिरोध क्षमीकरण—

इसके लिये २ उपाय प्रयोग मे लाये जाते है—

[१] सक्रिय (Active)—अर्थात् वैक्सीन्स को शिशु मे या आदमी मे दे करके उसके शरीर मे ही प्रति द्रव्य (Antibodies) का निर्माण करना। यथा बी सी. जी वैक्सीन, डी पी टी वैक्सीन, पोलियो, चेचक, मसूरिका, टाइफाइड, कालरा के वैक्सीन्स।

[२] मदगति क्रियाशील (Passive)—अर्थात् जिस विधि मे आवश्यक प्रति द्रव्य को सीधे शिशु या प्राणी मे दे दिया जाता है। यथा रोहिणी रोधी सीरप (Antidiphtheric Serum), धनुर्वात रोधी (Antitetanus Serum), विशिष्ट प्रोभूजिन (Gamma globulin)

यह हमे स्पष्ट रूप से ज्ञात होना ही चाहिए कि यह कृत्रिम व्याधि प्रतिरोध क्षमीकरण उपाय पूर्णरूपेण सक्षम नही है। यदि सक्रमण तीव्र स्वरूप का होगा तो शिशु पर प्रभाव डाल सकता है परन्तु व्याधि का स्वरूप

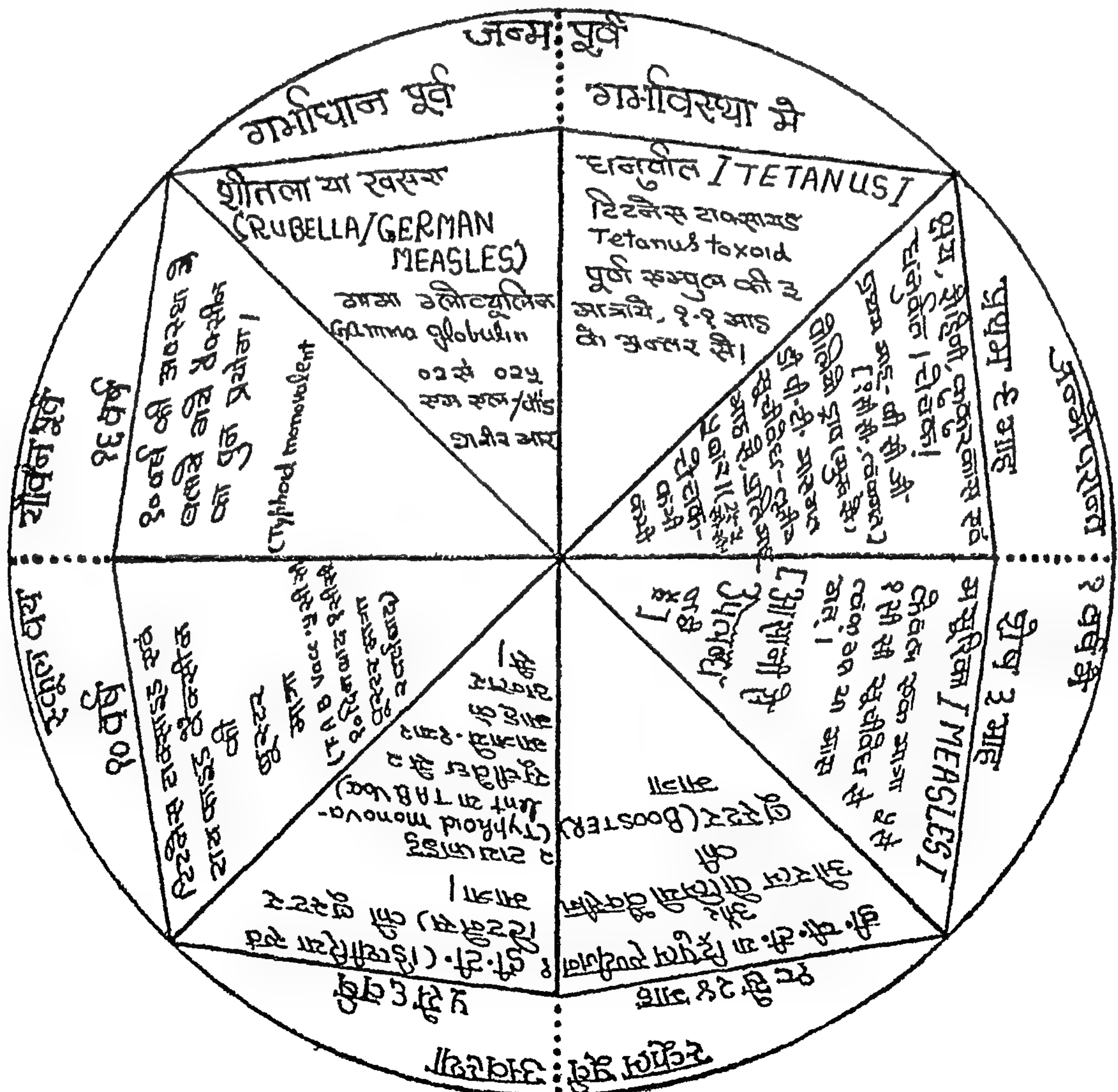
वच्चे मे मृदु होगा ।

अपने देश मे प्रचलित राष्ट्रीय व्याधि प्रतिरोध क्षमीकरण सूची का सरलतम स्वरूप नीचे चित्र मे दिखाया गया है । इनमे कुछ मत वैभिन्य भी हो सकता है ।

(अ) गर्भाधान के पूर्व—डेविडसन्स प्रिन्सिपल्स एण्ड प्रैक्टिस आव मेडिसिन' पुस्तक मे सकलित है कि प्रत्येक कन्या को ११ वे वर्ष से १३ वे वर्ष के मध्य वय मे ही शीतला का टीका लग जाना चाहिए, यदि उन्हे इसके पूर्व शीतला का प्रकोप न हुआ हो। माता वनने को तैयार स्त्री मे भी यदि पूर्व मे शीतला न हुई हो अथवा प्रायोगिक परीक्षा (Serological Test) मे ऋणात्मक आने पर टीका लगाना चाहिये । टीका लगने के ८ सप्ताह वाद ही स्त्री गर्भ धारण करे । अन्यथा गर्भ मे विकृति आ सकती है ।

(ब) गर्भावस्था मे टिटेनस टाक्साइड का टीका गर्भावस्था मे ही लग जाने पर माता एव शिशु दोनो की सुरक्षा रहती है । अच्छा तो यह होगा कि गर्भ धारण के वाद यह टीके जितनी जल्दी लग जाये उतना ही अच्छा होगा । इसकी ३ मात्राये लगती है। पर यदि २ वार भी सूचिकावेध द्वारा टीका दे दिया जाय, तो लाभकारी रहता है ।

(स) जन्म के वाद—१ वी सी जी (Bacillus of Calmettee and Guerine)—जन्म के वाद सर्व प्रथम क्षय रोग (T B) मे रक्षार्थ यही टीका लगाया



जाता है। प्रयास तो यह होना चाहिए कि प्रथम माह मे ही लग जाय। परन्तु यदि सम्भव न हो तो जब भी शिशु आये यह टीका लग जाना चाहिए। उस टीके को २ से १०°c के ताप के मध्य रखते है। यदि प्रथम वर्ष मे टीका लग जाता है तो फिर ५ वर्ष एव १० वर्ष की वय पर दुबारा लगाना चाहिये। बी सी जी का टीका प्राय वाम हाथ के उर्ध्व भाग पर (Deltoid Muscle) पर देते है। ० १ सी सी (० ०७५ मि ग्रा) की मात्रा I Tu of PPD (Rt 23) with added Tween 80 की सुई ट्यूबरकुलीन सिरिंज से देते है।

सूचीवेध देने के बाद एक गलका (Papula) उस स्थान पर २-३ सप्ताह मे बनता है। ४ सप्ताह तक इसकी वृद्धि होती है फिर यह बैठ जाता है अथवा व्रण बन जाता है जो प्राय ८ वे सप्ताह तक मे ठीक हो जाता है। यदि B C G का टीका Tuberculin Postive को लग जाता है तो उसकी तीव्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप २३ दिन मे सूई के स्थान पर लाल वर्ण का व्रण बन जाता है जो लगभग ३ सप्ताह मे ही ठीक हो जाता है।[1] इससे कोई हानि भी नही होती।

अयोग्य—ज्ञात Montoux positive रोगी।

उपद्रव—कभी-कभी कुछ उपद्रव भी हो जाया करते है यथा व्रण के स्थान पर सक्रमण होजाना, कक्षा एव ग्रीवा की लसिका ग्रन्थियो का बढ जाना एव/अथवा पाक होना, टीके के स्थान पर उभार (Keloid) का बनना।

[२] पोलियो वैक्सीन—मुख मार्ग मे देय वक्सीन मे जीवित किन्तु क्षीणकृत (Attenuated) वाइरस के तीन उपवर्ग (देखिये लेख-बाल पक्षाघात) होते है। इसका सकलन २ से १० °c पर करते है। इसके अतिरिक्त सूचिका द्वारा देय मृत वायरस की 'Salk Vaccine' भी होती है। यह व्यक्तिगत रोग प्रतिरोध क्षमता ही पैदा करती है। जबकि मुख द्वारा देय "Sabin vaccine" समुदाय मे कार्य करती है अर्थात् सक्रमण से बचाती है। अत अब यही प्रयुक्त होती है।

माता के शरीर मे उपस्थित 'प्रति द्रव्य" बच्चो के प्रारम्भिक काल मे "साबिन वैक्सीन" के प्रभाव को घटाते है अत पहली मात्रा ३-४ माह पर देनी चाहिए। क्रमश १-१ माह के अन्तर के द्वारा ५ बार देना चाहिए। तदोपरान्त १॥ वर्ष की वय और ५ वर्ष की वय पर Booster मात्रा देते है। लगभग ८ वर्ष की वय के बाद वैक्सीन नही देनी चाहिए।

जिन बच्चो को अतिसार, एव कोई तीव्र स्वरूप की व्याधि हो उन्हे नही देवे। तथा जहा तक सम्भव हो चेचक, क्षय रोग, मसूरिका जैसी वैक्सीन देने के १ माह बाद ही इसे देना चाहिए।

[३] डी पी टी वैक्सीन या ट्रिपिल वैक्सीन—इसमे रोहिणी, कुकुरकास एव धनुर्वात मे रक्षार्थ सग्रह होता है। इसका सग्रह २ से १०°c पर करते है। इसकी ३ मात्राये पोलियो वैक्सीन के साथहीसाससाथ देते हैं। ज्वर, अपस्मार या आक्षेपयुक्त रोगियो के जनपदीय सक्रमण मे नही दे।

उपद्रव—ज्वर, स्थानीय सूचिकावेध विद्रधि, एलर्जी, एनसेफलाइटिस आदि।

[४] चेचक वैक्सीन—भारत सरकार की घोषणा के अनुरूप अब हमारे देश से चेचक उन्मूलन हो चुका है। अत वैक्सीनेशन क्रम से इसे हटा दिया गया है। यदि चिकित्सक को या सामान्यजन को इसका कही भी सन्देह होता है तो तुरन्त प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, जिला चिकित्सा अधिकारी, जिला प्रशासन को सूचित करना चाहिए।

[५] मसूरिका वैक्सीन—इसे Schwartz's Vaccine कहते है। केवल १ बार इसे लगाने से लम्बे समय तक इसका प्रभाव रहता है। (आसानी से उपलब्ध नही है।)

६ माह से कम वय मे, स्टेरायड प्रयोग के समय, एलर्जी, एक्जीमा,क्षय रोग, गर्भावस्था, तीव्र कुपोषण आदि अवस्था मे नही देना चाहिए।

[६] आन्त्रिक ज्वर—प्राय टी० ए० बी० वैक्सीन टाइफाइड मोनोवेलेन्ट के विषय मे सभी जानते हैं। परन्तु W H O के कथनानुसार वैक्सीन के खतरे टी ए बी० वैक्सीन की प्रतिक्रिया के खतरो से कम होते है। अत टाइफाइड मोनोवेलेन्ट वैक्सीन का प्रयोग करे।

[७] विशिष्ट अन्य वेक्सीन्स—कुछ अन्य वैक्सीन्स भी हैं जो विशेष काल मे प्रयुक्त होती है—

१ विशूचिका वैक्सीन

१—इस प्रतिक्रिया को सम्भावित क्षय रोग के निदानार्थ भी प्रयुक्त किया जाता है।

२ गलमुआ (मम्स) वैक्सीन

३ एम० एम० आर० वैक्सीन (Measles, Mumps & Rubella vaccines)

४ रैबीज (कुत्ता काटने के बाद प्रयुक्त)

५ प्रतिश्याय

६ मलेरिया वैक्सीन (प्रायोगिक स्तर पर)

७ Pneumvax (प्रायोगिक स्तर पर–Pneumonia,Bactaeremia एव Meningitis)

भारत सरकार की योजना - स्वास्थ्य मन्त्रालय ने विभिन्न समितियो द्वारा इस कार्य को कराने का यत्न किया है। इस कार्यक्रम का नाम 'Expended Programme on Immunization' [E P I] है।

१ राष्ट्रीय चेचक उन्मूलन योजना

२ क्षयरोधी योजना बी० सी० जी०

३ परिवार कल्याण कार्यक्रम के द्वारा डी० पी० टी० एव टी० टी०।

[मसूरिका वैक्सीन अभी आसानी से उपलब्ध नही है जबकि पोलियो वैक्सीन आसानी से उपलब्ध है।]

इन समस्त योजनाओ के अथक परिश्रम के बाद भी जो अपेक्षित सफलता मिलनी चाहिए थी वह नही मिल पायी है। यदि किसी परिवार मे किसी टीके का कोई उपद्रव हो गया, तो वह परिवार ही नही वरन पूरा मुहल्ला 'वैक्सीनेशन प्रोग्राम' को सन्देहास्पद बना देता है।

आज की भारतवर्ष की परिस्थितिया (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक) भी इस प्रोग्राम के असफलता की कारण है। टीको का सर्वसुलभ न होना, गरीब जनता का चिकित्सालयो मे शोषण, वैक्सीन के रख-रखाव मे दिक्कते (रेफ्रीजरेटर एव बिजली) आदि हम आयुर्वेदज्ञो को पुन एक बार सोचने को बाध्य करती है कि हम अपने ग्रन्थो को पलटे। यथा—

हेम श्वेत वचा कुष्ठमर्कपुष्पी सकाञ्चना।
हेम मत्स्याक्षकः शङ्ख कैडर्यः कनकं वचा॥
चत्वार एते पादोक्ता प्राशा मधुघृतप्लुता।
वर्ष लीढा वपुर्मेधाबलवर्णकराः शुभा॥

—अ. हृ उ० १/४७-४८

उपरोक्त ४ योग यदि १ वर्ष तक चटाये तो वपु (शरीर), मेधा, बल (रोग प्रतिरोधी शक्ति) वर्ण की वृद्धि होती है।

२—१ वर्ष तक वच एव स्वर्ण भस्म के अल्प मात्रा मे घृत एव मधु से चटाने पर (मेध्य रक्षोघ्न वाऽग्निवर्धनम्) मेधा, रक्षाशक्ति व अग्नि का वर्धन करता है।

–अ म उ १/७१

३—ब्राह्मी, बला, अनन्ता, शतावरी का योग।

४—काश्यप सहिता सूत्र स्थान का प्रथम उपलब्ध लेहा याय भी उस दृष्टि से द्रष्टव्य है—

आयुष्य मङ्गल पुराय वृष्य वरार्य ग्रहापहम्।
मासात् परममेधावी व्याधिभिर्न च धृष्यते॥

इसी प्रकार के बहुत से उद्धरण आयुर्वेद सहिताओ मे पडे हुए आज के आयुर्वेद मनीषियो का मुख देख रहे है कि कोई हमे निकाल कर आधुनिक वैज्ञानिक कसौटी पर कस सामान्य जनता के हितार्थ प्रयोग करे।

—डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र एम०डी०,
विभागाध्यक्ष-प्रसूतितन्त्र, स्त्रीरोग एव बालरोग,
बुन्देलखण्ड राज० आयु० महाविद्यालय, झासी—३

सक्रामक व्याधियो से युद्ध — विश्व स्वास्थ्य संगठन की अपील

विकासशील देशो मे ८० लाख बच्चे प्रतिवर्ष पैदा होते ह और उनमे से ५ लाख बच्चे प्रति वर्ष सक्रामक व्याधि के कारण मृत्यु का वरण कर लेते है क्योकि सक्रामक रोगो से बचाव हेतु उपाय (Immunization) १०% से भी कम बच्चो मे प्रयोग किये जाते है। उन बच्चो के अतिरिक्त जो मृत्यु को प्राप्त हो जाते हे बहुत से शिशु मानसिक आघात, शरीर का अपूर्ण विकास, तीव्र फुफ्फुस रोग, बहरापन या अन्धापन के शिकार हो जाते है। मसूरिका एव कुकुरकास बच्चो को पोषण से रोकते है और बच्चे कुपोषण का शिकार होते है। ऐसा नही होना चाहिए। सभी बच्चो को रोहिणी, कुकुरकास, धनुर्वात, पोलियो, मसूरिका एव क्षय आदि से सुरक्षा विकसित देशो की तरह जन्म से एक वर्ष तक अवश्य मिलनी चाहिए। ✱

विषाणु परिचय

डा० ब्रजेश चन्द्र शर्मा बी०ए० एम०एस०

विषाणु का परिचय ल्युइस पाश्चर (L Pasteur) ने सर्वप्रथम सक्रामक रोगो के विभिन्न हेतुओ के रूप मे दिया तथा बीजैरइक (Beijerinck) ने इसका परिचय तम्बाकू के पौधे मे उत्पन्न रोग (Tobacco Mosaic disease) के हेतु के रूप मे वायरस नाम दिया, जिसका सामान्य अर्थ जहर किया गया। इसके बाद विषाणु शब्द उस सूक्ष्म जैविकी के लिये दिया जाने लगा जोकि केंडल, ऐस्बैस्टस, डिस्क व ग्राडोकोल आदि विभिन्न प्रकार की झिल्लियो एव अर्थेनवेयर, बर्कफील्ड व चैम्बर लेंड आदि विभिन्न प्रकार के निस्यन्दको से निस्यन्दित हो जाते थे। इस प्रकार के सूक्ष्म जीवो को निस्यन्दी विषाणु भी कहा जाता था, लेकिन वर्तमान मे यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा चुका है कि जीवाणुवीय प्रकृति के विभिन्न सूक्ष्म जीव भी उक्त निस्यन्दको एव झिल्लियो मे निस्य-न्दित हो जाते है। अत वर्तमान मे उक्त निस्यन्दी विषाणुओ की मान्यता नही मानी जाती।

विषाणुओ का अपना एक स्वतन्त्र जगत है, जोकि कोशिकीय सरचना से रहित आकार मे अत्यन्त सूक्ष्म (लगभग २०-३५ ° मिली माइक्रोन तक) होते हे। एक माइक्रोन 'u' =-1/1000,000 का 1/1000 वा भाग या 10^{-9}। विषाणु की इकाई को वाइरौन (Viron) कहते है।

आकारिकी (Morphology)—

विषाणुओ को उनके विभिन्न आकारो के अनुसार निम्नाङ्कित मुख्य-२ समूहो मे विभक्त किया जा सकता हे—

१ वृत्ताकार—इनका आकार गोल एव १८-५० मिली माइक्रोन तक होता हे तथा इन्फ्लूऐंजा, जापानीज ऐनसैफेलाइटिस एव रोमान्तिका आदि प्रकार के विषाणु मुख्यत इस समूह मे आते है।

२ दडाकार—इस प्रकार के विषाणु दडाकृति, शलाकावत् होते है। इनका आकार सामान्यत ३०० मिली माइक्रोन लम्बा एव १५ मिली माइक्रोन चौडा होता है। यथा–टोबैको मौजेइक रोग के विषाणु।

३ घनाकार—इस प्रकार के विषाणु घनाकार ३० एव ३५ ° मिली माइक्रोन तक होते है। यथा–वैक्सी-निया (गो मसूरिका), बृहन्मसूरिका, पैपीलोमा, ऐडीनो, एन्टरो व रियो वायरस आदि।

४ शुक्राणु प्रकार—इस प्रकार के विषाणु सामा-न्यत अनियमित प्रकार के (Spiral form) ४७-१०४ मे १०-२०५ मिली माइक्रोन तक होते है। ये मुख्यत निम्न श्रेणी की वनस्पतियो मे रोगोत्पत्ति करते है।

विषाणुओ का आकार परिमापन मुख्यत —

(अ) कौलायड झिल्लियो से निस्यन्दन

(ब) उच्च गति सकेन्द्रण एव

(ग) इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोपी के माध्यम से किया जाता है।

सरचना—

विषाणु सामान्यत न्यूक्लियक ऐसिड (डी०एन०ए० या आर०एन०ए०) तथा एक प्रोटीनभित्ति (एन्जाइम सस्थानयुक्त) मे निर्मित होते है। प्रोटीनभित्ति के माध्यम से ही विषाणु ऊतकाभित्तियो के भेदन मे सक्षम होते है। कोशिकाभित्ति को वर्तमान मे कैप्सिड (Capsid) के नाम से जानते है, जोकि पौली पैप्टाइड (Poly Peptides) अणुओ की निश्चित कैप्सोमर्स (Capsomers) मे निर्मित होती हे। ये कैप्सिड न्यूक्लियक ऐसिड कोर की न्यूक्लि-येजैज एव अन्य एजेन्टो से रक्षा करते हैं। कैप्सिड मे सरचनात्मक कैप्सोमरो की सख्या प्रत्येक प्रकार के विषाणु के लिए निश्चित होती है। कैप्सिड के अन्दर न्यूक्लियक ऐसिडयुक्त न्यूक्लियो कैप्सिड नामक सरचना होती है। कुछ विषाणुओ मे सुपर कैप्सिड नामक झिल्ली (कोशाघटक युक्त) भी पायी जाती है। कलिका द्वारा प्रजनन के समय विषाणु 'पैप्लोमर' नामक आवरण से आवृत्त होता है, जोकि पोषक कोषा की झिल्ली एव लाइपोप्रोटीन से निर्मित होती है।

प्रोटीन इकाइयो की पैकिङ्ग के गुणक के आधार

पर ही समस्त विपाणुओं को मुख्यत दो वर्गों मे विभक्त किया जाता है। यथा—

१ स्पाइरल प्रकार २ घनाकार

'टोबैको मौजेइक' रोग का विषाणु स्पाइरल प्रकार का एक विशिष्ट विपाणु है जोकि एक खोखली रौड के आकार का १७ मिली माइक्रोन व्यास एव ३१० मिली माइक्रोन लम्बा होता है।

—समस्त प्रकार के विपाणु एक विशिष्ट प्रोटीन—'डी० एन० ए० या आर० एन० ए०' से निर्मित होते हे।

— विषाणु द्विविभजन (Binary fission) द्वारा अपना प्रजनन नही कर पाते, क्योकि इनमे रिबो सोम (Ribosomes) नही होते।

—विपाणु प्रोटीन सश्लेषण भी नही करते। ये एकदम अन्तराकोशीय सम्पूर्ण परजीवी (Intracellular Obligatory Parasite) होते है। शरीर की जीवित धातुओ एव कोशाओ मे ही ये अपनी वणवृद्धि कर सकते हे।

—इनकी सबसे छोटी सरचनात्मक इकाई वायरॉन कही जाती है। इनका टर्मीनल किनारा विकास के लिए सबसे स्थायी होता हे।

विपाणु सामान्यत सूक्ष्मदर्शी से दिखाई नही देते। इनके परीक्षण के लिये प्राय अल्ट्रामाइक्रोस्कोप का ही प्रयोग होता है। सक्षेप मे समस्त विपाणु सामान्यत निम्नलिखित गुणो से युक्त होते है—

१—ये जन्तु जगत की सबसे सूक्ष्मतम अकोशिकीय संरचनाये होती है जोकि सामान्य सूक्ष्मदर्शक से दिखायी नही देती।

२—ये सामान्यत प्रोटीन एव न्यूक्लियक ऐसिड से निर्मित होते है। विषाणु मुख्यत एक विशिष्ट प्रोटीन 'डी० एन० ए० या आर० एन० ए०' युक्त ही होते है। कोई भी विपाणु उक्त दोनो प्रोटीनो से युक्त नही होता। विषाणुओ की न्यूक्लियक ऐसिड कोर प्रोटीन घटक के द्वारा ही निर्मित होती है।

३—विषाणु पूर्णत औब्लीगेटरी प्रकार के परजीवी होते हे। ये सामान्यत अपनी किसी भी आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकते। जन्तुओ की विशिष्ट पोषक जीवित कोशाये एव धातुये ही विषाणुओ की समस्त चयापचयिक क्रियाओ मे सहायक होती है।

४—ये पोषक—विशिष्टता युक्त होते है। अर्थात् विशिष्ट विषाणु, विशिष्ट जीवित पोपक धातु या पोषक कोपाओ द्वारा ही पोषित होते है। तथा विपाणु विशिष्ट पोषक कोशाओ को ही सक्रान्त करते है।

५—विषाणु सामान्यत. ६० C पर ईथर या विकिरण द्वारा गर्म करने पर आधा घन्टे मे नष्ट हो जाते है।

६—प्रयोगशाला मे विपाणु अकोशीय माध्यम मे वृद्धि नही कर सकते।

७—पूर्णत अन्तराकोशीय परजीवी होने से ये कोशाद्रव्य या केन्द्रकं मे ही रहते है तथा निश्चित विशिष्ट प्रतिक्रिया (इन्क्लूजन पिंड एव शोथ) प्रदर्शित करते है।

८—ये विशिष्ट ऐन्टीजन प्रतिक्रिया यथा—हीमैग्ल्यूटीनेशन, कम्प्लीमैंटफिक्शेशन तथा टौक्सिन न्यूट्रलाईजेशन भी प्रदर्शित करते है।

विषाणुओ की विभिन्न प्रजातिया मनुष्यो के लिए विकारी होती हे। जैसे—मसूरिका, रेबीज, इन्फ्लूऐंजा, रोमान्तिका, ऐनसैफेलाइटिस, जानपदिक यकृच्छोथ, रक्तस्रावी ज्वर, पोलियो एव विभिन्न प्रकार के अर्बुद आदि।

विषाणु संवर्धन—

सयोगशाला मे विषाणु अकोशीय माध्यम मे वृद्धि नही कर सकते। विशिष्ट प्रकार के विपाणु विशिष्ट जीवित कोशीय माध्यम मे ही सवर्धित हो पाते है तथा इसके सवर्धन के लिए विशिष्ट विधिया ही प्रयुक्त होती है। एतदर्थ कुछ विशिष्ट कोशीय मवर्धन माध्यम निम्न है—

(१) चिक ऐम्ब्रियोकल्चर (Chick Embryo culture)—१ कोरियो ऐलान्टोइक इनोकुलेशन
२ ऐलान्टोइक इनोकुलेशन
३ ऐम्नोइटिक सैक इनोकुलेशन तथा
४ योक सैक इनोकुलेशन

(२) ऊतक सवर्धन—
१ ह्यूमैन ऐम्ब्रियो लिवर ऐम्नॉयन [HELA]
२ ऐम्ब्रियोनिक ह्युमैन किडनी
३ रिहीसस ऐन्ड अफ्रीकन ग्रीन मकी किडनी

इन्क्लूजन पिण्ड (Inclusion body)—

ये पिन्ड सदृश सरचनायें सामान्यत विशिष्ट आकार प्रकार की स्थिति एव अभिरजन गुणयुक्त होती है जो

कि विषाणु सक्रान्त कोशाओ मे कोशाद्रव्य या केन्द्रक मे या दोनो मे उपस्थित रहती है। ये पिन्ड सामान्य सूक्ष्म-दर्शी की लो पावर मे भी दृष्टिगत हो सकते है। ये पिंड सामान्यत 'अम्लरग ग्राही' (एसिडोफिलिक) गुणयुक्त होते हैं, लेकिन ऐडीनोवायरस की पिंड 'क्षाररंग ग्राही' (वेसोफिलिक) गुणयुक्त होती है।

विभिन्न प्रकार के विषाणुजन्य रोगो मे विभिन्न प्रकार के इन्फ्लूजन पिंड सक्रान्त कोशाओ के कोशाद्रव्य या केन्द्रक या इन दोनो मे उपस्थिति होते हैं। ये पिंड विभिन्न रोगो के निदान मे महत्वपूर्ण सिद्ध होते है। यथा—

१ नैग्री वौडी—रेवीज रोग मे इस प्रकार के पिंड जन्तु की मस्तिष्क कोशाओ मे पाये जाते हैं। मुख्यत इन्ट्रा-साइटोप्लाज्मिक एव इओसिनोफिलिक गुणयुक्त होते है।

२ ग्वारनीरी वौडी—मसूरिका मे इस प्रकार की छोटी-छोटी अनेको पिंड वैक्सीनिया वायरस के होते है।

३ वोलिंगर वौडी—ये कुछ वडे तथा Foul pox रोग मे प्राप्त होते है।

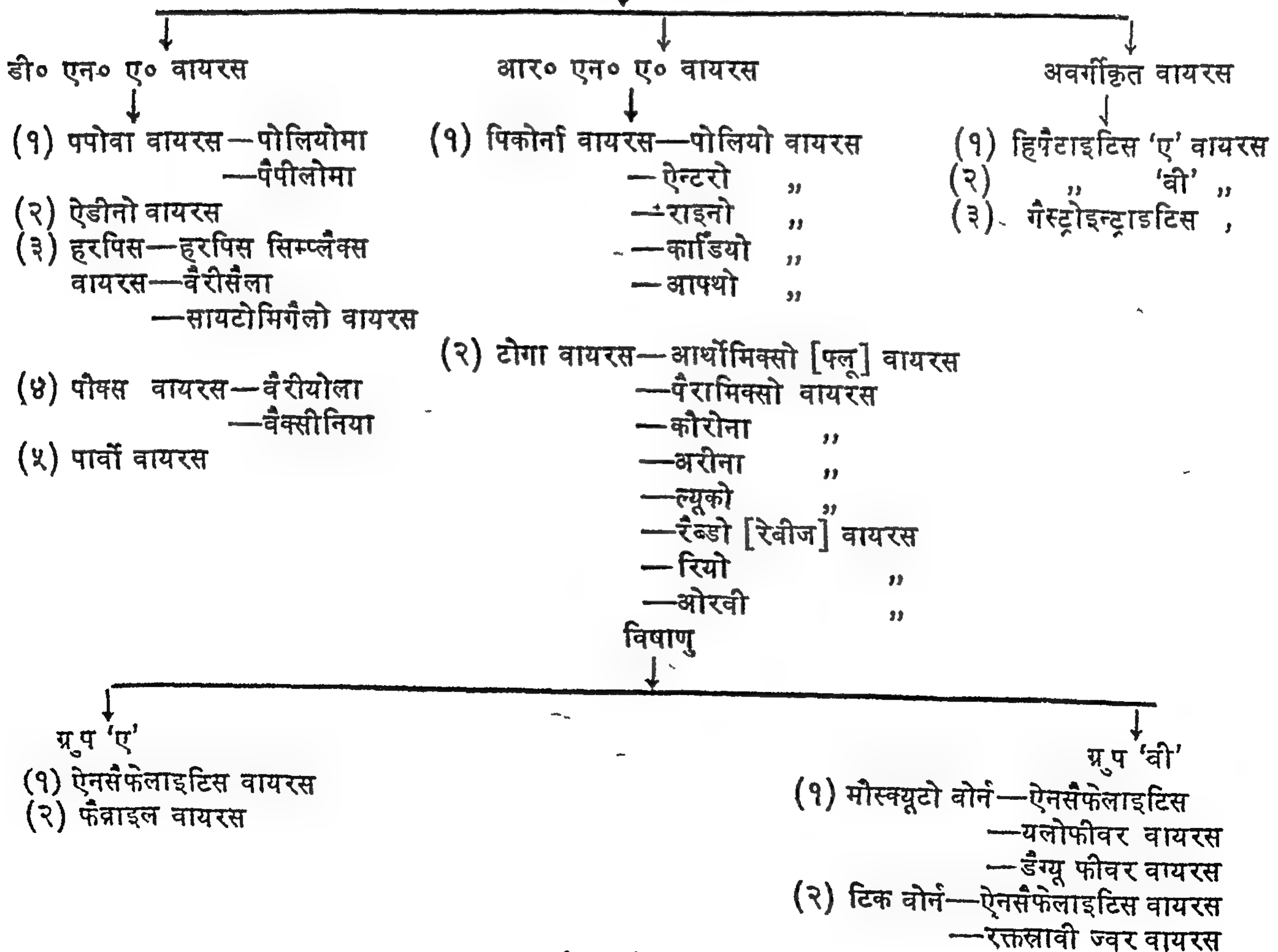
४ मौलस्कस वौडी—ये सभी वडे (लो पावर मे दृश्य) मौलस्कम कन्टेजिओसम रोग मे प्राप्त होते है।

५. इन्ट्रान्यूक्लियर इन्क्ल्यूजन वौडी—ये मुख्यत दो प्रकार की होती है—

(अ) काउड्री टाइप ए (Coudry type A)—मुख्यत हरपिस एव पीत ज्वर मे प्राप्त होती हे।

(ब) काउड्री टाइप वी—मुख्यत ऐडीनो विषाणु एव पोलियो मे पायी जाती है।

विकारी विषाणु वर्गीकरण



। ० । ● ।

संक्रामक रोग - पथ्यापथ्य

वैद्य ओ० पी० वर्मा 'विशेष सम्पादक-संक्रामक रोग चिकित्सा'
श्री उमाशङ्कर आयु० भवन, सरदारशहर (राज०)



बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिये कि वातादि दोष, रस रक्तादि दूष्य, देश, काल (ऋतु), सात्म्य, सत्व, आयु, रोग बल, औषधि, अग्नि आहार, इन सबका विशेष निरीक्षण करके ही चिकित्सा करे और सब प्रकार के रोगियो के लिये नित्य यथोचित पथ्य की व्यवस्था करता रहे।

इसी सन्दर्भ मे इस लेख मे वात, पित्त एव कफ प्रकृति वाले मनुष्यो के लिये पथ्य एव कुपथ्य का विशद् रूप मे वर्णन किया गया है।

ऋतुओ के अनुसार भी दोष बढते-घटते रहते है। अत ऋतुओ मे भी पथ्य की व्यवस्था बताना सामयिक लगा, अत इस लेख मे सभी ऋतुओ के अनुसार पथ्य और कुपथ्य बताये गये हैं। जहा तक सक्रामक रोगो मे पथ्यापथ्य व्यवस्था का प्रश्न है यहा पर सभी रोगो की पथ्य व्यवस्था देना सम्भव नही है फिर भी प्रमुख रोगो की पथ्य व्यवस्था के साथ-साथ अन्य रोगो की समूह मे ही पथ्य व्यवस्था दी जा रही है।

(अ) वात प्राधान्य प्रकृति वाले रोगो मे पथ्य—

दही, मास रस, तैल, घी, दूध, उडद, चावल, जौ, गेहू, लवण रस, अम्ल, मधुर, बैंगन, परवल, पुराना गुड, मद्य, सज्जी खार, पकवान, मधुर पदार्थ, अदरख, सूखा धनिया, पोदीना, कोकम, नीबू, सहजने की फली, अजवायन, सोया, अरडी का तैल, लौंग, मेथी, पीपल, काली मिर्च, सोठ, मीठे आम, कच्चा नारियल, आवला, अगूर, किशमिश, मुनक्का, हीग, लहसुन, खुमानी, चिलगोजे, काजू, अखरोट, पिस्ते, बादाम, अनार, आम, निवाये जल से स्नान, तैल मर्दन, ताम्बूल, काला जीरा, जीरा, चिरौजी, आमोद-क्रीडा, गाना-बजाना आदि आहार-विहार पथ्य है एव वात प्रकोप होने पर ये पदार्थ इनका शमन करते हैं।

(आ) पित्त प्रधान प्रकृति वाले रोगो मे पथ्य—

शीतल वायु सेवन, शीतल जलपान, शीतल जल से स्नान, कसैला रस, कडवा रस, मधुर, ग्रीष्म ऋतु मे रात्रि को चादनी मे बैठना, चन्दन लेप, खस के पखे की वायु, गेहूँ, जौ, भात, दूध, घी, चने का सत्तू, जौ का सत्तू, शक्कर, मिश्री, मसूर, मूग, चना, चौलाई, गोभी, आलू, गूलर, काशीफल, करेले, परवल, सेधानमक, जीरा, कच्ची ककडी, अगस्त्य के फूल, चौपतिया, बथुआ, पालक, पोई, किशमिश, मुनक्का अगूर, पक्का कैथ, नीबू, आवला, कोकम, धनियाँ, मीठा नीबू, सन्तरा, पक्के केले, फालसा, अजीर, सेब, खजूर, नारियल का जल, खिरनी, खीरे का बीज, कमल गट्टे, सिंघाडे, जलाशय मे स्नान, सभी प्रकार के शीतल फल-सब्जिया, ताडफल, प्रात साय घूमना, घोडागाडी की सवारी आदि आहार-विहार है तथा यही पित्त प्रकोप शमनार्थ प्रयोग करने चाहिये।

(इ) कफ प्रधान प्रकृति वाले रोगो मे पथ्य—

हाथी-घोडे पर सवारी, जलक्रीडा, सूर्यताप का सेवन, रात्रि का जागरण, समुद्र तट की वायु, कुश्ती, मार्ग गमन, व्यायाम, परिश्रम, क्षार, कसैला रस, चटपटा, कडवा, जौ का सत्तू, कुलथी, मूंग, चना, पुराने चावल, अग्नि सेवन, शुष्क भोजन, सरसो का तैल, बाजरा, जुवार, चने का सत्तू, मटर, बैंगन, गर्म मसाला, पोदीना, लाल मिर्च, हल्दी, तेज नमक, सोठ, अदरख, लोणिका, चौलाई, करेला, ककोडा, जावित्री, जायफल, सुपारी, वायविडङ्ग, पीलू, करीर, सूखा धनिया, शहद, पीपल, काली मिर्च, काला जीरा, जीरा, लौग, कपूर, ककोल, कच्चे बेलफल, अगस्त्य के फूल, केले का फूल, मेथी, राई, प्याज, लहसुन, सहजना, कटूरी, मूली, ताम्बूल और गर्म जल आदि आहार-विहार पथ्य है। कफ का प्रकोप होने पर ये इसको दूर करने मे भी सहायता पहुचाते है।

(ई) वात प्रधान प्रकृति वाले रोगो मे अपथ्य—

अति व्यायाम, अति अध्ययन, बलवान से लडना, अति मैथुन, अग्नि और सूर्य ताप का अत्यधिक सेवन, शरीर को कष्ट पहुचाना, अत्यधिक दौडना, कूदना, उछलना, रात्रि जागरण, अत्यधिक तैरना, उपवास, चोट लगना, जखम होना, अत्यधिक पैदल चलना, बोझ उठाना, हाथी, घोडा, रथ पर अत्यधिक बैठक, अत्याधिक वमन, विरेचन, अत्यधिक रुधिर बहना, लघु और शीत वीर्य वाले पदार्थों का अति सेवन, चरपरे, कसैले और कडवे रस वाले पदार्थो का अति मात्रा मे सेवन करना, शुष्क शाक, सूखा मास, कोदो और शामकादि कुधान्य, मूंग, अरहर, काला मटर, सफेद मटर, सेम, लाख, चौला, चना, बाजरा, ज्वार, मोठ, लहसुन, कम भोजन करना, विरुद्ध भोजन, अध्यशन (भोजन पर भोजन करना), अधोवायु, मूत्र, मल, शुक्र, वमन, छीक, डकार और अश्रुपातादि वेगो को रोकना, ताडफल, कच्चा कटहल, गवार फली इत्यादि के सेवन से वायु प्रकुपित होकर वायु रोगो की उत्पत्ति करती है। अत उपर्युक्त पदार्थ वायु से पीडित रोगी को सेवन नही करने चाहिये।

इसके अलावा निम्नलिखित पदार्थ भी वायु को बढाने वाले है, अत इनसे भी यथासम्भव बचना चाहिए—भैस का दूध, मकई, मैंदा, उडद के आटे के पदार्थ, कुलथी, कन्दूरी, रतालू, आलू, शकरकन्द, फूलगोभी, पानगोभी, तोरई, लौकी, ककडी, तरबूज, मूंगफली, केला, अमरूद, सीताफल, रामफल आदि।

सूर्योदय से पूर्व एव सायङ्काल वायु का प्रकोप विशेष रूप से होता है। शीतकाल मे बादल आने पर, वर्षा होने पर एव ग्रीष्मऋतु के अन्त मे वायु विशेष रूप से कुपित होती है।

(उ) पित्त प्रधान प्रकृति वाले रोगो मे अपथ्य—

परिश्रम, भय, शोक, क्रोध, अधिक घोडे की सवारी, दौडना, अत्यधिक मैथुन, जले हुए पदार्थ खाना, उपवास, लघु और विदाही गुण वाले पदार्थ, उष्ण, तीक्ष्ण, नमकीन, खट्टे, चरपरे, तिल तैल, खल्ली, उडद, कुलथी, सरसो, अलसी, ताजे शाक, गोह, मछली, बकरे और भेड का मास, खट्टे दही, मठ्ठा, काजी, सिरका, ताडी का रस, शराब, खट्टे फल, दही की मलाई, सूर्य का ताप, सरसो का तैल, तैल मे तले हुए पदार्थ, नया गुड, हीग, मैथी, कच्ची इमली, ताजी मूंगफली, शरद् ऋतु का नया अन्न, मेम, चाय, काफी, तम्बाकू, गाजा, चरस, ज्यादा नमक, कच्चा फालसा, पुराना तरबूज, पुराना नारियल आदि आहार-विहार पित्त रोगो मे वर्जित है। इसी प्रकार उष्ण पदार्थ से शरद् ऋतु, उष्ण ऋतु, मध्याह्न काल, आधी रात्रि, भोजन पचने के समय बहुधा पित्त कुपित होता है।

(ऊ) कफ प्रधान प्रकृति वाले रोगो मे अपथ्य—

दिन मे सोना, शारीरिक श्रम करना, बैठे रहना, आलस्य करना, मधुर, खट्टे नमकीन, शीतल, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल (चिकने रेशादार), अभिष्यन्दी (रसवहा नाडियो के मार्गो को रोकने वाले दही आदि), शालि चावल, जौ, उडद, नया चावल, जङ्गली धान्य, बडे उडद, गेहूँ, तिल, मैदे के पदार्थ, खोवे के पदार्थ, दही, ज्यादा दूध, खिचडी, खीर, ईख के पदार्थ, आनूप देश के पशु और जलचरो का मास, चरबी, कमल की नाल, कसेरु, सिंघाडे, बादाम, पिस्तादि मधुर फल, जामुन, पक्के केले, खट्टे आम, खट्टे बेर, करौदा, वल्लीफल, अधिक भोजन, भोजन पर भोजन, तुरन्त ब्याई हुई गौ और भैस का दूध, चन्दनादि शीतल पेय, शीतल जल से स्नान, नारियल का जल आदि कफ रोगो मे मिथ्या आहार-विहार है। शीतल पदार्थ, शीत समय, बसन्त ऋतु, सन्ध्या समय और भोजन के प्रारम्भ मे कफ कुपित होता है।

(ए) हेमन्त ऋतु मे पथ्य—

वातावरण मे शीतलता हो जाती है जिससे जठराग्नि तेज होने लगती है, इसलिए हेमन्त ऋतु मे पौष्टिक भोजन हितकारी रहता है। स्निग्ध, अम्ल, लवण रस युक्त भोजन, जलचर और आनूप देश के पथ्य पशुओ का मास, मद्य, दूध, दही, मक्खन, गोघृत, ईख का रस, गुड, शक्कर, वसा, तैल, नया अन्न, गर्म जल, तैल मर्दन, स्वेद, सूर्य का ताप, शीतल न हो ऐसे घर मे भीतर निवास, गुहा मे निवास, हाथी-घोडे की सवारी, सोने, बैठने, पहनने, ओढने आदि मे कबल, रेशमी वस्त्र, रुई भरी हुई रजाई आदि का उपयोग, मैथुन, गेहूँ, उडद, चावल, अरहर की दाल, मूग की दाल, मिठाई, पौष्टिक

पाक, बादाम, पिस्ता, अखरोट, काजू, चिरौंजी आदि का सेवन लाभदायक है। क्योकि इस ऋतु मे कफ की अधिकता रहती है, इसलिए वमन और गर्म जल के साथ-साथ शिरोविरेचन करना पथ्य माना गया है।

(ऐ) हेमन्त ऋतु मे अपथ्य—

लघु भोजन, वातवर्धक भोजन, प्रबल वायु का सेवन, अति अल्प भोजन, उपवास, सत्तू का मथ, अधिक शक्कर वाले पदार्थ और दिन मे शयनादि अपथ्य माने गये है।

(ओ) शिशिर ऋतु मे पथ्य—

शिशिर ऋतु मे वर्षा के दिनो को छोडकर शेष दिनो मे हेमन्त वाला पथ्य ही इस ऋतु का पथ्य समझना चाहिये। इस ऋतु मे वातावरण मे अधिक शीतलता आ जाती है अत रुक्षता रहती है।

(औ) शिशिर ऋतु मे अपथ्य

चरपरे, कसैले और कडवे रसयुक्त भोजन, शीतल, लघु और वातवर्धक, अन्नपान, रात्रि को शिर पर शीतल वायु लगना, रात्रि मे स्नान, रात्रि को सोते समय शीतल जल से पैर धोना, दिन मे सोना और रात्रि मे बडी देर तक जागरण करना आदि अपथ्य है।

(अ) वर्षा ऋतु मे पथ्य—

वर्षा ऋतु मे वायु प्रकुपित होकर जठराग्नि मन्द हो जाती है जिससे गुरु, विष्टम्भी और वात प्रकोपक आहार छोड देना ही श्रेयस्कर रहता है। अन्नपान के साथ थोडी मात्रा मे शहद का सेवन हितकारी है। खट्टे-मीठे फल, नमक, घृत, तैल, जौ, गेहू, पुराना शालि चावल, जङ्गल के जीवो का मांस रस, मूग का यूष, कुलथी का यूप, गर्म करके शीतल किया हुआ जलपान, तैल मर्दन, स्नान, पुष्पादि माला धारण, पतले स्वच्छ वस्त्र, उपवास, व्रत पालन और लघु भोजनादि हितकारी माने गये है।

(अ.) वर्षा ऋतु मे अपथ्य—

सत्तू का मन्थ, दिन मे शमन, नदी का जल, गदला पानी, सूर्य के ताप का सेवन, मैथुन, पक्के बेर, अति खट्टे पदार्थ, पूर्व दिशा की वायु, अधिक परिश्रम, वर्षा मे भीगना, मल-मूत्रावरोध, गीले वस्त्र, खट्टे दही, मोठ, मसूर, ज्वार, मटर, चना, नया चावल, आलू, शकरकन्द, सिघाडे, पक्का भोजन, मिठाई इत्यादि वर्षा ऋतु मे अपथ्य माने गये है।

(क) ग्रीष्म ऋतु मे पथ्य—

इस ऋतु मे सूर्य के प्रचड ताप से वातावरण मे शुष्कता आ जाती है। अत शरीर के अन्दर वातदोष का सचय होने लगता है। इसलिए शुष्क और उष्ण पदार्थ का सेवन नही करना चाहिए। मधुर, शीतल, प्रबाही, स्निग्ध पदार्थ, शर्बत, मिश्री, शक्कर, मन्थ, जागल मृगादि पशुओ का मास, दूध, शाली चावल, गेहू, मूग की पतली दाल, प्याज, आलू, पक्के मीठे आम, धनिया, जीरा, दूध की लस्सी, इमली या आम का पना, सैंधा-नमक, नीबू, पक्की इमली, थोडा मीठा दही, आवला, कोकम, अनार, सन्तरा, मीठा नीबू, अजीर, अंगूर, चन्दन लेप, शीतल स्थान मे रहना, दिन मे थोडा शयन, रात्रि को गच्ची पर या शीतल स्थान पर शयन, ताड या खस के पखे की वायु आदि पथ्य माने गये हे।

(ख) ग्रीष्म ऋतु मे अपथ्य—तेज नमक, तेज खटाई, चरपरे पदार्थ, लाल मिर्च, रात्रि को सत्तू खाना, तेल सरसो, गुड, खट्टे दही, सूर्य के ताप मे भ्रमण, मैथुन, धूम्रपान, मद्य का सेवन और व्यायामादि ग्रीष्म ऋतु मे अपथ्य माने गये है।

(ग) वसन्तु ऋतु मे पथ्य—शिशिर ऋतु मे शरीर मे सचित कफ वसन्त मे सूर्य की किरणो से पिघलकर जठराग्नि को प्रतिबन्ध करता हे। इसलिए वसन्त ऋतु मे कफ प्रकोपक आहार-विहार का त्याग करना ही पथ्य माना गया है। वमन, लघु भोजन, कफ शामक पदार्थ, गेहूँ, जौ, मूग, अरहर, मसूर, ज्वार, बाजरा, सेम, खर-गोश, हिरण, लावा और तीतरादि पशु पक्षियो का मास, अदरख, लहशुन, मेथी, हीग, गर्म मसाला, सैंधा नमक, क्षार, हल्दी, शास्त्रोक्त विधि से धूम्रपान, व्यायाम, मार्ग-गमन, तैलाभ्यग, निवाये जल से स्नान, चन्दन, अगरादि का लेप बाग और वन मे रहना और शहद आदि हितकर आहार-विहार माना गया है।

(घ) वसन्त ऋतृ मे अपथ्य—गुरु, अम्ल, स्निग्ध है और मधुर पदार्थो का अति सेवन, दिन मे शयन, उडद, भैंस का दूध, दही और खोवा, शीतल वायु, नया गुड, वासी भोजन और अन्य सम्पूर्ण कफ प्रकोपक आहार-विहार ये वसन्त ऋतु मे अपथ्य माने गये हे। इसे त्याग देना ही श्रेयस्कर रहता है।

(ङ) शरद ऋतु मे पथ्य—शरद ऋतु मे पित्त प्रकुपित होता है इसलिए पित्त प्रकोपक, गरम, विदाही भोजन का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर रहता है। मधुर, शीतल और कडवे रस युक्त भोजन का सेवन, लघु भोजन, लावा, तीतर, मृग, खरगोश आदि पशु पक्षियो का मास, पुराना शाली चावल, जौ, गेहूँ, कडवी औषधियो से सिद्ध किया हुआ घी, विरेचन, रक्त मोक्षण, हसोदक (दिन मे सूर्य के ताप मे तपा हुआ और रात्रि को चन्द्रमा की चादनी मे शीतल हुआ जल) शरद ऋतु मे उत्पन्न होने वाले पुष्पो की माला, पवित्र वस्त्र, रात्रि के पहले प्रहर मे चादनी मे बैठना, दूध, मूग, केला, सिघाडा, मुनक्का, मीठे अनार, कमलगट्टा, चौलाई, गोभी, धनियाँ जीरा और पित्त शामक पदार्थ माने गये है।

(च) शरद ऋतु मे अपथ्य—सूर्य के ताप का सेवन नया अन्न, वमा, तैल, पिछली रात्रि मे सोना, जलचर और आनूप देश के पशुओ का मास, क्षार, दही, दिन मे शयन, पूर्व दिशा का वायु, राई, सरसो, गुड लाल मिर्च करेला, धूम्रपान, पक्का भोजन गुरु अन्न, वासी भोजन, खट्टे पदार्थ, चाय-काफी इत्यादि शरद ऋतु मे हानिकर है।

(१) आत्र कृमि मे पथ्य—

इस रोग मे हल्के वीर्य वाले पदार्थ जैसे गेहू, जौ, मूग, परवल, लौकी करेला, मेथी, तोरई, चौलाई आदि का सेवन करना चाहिए। चपाती मे अजवायन डालकर सेवन करने से लाभ होता है। लघु आहार विहार मात्र मधुर रस प्रधान होने से कृमि रोग मे हितकर है।

आत्र कृमि मे अपथ्य—इस रोग मे दूध, दही, शाक, घी, मास, तिल, मधुर रस प्रधान द्रव्यो का सेवन वर्जित है। यथा—

क्षीराणि मासानि घृतानि चैव,
दधीनि शाकानि च पत्रवाली।
समासतोम्ल मधुरानरसाश्च,
क्रमीञ्जियासु परिवर्जयेत्तु॥
(योग-रत्नाकर)

(२) रक्तवह स्रस्थान के रोगो मे पथ्य—

स्वेदन, विरेचन, वमन, लघन, वस्ति विलेपी, पुराने चावल, मृग, जागलजीवो का मासरस, मूग की दाल, तुनयी, राग, पाटव, खड, काम्बलिक, परवल, केला का पका फल, पुराना कुम्हडा, आम,अनार, अमलतास के फूलो का शाक, नई कच्ची मूली, अण्डी का तैल, आकाशीय जल, सेधानमक, अगूर, मट्ठा, सोठ, अजवायन, लहसुन, हरड, कूठ, धनिया, काली मिर्च, पिप्पली, अदरख, वारुणी, मदिरा, कस्तूरी, चन्दन, शरवत, पान चवाना सभी हृद्रोगी के लिए पथ्य है।

कुपथ्य—वेगो का धारण करके स्रोतोरोध की प्रवृत्ति नदियो का पानी, भेड का दूध, दूपित जल, कषाय रस प्रधान पदार्थ, विरुद्धाशन, उष्ण-गुरु-तिक्त-अम्ल पदार्थ पुराने रखे या सुखाये हुए पत्तो के शाक, क्षार महुआ, दतुअन करना और रक्तमोक्षणादि।

(३) पीनस रोग मे पथ्यापथ्य—

वाग्भट के अनुसार सभी प्रकार के पीनसो तथा प्रतिश्यायो मे सर्व प्रथम सर्द तथा तर हाथ से वचना चाहिए। यथा सम्भव निर्वात स्थान मे रहे। वहा पर स्वेद, वमन, धूप तथा गण्डूप धारण करे। गर्म और मोटे कपडे पहनने चाहिए। सिर को भली प्रकार से ढके रहे। लघु, अम्ल तथा रस युक्त, स्निग्ध, उष्ण और द्रव रहित या अल्प द्रव वाला भोजन करे। जागल मास, गुड, दूध, चना, त्रिकुटा, जौ तथा गेहूँ की प्रचुरता वाला दही, घी, मुलाई और अनार से सिद्ध भोजन करे। दशमूल से सिद्ध गुनगुना पानी अथवा पुरातन वारुणी पिये। चोर पुष्पी, जयन्ती पत्र, वच, जीरा तथा काले जीरे की पोटली वनाकर सुँघाये। पीनस मे पथ्यापथ्य प्रतिश्याय के अनुसार ही होना चाहिए।

पीनस मे वर्जनीय—

शीतल जल पान, ठण्डे पानी मे स्नान, स्त्री सेवा, अधिक चिन्ता, अति रूक्ष आहार्य, भोजन, वेगविधारण, शोक, ताजा मद्यपान पीनस रोगी इन द्रव्यो का सेवन न करे। यथा—

शीताम्बुयोषिच्छिशिरावगाह,
चिन्तातिरुक्षाशन वेगरोधान्।
शोक च मद्यानि नवानि चैव,
विवर्जयेत् पीनस रोगजुष्टः॥२२॥
—सु. उ. २४

(४) उरस्तोयजन्य रोगो मे पथ्य—

इस प्रकार के रोगो मे इन पदार्थों का अधिक सेवन

लाभकारी माना गया है। दूध, साबूदाना, अगूर, पौष्टिक तथा सुपाच्य भोजन, मूत्रल और कब्जी न करने वाले खाद्य पदार्थ देने चाहिए। पीने के लिए हर समय गर्म जल दिया जाये। थोडा लाभ होने पर दलिया, मूँग की दाल धुली हुई, खिचडी आदि देनी चाहिए।

कुपथ्य—शीतल जल, शीतल वायु-कफवर्धक पदार्थ तथा गरिष्ट भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

(५) रोहिणी मे पथ्यापथ्य—

इसमे अनन्नास फल का रस छानकर बार-बार देना ही श्रेयष्कर रहता है। यदि शरीर मे कमजोरी आगई है एव हृदय कमजोर प्रतीत होता है तो सन्तरे का रस पिलाना चाहिये। रोग मे सुधार होने पर यवमण्ड, मूग का यूप, गेहूँ का पतला दलिया, गेहू के एक बालिश्त लम्बे पौधे को, खूद कहते हैं वह दी जा सकती है।

कुपथ्य—मास, गुड, चटपटी चीजे, खटाई, तैल, मट्ठा, अचार, मैदे से बने पदार्थ, उडद, दही-दूध को देना अहितकारी है।

(६) कर्ण रोगो मे पथ्य—

स्वेदन, विरेचन, वमन, नस्य, धूम हितकारी है। गेहू, पुराना चावल, मूग, जौ, घी, परवल, सहिजन, दूध, ब्रह्मचर्य आदि पथ्य है।

कुपथ्य—दातुन, डुबकी लगाना, शिर से स्नान, अति व्यायाम, कान खुजलाना, सर्दी तुषार, तेज हवा हानिकारक है।

(७) पीलिया मे पथ्य—

प्रकाश वाले मकान मे रहना, ब्रह्मचर्य ठडे स्थानो मे घूमना, पुराना शालि चावल, जौ, गेहूँ, मूग, अरहर की दाल, मसूर, दूध, कच्ची मूली, राम तोरई, बैंगन कच्चा, करेला, कच्चा केला, बिदाना, ककडी, अजीर, नारङ्गी, मौसमी, अगूर, मुनक्का, आलू बुखारा, लाल ईख, आवला, पकी इमली, परवल, पालक, जगली पशुओ का मास रस, पुनर्नवा, गोमूत्र, हरड, कम मात्रा मे मिश्री, कुटकी, पेठा, पपीता आदि हितकारी है।

कुपथ्य—उडद, पित्तवर्धक पदार्थ, अध्ययन, लाल मिर्च, गरम मसाला, अधिक नमक, दाह कारक भोज्य पदार्थ हीग, मैदा के पदार्थ, क्षार, धूम्रपान, शराब, मत्स्य, अधिक घी, राई, सरसो का तैल, नया गुड, चाय, कॉफी, अफीम, भाग, गाजा, बीडी, गर्म-गर्म भोजन, सूर्य का ताप, अग्नि सेवन, क्रोध, मैथुन, अधिक श्रम करना आदि हानिकारक है।

(८) कास रोग एव कुकर कास मे पथ्यापथ्य—

रोगी को सुपाच्य एव तरल पदार्थ जैसे यव पेया औषधियुक्त, दूध, ग्लूकोज, मौसमी का रस, अनार रस, मांस, शालि एव साठी चावल, गेहू से बने पदार्थ सभी पथ्य है।

कुपथ्य—शुष्क भोजन, गुरु तथा वात एव कफवर्धक पदार्थो का त्याग करना चाहिए।

(९) कुष्ठ मे पथ्यापथ्य—

पुराना जडहन चावल, गेहूँ और जौ, चना, मूग, अरहर, मसूर, कोदो, काकुन आदि लघु अन्न, परवल, लौकी, ककडी, नीमकी कोमल पत्ती, तोरई, मकोय पत्ती, चकबडी की कोमल पत्ती, पुनर्नवा की पत्ती, गोघृत, मधु, जागल पशु पक्षियो के मांस रस, लहसुन, जायफल, केशर, ताड के पके हुए फल, तिल, सरसों नीम और हिंगोट का तैल तथा खदिरोदक का पान, उनसे स्नान एव ब्रह्मचर्य पथ्य है।

कुपथ्य—विषम भोजन, गुरु, विरुद्ध भोजन, विदाही तथा विष्टम्भकारक पदार्थों का सेवन, आनूप देश के पशु पक्षियो का मास, दही भैंस आदि का दूध, मद्य, गुड खट्टे पदार्थ, तिल, उडद, दिन मे सोना, सूर्य के तीक्ष्ण ताप मे घूमना, मैथुन और लवण छोडना ही श्रेयष्कर है।

(१०) विशूचिका मे पथ्य—

मूत्र न होने तक पानी, आइसक्रीम वर्फ तथा लेमामेड के अतिरिक्त कुछ न दे। रोगी मे चैतन्यता होने पर वमन, दस्त बन्द होने पर पानी मे बनी बार्ली, पानी मे बना साबूदाना जो बहुत पतला हो उसमे तो उसमे थोडी मिश्री तथा २-४ बूदे कागजी नीबू का रस मिला हो, दिया जा सकता है।

स्वस्थ होने पर परवल का तरल साग, व पुराने चावल का भात प्रात तीसरे पहर या साबूदाना या बार्ली दी जा सकती है।

(११) उपदश मे पथ्य—

वमन, विरेचन, जौंक लगवाना, प्रलेप, चावल, मूग का यूप, घी, करेला नवनीत, मूली, कडुवे करेले का रस, शहद

तिलो का तेल पथ्य है।

अपथ्य—दिन म सोना, मूत्र वेग का रोकना गरिष्ठ भोजन मैथुन गुड तैल, लाल मिर्च, अधिक परिश्रम, अम्ल द्रव्य मठा, खटाई, बेगन, उडद, नमक, मदिरा, मछली आदि का परहेज करना चाहिए।

(१२) क्षय मे पथ्य—

बकरी व गाय के दूध का सेवन करना चाहिये। घी, खजूर, नारियल, मौसमी, किशमिस, व्यायाम (शक्ति से अधिक नही), गेहू, मूग, मक्खन पका हुआ कटहल आदि पथ्य है।

क्षय मे कुपथ्य—स्त्री समागम, उडद, लहसुन, शयन, मेहनत के कार्य, मद्यपान, तरबूज, सेम, बेंगन आदि कुपथ्य हैं।

(१३) प्रतिश्याय मे पथ्यापथ्य—

पथ्य—[१] आमावस्था मे—उपवास, लघु उष्ण, लवण यवागू, रक्तशाली, मूग, उष्णमास।

[२) पक्वावस्था मे—रूक्षान्न, अम्ल लवणान्न, दोषानुसार वात मे उष्णमास, दूध, पित्त मे घी, दूध, चावल, कफ मे लघु रूक्षाहारादि।

[३] मूलक, कुलत्थ, मुद्ग यूप।

[४] दशमूल सिद्ध पेया।

[५] त्रिकटु, यवक्षार, घी, रसोन युक्त मुद्ग, कफ मे दूध, दही घी मलाई पित्त मे।

[६] कोष्ण षडङ्गजल; धान्यक शुण्ठी सिद्ध जल। वारुणी सेवन पथ्य है।

[७] गरम जल से स्नान, तथा घृताभ्यग पूर्वक शिर पर स्वेदन उपयोगी है।

अपथ्य—१ विष्टम्भी, द्रव, शीत, अन्न, गुरु, शीत, पिच्छिल आहार। २ शीत जल-पान-स्नान, मस्तक युक्त स्नान। ३ शीत वायु, व्यायाम-व्यवाय-श्रम भाषण। ४ चिन्ता, शोक, क्रोध, निद्रा। ५ वेगधारण आदि अपथ्य हैं।

(१४) आन्त्रिक ज्वर मे पथ्य—

अनार का रस, मौसमी का रस, दूध उत्तम पेय पदार्थ है अत इन्हे ज्यादा से ज्यादा मात्रा मे रोगी को देना चाहिए। उबाला हुआ पानी, बिना गिरी का नारियल का पानी, माडी चावल, ग्लूकोज एव तरल पदार्थ दिये जाये। ज्वर मुक्ति के बाद मूग का यूप, मूग की दाल, साबूदाना को दूध मे मिलाकर लेना, पतली मूग, चावलो की खिचडी देनी चाहिए।

कुपथ्य—गुरु पदार्थो का त्याग करे। मैथुन, परिश्रम, अधिक घूमना, सर्दी मे भ्रमण, मिथ्या आहार-विहार, गर्म पर ठण्डे पदार्थ, ठण्डे पदार्थो पर गर्म पदार्थो का सेवन कुपथ्य है।

(१५) चर्म रोगो मे पथ्य—

जौ, गेहूँ, तिल्ली, शालि चावल, जागल पशु पक्षियो के मास रस, अरहर, मूग, मसूर, कुलथी यूष, चौपतिया, मकोय, शतावरी बथुआ पोय, गाय, बकरी, भैंस का दूध।

कुपथ्य—दिन मे सोना, धूप मे सोना, व्यायाम, मैथुन, कटु, उष्ण, गुरु, नमकीन तथा अम्ल पदार्थो का सेवन वर्जित है।

(१६) उष्णवात मे पथ्यापथ्य—

गौ दुग्ध, अजा दुग्ध, धारोष्ण दुग्ध या इनकी लस्सी पीनी चाहिए। बार्ली वाटर, तीसी का फाट, भिण्डी का पानी, नारियल का पानी, सोडावाटर, तथा पानी का सेवन अधिक करना चाहिए। नीबू के शरबत का सेवन श्रेयस्कर है। पेठा आमला, गाजर, खीरा, अनार, सन्तरा, मूग की दाल, मसूर की दाल, जौ का दलिया, पालक, बथुआ आदि पथ्य है।

अपथ्य—चलना, फिरना दौडना, नाचना, साईकिल या घोडे पर सवारी करना वर्जित है। चाय, काफी, कोको, आलू, अरबी, बैंगन, अरहर की दाल, गुड, सरसो का तैल, आम की खटाई तथा लाल मिर्च, राई तथा कटु एव उष्ण पदार्थो का सेवन वर्जित है। औपसर्गिक मेह ग्रस्त स्त्री एव पुरुष के साथ सम्भोग से बचना चाहिए। औपसर्गिक मेह ग्रस्त रोगी के मूत्र के ऊपर मूत्र नही करना चाहिए। मसिक धर्म वाली स्त्री के साथ, गर्भवती के साथ, दुश्चरित्रा एव मलिन योनि वाली स्त्री के साथ मैथुन से बचना चाहिए। वेगो का धारण नही करे।

(१७) नेत्र रोगो मे पथ्य—

त्रिफला, घी, मधु, जौ, पैर (के तलुवे) मे तैल मालिश, शतावर, मूग की दाल नेत्र रोगो के लिए हितकारी है।

—शेषांश पृष्ठ १०० पर देखे।

पथ्येसति गदार्तस्य किमौषध निषेवणम्

वैद्य श्री चन्द्रशेखर व्यास आयुर्वेद विशारद, चूरु [राजस्थान]





वैद्य श्री चन्द्रशेखर जी व्यास पीयूषपाणि अनुभवी चिकित्सक है। आप कई भारत प्रसिद्ध औषधालयो मे प्रधान चिकित्सक रहे हैं। अब भी अपनी कुशाग्रबुद्धि से जटिल रोगो की चिकित्सा कर अनन्त यश प्राप्त कर रहे हैं जो वस्तुत सर्वोपरि है।

'धन्वन्तरि' की स्वास्थ्य प्रश्नोत्तरी का आप ही उत्तर देते है। आप अपनी अनुभवपूर्ण चिकित्सा का विवरण प्रेषित कर अनुभूत साहित्य मे श्रीवृद्धि करते रहते है। सम्प्रति पथ्यापथ्य पालन पर सारगर्भित लेख प्रस्तुत है जोकि आयुर्वेद साहित्य मे श्रीवृद्धि करेगा।

—डा० दाऊदयाल गर्ग

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषध निषेवणम्।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषध निषेवणम् ॥

पथ्य पालन करने वाला रोगी है तो औषधि सेवन की क्या आवश्यकता है? यदि पथ्य पालन नहीं करने वाला रोगी है तो औषधि सेवन कराने की क्या आवश्यकता है?

सक्रामक रोगो मे भी पथ्य पालन करना अनिवार्य है। जैसे किसी बच्चे को कुकर खासी हो गई हो तो उस बच्चे के झूठे पानी से दूसरे बच्चे को भी कुकर खासी हो सकती है। अत आहार-विहार का ध्यान रखना जरूरी है। खासी के रोगी को खट्टे पदार्थो से परहेज रखना चाहिए। जो पामा के रोगी है उन्हे भी नमक एव खटाई नही देनी चाहिए। पामा के रोगी के वस्त्र अलग रखने चाहिये। पामा सक्रामक रोग है। यह एक व्यक्ति से अनेक व्यक्तियो को हो सकता है। मसूरिका (माता) भी सक्रामक रोग है। इससे बचने के लिये गधे की लीद, गूगल, नीम के पत्तो द्वारा धूप बनाकर अग्नि पर डालकर धूपन करना चाहिये। बर्मा, रगून मे मैने देखा था—चैत्र एव आश्विन मे सद्य प्रसूता गधी को लिए उसका दूध बेचने के लिये घूमते थे। गधी का दूध यदि छोटे बच्चो को दिया जाय तो माता (स्माल पौक्स) निकलने का भय नही रहता है। शीतलाष्टक मे भी शीतला रोग निवारणार्थ गधे के नामो का वर्णन आता है। तथा लिखा भी है कि जो व्यक्ति 'शीतला' के वाहन के नाम शीतला देवी के सामने लेता है उस व्यक्ति के घर मे शिशुओ को शीतला (माता) का भय नही रहता है। नाना रोगो के नाना प्रकार के पथ्य है। वे रोग निवारणार्थ होते है। ज्वर मे लघन पथ्य है। वात कफोल्वण सन्निपात मे अन्न देना विष के समान है। निमोनिया मे अन्न देना कुपथ्य है।

सन् १९४५ मे मैने एक माहेश्वरी सेठ को पर्पटी देना प्रारम्भ किया और कहा कि आप अन्न जल बन्द नही कर सकते है तो सिर्फ १ तोला चावल बनवाकर दूध के साथ ले सकते है तथा १० तोला जल पी सकते है। औषधोपचार चालू कर दिया गया। दूध-भात का पथ्य लेने लगे। १० दिन दवा लेते हो गया तो कहने लगे, मेरे लाभ नही हो रहा है। मै दूध-भात ही लेता हू। मैने उनसे कहा यह बात सम्भव नही है। आप दूध-

भात का पथ्य ले रहे हे और लाभ नही है कुछ गडवड जरूर हे। आप जिस समय पथ्य लेवे, उस समय मुझे बुलावे। मै आपका पथ्य (भोजन) देखना चाहता हूँ। दूसरे दिन श्री गणपति सिह ठाकुर जो उनके यहा रहते थे मेरे पास आये, कहने लगे आपको सेठ जी ने बुलाया है। मै उनके साथ गया तो सेठ जी एक चादी के प्याले मे खीर लिये बैठे थे। मुझ को देखकर बोले, देखो यह दूध-भात ही तो हे ? मैंने उनसे कहा यह तो खीर है, दूध-भात नही है। तो कहने लगे, क्यो नही ? मैने कहा—दूध और भात अलग-अलग तैयार करके लेने चाहिए। यह तो गरिष्ट भोजन है। इससे तो नुक्सान होता है। दूध-भात से लाभ होता है। सेठ जी ने दूध-भात अलग-अलग चालू किये, लाभ हो गया। दूध-भात सुपाच्य होते है, खीर गरिष्ट एव भारी होती है।

भस्मक मे खीर पथ्य हे। भस्मक की रुग्णा मगला गौरी को मैने पर्पटी रगून मे दी थी। सन् १९५२ मे जब वह मेरी चिकित्सा मे आई थी, उस समय १ किलो चावल, ५०० ग्राम दाल की खिचडी एक वक्त के भोजन मे भक्षण कर जाती थी। फिर भी कहती थी कि इतने मे तृप्ति नही होती है। मैने पथ्य मे खीर और पेडा देना चालू किया। ४५ दिन मे भूख सामान्य तौर पर लगने लगी। भस्मक व्याधि सदा सर्वदा के लिये नष्ट हो गई। मैंने श्रीमती मगला गौरी से कहा अब आप भोजन मे घी की मात्रा कुछ ज्यादा लेते रहना। घी से पित्त शात होता है। भस्मक मे पित्त उग्र हो जाता है, जो भी भोजन किया जाता है बहुत शीघ्र पच जाता है। फिर भूख लग जाती है। यह भी तो अग्नि की विषमता है। मन्दाग्नि तथा विषमाग्नि इन दोनो की चिकित्सा भिन्न है। मन्दाग्नि का पथ्य सुपाच्य एव हलका होना आवश्यक है तो विषमाग्नि का पथ्य भारी दुर्जर होना आवश्यक है। खीर-पेडा दुर्जर है। पित्त शामक हे।

सन् १९४३-४४ मे रगून से आये हुये श्री वल्लभ वाडटिया की श्रीमती विसाऊ से चूरू रामगोपाल सिरसले वाले के यहा आई और रामगोपाल से कहने लगी तुम इतने बीमार होकर ठीक हो गये हो। अत मुझको भी उसी वैद्य की दवा दिलाओ। रामगोपाल सिरसले वाला मेरे पास आया, कहने लगा। वल्लभ वाडोटिया मेरे यहा ठहरा है उसकी स्त्री को देखना है और इलाज करना है। मै रामगोपाल के साथ उसके निवास स्थान पर गया। मैने वल्लभ की स्त्री को देखा। अम्लपित्त था भयकर कब्ज, सिर मे दर्द, कुछ लेते ही वमन, दूध पीते ही वमन होती थी। वहुत कुछ सोचने के वाद औषधि चालू की गई—

सुवह-शाम स्वर्ण पर्पटी आधी—आधी रत्ती, भुना जीरा ४ रत्ती मिलाकर मधु मे। दूध पीने को नही दिया गया, दूध चाटने को कहा गया। दूध मे मिश्री मिलाकर हाथ की चार अगुलियो से चाटते रहना।

एक सप्ताह मे वमन होना वन्द हो गया। परन्तु दूध तो चाटने को ही कहा गया। पीने से वमन होने का अभी भय था। कोष्ठ शुद्धि के लिये निशोथ तथा पटोल पत्र की उत्तर बस्ति दी गई। कब्ज भी दूर हो गई। अव धीरे-धीरे दूध पीने को दिया गया। २॥—२॥ तोले दूध १०-१० मिनट पर दिया जाता था। प्यास लगने पर मौसम्बी का रस दिया जाता। अब २ सप्ताह वाद दूध तथा मौसम्बी का रस पचने लगा। पर्पटी की मात्रा अभी १॥—१॥ रत्ती थी। कारण दिन भर मे दूध ५-५ तोला ५-५ मिनट पर दिया जाने लगा। दूध पीने से पचना चालू हो गया। पर्पटी ४-४ रती से ज्यादा नही दी गई। रुग्णा ६१ दिन मे पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गई। इस रुग्णा को डाक्टरो ने रगून (वर्मा) मे कहा था कि ऑपरेशन के सिवाय कोई भी उपाय नही हे। पथ्य सेवन मे याने दूध चाटते रहने से पित्त वायु दोनो का शमन होकर अग्नि वरावर काम करने लगी। पथ्य ही औषधोपचार मे प्रधान कार्य करता है।

पथ्य विधि

जिस ज्वर मे जो औषधियाँ योग्य हे उन औषधियो के औटे हुये जल से, सिद्ध किया मण्ड तथा यवागू आदि क्रमश देना चाहिये। जो ज्वरी कुछ अग्नि के उदय होने से बुभुक्षित हो, उसे प्रथम छोटी पीपल तथा सोठ से पकाये हुये जल से सिद्ध की हुई पेया देनी चाहिये। इससे ज्वर नष्ट होगा। तथा पसलिओ, मूत्राशय के ऊपर अथवा सिर मे शूल के साथ यदि ज्वर हो तो गोखरू, छोटी कटेरी से सिद्ध किए हुए जल मे लाल चावलो की पेया वनाकर पिलानी चाहिये। यदि मूत्रादि

की रुकावट के साथ उदर मे पीडा तथा ज्वर हो तो मुनक्का, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोठ के जल मे बनाई गई पेया पिलानी चाहिए।

द्वन्द–सन्निपात ज्वरेषु पथ्यम्

पञ्चमूल्या लघीयस्या गुर्व्या ताभ्यां सधान्यया।
कणया यूष पेयादि साधन स्याद्यथाक्रमम् ॥
वातपित्ते वातकफे त्रिदोषे श्लेष्मपित्तजे।

वात पित्त ज्वर मे लघुपञ्चमूल (शालिपर्णी, पृष्ण पर्णी, दोनो कटेरी, गोखुरु) के जल मे, वातकफ ज्वर मे वृहत् पञ्चमूल (वेल का गूदा, सोनापाठा, खम्भारी, पाढल, अरणी), सन्निपात ज्वर मे दोनो पञ्चमूलो से, कफ पित्त ज्वर मे धनिया के सहित छोटी पीपल से सिद्ध किये जल मे यूष, पेया आदि वनाकर देना चाहिये।

मण्डादि साधनार्थ जलमानम्

अन्नं पञ्चगुणे साध्ये, विलेपी तु चतुर्गुणे।
मण्डश्चतुर्दश गुणे यवागू षड्गुणेऽम्भसि ॥

भात पञ्चगुण जल मे, विलेपी चतुर्गुण जल मे, मड चतुर्दश गुण जल मे, यवागू छ गुण जल मे पकानी चाहिए।

ज्वर विशेषे पथ्य विशेष

श्रमोपवासानिलजे हितो नित्य रसौदन ।
मुद्गयूषौदनश्चापि देय. कफ समुद्भवे ॥
स एव सितया युक्तः शीत. पित्तज्वरे हित.।
रक्तशाल्यादयः शस्ता पुराणाः षष्टिकै सह ॥
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहा ।
मुद्गामलक यूषस्तु वात पित्तात्मके हित. ॥
निम्ब (निम्बु) मूलक (कूलक)
यूषस्तु हित पित्तकफात्मके ॥

श्रम तथा उपवास से उत्पन्न ज्वर मे नित्य मासरस तथा भात हितकारक होता है। कफजन्य ज्वर मे मूंग का यूप और भात देना चाहिये तथा मूंग का यूष और भात मिश्री मिला ठडाकर पित्तज्वर मे देना चाहिये। ज्वर नाशार्थ पुराने लाल चावल तथा साठी के चावल ज्वर वालो को देना चाहिये। वात पित्त ज्वर मे मूंग तथा आमला का यूप हितकर है। छोटी मूली का यूष कफवात ज्वर मे हितकारक है। नीम की पत्ती तथा मूली का यूप अथवा परवल के पत्तो का यूप निम्बू के रस के साथ अथवा नीम की पत्ती और परवल की पत्ती का यूप पित्त कफ ज्वर मे हितकर है।

यवागू निषेध—जिस प्रकार वृष्टि मिट्टी के ढेर को अधिक कीचड वना देती है उसी प्रकार वढे हुये कफ को यवागू अधिक वढा देती है, अत कफाधिक ज्वर मे, मदात्यय मे, नित्य मद्य पीने वाले के लिये, ग्रीष्म ऋतु मे, पित्त कफ की अधिकता मे तथा ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त मे, आये हुये ज्वर मे यवागू न देनी चाहिये। ऐसी दशा मे खील के सत्तुओ से तर्पण ही करना चाहिये।

तर्पण परिभाषा—ज्वरनाशक फलो का रस, शहद, शक्कर तथा अन्य द्रव द्रव्य (जल या क्षीर) मे मिलाये हुये खील के सत्तू तर्पण कहे जाते है।

पथ्यावश्यकता—भोजन का समय निश्चित हो जाने पर अरुचि होने पर भी हितकारक पदार्थ खाना ही चाहिये। उस समय भोजन न करने से बल क्षीण होता है अथवा मर जाता है।

भोजन समय—जिसे ज्वर आ रहा हो अथवा जो शीघ्र ही ज्वर मुक्त हुआ हो उसे सायङ्काल (अपराह्ण) मे हलका भोजन देना चाहिये। उस समय कफ क्षीण होने पर गरमी बढती है, अतएव अग्नि दीप्त होती है।

अपथ्य भक्षण निषेध—गुरु भारी द्रव्य लड्डू आदि, मात्रा–गुरु, अधिक भोजन, अभिष्यन्दि (दोष, धातु, मल, स्रोतोरोधक) तथा असमय भोजन न करना चाहिये। अहित भोजन उसकी आयु तथा सुख के लिये हितकारक नही हो सकता।

पेयादि दान समय—ज्वर मे पेया (लंघन वा यवागू) क्वाथ, घृत, दूध विरेचन छ-छ दिन के अन्तर से देना चाहिए तथा रोग का काल देखकर विशेष व्यवस्था करनी चाहिए।

क्षीरदान समय—जीर्ण ज्वर मे कफ की क्षीणता मे दूध अमृत के समान होता है। वही तरुण ज्वर मे विप के तुल्य मारक होता है।

क्षीर विनिश्चय—ज्वर मे जैसा दोप (वात-पित्त) हो, उसके अनुसार औषधियो द्वारा सिद्ध कर पित्त मे शीत तथा वात मे कोष्ण दूध का प्रयोग करना चाहिए। और यदि गुदा मे कर्तन के समान पीडा होती हो तो एरड की छाल से सिद्ध किया दूध पीना चाहिए।

अतिसार वाले को गुरु तथा स्निग्ध भोजन, अति भोजन, व्यायाम, अग्नि पर तापना तथा स्नान निषेध है। सग्रहणी तथा अतिसार का पथ्य सामान्य ही है।

अर्श (बवासीर) मे मूत्र पुरीषादि वेग को रोकना, मैथुन करना, घोडे आदि की सवारी, उकडू बैठना तथा जिस दोष से अर्श हो तद्दोषकारक अन्न पानादि त्याग दे।

क्रिमि रोग मे हीग, ताजा हरी सब्जी पथ्य है। पाडु रोग मे छाछ, ईख, मूली, मौसम्मी पथ्य हे।

राज यक्ष्मणी पथ्यम्—शालि तथा साठी के चावल, गेहूँ, यव, मूँग, शराब, जागल जीवो का मास हितकर है।

वातजन्य कास से सामान्यत पथ्यप्राय्‌ पाया—वथुवा, मकोय, मूली, चौलाई, तैल आदि स्नेह, दूध, ईख का रस और गुड से वनाये गये भोजन, दही, काजी, खट्टा फल, शराब का पान, मीठे, खट्टे और नमकीन पदार्थ, इनके सेवन से वातज कास शान्त होता है।

नवाग यूष—मूंग, आवला, यव, अनार, वेर, मूली के टुकडे, कचूर, पीपल छोटी, कुलथी का यूष कफ रोग को नष्ट करता हे। इसे नवाग यूष कहते हैं।

 सक्रामक रोग–पथ्यापथ्य  →   पृष्ठ ९६ का शेषाश 

चक्रपाणि ने कहा है –

त्रिफला घृत मधुयवा पादाभ्यङ्ग शतावरी मुद्ग ।
चक्षुष्य सक्षेपाद वर्ग· कथितो भिषग्भिरयम् ॥१७१॥

कोई भी मनुष्य स्वास्थ्यवान होते हुये नेत्र की भलाई के लिये निम्नोक्त द्रव्यो का सेवन करे–पुराने जौ, गेहूँ, शालि चावल, कोदो, मूग आदि। कफ पित्त नाशक भोज्य, अधिक घी मिलाकर उपयोग करे। घृत युक्त शाक, जागल मास, दाडिमफल, चीनी, सैंधव, त्रिफला, द्राक्षा, आकाशोदक, छाता जूता उपयोगी पाये गये है। जैसे अष्टाग हृदय मे कहा है—

सर्वदा च निषेवेत स्वस्थोऽपि नयन प्रिय ॥६१॥
पुराणयव गोधूम शालिषष्टिक कोद्रवान् ।
मुद्गादीन कफपित्तघ्ना भूरिसर्पि परिश्रुतान् ॥६२॥
शाक चैव विध मास जागल दाडिम सिताम् ।
सैन्धव त्रिफला द्राक्षावारि पानेच नाभसम् ॥६३॥
अतसत्र पदत्राणं पिवद् दोषशोधनम् ।

—अ० हृ० उ० १६

कुपथ्य—वेगरोध, अजीर्ण, आध्यशन, क्रोध, शोक, दिवास्वप्न, रात्रि मे जागना, विदाह और वायु कारक खाद्य, धूप, व कर्म का त्याग करना चाहिए।

(१८) पोलियो मे पथ्यापथ्य—

शात, वात रहित तथा कम प्रकाश वाले कमरे मे रुग्ण रक्खा जाना चाहिए। सुखद आसन पर शयन, गर्म कमरा, ऊनी वस्त्र तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य इस रोग मे पथ्य है। तैल अभ्यग (मालिस), वस्ति प्रयोग, स्वेदन, उडद, कुलथी, शाली चावल, परवल, सहजना, वैंगन, अनार, खाड, घृत, गोदुग्ध, लहशुन, मुनक्का, मुर्गा, मोर, तीतर, वटेर, वगेरी चिडिया एव जगली पशु पक्षी का मास रस, गेहूँ की रोटी, मूग की खिचडी (घृत युक्त) पथ्य हे।

कुपथ्य—चिन्ता करना, रात्रि जागरण, मलमूत्रादि वेगो का रोगना, मटर चना, सत्तू, तलाव नदी का पानी, अचार, कटु तिक्त कषाय रस प्रधान पदार्थ, तेज सवारियो मे सफर, उपवास आदि कुपथ्य माने गये है।

(१९) श्वसन सस्थान के रोगो मे पथ्यापथ्य—

सूर्य ताप का सेवन, रात्रि जागरण, मार्ग गमन, व्यायाम, कुश्ती, परिश्रम, क्षार, कडवा, कसैलारस, जौ का सत्तू, शुष्क भोजन, सरसो का तैल, वाजरा, चना का सत्तू, गर्म मसाला, पोदीना, हल्दी, तेज नमक, मूग, पुराने चावल, पीपल, काली मिर्च, कालाजीरा, सोठ, अदरख, लौग, कपूर, कच्चे वेलफल, आवला, लहशुन, गर्मजल, ताम्बूल, शहद, पीपल, वायविडङ्ग, अडूसा, प्याज, चाय, काफी आदि आहार-विहार है।

कुपथ्य—दिन मे सोना, आलस्य करना, वैठे रहना, खट्टे, नमकीन, मधुर, शीतल, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल पदार्थो का सेवन, दही, खीर, वादाम, नारियल, मूगफली, जामुन, भैस का दूध, चन्दनादि शीतल पेय, शीतल जल से स्नान, सिंघाडे ईख के पदार्थ, दूध से वनी विभिन्न मिष्ठान, वडे उडद, तिल आदि। ★

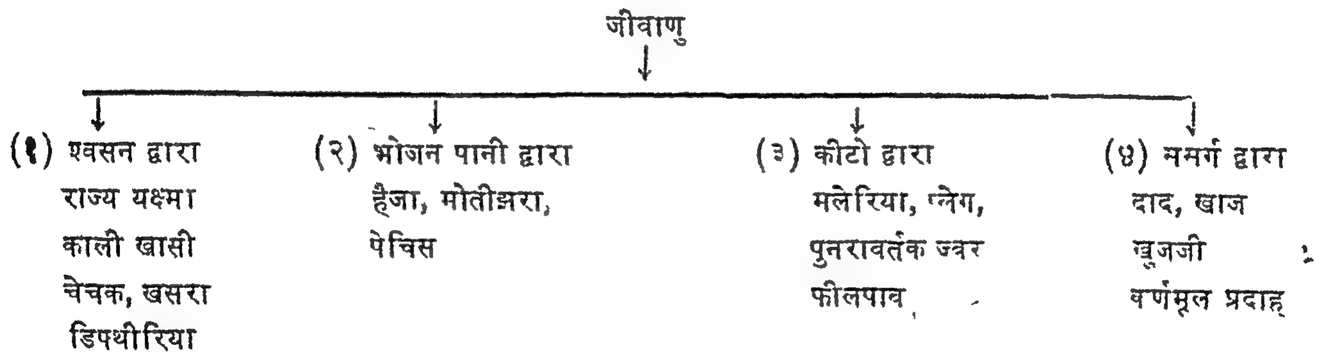
❋ संक्रामक रोग और संक्रमण एवं बचाव ❋

– डा. बी एस. राजपूत, राजपूत पोलियो अस्पताल सारङ्गपुर
DSCA, DHB, VVAR, लकवा वात रोग विशेषज्ञ
पो० आ प्रतापपुर-व्हाया-नवागढ जिला दुर्ग (म प्र) ४९१३३२

—✱✱✱✱—

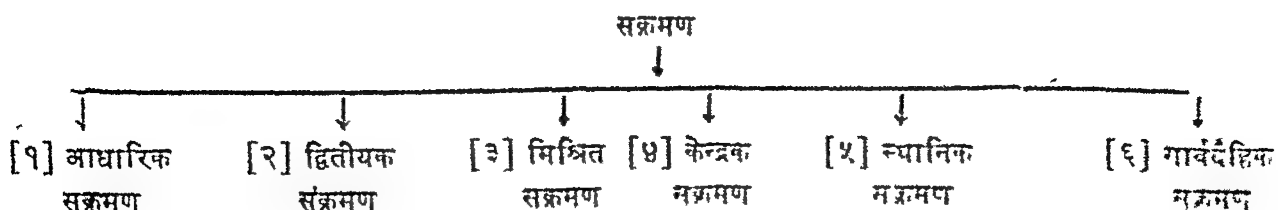
सक्रामक रोग क्या है और सक्रमण क्या है ? चिकित्सा शास्त्र मे जानना एव समझना बहुत ही आवश्यक है। जीवाणुओ के मानव शरीर मे प्रवेश करने पर उत्पन्न हुए रोगो को सक्रामक रोग कहते हैं। जैसेकि राजयक्ष्मा, चेचक, मलेरिया, हैजा, प्लेग, टायफायड, ज्वर, काली खासी, रोहिणी ज्वर, श्लैष्मिक ज्वर, पेचिस, खसरा, कर्णमूल प्रदाह, विसर्प आदि।

रोगजनक जीवाणुओं द्वारा शारीरिक ऊतको को आक्रान्त करने पर जो रोगजन्य परिवर्तन होते है उन्हे सक्रमण या Infection कपते है। ये रोगाणु रोगाणुहीन रहने वाले रिक्त स्थानो और ऊतको एव श्लेष्म कलाओ को आक्रात करते और रोग फैलाते है। जीवाणु ४ प्रकार से फैलते है—



संक्रमण के विभिन्न रूप

संक्रमण के विभिन्न रूप निम्न प्रकार के रोग प्रकट होते हैं—



(१) आधारिक सक्रमण (Primary Infection)—रुग्णता की अवस्था मे यह सबसे पहले रोग का ज्ञान कराता है।

(२) द्वितीयक सक्रमण (Secondary Infection)—आधारिक सक्रमण द्वारा शरीर दुर्बल हो जाता है तो विभिन्न जीवाणुओ के कारण किसी अन्य रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

(३) मिश्रित सक्रमण (Mixed Infection)—यह तब प्रकट होता है जब दो या दो से अधिक जीवाणुओ द्वारा रोग की उत्पत्ति होती है जैसे श्लैष्मिक ज्वर (Influenza) की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवाणुओ द्वारा होती है।

(४) केन्द्रक सक्रमण (Focal Infection)—जब जीवाणु केवल एक ही स्थान को अपना केन्द्र स्थल बना लेते है और इसी केन्द्र से शरीर के अन्य भागो मे फैलते जाते है जैसे तुण्डिका शोथ।

(५) स्थानिक सक्रमण (Local Infection)—जब रोग शरीर के केवल एक ही क्षेत्र तक सीमित रहता है और अन्य अङ्गो मे नही फैलता।

(६) सार्वदैहिक सक्रमण (General Infection)—जब रोग रक्त सचार को प्रभावित करता है। सारा शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। जनरल इन्फैक्शन के निम्न प्रकार है—

(A) जीवाणुमयता (Bacteraemia)—जब सूक्ष्म जीवाणु रक्त नलिका मे प्रविष्ट हो जाते है और उनकी सख्या मे वृद्धि नही होती।

(B) विषाक्तता (Toxaemia)—जीवाणु एक ही स्थान पर रहकर केन्द्रक सक्रमण की उत्पत्ति कर विष पदार्थों की रचना कर रक्तवाहिनी द्वारा शरीर मे फैल कर रोग उत्पत्ति करते है जैसेकि आन्त्र ज्वर मे रोगाणु आतो के अन्दर पेयर स्थलो को अपना कार्य क्षेत्र बनाकर आन्त्र ज्वर की उत्पत्ति करते है।

(C) पूयमयता (Sapraemia)—यह रक्त मे मृत जीवाणओ द्वारा उत्पन्न पदार्थों के कारण होने वाला दुष्परिणाम अनुगत है।

रोग उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी तत्व

जीवाणुओ की सख्या—सक्रमण के लिये जीवाणु की उपयुक्त सख्या होनी चाहिए ताकि वे मनुष्य की स्वाभाविक रक्षण शक्ति को क्षीण कर रोगाणुओ की उत्पत्ति का आधार तैयार कर सके।

सक्रमण का मार्ग—यह वह रास्ता है जिससे द्वारा शरीर को प्रभावित करने के लिये जीवाणु प्रविष्ट होते है जैसे रोहिणी जीवाणु नासा ग्रसनी द्वारा प्रवेश होते है।

रोगाणुओ की क्षमता—रोगाणुओ द्वारा विकृति जन्य प्रभावो को उत्पन्न करने की क्षमता।

विषो की किस्म—विष पदार्थों की विकृति प्रोटीन पदार्थों के समान होती है। वे दो प्रकार से विषो की उत्पत्ति करते है—जब रोगाणु जीवित रहते है तो बाह्य विषो की उत्पत्ति करते है और जब अन्तर्विष रोगाणु के शरीर के अन्दर पाये जाते है जो उनकी मृत्यु के बाद विकृतिजन्य प्रभावों की उत्पत्ति करते है जैसे यक्ष्मा विष यक्ष्माणु की मृत्यु के पश्चात उत्पन्न होता है और हीमोलाइसिन और फाइब्रिनोलाइसिन बाह्य विषो द्वारा उत्पन्न होते है।

Resistance of the person—रोग मनुष्य की प्रतिशोधात्मक शक्ति पर निर्भर करता है।

सक्रामक रोगो से बचने के उपाय·

सक्रामक रोगो से बचने के लिए [१] टीका लगवाये [२] रोगी के सपर्क से दूर रहे [३] रोगी के रहने का स्थान व वस्त्रो को स्वच्छ एव कीटाणु नाशक घोल मे डुबाकर रखे। या गर्म पानी मे कपडो को उबाल कर उपयोग मे लावें [४] सडे, गले, एवं बासी भोजन से सदैव बचे [५] कुआ, जल, टकी मे पोटेशियम परमैंगनेट या ब्लिचिंग पाउडर डाले [६] मकान के आसपास कूडा करकट न रखे, सदा स्वच्छ रखे [७] गड्डे एव नाली मे कीटाणु नाशक औषधि का छिडकाव करे [८] सुपाच्य एवं ताजा भोजन करे [९] रोगी के मल, मूत्र, थूक पर कीटाणु नाशक दवा छिडके।



संक्रामक रोगों की एक झलक

डा० बी एस राजपूत (सारंगपुर वाले) डी एस-सी, ए डी एच बी वी वी ए आर लकवा (पोलियो) वातरोग विशेषज्ञ
राजपूत पोलियो अस्पताल, पो०आ० प्रतापपुर वाया नवागढ़ (दुर्ग) म०प्र०

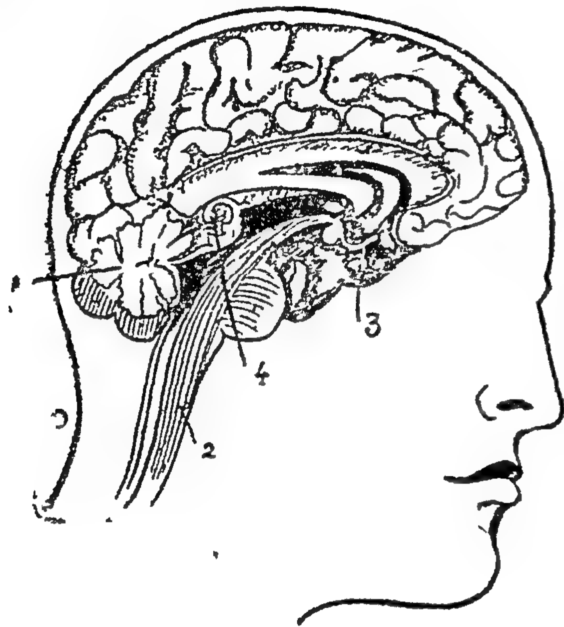
सक्रामक रोग	ससर्ग की रीति	प्रमुख लक्षण	सचय-काल	कारण	उपद्रव	विशेष उपचार
हैजा	मल, मूत्र, जल मक्खी से	तीन अवस्थाये—दस्त होना, कै होना, हाथ-पैर अकडना, चावल के धोवन की तरह दस्त होना, क्षीण होना, मूत्र नही होना	कुछ घटो से ३ दिनो तक	विशूचिका विब्रियो	जल की कमी और अम्लमयता, प्यास बेचैनी	टीका लगवाना, पानी उबाल कर पीना, सल्फागोनाडीन क्लोरोस्ट्रेप, मैक्जाफार्म
पेचिस	मल, मूत्र, जल मक्खी से	दस्त होना, शरीर अकडना, दस्त मे रक्त या झिल्ली	७ दिन	एण्टमीबा हिस्टोलिटिका जीवाणु	रक्तस्राव अत्यधिक दुर्बलता, सधिशोथ अरक्तता तत्रिकाशोथ	रोगी को अलग रखना, मेट्रोमेल. इन्टोबेक्स, दही मठा का सेवन।
मोती-झला	मल, दूध, मक्खी, अन्न और जल से	सिर मे दर्द, तीव्र ज्वर ७ से १४ दिनो मे दाने निकलते है, पेट मे पीडा, दाने ढलने पर ज्वर में कमी	१४से२१ दिन	साल्मोनेला टायफी	छिद्रान्त्र सबसे अधिक घातक उपद्रव है, वमन, अतिसार रक्तस्राव, अति प्रलाप, कामला आदि।	दूध और पानी उबालकर पीना, लक्षणो एव उपद्रवो की चिकित्सा। टी० ए ०बी० वैक्सीन।
रोहिणी	श्वाँस द्वारा, बिल्लियो द्वारा, भोजन एव दूध	गले मे खराश एव पीडा, सफेद दाने, सूजन, बेचैनी, तन्द्रा, श्वास कृच्छता	२ से १० दिन	माइक्रोबैक्टीरियम डिफ्थीरिया	श्वासावरोध हृदपात शोथ रक्तस्राव हृदपेशी शोथ वृक्कशोथ मध्य कर्ण शोथ थ्राम्बोसिस आदि।	पूर्ण विश्राम डिफ्थीरिया एटिटाक्सिन के टीके पेनसिलिन तथा लक्षणो के अनुसार चिकित्सा
मलेरिया	मच्छर के डक से	तीन अवस्थायें-कपज्वर पसीना	१ से १० दिन		सिर मे दर्द, अरक्तता यकृत शोथ पित्ताश्मरी वृक्कशोथ चक्षु मे विभिन्नविकार, प्लीहावरण शोथ।	क्लोरोक्वीन की टिकिया, मच्छरो को नष्ट करना।
फीलपाव	क्यूलेक्स मच्छरो के डक से	लसिका वाहिनियो मे अवरोध एव शोथ सूजन के साथ ठड देकर ज्वर सिरदर्द अण्डकोष जाघ भुजा मे शोथ। पैर बहुत मोटा।	१० से १२ दिन	वूचेरिया बैंक्रोफटाइ जीवाणु।	शोथ वृषणशोथ अडकोष मे लसिका भर जाना सधिशोथ आंत्र की विकृति।	विश्राम हेट्राजन गोली का प्रयोग फ्लोरोमिड आदि मच्छर नष्ट करना

सक्रामक रोग	ससर्ग की रीति	पमुख लक्षण	समय काल	कारण	उपद्रव	विशेष उपचार
कर्णमूल प्रदाह	स्पर्श से	जबड़े मे सूजन, ज्वर १०४ तक। पीडा कान के नीचे सूजन।	१० से १८दिन	—	वृषणशोथ डिम्बग्रन्थि शोथ [illegible] मस्तिष्क शोथ अग्न्याशय शोथ [illegible] कर्णशोथ [illegible]।	[illegible] औषधियों का उपयोग [illegible] रोगोत्तर [illegible]।
इन्फ्लयू-एन्जा	श्वास से, कपडे आदि से	जुकाम नजला बुखार १०३ से१०४फा आता। एव सिर मे दर्द दुर्बलता अरुचि।	१से५ दिन	हीमोफिलिक स्ट्रेप्टोकोकस एव स्ट्रेप्टोकोकस आदि	[illegible] न्यूमोनिया [illegible] कर्ण शोथ [illegible] अनिद्रादि।	[illegible] पेनिसिलिन आदि का प्रयोग। [illegible]
विसर्प	त्वचा मे खरोच,घाव कीट दश आदि मे जीवो द्वारा	कप के साथ तीव्र ज्वर पीडा सिर दर्द शोथ प्रलाप बेचैनी त्वचा के के विकार ज्वर १०४ डिग्री।	५से८ दिन	स्ट्रेप्टोकोकस पायोजीनीस	[illegible] शोथ [illegible] सेप्टिसिमिया।	रोगी को अलग रखना। [illegible] पेनिसिलिन [illegible]
चेचक	हवा, चर्म मे भोजन, कपडो एव वर्तनो से	लाल दाने पीप पडने पर तीव्र ज्वर, ९वे दिन पपडी जमना, १४वे दिन पपडी गिरनी शुरु होती है।	१०से१५ दिन	वायरस	विस्फोट [illegible] जाना। [illegible] मुह मे [illegible] कंठ मे शोथ [illegible] प्रलाप आक्षेप।	रोग निरोधक टीके, [illegible] अस्पताल मे भेज दिया जाय [illegible] चिकित्सा करे।
कुकर-खासी	सास लेने से	खासी से मु ह लाल हो जाना, ध्वनि निकलना खासी के बाद उल्टी, खासी का दौरा दिन की अपेक्षा रात मे अधिक उग्र।	अनि-श्चित	एच पर-टूसिस जीवाणु	श्वासावरोध मस्ति-ष्कगत रक्तस्राव कर्ण-पाक हृदय का वि-स्फार फुफ्फुस का नत्वीभवन, हर्निया।	प्रतिरोधक वैक्सीन लगवाना, रोगी को पृथक रखना।
राज्य-यक्ष्मा	हवा, थूक, भोजन, दूध आदि से।	भोजन मे अरुचि शरीर कमजोर हो जाना, खासी मे फेफडो मे खून आना, ज्वर रहना, धीरे-धीरे वजन कम होना।	अनि-श्चित	यक्ष्मा वेसिलस।	प्लूरिसी अत पूयता ट्यूबरकुलर हृदयावरणशोथ ब्राकियेक्टेसिस।	पूर्ण विश्राम पौष्टिक आहार काड लिवर आयल कैल्सियम एव विटामिन के योग स्ट्रेप्टोमायसिन।
न्यूमो-निया	हवा थूक अन्न से	कपकपी खासी सिर मे दर्द सूखी खासी सास लेने मे कष्ट ज्वर धीरे धीरे १०३ फा तक।	५ दिन	न्यूमोकोकस जीवाणु	अधिक श्यावता तीव्र हृदयता पूयमयता मस्तिष्कावरण शोथ हृदयावरणशोथ आदि	सल्फा तथा एन्टिबा-योटिक एम्पीसिलिन औषधियां दें।

मस्तिष्कावरण शोथज प्रदाह



है बल्कि उसके स्वरुप और रचना मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसलिए इस रोग की निर्णायिक सम्पुष्टि उक्त तरल के परीक्षण द्वारा ही होती है जिसे कटि-वेधन [Lumber Puncture] द्वारा प्राप्त किया जाता है।



मनुष्य के मस्तिष्क (मस्तुलुङ्ग) मे ज्वर (ताप नियन्त्रण) केन्द्र एव अन्य केन्द्र

मस्तिष्कावरण शोथ के लक्षण—

यह रोग अपने आप मे काफी जटिल और भयङ्कर है। रोग के आक्रमण के साथ ही इसके लक्षण उग्र रूप मे प्रकट होने लगते है जिनमे से प्रमुख है-भयङ्कर सिर दर्द, मतली, उच्च तापक्रम जो बढकर १०५, १०६ डिग्री तक हो जाता है। पीठ और गर्दन की पेशियो मे अकडन, सिर मे रक्त का सचय, आखो का लाल और सुर्ख हो जाना, दृष्टि-शून्यता, कुछ भी अच्छा न लगना, बेचैनी, अनिद्रा आदि।

अगर रोग की समय रहते प्रारम्भिक अवस्था मे रोकथाम नही की जाती तो रोगी की हालत दिनोदिन बिगडती जाती है। वह अनर्गल प्रलाप करने लगता है। सन्यास की अवस्था [Coma stage] मे चला जाता है या आक्षेप [Convulsions] आने लगते हे। इसकी परिणति पक्षाघात मे भी हो सकती है।

निर्णायक रोग लक्षण—

निर्णायक रोग लक्षणो मे दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—

१ ग्रीवा की अकडन [Neck Rigidity]—रोगी की गर्दन मे उस हद तक अकडन पैदा हो जाती है कि रोगी अपनी ठुड्डी का सीने से स्पर्श नही करा सकता। अगर चिकित्सक उसके सिर को आगे झुकाकर ऐसा करने की कोशिश करता हे तो रोगी का सिर और धड तो उठ जाता है पर गरदन नही झुकती। खासकर बच्चों मे यह अकडन इतनी तीव्र होती हैं कि उसका सिर स्वत प्रत्याकंपित हो जाता है।

२ कर्निग लक्षण [Kerning's Sign]—अगर रोगी की जङ्घा को मोडकर उसके पेट मे ९० डिग्री के कोण पर ला दी जाय तो उसके घुटने के नीचे की नाडी इस हद तक अकड जाती हे कि घुटने को सीधा करना असम्भव हो जाता है। यह अकडन साइटिका नाडी के मूल तक चली जाती है जो वहा पर शोथग्रस्त होती है।

भेद या प्रकार

उत्पत्ति के कारण, स्थान, रोग की जटिलता, पूयोत्पत्ति आदि को आधार बनाकर इसके अनेक रुपो की चर्चा की जाती है। यथा—

१ तीव्र पूयजन्य तानिका शोथ [Acute Pyogenic Meningitis]

२ अपूतिक मस्तिष्कावरण शोथ [Aseptic M.]

३ आधारीं तानिका शोथ [Basal M]

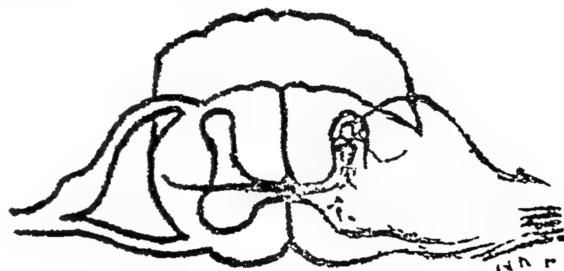
४ मृदम अपूतिक मस्तिष्कावरण शोथ [Benign Aseptic M]

५ कार्सिनोमा तानिकाशोथ [Carsinomatous M]

६ मस्तिष्कमेरु तानिकाशोथ [Cerebrospinal M]

७ चिरकारी पश्चाधारी तानिकाशोथ [Chronic Posterior Basic M]

८. कोक्सेकी बी-वर्ग मस्तिष्कावरण शोथ Coxasackie group-B M]



सुषुम्णाकाण्ड का अनुप्रस्थ काट

९ विसरित सीरमी मस्तिष्कावरण शोथ [Diffuse serous M]

१० ई०सी०एच०ओ० मस्तिष्कावरण शोथ [F C H O M]

११ लेप्टोस्पायरी तानिकाशोथ [Leptospiral M]

१२ लसिका कोशिकी मस्तिष्कावरण शोथ [Lymphocytic M]

१३ मेनिंगोकाक्सी मस्तिकावरण शोथ [Meningococcal M]

क—अधिवृक्क प्रारूप [Adrenal type]

ख—स्फूर्जक प्रमस्तिष्क प्रारूप [Fulminatig Cerebral type]

१४ तन्त्रिगहन शोथज तानिका शोथ [Neurolabyrinthitic M]

१५ फिरगज तानिका शोथ [Syphilitic M]

१६ यक्ष्मज मस्तिष्कावरण शोथ [Tuberculous M]

१७ विषाणु तानिका शोथ [Virus M]

१८ जोस्टर तानिका शोथ [Zoster M]

१९ सीरमी परिसीमित मस्तिष्कावरण शोथ [Serosa Circumscripta M]—मोटे तौर पर इन सभी को दो प्रमुख वर्गों मे वाटा जाता है—

१ निर्जीवाणुज [Sterile]—जो जीवाणुओ से पृथक अन्य कारणो से उत्पन्न होता है। यथा—उपजाल तानिकागत रक्तस्राव के कारण प्रमस्तिष्कमेरु तरल मे रक्त आ जाने के कारण गम्भीर रूप के मस्तिष्कावरण शोथज प्रदाह की उत्पत्ति, वाल्यावस्था मे कुछ विशेष प्रकार के तीव्र ज्वरो, कर्णशोथ, न्युमोनिया आदि के कारण उत्पन्न प्रदाहरहित तानिका क्षोभ [Meningeal Irritation], अथवा मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ [Encephalomyelitis], पोलियो के कारण उत्पन्न तानिका क्षोभ आदि।

२ जीवाणुजन्य या सक्रामक [Infective]—मस्तिष्कावरण शोथ प्राय वैक्टीरिया अथवा वायरस की उपज होता है। इनमे सवसे प्रमुख मेनिंगोकाकिक वैक्टीरियम होता हे जिसे Neisseria meningitidis कहते है। अन्य जीवाणुओ के समान ही इनका भी सक्रमण प्राय नासिका या गले के मार्ग से होता है। वहा से यह रक्त तथा मस्तिष्कमेरु तरल मे फैल जाता है।

मेनिगोकाकी जीवाणुओ से ग्रस्त कुछ ऐसे भी रोगी होते है जो वुरी तरह से सर्दी या इन्फ्लूएन्जा के ढङ्ग की विकृति से ग्रस्त होते है पर उनकी तानिकाओ या तन्त्रिकातन्त्र मे किसी प्रकार की विकृति नही पाई जाती। इन लोगो के थूक-खखार या नासास्राव से भी मस्तिष्कावरण शोथ का सक्रमण फैल सकता है। यह वीमारी किसी भी उम्र या सेक्स के व्यक्ति को हो सकती है पर प्राय वच्चो पर ही आक्रमण अधिक होता है। कभी कभी तो सक्रामक रोग के रूप मे भी फैल जाती है।

कारण

जीवाणुओ के अतिरिक्त अन्य विकृतियो मे से जो मस्तिष्कावरण मे शोथ का कारण वन सकती हे, प्रमुख निम्न है—खोपडी की हड्डी का टूटना, उसमे चोट सडन या घाव, रक्त का दूपित होना, अत्यधिक मद्यपान, तीव्र तथा जटिल स्वरूप के वात रोग, टाइफाइड, न्यूमोनिया, स्कारलेटिना, हूपिंग कफ, कर्णशोथ, कर्णप्रदाह।

आयुर्वेद और मस्तिष्कावरण शोथ—

आयुर्वेद की सहिताओ मे न तो कोई ऐसा नाम है और न उक्त लक्षण-समूहो से युक्त कोई रोग जिसे मस्तिष्कावरण शोथ के समकक्ष रखा जा सके। इसकी कोई जरूरत नही है। इस प्रकार के प्रयास प्राय भ्रामक होते है। हा मस्तिष्कावरण शोथ के लक्षण-समूह मे जिन लक्षणो का वर्णन किया गया है वे सभी दोपो की विकृति मे देखे जा सकते हे। स्पष्टत ये रोग त्रिदोपज है। इसमे वात की सवसे अधिक प्रवलता होती हे।

चिकित्सा

यह एक कष्टसाध्य रोग है। विदेशो मे भी जहा चिकित्सा सुविधाये अधिक से अधिक और उच्चकोटि की उपलब्ध है वहा भी करीव दस प्रतिशत लोग मृत्यु का शिकार हो जाते है। लेकिन इनमे से अधिकाश वे होते हैं जिनका स्वास्थ्य पहले से दुर्वल होता है।

एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली मे इसके उपचारार्थ प्राय पेनसिलिन के साथ साथ सल्फोनामाइड ड्रग्ज का इस्तेमाल किया जाता हे। इन औपधियो की वदौलत इसके वहुत से रूप जो पहले असाध्य माने जाते थे अव

साध्यता की सीमा मे आ गये है। विकसित देशो मे तो अव इसके कई रूप दुर्लभ हो गये है। वैक्टीरिया तथा वायरसजन्य रोगो मे ऐन्टीवायोटिक्स या दूसरी विषाणु-नाशक औषधियो का व्यवहार किया जाता है। मेनिंगो-कोक्कल जीवाणु की उपस्थिति मे इसमे प्राय निम्न चिकित्साक्रम अपनाया जाता है—

1 Crystallıne Penıcıllın 20 Lacs IM का सूचीवेध प्रत्येक ६ घन्टे पर, एव ज्वर के शान्त हो जाने के वाद भी ६ दिनो तक।

2 Sulphadıazıne 4 gm, 100 ml नार्मल सलाइन मे प्रतिदिन, दो दिन तक। उसके वाद

3 Sulphadıazıne 1gm की १ टिकिया हर ४ घन्टे वाद ५ दिनो तक।

जिसको पेनसिलीन सात्म्य न हो, उसके लिए—

1 Chloramphenıcol 50 mg /Kg /24 hrs

अगर अन्त कपालीय तनाव [Intracranıal Tensıon] वढता मालूम हो–Mannıtol 100 ml का सूचीवेध दिन मे दो वार क्षरण विधि से [By drıp]।

न्यूमोकोक्कल [Pneumococcal]जीवाणु की उपस्थिति मे–Penıcıllın 20 Lacs अथवा पेनसिलिन के प्रति सवेदनशील होने पर Chloromycetın का प्रयोग किया जाता है।

इन्फ्लूएन्जा के जीवाणुओ की उपस्थिति मे क्लोरम्फेनिकोल, क्लोरोमाइसिटिन, एक्रोमाइसिन, टेट्रासाइक्लीन, एरिथ्रोमायसीन आदि का यथावश्यक मुख अथवा पेशीमार्ग से उपयोग किया जा सकता हे।

न्यूमोकाक्स, स्ट्रेप्टोकाक्स, स्टेफिलोकोक्स जीवाणुओ की उपस्थिति मे भी मेनिंगोकोक्स वाली चिकित्सा विधि को अपनाया जा सकता है।

आयुर्वेद चिकित्सा के अन्तर्गत विशेष रूप से वातोल्वण सन्निपात तथा उसके उपद्रवो मे उपयोग मे आने वाली औषधियो का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सकता है। इसके लिए निम्न औषधि व्यवस्था उपयोगी सिद्ध हुई है—

१ कृष्ण चतुर्मुख ५०० मि० ग्रा०, सौभाग्य वटी ३७५ मि० ग्रा०, चन्द्रोदय २५० मि० ग्रा०, वृहत् कस्तूरी भैरव २५० मि० ग्रा० मिलाकर ६ खुराकें बनालें। १-१ खुराक प्रति ३ घन्टे पर अदरख, निर्गुण्डी और ब्राह्मी के २-२ ग्राम स्वरस और मधु के साथ दे।

२ गर्दन तथा पीठ पर प्रसारिणी अथवा नारायण तैल की मालिश कर स्वेदन करे।

३ पित्त की उल्वणता होने पर–सौभाग्य वटी ६२५ मि० ग्रा०, मुक्ता भस्म २५० मि० ग्रा०, प्रवाल भस्म २५० मि० ग्रा० मिलाकर ५ मात्राये वनाले। ४-४ घन्टे पर भुनी हुई बडी इलायची चूर्ण और मधु के साथ दे।

४ चित्त की क्लिन्नता और प्रलाप के बढने पर—सौभाग्यवटी ५०० मि०ग्रा०, मुक्तापिष्टी ३७५ मि०ग्रा०, चन्द्रकला रस ३७५ मि० ग्रा०, प्रलापान्तक रस ३७५ मि० ग्रा० मिलाकर ६ खुराके बनाले। ब्राह्मी के स्वरस और मधु के साथ प्रत्येक ३-३ घन्टे पर।

वाह्योपचार—

प्रलापाधिक्य या उसकी सम्भावना होने पर—पुराना गो घृत १०० वार नीम के पानी मे धोकर अथवा ऐसे ही सिर तथा मस्तिष्क पर मालिश करे।

ताप की अधिकता मे—कासे या चादी की कटोरी को पानी मे डुवो, कपड़े से पौछकर हथेलियो तथा पैर के तलुओ पर कलाई से उगलियो की ओर मले। कटोरी के अभाव मे खादी का मोटा वस्त्र ले सकते है। सर पर वरफ की थैली रखे। लेकिन यह क्रिया ज्वर के १०२ डिग्री आजाने तक ही करे। अन्यथा शीताधिक्य से अन्य उपद्रव उत्पन्न हो सकते है।

दाह की अधिकता मे—रोगी के नाभिस्थल पर काँसे का पात्र रखकर उसमे सुगन्धवाला का शीतकषाय अथवा शीतोदक की धारा डालें।

पथ्यापथ्य—वातोल्वण सन्निपात के रोगी के समान ही करनी चाहिए।

चिकित्सा के फलस्वरूप अधिकाश रोगी तो पूर्ववत् स्वास्थ्य-लाभ कर लेते है। पर कुछ मे आखो का „भैंगापन, वहरापन, तन्त्रिकाओ की स्थाई क्षति तथा माशपेशियो और रक्तसचरण की विकृतिया वनी रह जाती है।

—कविराज डा० अयोध्याप्रसाद 'अचल'
एम ए [द्वय], पी-एच डी , आयु० वृह०,
प्रोफेसर एव अध्यक्ष–भौतिक सिद्धान्त विभाग,
आयुर्वेद मेडीकल कॉलेज, गया–८२३००१

गर्दनतोड़ ज्वर

डा० जी० सी० जैन एच० पी० ए०

आप अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, आयुर्वेदिक चिकित्सा शास्त्र के उद्भट विद्वान तथा लेखक हैं। एक बार आपके दर्शन करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। आप हसमुख एव उत्साही विद्वान हैं। प्रस्तुत लेख आयुर्वेद एवं ऐलोपैथी दोनो मे आपकी विद्वता का प्रतीक हे। गर्दनतोड ज्वर को बहुत से चिकित्सक समझ नहीं पाते और अनुमान से ही चिकित्सा करते रहते है जिससे लाभ होता नही उल्टे रोग और वढता जाता है। आशा है कि इस लेख के अध्ययन एव मनन से पाठको को उचित मार्गदर्शन प्राप्त होगा।

—दाऊदयाल गर्ग

रोग पीडित व्यक्ति मे ज्वर के साथ ग्रीवा ग्रह (Neck Stiffness) लक्षण को प्रामुख्य देने के कारण इस व्याधि का नाम 'गर्दनतोड ज्वर' किया गया है। वास्तविकता मे यह रोग राजयक्ष्मा के उपद्रवस्वरूप मस्तिष्कावरणशोथ (Tuberculous Meningitis) का लक्षण होने से उपद्रव ही कहा जायगा। राजयक्ष्मा की मूलरूप से चिकित्सा करने पर लाभ भी होगा। आचार्य के शब्दो मे—

व्याधेरुपरि यो व्याधि भवति उत्तरकालज।
उपक्रमाविरोधि च सोपद्रव इति कथ्यते ॥

व्याधि हेतु एव विकृति—व्याधि का सक्रमण सामान्यतया मस्तिष्कावरण मे राजयक्ष्मा का अस्तित्व अथवा मस्तिष्क से सम्वद्ध मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव से रक्तसवहन द्वारा होता है। वालको मे प्राय प्राथमिक उपसर्ग के वाद यह अवस्था उत्पन्न होती है। परन्तु किसी भी आयु के व्यक्ति मे रोग हो सकता हे। मस्तिष्काघात या व्याधि क्षमत्व मे न्यूनता आने पर भी यह स्थिति आ जाती है। मिलियरी ट्युवरक्युलोमिस से भी यह रोग हो जाता है। इस व्याधि मे मस्तिष्क हरित वर्णयुक्त जिलेटिन सदृश द्रव से आच्छादित रहता है। मस्तिष्कावरण पर भी ट्वरकिल्स विखरे हुए रूप मे पाये जाते है।

लक्षण—

वालको मे रोग का आक्रमण तीव्रता के साथ नही होता है। प्राय दो सप्ताह का समय इसमे लग जाता हे तथा व्याधि की गम्भीरावस्था मे घरवालो को पीडित वालक के सम्वन्ध मे जानकारी हो पाती है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे सामान्यतया थकावट, खेल खिलौनो के प्रति अनभिरुचि, वार्तालाप मे अनिच्छा अरुचि तथा विवध के लक्षण वालको मे पाये जाते है। प्रारम्भ मे हलका शिर शूल अनुभव होता है, जोकि तृतीय सप्ताह की अवधि व्यतीत होने तक वढते-२ तीव्रता मे परिणित हो जाता है।

वयस्कों मे आलस्य के साथ शिर शूल होता है तथा मस्तिष्कावरणशोथ के लक्षण शीघ्रता से वढने लगते है। कभी-२ वमन भी होती है। तापक्रम ३८° सैं तक वढ जाता है। यहा पर स्थिति विगडने की संभावना उत्पन्न होने लगती है, एव उचित चिकित्सा के अभाव मे मस्तिष्काघात, पक्षाघात, शीर्पाम्बु तथा मूर्च्छा इत्यादि की अवस्थाये उत्पन्न हो सकती है।

प्रयोगशालीय परीक्षण—

मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव मे दवाव वढा हुआ रहता हे। द्रव वर्ण मे स्वच्छ या किंचित गदला (Turbid) पाया जाता है। स्टेंड मे द्रव को स्थिर करने पर कोववेव (Cobweb) के सदृश थक्का (Clot) निर्मित हो जाता है। इस द्रव मे प्रतिघन मिलीलीटर मे ४०० तक कोष (Cells) पाये जाते है। प्रोटीन की मात्रा मे किंचित् वृद्धि परन्तु ग्लूकोज की मात्रा मे विचारणीय न्यूनता आजाती है। परीक्षण मे मस्तिष्क सुपुम्नाद्रव मे यक्ष्मा जीवाणु प्राप्त करना कठिन होता है। निदान निश्चित करने के लिये मस्तिष्कसुपुम्नाद्रव का गिनीपिग मे इनाक्युलेशन उपयोगी होता हे। परन्तु निश्चित निदान की

प्रतीक्षा किये विना चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। अन्यथा स्थिति घातक होने की सभावना रहती हे।

निदान—उचित चिकित्सा के लिये रोग निदान शीघ्र हो जाना उपयोगी एव लाभकर होता हे। यक्ष्मा के रोगी मे अनवरत शिर शूल एव सायकालीन ज्वर प्रवृत्ति व्याधि निदान दृष्ट्या विशेपरूपेण विचारणीय हे। ग्रीवाग्रह (Neck Stiffness) की स्थिति मे तो नि सकोच मस्तिष्कसुषुम्नाद्रव का परीक्षण करके निदान निश्चित करना चाहिये। क्ष-किरण परीक्षा द्वारा उर प्रदेश मे मिलियरी ट्यूवरक्लोसिस से सापेक्ष निदान कर सकते है। तन्त्रिका सस्थान के अन्य सक्रमणो से सापेक्ष रोग निश्चिति मस्तिष्कसुषुम्नाद्रव के परीक्षण द्वारा होती है।

साध्यासाध्यता—

तन्द्रा (Stupor) अथवा स्थानिक लक्षणोत्पत्ति के के पूर्व ही समुचित चिकित्सोपचार से रोगशमन सभव रहता हे। चिकित्सा के अभाव मे कुछ सप्ताह मे व्याधि घातक हो जाती है। विलव से चिकित्सा करने पर ६०% या न्यूनाधिक सफलता मिलती है एव रोगी मानस-वैकल्य, अपस्मार, वाधिर्य या अधता आदि किसी अन्य स्थायी विकार से यावज्जीवन पीडित हो जाता है।

चिकित्सा—

पूर्व मे ही स्पष्ट हो गया हे कि रोग यक्ष्मा के उपद्रवस्वरूप होता ह अतएव यक्ष्मा की चिकित्सा लाभकर होगी। चिकित्सोपचार मे—

(१) स्वर्णवसन्तमालती रस १ डे ग्रा, महामृगाङ्क रस १ डे ग्रा, मुक्तापचामृत रस २ डे ग्रा, अमृतासत्व ४ डे ग्राम, पुटपक्वविपमज्वरान्तक लोह २ डे ग्रा, सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम। सभी को मिला तीन मात्रा वनाकर १-१ मात्रा प्रात मध्याह्न एव सायकाल मधु से।

(२) अमृतारिष्ट २० मि ली, अश्वगधारिष्ट २० मि ली भोजनोत्तर समान भाग जल मिलाकर।

व्याधि की तीव्रता पर विचार करते हुए एलोपैथिक चिकित्सा अवश्य एव सहायक रूप मे करते हुए परिणाम लाभप्रद होता है—

रिफाम्पिसिन—वालको मे १०-२० मि ग्रा/कि ग्रा,
वयस्क मे ५० कि ग्रा तक ४५० मि ग्रा
वयस्क मे ५० कि ग्रा मे अधिक ६०० मि ग्रा

आइसोनियाजिड—वालको मे ३ मि ग्रा/कि ग्रा
वयस्क मे २००-३०० मि ग्रा

इथाम्बुटाल—प्रथम सप्ताह मे २५ मि ग्रा/कि ग्रा,
वाद मे प्रतिदिन १५ मि ग्रा प्रति कि ग्रा

स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट—वालको मे ३० मि ग्रा/कि ग्रा.
वयस्क ४० वर्ष तक (शरीरभार ४५ कि ग्रा से अधिक) १ ग्राम
वयस्क ४०-६० वर्ष (शरीरभार ४५ कि ग्रा से कम) ०.७५ ग्रा

थायासिटाजोन—वालको मे २ मि ग्रा/कि ग्रा
↓ वयस्को मे १५० मि ग्राम
(अल्पमूल्य होने से विकासशील देशो मे अधिक प्रचलित है)

उपर्युक्त औपधियो का उपयोग आवश्यकतानुसार दिन मे एक वार करना चाहिए। इस प्रकार इन औपधियो के प्रयोग के साथ इस रोग की विशिष्ट औपधि—

पाइराजिनामाइड ३० मि ग्रा/कि ग्रा प्रतिदिन देना चाहिए। यह औपधि मस्तिष्कसुपुम्नाद्रव मे अच्छी तरह प्रसार करके अपना प्रभाव करती ह। इन सबके साथ सभी रोगियो मे 'प्रिडिनीसोलोन' भी १० मि ग्रा की मात्रा मे दिन मे चार वार देना चाहिये।

इस प्रकार उक्त चिकित्सोपचार दो मास तक चलना चाहिए। इसके वाद 'प्रिडिनीसोलोन' की मात्रा घटाकर २० मि ग्रा प्रतिदिन कर देना चाहिये। औषधोपचार तीन मास के पश्चात् समाप्त कर देना चाहिए।

चिकित्सा अवधि मे उक्त औपधियो के दुष्प्रभावो के विपय मे भी विचार एव सावधानीपूर्वक शामकोपचार करते रहने पर ही चिकित्सा साफल्य प्राप्त हो सकेगा।

—श्री डा० जी० सी० जैन
ए एम वी एस, एच पी ए, शास्त्री पी-एच डी
रीडर—काय चिकित्सा (स्नातकोत्तर विभाग)
राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ

मस्तिष्क ज्वर

श्री प्रद्युम्न सिंह वैद्य आयु० बृह०

रोगी को साफ हवादार कमरे मे रखना चाहिए। खूब औटाया हुआ जल अत्यधिक मात्रा मे पिलाना चाहिए। रोगी के नजदीक धूप घी, गुग्गुल, जटामासी, काला तिल, जौ चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो का हवन करना चाहिए। कोष्ठ शुद्धि के लिये मृदु विरेचन देवे।

पथ्य—धान का खील, वार्ली, मीठे फलो का रस मौसमी, सतरा। मुनक्का बीज निकाल कर तवे पर सेक कर देना चाहिए।

व्यवस्थापत्र—रोगी को सुबह-शाम।

(क) त्रिभुवन कीर्ति रस १ गोली, महालक्ष्मीविलास रस १ गोली, प्रवाल भस्म ४ रत्ती, गिलोय सत्व ६ रत्ती। एक मात्रा—आदि स्वरस और मधु के साथ दे। ६ बजे सुबह और ४ बजे शाम।

(ख) सितोपलादि चूर्ण ३ माशा, ब्राह्मी वटी (स्वर्ण युक्त) १ गोली, प्रबाल भस्म या मोती भस्म २ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती, गुरुच सत्व ४ रत्ती। एक मात्रा दो बार रोज घृत से।

(ग) रात को सोते समय वृ वात चिन्तामणि रस १ रत्ती आदि स्वरस और मधु के साथ तीव्र प्रलाप और बेचैनी मे दो बार देना चाहिए। इसके अलावा रोगी के अनुसार एव रोग प्रबलता के अनुसार मात्रा की कमी बेशी की जा सकती है। अलावा इसके निम्न दवा का प्रयोग आवश्यकतानुसार और लक्षणानुसार देना चाहिए।

सूतशेखर रस, वातकुलान्तक रस, जवाहर मोहरा पिष्टी, मयूर पुच्छ भस्म, अश्वगन्धा और सर्पगन्धा चूर्ण (अत्यधिक रक्तचाप मे) देना चाहिए। अत्यधिक प्यास मे पीपल के वृक्ष की छाल जलाकर बुझाया जल, धनिया एव लौग देकर औटा हुआ जल देना चाहिए। घर को साफ सुथरा रखना चाहिए।

प्रतिरोधक चिकित्सा—वायु शुद्धि के लिये सुगन्धित धूप का हवन करना चाहिये। नीम के पत्ता जलाने चाहिए। जल की शुद्धि के लिए खूब औटा हुआ जल पीना चाहिए। कुए मे परमैगनेट औफ पोटास, चूना या ब्लीचिंग पाउडर डालकर जल शुद्ध कर लेना चाहिये। घर के आस पास गड्ढा नही रहने देना चाहिए। घर के नाले को साफ करते रहना चाहिए। दूषित आहार-विहार का परित्याग कर देना चाहिए। आर्द्र जलवायु मे नही रहना चाहिये। मुशहरी लगाकर सोना चाहिए। नया अन्न, रूक्ष भोजन, खट्टा, बासी कड़ुआ एव तीता भोजन नही करना चाहिए। निम्नलिखित औषधि का सेवन करते रहना चाहिए। नीम की छाल, गुरुच, मिर्च, चिरायता आदि तुलसी के पत्ता, दालचीनी, बडी इलाइची, धनिया आदि द्रव्यो मे जहा तक जो सुलभ हो सके उन्हे १ तोला की मात्रा मे लेकर आधा सेर पानी मे क्वाथ बनाकर उसमे चीनी मिलाकर पीना चाहिए। अथवा चाय, अदरख, तुलसी पत्र, दालचीनी, तेजपात और बडी इलाइची की चाय बनाकर उसमे नीबू रस और चीनी देकर दोनो समय पीवे। कागजी नीम्बू काटकर उस पर मिर्च का चूर्ण, साठे का चूर्ण और सैंधा नमक का चूर्ण देकर चूसना चाहिए।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से यह मस्तिष्क ज्वर (इन्सेफलाइटिस) नयी व्याधि नही है। अतिवृष्टि अत्यधिक बाढ़, विषैले बमविस्फोट, युद्ध आदि कारणो से वातावरण एव जलवायु दूषित हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप तरह तरह की बीमारियो का प्रकोप होता है। उन्ही बीमारियो मे यह मस्तिष्क ज्वर (इन्सेफलाइटिस) भी एक है। कभी-२ ऐसा भी देखने मे आता है कि आन्त्रिक सन्निपात, मलेरिया के तीव्र आक्रमण के उच्चताप मे, इन्फ्लुऐंजा के भयकर आक्रमण मे एव वातपित्त ज्वर के उपद्रव स्वरूप भी जाड़ा, कै, कम्पन, प्रलाप, बेहोशी, शीताग, मूर्च्छा, अनिद्रा, तन्द्रा आदि लक्षण भी मिलते है जिसे आधुनिक

—शेषाश पृष्ठ ११४ पर देखे।

गर्दनतोड़ ज्वर

वैद्य मोहरसिंह आर्य, स्थान–मिसरी, जिला–भिवानी (हरियाणा)

वैद्य श्री मोहरसिंह जी आर्य एक उच्चकोटि के अनुभवी चिकित्सक हैं। 'धन्वन्तरि' पर तो आपकी विशेष कृपा रहती है। सभी जटिल रोगों के आप विशेषज्ञ हैं। अपने लेखो मे आप सर्वविध उपयोगी सामग्री का समावेश करते हैं। गर्दनतोड ज्वर एक तीव्र व्याधि है जिससे अनेकों विकृतिया हो जाती हैं। प्रस्तुत लेख इस रोग पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। आशा है कि पाठक इस छोटे से लेख से लाभान्वित होगे।

—डा० दाऊदयाल गर्ग सम्पादक 'धन्वन्तरि'।

इस व्याधि मे मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के आवरण मे शोथ तथा शारीरिक पेशियो का स्तम्भ (विशेषत मन्या-नाडी का स्तम्भ) वेदना प्रभृति लक्षण लक्षित होते है।

पर्याय—१ ग्रीवा भञ्जनक ज्वर—इस रोग मे ग्रीवा स्तम्भ होती है, गर्दन जकड जाती है। अत इसे यह सज्ञा दी है।

२ मेनिजायटिस—मस्तिष्कावरण प्रदाह।

३ मस्तिष्कमेरु ज्वर (सेरिब्रोस्पाइनल फीवर)—इस रोग मे मस्तिष्क विशेष रूप से आक्रान्त होता है।

४ सुषुम्ना ज्वर—इस व्याधि मे सुषुम्नावरण मे शोथ होता है।

५ क्रकच सन्निपात—आयुर्वेदीय सहिताओ मे वर्णित क्रकच सन्निपात मे इस व्याधि के लक्षण मिलते है। इस व्याधि का प्रत्यात्म लक्षण ग्रीवा स्तम्भ है। मन्यास्तम्भ मे मृत्यु तक हो जाती है।

६ सिरसाम अर्थात् मस्तिष्क शोथ।

विशेष—मस्तिष्क परिवेष्टनीकला मे शोथ उत्पन्न होने से इस रोग को मेनिजायटिस कहते है। मस्तिष्क तथा सुषुम्ना नाडी और इसके आवरण मे शोथ होने के कारण इस व्याधि को सेरिब्रोस्पाइनल फीवर कहते हैं।

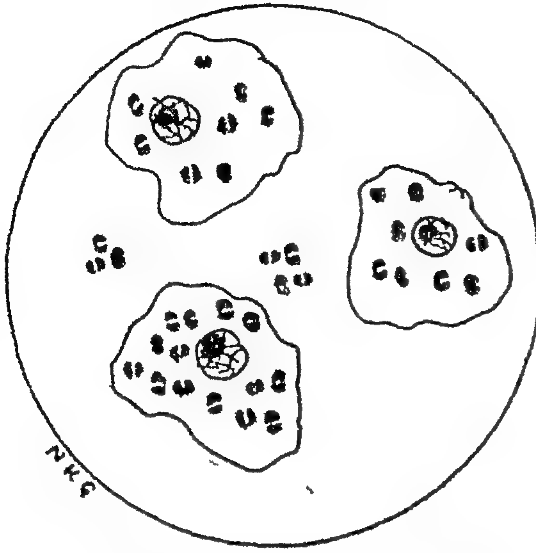
कारण—

इस व्याधि का मुख्य कारण मेनिगोकोकस नामक जीवाणु है (चित्र पृष्ठ ११३ पर)। इस जीवाणु को अन्त -कोशकीय अर्ध गोलाणु (निसेरिया इन्ट्रासेल्युरिया) भी कहते है। यह जीवाणु वृक्काकृति वाला या सेमबीजाकृति होता है।

आयुर्वेद मतानुसार इस रोग मे तीनो दोष प्रकुपित होते है। वात वृद्धि को प्राप्त हो जाती है, पित्तहीन हो जाता है और कफ मध्य रहता है। तीनो दोषो के दूषित होने से क्रकच सन्निपात उत्पन्न होता है।

रोगोत्पत्तिकाल—यह व्याधि प्राय शीत तथा वसन्त ऋतु मे होती है।

सहायक रोग—गले के रोग, नासा रोग, शीत, मानसिक रोग, धातु क्षीणता प्रभृत्ति व्याधिया सहयोगी है।



कारणभूत जीवाणु—मैनिंगोकोक्काई

प्रसरण मार्ग—काम, छींक, थूक, दूषित वस्तु पर इस रोग के जीवाणु रहते हैं। ये जीवाणु वायु द्वारा स्वस्थ व्यक्तियों मे प्रविष्ट हो जाते हैं। इस रोग के जीवाणु शरीर मे प्रवेश कर मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के आवरणों-झिल्लियों मे पहुच कर प्रदाह उत्पन्न करते हैं। उस व्याधि मे ज्वर १०२° से १०४° तक होता है।

पूर्वरूप—तीव्र शिर शूल, अकस्मात् ज्वर, वमन, शीत कम्प, कटिवेदना, भ्रम, बेचैनी, कर्णमूल प्रदाह, वेदना प्रभृति।

लक्षण—

इस रोग का आक्रमण अकस्मात् ज्वर वमन तथा शिर शूल आदि के साथ होता है। आरम्भ मे ज्वर बढता घटता है। किसी रुग्ण को कटिशूल के साथ रोग आरम्भ होता है। ग्रीवा की पेशिया जकड जाती हैं। गर्दन की पेशियो की कठोरता बढती जाती है। अन्त मे सिर पीछे की ओर तन जाता है। बालको की पेशिया इतनी तन जाती है, अकड जाती हैं कि लेटे हुए बालक के सिर को ऊपर उठाये तो सम्पूर्ण शरीर ही ऊपर उठ जाता है।

रोगारम्भ मे कुछ शीत-ठण्ड भी लगती है, शरीर कापता है। किसी किसी रोगी को द्रुताक्षेप आते है। रोगी प्रलाप करता है। कपन हाथ-पाव मे विशेषत जङ्घाओ की पेशियो मे होता है। नाडी कभी तीव्र, कभी मन्द चलने लगती है। शारीरिक उत्ताप अनियमित होता है। शारीरिक उत्ताप के साथ नाडी की गति का सामञ्जस्य नही रहता। शारीरिक ताप स्वाभाविक होने पर भी नाडी द्रुतगामी हो जाती है। रोगी बिछौने पर इधर उधर छटपटाता रहता है। सिर की भयङ्कर पीडा से रोगी अधीर हो जाता है। सिर मे पीछे की ओर पीडा रहती है। रोग की उग्र अवस्था मे दृष्टिवक्रता, शिर का घूमना, कानो मे शब्द तथा प्राणशक्ति का ह्रास वा लोप होना पाया जाता है। गात्र चैतन्याधिक्य तथा प्रलाप पक्षाघात आदि लक्षण मिलते है।

लक्षण विशेष—मस्तिष्क के भीतर दबाव बढने के कारण नाडी की गति मन्द हो जाती है। सिर के पिछले भाग मे वेदना होती है। शरीर कडा हो जाता है 'गर्दन भी कडी हो जाती है। सिर पीछे की ओर झुक जाता है। पेशिया कठिन हो जाती है। मस्तिष्क मे विकृति होने की सम्भावना रहती है। आक्षेप, पेशी दौर्बल्य तथा मानसिक विकृति रहती है।

चिकित्सा सूत्र—

१ रोगी को पूर्ण विश्राम दे। २ दुग्ध आहार दे। ३ मलावरोध न रहने दे। ४ पर्याप्त जल का प्रयोग करे। ५ स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखें। ६ रोगी का कमरा शान्त हो। ७ रोगी को मृदु शय्या पर लिटाये। ८ रोगी को स्वच्छ, हवादार, प्रकाशयुक्त कमरे मे रखें। ९ फलो का रस पर्याप्त दे। १० करवट बदलवाते रहे।

चिकित्सा—

कोष्ठ शुद्धि के लिए—एरन्ड स्नेह की वस्ति दे अथवा अश्वकचुकी रस ताजा जल के साथ दे।

कटिग्रीवा तथा शिर शूल शमनार्थ—महायोगराज गूगल उष्ण दुग्धानुपान से दे। विषगर्भ तैल का मर्दन करे। मूग या मोठ का वस्त्रपूत चूर्ण २५० ग्राम लेकर गोदुग्ध मे गूँधकर एक रोटी बनावे। इस रोटी को एक ओर से पकावे। कच्चे भाग पर गुलरोगन २५ मि ली तथा सिरका ५ मि ली मिलाकर चुपडे। पीछे सिर पर सुहाती-सुहाती गरम-गरम बाध दे। प्रति ३ घन्टे के पश्चात् नई रोटी बाधे। इस प्रकार ३ रोटी बाधना ही पर्याप्त है। यदि गुल रोगन उपलब्ध न हो तो विषगर्भ तैल काम मे ले।

१ वेतालेश्वर रस—हिंगुलोत्थ पारद, शु गन्धक, शु ताल पत्रक, सुवर्ण भस्म, मुक्तापिष्टी, शु वच्छनाग, कालीमिर्च, शुद्ध सुहागा चौकिया प्रत्येक समान भाग ले। सर्व प्रथम पारद गन्धक की निश्चन्द्र कज्जली वनावे। ताल पत्रक, वच्छनाग, मिर्च तथा सुहागे का पृथक पृथक वस्त्र-पूत चूर्ण बनावे। प्रथम कज्जली मे सुवर्ण भस्म मिलावे। फिर क्रमश मुक्तापिष्टी, ताल पत्रक, कालीमरिच तथा सुहागा मिला १२ घन्टे खरल कर रख ले। मात्रा–१२५ मि ग्राम, प्रति ३-४ घन्टो के अन्तर से दे। अनुपान–मधु

सूचना–१ इसके साथ अन्य कोई औपधि न मिलावे।

२. बालक तथा क्षीण रुग्णो को वलानुसार मात्रा दे।

३ मात्रा १२५ मि ग्रा से अधिक न दे, चाहे तोलकर

उपयोग—यह कठिन सन्निपात ज्वर को दूर करता है। सुषुम्ना ज्वर 'प्रवृद्ध हीन मध्यैस्तु वातपित्त कफैश्च य' के अनुसार सन्निपात ज्वर है। इस रस का उपयोग मस्तिष्क तथा सुषुम्ना मे उत्पन्न क्षोभ पर अत्यन्त आश्चजनक होता है। जब सन्निपात मे दोष मस्तिष्क मे प्रविष्ट होकर प्रलाप की अवस्था उत्पन्न करते है तव इसका प्रभाव अमृततुल्य होता है। रोगी कितना भी प्रलाप क्यो न करता हो, इस रस की ३-३ घन्टे पर मधु से ३ मात्राऐ दे। प्रथम मात्रा से ही लाभ दृष्टिगोचर होगा, तृतीय मात्रा देने के पश्चात् रोगी सो जाता है। अधिकाश रुग्ण सो कर उठने पर ज्वरमुक्त पाये जाते है। अत्यन्त प्रवृद्ध दोप अवस्था मे धैर्यपूर्वक औपधि दे। मस्तिष्कावरण प्रदाह गर्दनतोड ज्वर मे निश्चित लाभप्रद है। यदि उपचार उचित समय पर किया जाए तो रोगी काल के गाल मे जाने से बच जाता है।

विशेष—तीव्र प्रलाप तथा क्षीण और शीतल स्वेदयुक्त रुग्ण को न दे। पथ्य मे मू ग की दाल का यूप दे।

२ कृष्ण चतुर्मुख रस ५०० मि ग्राम, सौभाग्य वटी ३७५ मि ग्राम, चन्द्रोदय २५० मि ग्राम, वृहत्कस्तूरी भैरव रस २५० मि ग्राम चारो को एकत्र खरल कर ६ मात्राये वनाले। आर्द्रक, निर्गुण्डी तथा ब्राह्मी रस २-२ मि ली एव मधु के साथ ६ बार ३-३ घण्टे पर दे।

३ अर्कादि क्वाथ—अर्कमूलत्वक् जवासा, चिरायता, देवदारु, रास्ना, निर्गुण्डी, वच, जैत की छाल, सहिजन की छाल, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोठ असगन्ध, भगरैया समान भाग लेकर यथाविधि क्वाथ बनाकर प्रात पीवे। यह मन्यास्तम्भ, आक्षेपक मे उपयोगी है।

४. वृहत् योगराज गुग्गुलु—जब पूर्वरूप मे ग्रीवा जकड जावे तो उस समय १ ग्राम की मात्रा मे एरन्ड स्नेह ५० मि ली के साथ दुग्ध सहपान दिन मे ३ बार दे।

५ शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ, नाग भस्म १-१ ग्राम, रोहू मछली, कृष्ण सर्प तथा अजा का पित्ता और मोर का पित्ता ले। (नाग भस्म पीपल वृक्ष से बनावे।) सर्वप्रथम पारद तथा गन्धक की कज्जली करे। फिर नाग भस्म तथा वत्सनाभ मिलाकर खरल करे। तत्पश्चात् पूर्वोक्त जीवो के पित्ते १-१ डालकर खरल करे। २१ दिन निरन्तर खरल कर सुवर्ण या रजत की डिब्बी मे वन्द कर रखे। मात्रा—युवक को आधा चावल भर कद्दू के स्वरस से दे। अथवा ब्रह्मरन्ध्र पर चीरा लगाकर थोडी सी औपधि मल दे।

उपयोग—सन्निपात की मूर्च्छा को दूर करता है।

६ लवण को पीसकर जल मे घोल ले और नाको मे टपकाये। इससे मूर्च्छा तत्काल दूर हो जाती है।

विशेष—मलावरोध दूर करने से लिए विरेचक औपधि न देकर एरण्ड स्नेह की वस्ति दे।

शुभ लक्षण--बार-बार छीक आना, कान के पीछे शोथ हो जाना उत्तम है।

पथ्यापथ्य--यव का सत्तू खाड मिलाकर दे। मू ग का यूप दे। साबूदाना दे। गरिष्ट भोजन न दे। धूप तथा गरम पदार्थो से बचावे।

अरिष्ट लक्षण—आखे धस जाना, मूत्र जलवत् आना, श्वास रुक-रुककर आना।

—पृष्ठ १११ का शेषाश—

चिकित्सक इन्सेफलाइटिस कहकर हौआ बढाये हुए है। एक तरह के लक्षण मिलने या मिलेजुले लक्षणो के आधार पर इसे इन्सेफलाइटिस नही कहा जा सकता। वरन उसे इन्सेफलाइटिस तब कहा जा सकता है जबकि तथाकथित इन्सेफलाइटिस के सभी रोगियो मे एक ही तरह के विषाणु (Virus) पाये जावे।

— वैद्य प्रद्युम्न सिंह आयुर्वेद वृहस्पति
एम एस-सी (आयु०), डी एस-सी (आयु०)
सिन्हा मेडीकल हॉल, पो० गौरा (सारण)

आयुर्वेद में धनुस्तम्भ (धनु:टंकार) चिकित्सा

वैद्य वैदेही शरण सिंह आयु, धन्वन्तरि दातव्य औष, वसन्तपुर पो० पीरपैंती (भागलपुर) बिहार



इस के होने का कारण माधवकार ने लिखा—

कुर्याच्छिरागतः शूल शिरा कुञ्चन पूरनम.
सबाह्याभ्यन्तरायाम खल्ली कुब्जत्व मे वच।

अर्थात् शिरागत वायु के कुपित होने के कारण नाड़ियो मे शूल, नाड़ी का सकोचन तथा बहिरायाम एव आभ्यन्तरायाम, खल्ली, कुब्जापन आदि को उत्पन्न करता है।

इस रोग मे वायु प्रकुपित होकर सम्पूर्ण शिराओ, प्रकुपित अङ्गो को आक्षेपयुक्त बना डालती है जिससे टिटनस होता है। आधुनिक विज्ञान इसे जीवाणु जनित बतलाते है। यह कीटाणु गौ, घोडे आदि के विष्टा मे रहते है एव बाहर निकलता क्षत स्थान द्वारा शरीर मे प्रवेश कर शिराओ द्वारा मस्तिष्क मे पहुचकर टिटनस रोग हो जाता है। इस धनुर्वात को सक्रामक व्याधि मानते है। इसकी अवधिकाल—१५ दिन तक मानते है। शिशु के जन्म के बाद यदि कोई दाई (धाई) जग लगे हथियार से नाल काटती है तो इससे भी टिटनस होजाता है, दुराचारी स्त्री यदि गर्भ गिराती है, यदि खून का अधिक स्राव होता या गन्दे हाथो से प्रसव कराने से ये कीडे शरीर मे प्रवेशकर टिटनस को जन्म दे डालते है।

निदान—जिसे पूर्वरूप भी कहा जा सकता है। जब रोग आरम्भ होता है तो लक्षण प्रकट होते है। दाती लगना मुख की पेशिया छोटी एव सकुचित हो जाती है। अधिक बेचैनी देखी जाती है, शिर मे पीडा तथा शारीरिक जकडाहट होती है।

लक्षण—

इस रोग मे मनुष्य कमान (धनुष) की तरह झुक जाता है,सारे अङ्ग ढीले होजाते है, पसीना बहुत निकलता है। बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जबडे जकड जाते है बोलने मे जोर लगाना पडता है मुह एव ग्रीवा पर यह रोग विशेष रूप से परिलक्षित नजर आता है, गर्दन अकड कर पीछे की ओर तन जाती है।

रोगोपचार—

—एकौषधि चिकित्सा—

[१] सात रत्ती भाग की पत्ती या बीज चिलम मे रखकर पीने से भयङ्कर से भयङ्कर धनुर्वात ठीक होता है।

[२] योगराज गुग्गुल एव गाजा का महीन चूर्ण मिलाकर रोगी को मधु के साथ चटावे।

[३] अहिफेन २५० मि ग्रा पान के स्वरस से दे।

[४] सोंठ कूटकर नाक मे डाले।

[५] रीठा आख मे अजन करे।

[६] कुकुरौंधा का रस घाव पर लगाये।

वैद्यो के परीक्षण एवं अनुभूत प्रयोग—

(१) निघण्टु से उद्धत—सात रत्ती भग के पत्ते चिलम मे रखकर धूम्र रहित अग्नि डालकर तम्बाकू की तरह धूम्रपान करते रहने से भयङ्कर धनुस्तम्भ जड से खत्म हो जाता है। यदि रोगी का मुह नही खुल रहा है तो दूसरा आदमी पीवे और रोगी का मुह किसी तरह खोलकर उसके मुख मे धुए छोडे। डा० ओसगन सी ने तो यहा तक कह डाला है कि धनुस्तम्भ एव विशूचिका के अलावा जलान्तक, वातरस तडका रोग मे प्रयोग कर इसे अचूक सिद्ध कर दिया है।

(२) स्वामी सहस्रमुखी फकीर—इन्होने निघण्टु से मिलता जुलता ही दिया है—भाग आठ आना भर और उसमे थोडी तम्बाकू मिलाले एव चिलम मे भरकर रोगी के मुख म धुए पिलाने मे टिटनस मे आक्षेप का दौरा खत्म हो जाता है।

(३) भागचन्द्र जैन जी—

सैंधव नमक मिलाइए अर्क दूध के सग।
ग्रीवा मे मर्दन करे धनुर्वातकरि भग॥

(४) प्राणाचार्य श्री हर्पुल मिश्र जी द्वारा एक योग अनेक रोग—हर्पुल (स्नायूर्जा वटी) दशमाश हिंगुल द्वारा ६० पुट की हुई सफेद सखिया दसमाश द्वारा ६० पुट दी हुई शत प्रतिशत भस्म की हुई कात लोह भस्म हरताल योगेन जारित दशपुटी,बगभस्म (जलतर), चन्द्रोदय रस प्रत्येक १-१ तोला कुकुभघनसार शुद्ध कुचला काला धतूरा बीज, सन के बीजो का घनसार २-२ तोला सबको खरल मे डालकर निर्गुण्डी स्वरस मे घोटकर

४-४ रत्ती की गोली बनावे। बालिग व्यक्ति को १-२ गोली रोग के वेगानुसार अद्रक स्वरस व नागर वेल पत्ता (पान) के स्वरस मे मिलाकर चटावे। १० वर्ष से कम आयु वाले को आधा गोली तक दे सकते है।

(५) वी एस प्रेमी—मल्ल चन्द्रोदय ५ माशा, वातकुलान्तक रस ५ माशा, स्वर्ण भस्म ३ माशा, रसराज रस ४ माशा, वृहत कस्तूरी भैरव रस २ माशा, अश्वगधा चूर्ण २ तोला, अभ्रक भस्म (शतपुटी)—पूर्ण योग ५ तोला कधी के ताजा स्वरस मे उक्त सभी द्रव्यो को मिलाकर दृढ भावना देवे। शुष्क हो जाने पर रक्त एरण्ड के ताजे फल समभाग अमलतास के पुष्पो के स्वरस की भावना देकर २-२ रत्ती की वटी बनावे। प्रति दिन १२ वजे, शाम को ६ वजे, रात्रि मे २ वजे २-२ वटी दूध से ४० दिन लेवे।

(६) डा० चादप्रकाश मेहरा जी का योग—महावात विध्वस रस १२५ मि ग्राम + प्रताप लकेश्वर रस १२५ मि ग्रा, अश्वकचुकी रस २५० मि ग्रा + एकागवीर रस १२५ मि ग्रा, ताप्यादि लोह २५० मि ग्रा। इन सवको मिलाकर एक मात्रा हुआ। ऐसी १-१ मात्रा महारास्नादि क्वाथ से दिन मे चार वार ३-३ घटे पर दें। यदि रोगी का मुह नही खुल रहा हो तो चम्मच आदि देकर मुह खोलकर दवा दे। यदि ऐठन दूर होजाय तो अश्वकचुकी रस की जगह आरोग्यवर्द्धनी वटी मिलाले। यदि रोगी का पेशाव लाल हो जाय एव कठिनाई से पेशाव होवे तो ताप्यादि की जगह वग भस्म मिलावे।

(७) तान्त्रिक टोटका—वाराणसी के प अरुणकुमार शर्मा तान्त्रिकाचार्य ने एक वार मेहरा जी को वतलाया कि जब धनुर्वात के रोगी की हालत विगडती चली जाय कोई दवा असर नही करे तो टिटनेस के रोगी के पीठ पर रीढ की हड्डी के निचले सिरे पर का भाग फूला (हवा से भरा हुआ) सा दीख पडेगा। वस उसी स्थान पर किसी विसक्रमित ब्लेड से चीरा लगा दे। वहा हवा का वुलवुला निकलेगा रोगी वहुत तडफेगा थोडी देर के वाद ठीक हो जायेगा। यदि रोगी तडफे तो समझना चाहिए रोगी ठीक हो गया।

(८) राजवैद्य नारायण सेन— ब्रह्मदण्डी की छाल + काली मिर्च + जायफल सेवन से धनुर्वात दूर होजाता है।

आयुर्वेदिक शास्त्रीय मिश्रित पेटेण्ट योग—

शास्त्रीय योग—वृ वात चिन्तामणिरस, वातकुलान्तक रस, प्रताप लकेश्वर रस, वृहत कस्तूरी भैरवरस, मल्लचन्द्रोदय, मल्लसिंदूर आदि।

१ मल्लचन्द्रोदय ६० मि ग्रा, कस्तूरी ६० मि ग्रा मधु से चटावे।

२ कृष्ण चतुर्मुखरस १२५ मि ग्रा + वृहत् वात चिन्तामणि रस १२५ मि ग्रा + वृहत् कस्तूरी भैरव रस १२५ मि ग्रा + मल्लचन्द्रोदय १२५ मि ग्रा—एक मात्रा—सुवह शाम मधु से दे। ऊपर से जटामासी का क्वाथ पिलावे।

३ प्रताप लकेश्वर १२५ मि ग्रा, ताप्यादि लोह १२५ मि ग्रा, आरोग्य वर्द्धनी २५० मि ग्रा यह एक मात्रा हुई।

४ वृहत वात चिन्तामणि रस, महावातविध्वस रस, एकागवीर रस, प्रताप लकेश्वर रस प्रत्येक १२५-१२५ मि ग्रा, आरोग्यवर्द्धनी वटी २५० मि ग्रा, ताप्यादि लौह २५० मि ग्रा मधु मिलाकर सुवह-शाम सेवन करावे।

५ वातविध्वन्स रस १२५ मि ग्रा, एकागवीर रस १२५ मि ग्रा, समीरगजकेशरी १२५ मि ग्रा, योगेन्द्ररस १२५ मि ग्रा मधु मिलाकर सुवह-साम देवे। वडा अच्छा काम करता है।

(६) स्वर्ण भस्म २५ मि ग्रा, रौप्य भस्म २५ मिग्रा,, अभ्रक भस्म (शतपुटी) २० मि ग्रा, लौह भस्म (शतपुटी) ५० मि ग्रा, मुक्ताभस्म ३० मि ग्रा, प्रवालभस्म ३० मि ग्रा, रस सिन्दूर ७० मि ग्रा मधु मिला सुवह शाम सेवन करे।

(७) कृष्ण चतुर्मुख रस १२५ मि ग्रा, अश्वगधादि घृत तथा मधु से दोपहर एव रात्रि मे दे।

(८) सूचिका भरण रस १२५ मि ग्रा, ब्राह्मीघृत के साथ प्रात साय सेवन करे।

आयुर्वेदिक सूचिकाभरण मे—लहसुन (जी ए मिश्रा) का अथवा रासोन (मार्तण्ड कम्पनी का) १ से २ मिली ६-६ घटे पर मास मे सूचि दे। दर्द को दूर करने के लिए शूलान्तक (मार्तण्ड कम्पनी) १ से ४ मिली त्वचा मे लगावे। दशमूल (वुन्देलखण्ड) १ से २ मिली त्वचा मे लहसुन के साथ दशमूल का सूचिवेध देवे। मिलाकर दिया जाय तो धनुस्तम्भ मे वहुत लाभकरी है। ✤

धनुर्वात

डा० राजेन्द्रप्रकाश भटनागर पी-एच डी
प्रोफेसर—राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालयीय अनुसधान केन्द्र, उदयपुर (राज०)

—०※०—

राजस्थान मे दो सरकारी आयुर्वेद महाविद्यालय हैं। आप उदयपुर महाविद्यालय मे प्राध्यापक हैं एवं साथ ही अनुसन्धान केन्द्र के अध्यक्ष भी है। आप शिक्षा की सर्वोच्च उपाधि पी एच-डी से सुशोभित हैं एवं अपनी डिग्री की सार्थकता भी आपने कर दिखाई है। ऐसी कौनसी आयुर्वेद पत्र पत्रिका है जिसमें आपके लेख प्रकाशित नही हैं।

आप समय-समय पर अपने अनुसन्धानो से आयुर्वेद जगत को अवगत कराते रहे है। आप राजस्थान मे आयुर्वेद के स्तम्भ हैं एव आयुर्वेद सेवा मे सलग्न हैं। आप द्वारा अब तक कई पुस्तकें लिखी जा चुकी है। मेरे अनुरोध पर आपने इस ग्रन्थ हेतु 'धनुस्तम्भ' पर सटीक लेख भेजा है। आशा है पाठक गण इसे उपयोगी पायेंगे। भगवान धन्वन्तरि से प्रार्थना है कि वह आपको शतायु करे।

—वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु० वृह०

आयुर्वेदीय सहिता ग्रन्थो मे धनु स्तम्भ को वातव्याधि के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। सुश्रुत ने इसकी परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि—'धनुस्तुल्य नमेद्यस्तु स धनु स्तम्भसज्ञक' (सुश्रुत १।५४)। धनुष के समान शरीर को प्रकुपित वायु झुका देता है उसे धनुस्तम्भ कहते है। यह स्नायु, सिरा, कडरा मे कुपित वायु के आश्रय से होता है। चक्रपाणि ने लिखा है—'तेनोभयवचनात् सिरास्नायुगतवातजन्यावेय भवत ।' चक्रपाणि ने इस सन्दर्भ मे निम्न तन्त्रातरोक्त वचन भी उद्धृत किया है—

महाहेतुर्बली वायु सिरा सस्नायुकण्डरा ।
मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्या सशोष्यायामयेद् वहि ॥

—च चि २८।४८ की टीका मे उद्धृत वचन

यहा निश्चित ही व्यानवायु की विकृति अभिप्रेत है।

सहिताकारो ने धनुस्तम्भ के दो प्रकार निर्दिष्ट किये है—१ अभ्यन्तरायाम और २ बाह्यायाम। धनुष के समान मुडना तो इसका साधारण लक्षण है। 'अभ्यन्तरायाम क्रोडे नत, बाह्यायाम पृष्ठे नतम्' (मधुकोष)।

(१) अभ्यन्तरायाम—

अगुलीगुल्फजठर हृद्वक्षोगलसश्रित ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥
विष्टब्धाक्ष स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्व कफ वमन् ।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥

(सु० नि० १।५४-५६)

कुपित बलवान वायु जब अगुली, गुल्फ, पेट, हृदय (हृत्प्रदेश) और गलप्रदेश मे आश्रय करके वहा के स्नायुप्रतानो (कडरा, सिरा, स्नायु व पेशियो) मे आक्षेप

(ऐठन) उत्पन्न कर देता है, तब रोगी के नेत्र और हनु (जबडा) जकड जाते है, पार्श्व मे टूटन होती है, मुह से कफ का वमन करता है। रोगी जब धनुष के समान भीतर की ओर मुड जाता है तब उसे अभ्यन्तरायाम कहते हैं, जिसे बलवान वायु उत्पन्न करता है।

(२) बाह्यायाम—

बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च।
तमसाध्य बुधा· प्राहुर्वक्ष कट्यूरुभञ्जनम् ॥
(सु० नि० १।५७)

बाहरी स्नायु-प्रतानो (स्नायु, कडरा, पेशी, सिरा) मे स्थित होकर वायु बाह्यायाम करता है। इसको असाध्य कहा जाता हे क्योकि इसमे वक्ष, कटि, उरु प्रदेश का भान हो जाता है।

सुश्रुत ने आक्षेपक नामक वातव्याधि के अन्तर्गत उसके भेद के रूप मे सपतानक, दण्डापतानक और धनुस्तम्भ का वर्णन किया हे तथा धनुस्तम्भ के उक्त दो प्रकार बताये है। यह ध्यानस्थ रखना चाहिए।

परन्तु चरक सहिता मे ऐसा कोई भेद-वर्गीकरण नही पाया जाता। अपितु धनुस्तम्भ नामक कोई स्वतत्र व्याधि भी नही बतायी हे। इसके बजाय अन्तरायाम और बहिरायाम नामक दो स्वतन्त्र वातव्याधिया मानी है।

१ अन्तरायाम—चरक मे मन्यास्तम्भ भी कहा हे।

मन्ये सश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाड़ी प्रपद्यते।
मन्यास्तम्भ तथा कुर्याद् अन्तरायामसज्ञितम् ॥
अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम्।
दन्तानां दशन लाला पृष्ठायाम शिरोग्रह ॥
जृम्भा वदनसगश्चाप्यन्तरायामलक्षणम्।
इत्युक्तस्त्वन्तरायामो × × ॥
(च० चि० २८।४३-४५)

जब वायु मन्या (गर्दन का पिछला भाग) का आश्रय करके उसकी भीतरी नाडियो (सिराओ) को प्राप्त होता है, तब भीतर की ओर झुक जाता है, ग्रीवा और मन्या अत्यन्त जकड जाती है, दातो को काटता है, मुख से लालास्राव करता है, पीठ पीछे की ओर खिच जाती हे (कुब्जता हो जाती है), सिर मे जकडाहट होती हे, जभाई मुंह का जकड जाना—ये अन्तरायाम के लक्षण हैं।

२ बहिरायाम—इसे ही हनुस्तम्भ भी कहा गया है—

× × बहिरायाम उच्यते ॥
पृष्ठमन्याश्रिता बाह्या शोषयित्वा सिरा बली।
वायु कुर्याद् हनुस्तम्भं बहिरायामसंज्ञकम् ॥
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिर·।
उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवाऽवमृद्यते ॥
दन्ताना दशन जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रह।
जातवेगो निहन्त्येष वैकल्य वा प्रयच्छति ॥
(च० चि० २८।४५-४८)

बलवान वायु पृष्ठ और मन्या मे रहने वाली बाह्य सिराओ (स्नायु-कडरा-पेशी) को सुखाकर बहिरायाम नामक हनुस्तम्भ उत्पन्न करता है। चाप=धनुष के समान झुकते हुए सिर पीछे की ओर चला जाता है, छाती बाहर उभर जाती है, मन्या (गर्दन) जकड जाती हे और गर्दन मुड जाती हे। रोगी दातो को काटता हे जभाई, लालास्राव, वाणी रुकना—ये लक्षण होते है। इन लक्षणो के साथ इसका वेग होने पर मृत्यु या विकलागता उत्पन्न हो जाती है। वस्तुत बाह्यायाम अन्तरायाम खल्ली और कुब्जत्व—ये सर्वाङ्गाश्रित व एकाङ्गाश्रित रोग स्नायुगत वायु के कारण उत्पन्न होते हैं—

बाह्याभ्यतरायाम खल्लीं कुब्जत्वमेव च।
सर्वैकाङ्गरोगाश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिल· ॥
(च० चि० २८।३५)

चरक ने मन्यास्तम्भ और अन्तरायाम को एक ही रोग माना है। सुश्रुत ने इसे पृथक-पृथक रोग माना है। मन्यास्तम्भ का लक्षण बताते हुए सुश्रुत ने लिखा है—

दिवास्वप्नासमस्थान विकृतोर्ध्वनिरीक्षणैं।
मन्यास्तम्भ प्रकुरुते स एव श्लेष्मणावृत ॥
(सु० नि० १।६७)

वायु प्रकोप दो प्रकार से होता है—'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च' (च चि २८।५-६)। वायुप्रकोप के हेतु वर्गीकरण को इस दृष्टि से देखना अपेक्षित हे। किन्तु उसके अतिरिक्त जीवाणु-विषजन्य वायुप्रकोप भी द्रष्टव्य है। उसका क्षयज प्रकार मे ही अन्तर्भाव किया जा सकता है।

आधुनिक मत—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे इसे टिटेनस कहते है। इसका अन्य नाम लॉक जॉ (Lock jaw) भी है जिसका

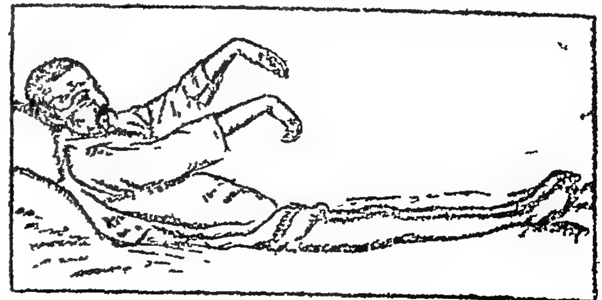
हिन्दी नाम हनुस्तम्भ है। यह तीव्र सक्रामक रोग हे।

निदान—यह रोग क्लोस्ट्रीडियम टिटेनी (Clostridium Tetani) नामक विशिष्ट दण्डाकार जीवाणु के कारण उत्पन्न होता हे। यह जीवाणु मुख्य रूप से जोती हुई भूमि, सडक की धूलि और गोवर खाद मे पाया जाता हैं। इस जीवाणु का प्रधान आश्रय गाय घोडा आदि पशुओ की आतो मे है। वहा से यह उनके गोवर लीद आदि के साथ वहिरुत्सर्जित होता है और उन स्थानो पर पाया जाता है जहा इन जानवरो का मल विसर्जित हुआ हो। प्रतिकूल परिस्थिति मे जीवाणु सकुचित, होकर स्पोर्स (Spores) वना लेता है जिससे उम पर सर्दी गरमी का सीधा प्रभाव नही पडता। अनुकूल वातावरण उपस्थित होने पर पुन अपने मूल रूप मे लोट आता हे। इस प्रकार यह दीर्घकाल तक जीवित रहता हे।

शरीर मे इस जीवाणु का प्रवेश गहरे अन्त प्रवेशी व्रण या घाव (Punctured wounds) जैसे नाखून या किसी नुकीली वस्तु से वनने वाले घाव के माध्यम से होता है। ये जीवाणु पूर्णतया अवातजीवी (Anaerobe) होते है। अत व्रणो की सतह पर इनकी वृद्धि नही होती। अत क्षत स्थान के भीतर प्रवेश कर ये पनपते हे। वहा इनके शरीर से तीव्र वहिर्विप (Exotoxin) उत्पन्न होता है जिसका केन्द्रीय नाडी सस्थान की ओर गति करने की ओर विशेप आकर्पण होता हे। यह विप प्रवेश स्थान से चेष्टावह नाडियो के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुचता है और वहा गत्युत्पादक क्षेत्रो मे क्षोभ और शोथ उत्पन्न करता है। इसका सचयकाल (Incubation period) विभिन्न होता है जो प्रभावित वाहक नाडी की लम्बाई के अनुसार होता हे। जैसे चेहरे के घाव की अपेक्षा पैर के घावो मे यह सचयकाल अधिक लम्वा होता हे। यह २ से २० दिन का हो सकता है। जीवाणु का सक्रमण नवजातु शिशु मे नाभिनाल काटते समय असावधानी से अस्थिभग्न होने पर, अग्निदग्ध के समय पर, विस्फोटक पदार्थ से जलने पर भी हो सकता है।

लक्षण—

(१) सर्वप्रथम रोग का प्रारम्भ गर्दन और जवडे की स्तब्धता (Stiffness) के साथ होता है जो धीरे-धीरे दर्दयुक्त विषमय जकडाहट (Lockjaw) के रूप मे वदल जाता है। परिणामस्वरूप मुंह वन्द होजाता है। इस प्रकार सवसे पहले हनुप्रदेश की मासपेशियो मे सकोच और ऐठन होती हे। (२) फिर यह धीरे-धीरे सारे मुख की माँसपेशियो तक फैल जाती है जिससे चेहरा विकृत हो जाता है, भौहे तन जाती है, दात भिच जाते हे और मुखकोण वाहर की ओर खिच जाते है, इसे विकट हास्य (Risus sardonicus) कहते हे जो इस रोग की विशिष्ट आकृति प्रकट करता है। (३) इसके वाद शीघ्र ही सारे शरीर की विशेषकर पीठ की मासपेशियो मे कडापन आ जाता है जिससे शरीर धनुष के समान पीछे की ओर मुड जाता है। इसको ओपिस्थोटोनस कहते है। इस दशा मे रोगी लेटने पर शिर व नितम्ब के वल टिक जाता हे। कभी कभी पार्श्व मे भी मुडन हो सकती है। क्वचित् आभ्यन्तर मुडन भी पायी जा सकती है। (४) मासपेशियो मे सकोच के कारण असह्य वेदना और ऐठन (Spasm) या आक्षेप होने लगते हे। (५) यह सकोच व ऐठन किसी भी वाहरी उत्तेजना जैसे—प्रकाश, ध्वनि, स्पर्श या वायु के कारण होने लगती हे। (६) आक्षेपो के अन्तराल मे माँसपेशिया कभी शिथिल नही होती, जिस प्रकार कुचला विप (स्ट्रिकनिन) के प्रभाव से होने वाले आक्षेपो के अन्तराल मे पेशिया शिथिल हो जाती है। (७) पूर्ण प्रवृद्ध मामले मे जवडे की पेशियो का सकोच (Trismus), विकट हास्य और वहिरायाम एक साथ मिल सकते है। फिर भी रोगी होश मे रहता हे। (८) शरीर का ताप सामान्य रहता हे,परन्तु कभी-२ तीव्र या अतितीव्र १०६ डिग्री फा० तक पहुच सकता है तथा नाडी गति १५० प्रति मिनट। (९) क्षीणता अत्यन्त वढ जाती है। (१०) मृत्यु प्राय अति क्षीणता (Exhaustion), श्वासावरोध (जो श्वासनली की पेशियो के कडे



होने से होता है) अथवा हृत्याविरोध के कारण होती है। प्राय ६-८ दिनो मे मृत्यु हो जाती है।

साध्यासाध्यता—

जब सचयकाल दीर्घ हो तो उसका बाह्य परिणाम भी अच्छा होता है। परन्तु एक सप्ताह से कम सचयकाल होने पर परिणाम खराब होता है। इसी प्रकार हनुस्तम्भ होने से लेकर सर्व शरीर के प्रत्यावर्तित आक्षेपो के होने तक का समय भी महत्वपूर्ण है। यदि यह समय दो दिन से कम होता है तो परिणाम बुरा होता है। अति तीव्र ज्वर और हृत्स्पद (Tachycardia) भी असाध्य लक्षण है।

चिकित्सा—

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

वातशामक चिकित्सा का विशेष महत्व है। वृहत् वातचिन्तामणि रस १ रत्ती या वातकुलान्तक रस १ रत्ती या योगेन्द्र रस १ रत्ती या चिन्तामणि चतुर्मुख रस १ रत्ती इनमे से कोई एक + ब्राह्मी वटी २ रत्ती + प्रवाल पिष्टी २ रत्ती मिला शहद से दिन मे २ वार दे।

त्रैलोक्य चिन्तामणि रस १ रत्ती + मल्लसिन्दूर १/२ रत्ती मधु से दे। ऊपर से अदरक रस व निर्गुण्डी रस पिलावे। रोगी मुह खोलने मे असमर्थ होता है अत सावधानीपूर्वक औषधि देनी चाहिये। रोग प्रारम्भ होते ही चिकित्सा प्रारम्भ करने से उत्तम लाभ मिलता है। विलम्ब करने से घातक परिणाम मिलता है।

आधुनिक चिकित्सा—

१ प्रतिषेधक चिकित्सा—(अ) सभी प्रकार के घावो के उत्पन्न होने के तत्काल बाद ३००० यूनिट्स एन्टिटोक्सिन का अधस्त्वगीय मार्ग से प्रवेश कराना चाहिए। १२ घन्टे बाद पुन ३००० यूनिट्स की मात्रा सूचीवेध से दे। इनसे रोग क्षमता ८-१२ दिन तक रहती है। ८ दिन बाद पुन घाव होने पर पुन ३००० यूनिट्स की मात्रा लगावे।

(आ) १ सी सी टिटेनस टॉक्साइड के तीन सूचीवेध कम से कम ३ सप्ताह के अन्तर से लगावे। इससे सक्रिय रोगक्षमता उत्पन्न होती है जो २ वर्ष तक रहती है।

२ रोगनिवारक चिकित्सा—

जब लक्षण दिखाई देने लगे—तो रोगी को पूर्ण अधकारमय, शान्त (प्रकाश और कोलाहल से दूर) कमरे मे कोमल शैय्या पर सुलावे। पूर्ण विश्राम आवश्यक है।

२—उत्तेजना को शान्त करने के लिए शामक औषधि जैसे पेथिडिन का सूचीवेध करे। इसके साथ क्लोरप्रोमेजिन (लार्जेक्टिल) भी मासपेशी द्वारा दे। गम्भीर दशा मे निपुण सज्ञाहर-विज्ञो के निर्देशन मे मासपेशी-अवसादक या सज्ञाहर औषधो का प्रयोग करे।

३—नासामार्ग से पोषक पदार्थ पहुचाने चाहिए जिससे आवश्यक केलोरीज शरीर मे पहुच सके। गम्भीर दशा मे ट्रेकियोटोमी (Tracheotomy) करनी पडती है जिससे गलस्राव को निरन्तर निकाला जा सके।

४—जहा तक जल्दी हो स्थिति को सुधारने के लिए लक्षण उत्पन्न होते ही एन्टीटिटेनिव सीरम (ATS-Antitetanic serum) की समुचित मात्रा शरीर मे पहुचानी चाहिये। यह सदिग्ध है कि यह टॉक्सिन नाडी सस्थान तक पहुचकर विष को निष्क्रिय करता है, परन्तु कम से कम यह सक्रमण के माध्यम से नवीन विष की उत्पत्ति के क्रम को अवरुद्ध कर देता है। इसकी प्रारम्भिक मात्रा १ लाख यूनिट्स है जो शिरान्तर्गत दी जाती है। ३ दिन तक १ लाख यूनिट्स प्रतिदिन दे। आधी मात्रा मास से एव आधी शिरा से दी जा सकती है। शिरा द्वारा सूचीवेध देना हो तो इसे २०० सी सी नार्मल सेलाइन मे मिलाकर देना चाहिए। अथवा ५० हजार यूनिट्स मासान्तर्गत दिन मे दो वार, ३ दिन तक लगावे। अथवा रोग के आरम्भ मे ही २ लाख यूनिट्स शिरा द्वारा केवल एक वार दे, दूसरे सप्ताह ५ लाख यूनिट्स शिरा द्वारा दे सकते है। कुछ इसे सुषुम्ना मे कटिवेध द्वारा देना पसन्द करते है।

५—सक्रमण चिकित्सा—पेनिसिलिन (बेन्जाइल) ५ लाख यूनिट्स प्रतिदिन २ वार दे। A T S का सिरामार्ग से देने पर एक घन्टे तक व्रण को न छेडे। पूय निर्हरण करे, छोटे व्रण को खोलकर हाइड्रोपैराक्साइड से धो डाले।

—✶✶✶—

बाल पक्षाघात

डा० देवेन्द्र नाथ मिश्र बी ए एम एम एस (लख वि), एम डी (आयु बालरोग) (का हि वि वि)
विभागाध्यक्ष—प्रसूति तन्त्र, स्त्री रोग एव कौमार भृत्य, बुन्देलखण्ड राज. आयु कालेज, झासी

★—✱—★



शैशवीय पक्षाघात एक व्याधि नही है, वरन् एक लक्षण है जो विभिन्न रोगो मे हो सकता है। आयुर्वेद के आचार्यो ने पक्षाघात के जो भी कारण वात व्याधि प्रकरण मे गिनाये है। वे सभी प्राय तथा शैशवकाल मे बताये गये विशिष्ट कारण या व्याधि (यथा-स्कन्द ग्रह[1], रेवती ग्रह जन्य रोग (काश्यप),[2] फक्क रोग आदि) इस वर्ग में आ सकते है।

पोलियोमायलाटिस व्याधि के लक्षणों का सकलन पहले हुआ। जिसे शैशवीय पक्षाघात (Infantile paralysis) कहा गया। और पोलियो वाइरस की खोज एव निदानभूत होने के कारण इसे पोलियोमाइलाइटिस कहा गया है।

मिस्र देश के प्राचीन इतिहास मे पिरामिडस मे हुए पत्थर की खुदाइयो मे लगडाना पर बच्चे का दिखाई पड़ता है। प्रतीत होता है कि इस अवस्था को व्याधि न जानकर ईश्वर का क्रोध माना जाता था।

१८४० ई० मे जर्मन वैज्ञानिक हेन (Heine) ने सर्व प्रथम एक लक्षण समूह का वर्णन दिया। 'क्रमश बच्चो मे पहले पक्षाघात (Flaccid Paralysis) होता है फिर क्रमश वे लगडाते है, उनमे विकृति आजाती है।" स्टाक होम मे १८९० मे मेडिन (Medin) ने इसी प्रकार की अवस्था सक्रामक रोग के रूप मे देखी। उसके बाद इस तथ्य को महसूस किया गया कि सुषुम्ना नाडी की धातु (Gray Matter) मे विशिष्ट विकृति होती है। २० वी सदी मे लैंडस्टेनर (Landstainer) ने पोलियोमाइलाइटिस की सक्रामकता के गुण को प्रयोग द्वारा सिद्ध किया।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि यह एक तीव्र वाइरस सक्रमण है जो अपना लक्षण सक्रमणोपरान्त "नही से", शीघ्र पक्षाघात एव मृत्यु स्वरूप प्रकट करता है। और प्राय अपना शिकार बच्चो को ही बनाता है।

कारण—

यह व्याधि एक प्रकार के वायरस (Entero Viruses) के कारण होती है। जो अपना प्रभाव एव सख्यावृद्धि प्रमुख रूप से अन्नवह स्रोतस मे करते है। इस वाइरस के भेद एव प्रभाव तथा प्रसार का वर्णन निम्नवत है—

१—तर्तकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहु । हर्तकपक्ष स्तब्धाङ्ग सस्वेदो नतकन्धर ॥ (अ स उ ३/१०)

२—एकागक पक्षवध क्षीरालस विसूचिका । ··· ··· ··· · · · · ··· ··· · · ·· ··· ।
अतश्च रेवतीमेके ग्रहमेके वदन्त्यपि ॥ (का स /बालग्रह चि स्थान/पृ ९९)

३—निश्चेष्टाधर्रकायो वा पाणिजानुमोऽपिवा । ··· ··· ··· ··· · · ·· ······ ।
इत्यैतै कारणैर्विद्याद्व्याधिजा फक्कतां शिशो· (का स /चि स्थान/फ/पृ १३९ से १४१)।

भेद	पर्याय	प्रभाव	प्रसार
वर्ग १	Brunhild	+++	तीव्र संक्रामक (Sever epidemic)
वर्ग २	Lansing	++	मृदु सक्रामक
वर्ग ३	Leon	+	अव्यापक (Sporadic)

इसके अतिरिक्त भी २ वर्ग और हैं जिनका भी प्रभाव होता है। अव ऐसा माना जाता है।

सम्प्राप्ति- मुख के द्वारा इनका सक्रमण होता है आहार नाल मे गुणन होता है। सम्वन्धित लसिका ग्रंथि एव जालिका अन्तश्वदीय सहति (Reticuloendothelial System) भी सक्रमित होता है। इसके वाद क्षणिक विषाणु रक्तता होती है। यदि इस समय वायरस का निरोध करने वाले प्रतिद्रव्य नही वन पाते है तो तंत्रिका तन्त्र पर प्रभाव पडता है। लक्षण इस तथ्य पर निर्भर करता है कि किस स्थान के कितने स्नायुकोशा (Neurons) प्रभावित है।

जानपदिक रोग विज्ञान—यह व्याधि सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त है। जहा पर इस व्याधि से वचाव हेतु मसूरण (Vaccination) नही हुआ है अथवा कम है, वहा पर इसका प्रभाव अधिक है। भारतवर्ष मे वर्ग १ और वर्ग ३ दोनो का प्रभाव अधिक दीखता है। गर्मी का मौसम एव अगस्त माह मे व्याधियो की वहुतायत रहती है। यह देखा गया है कि ३ वर्ष से कम की वय्र मे ही इस व्याधि की वहुतायत रहती है। अधिकतम सख्या मे २ वर्ष के वच्चे प्रभावित होते है। ३ वर्ष के उपरान्त अप्रत्यक्ष सक्रमण के परिणामस्वरूप वह सक्रिय प्रतिद्रव्य अर्जित कर लेता है।

लक्षण— लक्षण के दृष्टिकोण से व्याधि को ४ वर्ग मे विभाजित करते हैं। एक वर्ग का दूसरे वर्ग मे प्रत्यावर्तन हो सकता है यदि परिस्थितिया वायरस के अनुकूल हो। इन वर्गों को चित्र स. १ मे दिखाया गया है।

[१] अप्रत्यक्ष सक्रमण (Asymptomatic या Silent Polio)—यह सर्वाधिक सामान्य अवस्था है। प्रत्येक पक्षाघात व्याधित के साथ ८० से १०० तक अन्य वच्चे भी Polio Viruses से सक्रमित होते है और रोग के प्रति सहिष्णुता रखने से कोई भी लक्षण प्रकट नही करते।



पोलियो का लाक्षणिक वर्गीकरण एव अनुपातिक स्वरूप

इनका विनिश्चय केवल सक्रमण काल मे प्रतिद्रव्य शक्ति प्रमाण (Immunologically adequate titer of Antibodies) परीक्षण के दौरान होता है। या मल परीक्षण मे वाइरस की प्राप्ति से व्याधि विनिश्चय होता है।

[२] निष्फल सक्रमण (Abortive Polio)—इस अवस्था मे वाइरस रक्त मे पहुचं कर मृदु विपाणु रक्तता पैदा करते है। इन रोगियो को मात्र नैदानकीय परीक्षण से पोलियो व्याधित नही कह सकते है। केवल सकामक अवस्था (epidemics) मे सदेह कर सकते हैं। इस अवस्था मे रोगी मृदु या मध्य ज्वर पीडित हो सकता है सर्वाङ्गशूल, शिर शूल, उदरशून एव प्रतिश्याय हो सकता है। तन्त्रिका तन्त्र के लक्षण नही होते, कभी-२ अतिसार ग्रसनीकोप (Pharyngitis) भी होता है। वमन एवं हृल्लास तथा अरुचि भी हो सकता है। इन लक्षणो के आधार पर पोलियो नही कहा जा सकता। परन्तु रोगी के प्रति कर्तव्य को ध्यान मे रखते हुये चिकित्सक का यह प्रयास होना चाहिए कि यह अवस्था आगे न वढे अत रोगी को राय देनी चाहिए कि ७-१० दिन तक वह शय्या विश्राम करे। परिश्रम, किसी से लडना-चोट, सूचीवेध, कार्टीजोन औषधि, जल अल्पता आदि न हो सके। व्याधि विनिश्चय हेतु उपरोक्त परीक्षण ही करते हैं।

[३] अपघनज संक्रमण (Pre Paralytic या Non-Paralytic Polio)—इस अवस्था मे Polio Viruses किसी कोशिका को विना हानि पहुचाये पहुच जाते है। मृदु विषाणु रक्तता के वाद, ज्वर आदि लक्षणो के वाद कुछ मस्तिष्क उत्तेजना के लक्षण (ग्रीवापेशी शूल, शिर शूल, ग्रीवाशूल, कटिशूल, वमन आदि) मिलते है। इस वर्ग मे पक्षाघात नही होता। कटिवेधन (Lumber puncture) से इसका निदान हो सकता है। परन्तु इससे बचना ही श्रेयष्कर है। ग्रीवा स्तम्भ एवं मन्या स्तम्भ को जानु चुम्वन परीक्षण[1] एवं त्रिपाद लक्षण परीक्षण[2] विधियो से परीक्षित कर सकते है।

[४] पक्षाघात युक्त पोलियो – उपरोक्त अवस्था अनुकूल अवस्था मे इस वर्ग मे आ जाती है। इसके भी ४ उपवर्ग है। जो क्षत स्नायुकोशा के स्थान पर आधारित हैं। यह पक्षाघात निम्न प्रेरक तन्त्रिक (Lower Motar Neuron type) वर्ग का है, पक्षाघात के साथ-२ गहरे क्षेप (Deep Jerk) की अनुपस्थिति रहती है। सवेदना तत्र अप्रभावी रहता है। एक पेशी या पेशीवर्ग सम्पूर्ण अथवा कभी-२ सम्पूर्ण शाखा एक ओर की या दोनों ओर की प्रभावी होती है।

(क) सुषुम्नावर्ग—इस भेद मे शाखायें, ग्रीवा, उदर, या मध्यच्छद (डायफ्राम), पर्शुका मध्य पेशी प्रभावी होती है। मुख्य लक्षण निम्नाङ्कित है—

[अ] ज्वर एव अन्य उपरोक्त लक्षण।

[ब] प्राय सभी रोगियो मे मासपेशी शूल एव स्पर्शासह्यता होती है।

[स] पक्षाघात—कुछ स्थान विशेष पर, एव निम्न प्रेरक तन्त्रिका वर्ग का होता है। पैर हाथो की अपेक्षा अधिक प्रभावी होते है। बडी पेशी भी अधिक प्रभावी होती है। दूसरे या तीसरे दिन पक्षाघात हो जाता है। सवेदना का नाश नही होता।

[द] मूत्राशय एव ग्रहणी भी प्रभावित होती है। जहा मूत्राशय पर प्रभाव मात्र १ से ३ दिन ही रहता है वहा ग्रहणी पर प्रभाव मलबध आदि के रूप मे अधिक दिन तक रहता है।

(ख) कन्दीय वर्ग—यह कम रोगियो मे होता है। केन्द्रीय कपाल तन्त्रिकाओ (क्रेनियल नर्वस) के क्षेत्र मे प्रभाव डालती है। (निगलने मे कष्ट, नाक से वोलना, कण्ठ श्वास [Dyspnöea] एव अर्दित) मस्तिष्क मे श्वसन केन्द्र एव रक्त सवहन केन्द्र पर भी प्रभाव डालते है। कभी-कभी मृदु रक्तचाप वृद्धि भी मिलती है।

(ग) मिश्र वर्ग—इसमे उपरोक्त दोनो वर्गो के मिश्रित लक्षण होते है। तथा चतुर्थवर्ग के २५% रोगी इसी वर्ग मे आते है।

(छ) मस्तिष्क शोथ वर्ग—यह प्राय कम प्रतिशत मे मिलता है। प्राय इस वर्ग का आक्रमण मृदु लक्षणो के वाद एकदम से होता है। भ्राति, कम्पन, विभ्रम, गति विभ्रम (Ataxia), अक्षि चालन (Nystagmus), आक्षेप, तीव्र ज्वर, शाखा स्तम्भ के वाद पक्षाघात होना इसका लक्षण है। इसका अन्य वाइरल मस्तिष्क शोथ के साथ विभेद करना कठिन है।

उपद्रव—

अन्नवह स्रोतस—रक्तस्राव, छिद्रण, विस्तार।

रक्त सवहन एव हृदय—उच्चरक्तचाप, तीव्र श्वसन गति, हृदयावरोध, हृदयावरण शोथ।

श्वसनतन्त्र—श्वास लेने मे कठिनता, उत्फुल्लिका (न्यूमोनिया), अवसाद शोथ (Pulmonary Oedema)।

मूत्रवह सस्थान—अल्पकालीन मूत्राशय पक्षाघात, अश्मरी, सक्रमण।

प्रयोगशाला परीक्षण—

१ मल मे पोलियो वाइरस की उपस्थिति।
२ गले के स्राव मे पोलियो वाइरस की उपस्थिति।
३ प्रतिद्रव्य शक्ति प्रमाण मे अति वृद्धि।
४ कटिवेधन से प्राप्त सुषुम्ना द्रव का परीक्षण

१—जानुचुम्वन परीक्षण—वच्चे को सीधे पैर फैलाकर नितम्व पर वैठाये। फिर जानु को चूमने के लिए कहे। यदि चूमते समय घुटने मुड जाते है तो परीक्षण धनात्मक है।

२—त्रिपाद लक्षण परीक्षण—वच्चे को खडी अवस्था से वैठने को कहे। परीक्षण धनात्मक होगा, यदि वालक वैठने पर हाथ का सहारा लेता है।

परिणाम—द्रव निकालते समय दाव हल्का रहता है। दर्शन परीक्षा मे द्रव स्वच्छ होता है। प्रोभूजिन की मात्रा बढी होती हे। (सामान्य मात्रा १५ से ४५ मि ग्रा/१०० सी. सी, पोलियो मस्तिष्क शोथ मे ३० से २०० मि ग्रा/१०० सी सी)। कोशिका गणना मे सामान्य कोशिकाओ की संख्या बढी मिलती है। (श्वेत रक्तकण) सामान्य ० से १० कोशिका/मि मी –इस अवस्था मे १० से २०० कोशिका तक)।

रजन एव सम्वर्द्धन परीक्षण मे कुछ नही मिलता।

व्याधि विनिश्चय—यदि जानिपदिक रूप मे यह व्याधि न फैली हो तो निम्न अवस्थाओ से विभेद करे–

१—मस्तिष्क शोथ।

२—वाइरस मस्तिष्क शोथ।

३—प्रमस्तिष्क मलेरिया।

चिकित्सा—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि इस व्याधि की कोई विशिष्ट चिकित्सा नही हे। कुछ लक्षणिक चिकित्सा की जा सकती है।

१ पक्षाघत युक्त पोलियो के रोगी को उपद्रव से बचाने के लिए चिकित्सालय मे प्रवेश देना चाहिए।

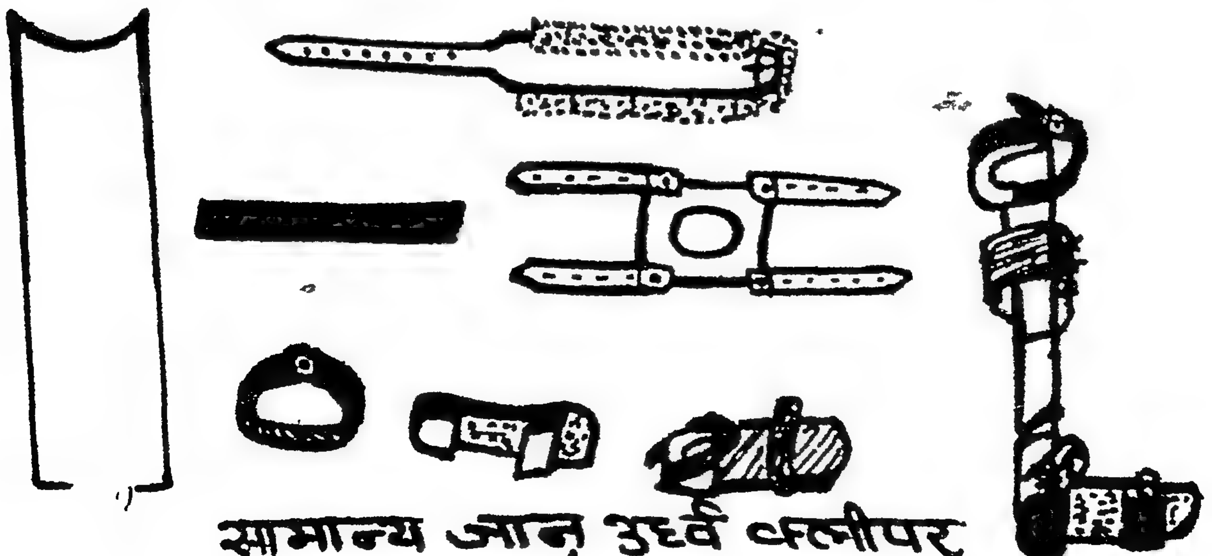
२ शय्या पर ही रोगी को पूर्ण आराम देना चाहिए। रोग ग्रसित भाग को कम से कम स्पर्श किया जाये।

३ वेदना नाशक एव निद्राकारक औषधियो का प्रयोग एव रक्षात्मक दृष्टिकोण से द्वितीयक संक्रमण से बचाव हेतु एण्टीबायोटिक्स का मुख मार्ग से प्रयोग करें।

४ जब तक बालक पेशीशूल, ज्वर आदि से स्वतन्त्र न हो जाय, अर्थात पोलियो की तीव्रावस्था समाप्त न हो जाय, (लगभग २५ से ३० दिन) तदोपरान्त उष्ण शुष्क ताप स्वेद, विद्युत स्वेद (इन्फ्रारेड लैम्प) एव ग्रसित भाग की कसरत करनी चाहिए।

५. कभी-२ कुछ बच्चो मे पक्षाघात विकृति के लिए सहारा (स्प्लिण्ट) पेटी या विशिष्ट प्रकार के जूते का प्रयोग या शल्यकर्म का सहारा लेना पड़ता है।

आयुर्वेद के दृष्टिकोण से वात व्याधि होने के कारण निम्नाङ्कित चिकित्सा अत्यधिक उपयोगी पायी गयी है। काशी हिन्दूविश्व विद्यालय के कौमारभृत्य बहिरङ्ग मे इसका उपयोग काफी समय मे किया जा रहा है। विगत वर्षो मे डा० चन्दन चतुर्वेदी, रीडर कौमारभृत्य के नेतृत्व मे डा० के पी महापात्रा ने इस पर शोधकार्य करके भी प्रमाणित किया है। इस द्रव्य के घटको मे से स्वर्ण को हटाकर इससे सस्ती चिकित्सा भी की जा सकती हे। स्वर्ण को हटाने से कोई हानि भी नही होती।



सामान्य जानु ऊर्ध्व क्लीपर एवं क्लाग [Caliper & clog]

—शेषांश पृष्ठ १३१ पर देखे।

कालज्वर या कालाज़ार

डा० जहानसिंह चौहान आयु० वृहस्पति, ठठिया (फर्रुखाबाद) उ० प्र०



पर्याय—कालज्वर, हड्डीतोडज्वर, लाघ्रक ज्वर, काला आजार (Kala-Azar), विषरल लेशमेनिएसिस (Visceral Lieshmaniasis), डम-डम ज्वर (Dum Dum Fever), आसाम ज्वर, वर्धमान ज्वर, कृष्ण रोग (ब्लेक सिकनेस) आदि।

परिचय—यह जीर्ण सतत प्रकार का घातक त्रिदोषज ज्वर है। सामान्य सतत ज्वर की अपेक्षा यह अधिक प्रवल, अति दुखदायी, दीर्घ स्थापित एव सक्रामक स्वरुप का होता है। इसमे अनियमित तीव्र अथवा मन्द स्वरुप का ज्वर, यकृत तथा प्लीहा की अति वृद्धि, रक्त क्षय, रक्तस्रावी प्रवृत्ति तथा शरीर कृशता क्षीणता-शरीर का कालापन आदि लक्षण मिलते है। यह भारत मे प्रधान रूप से मिलता है-आसाम, बगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग, मद्रास का कुछ भूभाग आदि आर्द्र एव उष्ण जलवायु वाले जनपदो मे अधिकता से होता है। इसके अतिरिक्त सूडान, इथोपिया, चीन, दक्षिणी अमेरिका मे भी देखने को मिलता है। हमारे देश मे यह प्रधान रूप से वयस्को को होता है। कभी-२ यह २-५ वर्ष के बच्चो को भी हो जाता है।

कारण—

इस रोग का प्रधान कारण लीशमेनिया डोनोवानी नामक कीटाणु है जो प्रोटोजोआ वर्ग का है। विशेष रूप से खटमल द्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश करता है। लीशमेनिया डोनोवानी-यह जीव दो स्थानो मे निवास करता है-प्रथम मनुष्य या तत्सम प्राणी जिनमे यह अण्डाकर या चावल के दाने की आकृति का होता है। इस कीटाणु का दूसरा महत्वपूर्ण घर मरुमक्षिका (Phlabotomus) होता है। कीटाणु सिगार को आकृति का होता है। मरुमक्षिकाये रात्रि मे मध्य रात्रि तक सर्वाधिक सक्रिय रहती है।



कालाजार कीटाणुवाहक मक्षिका

सम्प्राप्ति—

मादा मरुमक्षिका द्वारा रुग्ण व्यक्ति को काटने पर मक्षिका मे उक्त कीटाणु प्रविष्ट हो जाते हैं जो उसके अन्नवहस्रोत के अग्रिम भाग मे विकास पाते हैं। ७ दिन मे यह कीटाणु उसके मुख मे पहुच जाते है तथा दश होने पर उस जगह से स्वस्थ व्यक्ति मे उपसर्ग करते है। वहा पर यह यकृत, प्लीहा के रैटीकुलो एण्डोथीलियल सैल मे निवास करते है। उपसर्ग के तीसरे दिन ही प्लीहा मे इसकी उपस्थिति मिलने लगती है। इसके अतिरिक्त अस्थि मज्जा मे चौथे दिन तथा यकृत मे ५ वे दिन दिखाई देने लगते है।

सचयकाल—रोग का सचयकाल १॥ से ३ माह से लेकर १ वर्ष तक का होता है। कभी-२ कई वर्ष बाद भी व्याधि के दर्शन होते देखे गये हैं।

विशिष्ट लक्षण—

इसका आक्रमण प्राय धीरे-धीरे होता है। लगभग चौथाई रोगियो मे शीत के साथ एकाएक आक्रमण होता है। २ घटे मे रोगी का तापक्रम १०४डि फा (४० सेंटीग्रेट)

तक हो जाता है। रोगी को ज्वर दिन में एक बार या २ बार कभी-कभी ३ बार भी चढता है। इस प्रकार का क्रम किसी अन्य ज्वर में नही होता है। यह अनियमित तथा अर्ध विसर्गी होता है। साथ ही ३ से ६ सप्ताह के बाद ज्वर कुछ दिनो के लिए उतर जाता है तत्पश्चात पुन प्रारम्भ होता है। इस प्रकार से ज्वर युक्त अथवा ज्वर रहित अवस्थाये कई महीनो तक क्रमश चलती रहती है, अन्त मे ज्वर स्थिर होजाता है। इस ज्वर की सबसे अधिक विशेषता यह है कि रोगी १०३-१०४ डि० फा० तापक्रम पर पीडित होने पर भी अधिक रोगाक्रान्त अथवा अस्वस्थ नही दीखता है प्राय अपना साधारण कार्य करता रहता है। ज्वर स्थिर होने के बाद रोगी का स्वास्थ्य कुछ समय के लिए सुधर जाता है। रात्रि मे प्रस्वेद होकर रोगी अपने को ज्वररहित अनुभव करता है। यकृत-प्लीहावृद्धि-इसमे यकृत की वृद्धि प्राय कम होती है जो ६ मास के अन्तर्गत ३-४ अगुल तक रहती है। प्लीहा की वृद्धि बराबर होती रहती है, वह ६ मास मे नाभि तक बढ जाती है। ज्वर अस्थिर होने के बाद भी उत्तरोत्तर प्लीहावृद्धि होते जाना कालाजार का विशिष्ट लक्षण माना गया है।

कृष्णता—बहुत से रोगियो मे मस्तक, मुख, हथेलियो व तलवो पर कृष्ण वर्ण (काले रङ्ग) के धब्बे पाये जाते है। इसीलिये इसे काला ज्वर नाम दिया गया है।

कृशता—२-३ माह पश्चात रोगी अधिक कृश होने लगता है। लम्बी अस्थियो मे पीडा होती है। उदर की कण्डराये फूल कर टेढी हो जाती है। प्राय रोगी का उदर बढ जाता है जो आगे चलकर जलोदर मे बदल जाता है। क्योकि इस ज्वर मे रोगी कीलम्बी अस्थियो मे भयङ्कर पीडा होती है,इसीलिए इसे हड्डी तोड ज्वर भी कहते है। इस रोग मे लसिका ग्रन्थियो की भी वृद्धि हो जाती है।

रक्त—प्रारम्भ मे अविकृत रहता है, किंतु रोग के बढने के कारण रक्तकण एव हीमोग्लोबिन की मात्रा बहुत कम हो जाती है। श्वेतकणो की मात्रा घट जाती है। लिम्फोसाइट डी एल सी मे ७०-८०%होते है। प्रारम्भ मे इओसिनोफिल्स होते है, तत्पश्चात बिलकुल नही होते है। पांडु के कारण ई एम आर बढ जाता है।

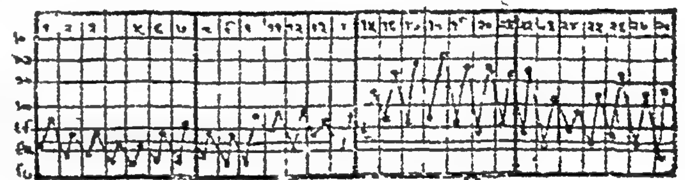
रक्तस्राव-प्रवृत्ति—इस रोग मे नासा, दन्तमूल तथा मल के साथ रक्तस्राव की प्रवृत्ति अधिक रहती है। किसी-२ को नाक तथा मसूड़ो मे अधिक रक्त निकलता है।

उपर्युक्त लक्षणो के साथ-साथ रोगी की भूख तथा जिह्वा ठीक रहती है। रोगी भयकर बीमार होते हुए भी इतने दिनो तक व्यवसाय करता रहता है। यदि योग्य चिकित्सा न की गई तो रोगी को जलोदर, सर्वाङ्ग शोथ, श्लैष्मिक कलाओ से रक्तस्राव, अतिसार, अन्त मे अतिशय क्लान्ति आकर मृत्यु हो जाती है।

रोग की स्थिति—इस रोग की स्थिति १-२ वर्ष तक की मानी गई है।

निदानात्मक लक्षण—

इस रोग मे प्रात काल ज्वर की शान्ति,अपराह्न मे वृद्धि, सन्ध्या समय पुन शान्ति, रात्रि के द्वितीय पहर मे पुन वृद्धि, प्रात काल शान्ति-इस प्रकार २४ घण्टे मे दिन के अपराह्न एव रात्रि के द्वितीय पहर मे ज्वर की उच्च-गति तम होकर अहो-रात्रि मे २ बार चढने उतरने का क्रम (Double rise of temperature) प्राय मिलता है जैसा कि नीचे रेखा चित्र मे दर्शाया गया है—



चित्र न० १ काल-ज्वर (Kala azar) का सामान्य प्रकार

शरद ऋतु के अन्त अथवा बसन्त के प्रारम्भ काल की घातक अवस्था जिसमे ज्वर, प्लीहा की वृद्धि, रक्त मे श्वेताकणो की कमी आदि मिले तो कालाजार की ओर इंगित होती है। इसके अतिरिक्त रोग के निदान हेतु 'रक्त परीक्षा', 'लसीका परीक्षा', 'चोपरा परीक्षा' एल्डीहाइड परीक्षा द्वारा रोग का निर्णय हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्लीहावेध, अस्थिमज्जावेध आदि के द्वारा भी प्राप्त रक्त की परीक्षा से रोग का निर्णय हो जाता है। और साधारण निदान की दृष्टि से सकल सापेक्ष्य श्वेता-कण परिगणना और लसीका परीक्षा ही विशेष रूप से व्यवहार मे लायी जाती है। फारमेलीन व रोगी का सीरम प्रति एक बूद मिलाने पर रोगावस्था मे लगभग २० मिनट मे सीरम रोग एव अपारदर्शी ८०-९० प्रतिशत रोग की पुष्टि करती है।

सापेक्ष निदान—इस रोग का सापेक्ष निदान जीर्ण विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, राजयक्ष्मा, कोलाई दण्डाणु उपसर्ग आदि से करना चाहिये। विशेष रूप से विषम ज्वर आन्त्रिक ज्वर पार्थक्य अनिवार्य है—

कालाजार	विषम ज्वर	आन्त्रिक-ज्वर
[१] जिह्वा प्राय साफ रहती है।	जिह्वा मलिन रहती है।	जिह्वा प्राय मलिन रहती है।
[२] मुख प्राय स्वच्छ रहता है।	मुख बराबर मलिन रहता है।	मुख बार बार मलिन रहता है।
[३] नासा से रक्तस्राव	नही	नही
[४] मलावरोध नही रहता है।	प्राय मलावरोध रहता है।	प्रारम्भ मे मलावरोध रहता है।
[५] तीसरे सप्ताह मे नेत्र पीतता मिलती है।	प्रथम सप्ताह मे ऐसा होता है।	ऐसा कोई लक्षण नही।
[६] ज्वर दिन मे दो वार आता है।	ज्वर दिन मे १ बार आता है।	ज्वर क्रमश बढता है।
[७] नाडी की गति तापमान के अनुपात मे बढती है।	अनुपात मे नही बढती है।	नाडी तापमान के अनुपात मे बढती है।

इसके अतिरिक्त प्रारम्भ काल मे कालाजार, इन्फ्लूएन्जा, आन्त्रिक ज्वर तथा माल्टा ज्वर के सदृश लगता हे पर तीसरे चौथे सप्ताह तक प्लीहोदर, D L C. एव वक्षोस्थिवेध इसे स्पष्ट कर देते है।

उपद्रव—इस रोग मे रोगी को अत्यधिक कृशता होने के कारण इन्फ्लूएन्जा, सन्निपात, राजयक्ष्मा, अतिसार, प्रवाहिका, नासा-दन्तमासादि से रक्तस्राव, जलोदर, सर्वाङ्ग शोथ, रक्तचाप न्यूनता, श्वसन सस्थान के तमाम रोग एव त्वचा के विकार आदि उपद्रव पैदा हो सकते है।

साध्यासाध्यता—रोग की आशुकारी अवस्था में ८० प्रतिशत मृत्यु हो जाती हे। दीर्घकालिक रोग की अवस्था मे मृत्यु कम होती हे।

चिकित्सकोपयोगी सूचना—

(१) स्थान को स्वच्छ रखा जावे। (२) नारियल का तेल छिडके। (३) जल को उवाल कर शीतल करके पीवे। (४) प्रारम्भ मे पथ्यापथ्य विषम ज्वर के समान चलावे। (५) गुड-शक्कर का सेवन कम से कम करे। (६) रोग की तीव्रावस्था मे दोषपाचनार्थ औषधि दे। (७) उदर की शुद्धि आवश्यक है। (८) इस रोग मे सतात ज्वर नाशक चिकित्सा करनी चाहिए। (९) यदि रक्तस्राव तथा अतिसार हो तो उसकी चिकित्सा साथ मे आवश्यक है। (१०) जीर्णावस्था मे लोहयुक्त प्लीहान्तक वटी का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

नोट—क्विनाइन औषधियाँ इस ज्वर पर बिलकुल असफल है।

चिकित्सा—

इस रोग की नीलाजन (एण्टीमनी) एक विशिष्ट औषधि है। यह औषधि इस रोग मे 'सुश्रुत' के समय से प्रयुक्त होती चली आ रही है। आधुनिक चिकित्सा मे प्रयोग आने वाली 'यूरिया स्टिबिमाइन', 'नियोस्टीओसान' 'स्टिबिटीन' आदि सुप्रसिद्ध सूचीवेध नीलाजन के ही योग है।

इस रोग मे आरोग्य वर्धिनी, शृङ्ग, यष्टी, शतावरी, त्रिभुवनकीर्ति रस, शुद्ध मयूर भस्म, नवायसलौह, पुनर्नवामण्डूर–इनमे से किसी का चयन करके प्रयोग किया जा सकता है। रोगी को पीने के लिये पिप्पली घृत, गोदुग्ध देने से विशेष लाभ की आशा की जाती है।

कालाजार मे निम्न चिकित्साक्रम विशेष लाभकारी पाया गया है—

[१] शुद्ध नीलाजन ६० मि ग्रा, मुक्ता भस्म १२० मि ग्रा, प्रवाल भस्म १२० मि ग्रा, शुद्ध स्वर्ण गैरिक १२० मि ग्रा, शुद्ध शंख भस्म १२० मि ग्रा.—१×४ कालमेघ अथवा यवतिक्त की पत्ती के रस तथा मधु के साथ।

[२] ताम्र भस्म ६० मि ग्रा, यकृतप्लीहोदरादि लौह ६० मि ग्रा, १+२ मधु से। दोपहर, रात्रि के समय दे।

२ (i) वसन्तमालती ६० मि ग्रा , शुद्ध नीलाजन ६० मि ग्रा , पुटपक्व विषम ज्वरातकलोह १२० मि ग्रा , १×४ पिप्पली चूर्ण तथा मधु के साथ ।

(ii) वर्धमान पिप्पली आधा ग्राम से प्रारम्भ कर ३ ग्राम तक दे । वर्धमान पिप्पली आधा ग्राम, दूध २०० मि ली , जल ८०० मि ली ,पकाने पर शेष २०० मि ली , इस मात्रा से प्रारम्भ कर क्रमश प्रतिदिन पिप्पली १२० मि ग्राम बढाते हुए ३ ग्राम तक ले । तत्पश्चात क्रमश १२० मि ग्रा घटाते हुये आधा ग्राम तक लावे ।

ज्वर की अधिकता होने पर प्रारम्भ मे 'श्री जय मगल रस' तथा जीर्णावस्था मे 'ज्वराशनि रस' विशेष लाभकारी होते है । जीर्णावस्था मे नीलाजन-मुक्तादि योग अधिक लाभ पहुचाते है ।

यकृत प्लीहावृद्धि पर सहिजन की छाल को गोमूत्र मे पीसकर बार-बार लेप करे । इस कार्य के लिये देवदार्वादि लेप विशेष लाभकारी पाया गया है ।

कुछ चिकित्सा शास्त्रियो के अनुसार तीव्रावस्था मे दोषपाचनार्थ रत्नगिरीरस देना चाहिए । यदि रोगी को मलावरोध हो तो 'ज्वर केसरी' अथवा आरग्वधादि क्वाथ देकर उदर की शुद्धि करनी चाहिए । अधिक ज्वर की स्थिति मे विष शमनार्थ प्रवालपिष्टी २४० मि ग्रा की मात्रा मे दिन मे ४-५ बार सुदर्शन अर्क के साथ देनी चाहिए । जीर्णावस्था मे ज्वर के शमन होने पर लौहयुक्त प्लीहान्तक वटी का सेवन कराना चाहिए अथवा निम्न योग दिया जा सकता है—

लौह भस्म १२० मि ग्रा , अभ्रक भस्म ६० मि ग्रा नाग भस्म ३० मि ग्रा । १×२ त्रिफलारिष्ट के साथ एक मास तक ।

उत्तम कीटाणु नाशक योग—शुद्ध सुरमा २४०मि ग्रा , अपामार्ग क्षार २४० मि ग्रा । १×२ घी या शहद के साथ । ऊपर से सरफोका क्वाथ पिलावे १-२ माह तक ।

नोट—इस योग को नियमित रूप से १ से २ माह तक पिलाते रहने से रोगी मे कालाजार के कीटाणु नष्ट हो जाते है । यकृत-प्लीहा स्वस्थ होकर रोगी का देहबल शनै शनै बढने लगता है ।

आवश्यक निर्देश—रोगी को सुपाच्य पौष्टिक आहार दें । पूर्ण विश्राम आवश्यक है ।

कालाजार मे कालज्वरघ्न का उपयोग—

शख द्राव १० बूद+कागजी नीबू का रस १० मि ली मे मिलाकर प्रात खाली पेट देने से ज्वर मुक्ति शीघ्र होकर प्लीहावृद्धि पर विशेष लाभ दिखाता है ।

आधुनिक चिकित्सा—

(१) इन्जेक्शन सोडियम एण्टीमनी ग्लूकोनेट (१०० मि ग्रा /मि ली) १० मि ग्रा /किलोग्राम (अधिक से अधिक मात्रा ६०० मि ग्रा) मासपेशी सूचीवेध अथवा इण्ट्रावेनस नित्य १० दिन तक ।

अथवा इन्जेक्शन यूरियास्टीबामाइन ३ मि ग्रा /कि ग्रा इण्ट्रावेनस नित्य—१० दिन के अन्तर से पुन यही क्रम ।

जब सभी औषधिया असफल हो गई हो—इन्जेक्शन एम्फोटेरीशिन २५० mcg से १ मि ग्रा /किलो प्रति दिन दे । इसे ५% डेक्स्ट्रोज (२ ग्राम की मात्रा मे) मे घोलकर देना चाहिए ।

बीमारी के रसिस्टेण्ट होने पर—ऐसी स्थिति मे स्प्लीनेक्टोमी आवश्यक है ।

कालाजार मे प्रयुक्त होने वाले कुछ अन्य सूचीवेध हैं जो अत्यधिक लाभ पहुचाते है—

१ नियोस्टीबोसान (बेयर क)– ५,१,२,३ ग्राम के एम्पुल मासपेशी सूचीवेध के रूप मे ।

२ एन्थियोमेलीन (एम बी)–२ मि ली इन्ट्रामस्कूलर इजेक्शन के रूप मे ।

३ पेडुनकुलीन (ग्लूकोनेट क)–१ मि ली मासपेशी मे । इसे जिगर-तिल्ली के बढने पर देते है ।

४ पेण्टोस्टम (बरोज-वैलकम)–नित्य ६ मि ली का इजेक्शन नस या मास मे ।

५ एल्डीलीन–१२मि ली की वायल को चर्म के नीचे।

६ मायोस्टेबिन (ईस्ट इडिया फार्मा)–इसे १ से ५ मि ली तक क्रमश बढाते हुए मासपेशी मे लगाते है। इसे ४० मि ली तक दिया जा सकता है ।

व्यवहारिक निर्देश—'यूरिया स्टीबामीन' सर्वाधिक प्रभावशाली औषधि है । सावधानी तथा निर्दिष्ट क्रम के अनुसार प्रयुक्त होने पर शत प्रतिशत लाभ मिलता है ।

लाक्षणिक चिकित्सा—

प्लीहा—रोग की जीर्णावस्था मे निम्न योग देने से रक्त-बल वृद्धि होकर बढी हुई प्लीहा का शमन होजाता है—

—शेषाश पृष्ठ १३१ पर देखे ।

विषम ज्वर
एक अध्ययन

श्री पी० एस० अंशुमान एच० पी० ए०

गुजरात के राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय भावनगर मे तीन विभूतिया काय-चिकित्सा विभाग मे कार्यरत है। आपकी सेवायें मात्र महाविद्यालय को ही नही होकर समस्त आयुर्वेद जगत को प्राप्त है। आप अपने सस्थान मे जो भी अनुसन्धान करते हैं, उससे समय समय पर आयुर्वेद पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से अवगत कराते रहते है यह आपकी महानता है। आपके विभाग की आयुर्वेद जगत मे अमिट छाप है जिसकी शब्दो मे अभिव्यक्ति नही की जासकती है।

'मलेरिया' रोग पर आप द्वारा किये गये अनुसधान का परिणाम सारणियो मे संलग्न है। आशा है कि चिकित्सक, पाठकगण एव इस क्षेत्र मे रुचि रखने वाले जिज्ञासुओ की ज्ञान पिपासा शात करने मे यह सक्षम होगा।

—वैद्य ओ०पी० वर्मा आयु०बृह०

परिचय—

मलेरिया मच्छर द्वारा फैलने वाला रोग है। इसमे प्लाजमोडियम नामक मलेरिया जीवाणु मूलभूत कारण माना जाता हे। यह मच्छर द्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाता है और इस प्रकार रोग एक-दूसरे मे चला जाता है। प्लाजमोडियम के कई प्रकार होते है। इनमे पी० फाल्सीपेरम, पी० वाइवेक्स, अविल एव पी० मलेरियल आदि विविध प्रकार के मलेरिया उत्पन्न करते हे। इन मलेरिया परोपजीवी जीवाणुओ के दो जीवन चक्र होते है। इनमे से एक मच्छर के शरीर मे १०-१२ दिन मे सम्पन्न होता है जो मैथुनी चक्र कहाता हे और दूसरा मानव शरीर मे। इसे अमैथुनी चक्र कहते है। यह परोपजीवी जीवाणु मानव शरीर मे जाकर मलेरिया की विभिन्न अवस्थाओ को उत्पन्न करते है। पी० फाल्सीपेरम, पी० वाइवेक्स, पी० मलेरिया प्रमुख मलेरियाणु है। ओवल नामक मलेरियाणु लागूल रहित अफ्रीकन वन्दरो/मानवो मे मिलने वाला एव स्वय साध्य सौम्य ज्वर करने वाला हे।

यह मलेरियाणु विभिन्न आकृतियो के पाये जाते हे यथा—(१) गोलाकार (२) पुच्छधारी (३) अर्ध चन्द्राकार (४) पुष्प दलाकार।

(१) इनका अधिकतम विस्तार रक्तकण सदृश्य होता है। यह मलेरियाणु रक्त कण से पृथक या सलग्न किसी भी अवस्था मे रह सकते हे। इनमे पिगमेन्ट दानेदार होती है। पुच्छधारी मे गोल जीवाणु मे पूँछ सदृश्य रचना मिलती हे।

(२) अर्ध चन्द्राकार स्वच्छ एव रङ्गहीन होते है। दानेदार पिगमेन्ट युक्त यह मलेरियाणु रक्तकण के साथ सलग्न या पृथक दोनो ही रूप मे मिल सकते हैं।

(३) इस प्रकार के जीवाणु अधिक गोल, रक्तकण मध्य मे स्थित, दानेदार पिगमेन्ट युक्त होते है।

एनाफिलीज मादा मच्छर दश के समय उसकी लार के साथ मलेरियाणु मानव शरीर मे प्रवेश करते हे। तदनन्तर यह मलेरियाणु रक्त मे प्रवेश कर रक्ताणु के कण रजक का भक्षण कर, वृद्धि प्राप्त कर अमीवावत वन जाते हे। यह रिंग फोर्म से वढकर समस्त रक्ताणु मे फैलकर विस्तृत रूप ले लेते ह। फिर क्रोमोटोन विखडन के परिणामस्वरूप रक्ताणु फटकर बीजतुल्य कण रक्त मे फैलकर शीत ज्वर के वेग को उत्पन्न करते ह।

इस प्रकार मनुष्य के शरीर मे मादा मच्छर की लाला द्वारा विषम ज्वरोत्पादक मलेरियाणु के प्रवेश काल से रक्तकण विखण्डन (भेदन) तक और छोटे छोटे

बीज सदृश्य विषम ज्वराणु रक्त मे विस्तृत होने मे १०-१२ दिन का समय लग जाता है। यह समय फाल्सीफेरम मे १०-१२ दिन, वाइवेक्स मे १२-१५ दिन तथा मलेरियल मे २८ दिन तक होता है।

इस प्रकार प्रमुख मलेरियाणुजन्य विषम ज्वर की सक्षिप्त विशेषताये निम्नानुसार होती है—

	पी० फाल्सीपेरम	पी० वाइवेक्स	पी० मलेरियल
१ विखण्डनकाल			
	१०-१२ दिन	१२-१५ दिन	२८ दिन
२, ज्वरवेगकाल			
	प्रति २४ घटे	प्रति ४८ घटे	प्रति ७२ घटे
३ ज्वर प्रमाण (I शीतावस्था, II गतशीतावस्था)			
	I १०१°	I १०१-१०२°	I १०५
	II १०१-१०२°	II १०४-१०५°	II १०५-१०६
४ ज्वरकाल			
	२०-३० घटे	१ से ८ घटे	५-६ घटे
५ स्वेदावस्था			
	१-२ घटे	२ घटे	—

मलेरिया ज्वर की निम्नलिखित अवस्थाये होती है—

१ पूर्वरूपावस्था—इस अवस्था मे श्रम, अरोचक, अन्न अरुचि, हाथ-पैर टूटना, शिर शूल, ग्रीवा स्तम्भता, अगडाई आना, अङ्गमर्द, जृम्भा एव शीत पवन द्वेष आदि लक्षण मिलते है।

२ शीतावस्था—इस अवस्था मे मलेरियाणु रक्त कण से निकलकर प्लाज्मा मे आ जाते है। इसमे शीताभास, कपकपी, दात कटकटाना, कम्बलादि ओढने पर भी ठड कम न होना आदि लक्षण मिलते हे। शरीर की त्वचा पाडु एव शीत, अगुलियों की त्वचा सकुचित, ओष्ठ, नख नील, पीत वमन आदि लक्षण पाये जाते हे। मूत्र जलवत, नाडी द्रुत, ज्वर १०१ से अधिक हो जाता हे।

३ ज्वरावस्था—यह अवस्था विभिन्न मलेरिया अनुसार २०-३०, १-८, ५-६ घटे हो सकती हे। इसमे मुख रक्ताभ, त्वचा रूक्ष, दाह, जिह्वा, कठ-मुख शोष, शिर शूल गौरव, प्रलाप, श्वासाधिक्य, रक्ताभ मूत्र आदि लक्षण मिलते हैं।

४ स्वेदावस्था—स्वेद सिर से आना शुरू होकर समस्त शरीर मे पसीना निकल ज्वर की मात्रा कम हो जाती है। जिह्वा, मुख, लाल निल्ला मिल जाती है। दाह, शिर शूल, अरति, अजीर्ण, अरुचि आदि लक्षण मिलते है।

उपद्रव—मलेरिया मे अनेक उपद्रव देखे जाते है। इनमे पाडु, शैथिल्य, दौर्बल्य, कृशता, यकृत-प्लीहा वृद्धि आदि प्रमुख उपद्रव है।

औषधि प्रयोग पद्धति—

यहा जिन प्रयोगो का वर्णन दिया जा रहा है उनकी सुविधा के लिए निम्नलिखित विभागो मे विभाजित किया गया है—

१ (क) समूह—पीपर चूर्ण ४ रत्ती, लौह भस्म २ रत्ती के मिश्रण द्वारा चिकित्सा समूह। इनमे औषधि मधु के साथ २-३ बार दी गई थी।

२ (ख) समूह—वर्धमान पीपर १ से १० या १० से ३० वृद्धि क्रम द्वारा उपचारित जीर्ण, विषम ज्वर कारिणी समूह। इसमे पीपर को दूध मे उबालकर १९ दिन किया गया था।

३ (ग) समूह—इसमे सुदर्शन घन वटी, ज्वरघ्नी वटी एव सप्तपर्ण घन वटी की १-१ गोली ३ बार जल से दी गई थी।

४ (घ) समूह—इसमे न० ३ के योग मे सप्तपर्ण के स्थान पर सिनकोना वटी का प्रयोग किया गया था। न० ३-४ मे सुदर्शन क्वाथ २ तोला × २ बार तथा लक्षणानुसार सितोपलादि, श्रृङ्ग भस्म, प्रवाल, गोदन्ती आदि मिश्रण का प्रयोग भी किया गया था।

चर्चा एव परिणाम—

यहा जो चिकित्सा विवरण दिया जा रहा हे। उसका सक्षिप्त विवरण निम्न तालिकाओ मे दिया जा रहा हे—

तालिका स० १ (लिङ्गदर्शक)

	लिङ्ग	क	ख	ग	घ
१	पुरुष	४	१३	१६	१५
२	स्त्री	६	७	१४	१५

तालिका स० २ (वय समूह दर्शक)

क	वय समूह वर्ष	क	ख	ग	घ
१	५ से १०	—	—	३	२
२	११ से २०	२	०	८	७
३	२१ से ३०	०	४	५	७
४	३१ से ४०	१	५	५	५
५	४१ से ५०	२	४	—	—
६	५१ से ६०	१	३	४	४
७	६१ से ७०	३	४	३	२
८	७१ से ८०	१	०	२	३
		१०	२०	३०	३०

तालिका स० ३ (मलेरियाणु दर्शक)

	मलेरियाणु	क	ख	ग	घ
१	पी० फालसीपेरम	१	२	५	५
२	पी० वाइवेक्स	५	१०	२२	२३
३	एम-पी० (सन्दिग्ध)	४	८	३	२

तालिका स० ४ (परिणाम दर्शक)

	परिणाम	क	ख	ग	घ
१	प्रवर लाभ	१	१०	९	१७
२	मध्यम लाभ	३	७	९	८
३	अवर लाभ	६	३	१०	३
४	अलाभ	०	०	२	२

—श्री पी० एस० अणुमान एच पी ए, (रीडर),
श्री के पी सिंह एच पी ए, (लैक्चरार)
श्री वि अ के जी आगरा एम डी
लेक्चरार–कायचिकित्सा विभाग
शेठ जी प्र सरकारी आयुर्वेद कालेज, भावनगर (गुज०)

—पृष्ठ १२४ का शेषाश—

१ तीव्र अवस्था—

[१] पूर्ण विश्राम।

[२] कोई भी सूचिकावेध एव अभ्यङ्ग न करे।

[३] यदि द्वितीयक सक्रमण की सम्भावना है तो तदुनरूप मुख से औषधि दे।

[४] रोगी को सतोष देने हेतु विटामिन बी १२ का कोई भी शर्बत।

[५] रोगी को १ माह पर फिर बुलाये।

२ एक माह के बाद—

१ वृहत वात चिन्तामणि रस (१/२ से २ रत्ती तक वयानुसार), वात गजाकुश (१/२ से २ रत्ती तक वयानुसार) मिला २ मात्रा मे बाटकर दिन मे २ बार मधु से।

२ महामाष तैल, चन्दनबलादि तैल या लाक्षादि तैल से अभ्यङ्ग तथा धूप का स्वेदन एव ग्रसित अङ्ग के प्रत्येक जोड को हिलाना-डुलाना।

३. विटामिन बी १२ शर्बत का प्रयोग।

४ प्रारम्भ मे बताये गये विशेष परिस्थितियो मे स्प्लिन्ट पेटी आदि का प्रयोग।

सुरक्षात्मक उपाय—इसी विशेषाक मे हमारे दूसरे लेख मे मसूरिका (टीका) नियम बताये गये है। उनका पालन करना चाहिए।

जन व्याधि का जानपदिक स्वरूप हो तो बच्चो को अतिश्रम, सूचीवेध, गलशुण्डिकावेधन (टासिलैक्टोमी) आदि से बचाना चाहिए। बच्चो को भीड-भाड से एव तालाब आदि जल एकत्र होने वाले स्थान से बचावे।

—पृष्ठ १२८ का शेषाश—

टिचर बारबर्ग १० बूद, टिचर कार्ड को ५ बूद, टिचर नक्स ३ बूद, लाइकर आरमेनीकेलिस ३ बूद, सीरप फैरी आयोडाइड १ ड्राम, जल १ औंस।—१ मात्रा

पाडु एव रक्तक्षय—इसके लिये रोगी को फोलिक एसिड, लौह+यकृत के योगो का व्यवहार हितकारी है।

रक्तस्रावी विकार मे—नासा तथा दन्तवेष्ट से रक्तस्राव की स्थिति मे निम्न योग नाशकारी है—

कैल्शियम लैक्टेट १० ग्रेन, एस्कोर्बिक एसिड १५० मि ग्रा, विटामिन के १० मि ग्रा—१ मात्रा। ऐसी एक मात्रा दिन मे २-३ बार जल के साथ दे। इसके साथ ही क्नाडेन अथवा स्ट्रिप्टोत्रियोन का भी प्रयोग लाभकर है।

नोट—इस रोग मे इजेक्शनो के अतिरिक्त खाने वाली औषधियो से विशेष लाभ की आशा नही करनी चाहिये।

मलेरिया

डा० जहानसिंह चौहान आयु०वृह०, ठठिया (फर्रुखाबाद) उ०प्र०

पर्याय—शीत ज्वर, एग्यू (Ague) अर्ध विसर्गी या पुनरावर्तक ज्वर, विसर्गी ज्वर, जगल ज्वर।

शीतपूर्वक तीव्र ज्वर, शिर शूल, वमन आदि लक्षणो के साथ विशिष्ट जीवाणुओ के उपसर्ग से होने वाला विकार मलेरिया हैं। इसके जीवाणु का सवर्धन एव प्रसार मच्छरो के द्वारा होता है। इसलिए आनूप देशो, जलाशयो एव मच्छरो के उपयुक्त स्थानो के निकट रहने वालो मे इसका प्रकोप अधिक मिलता है।

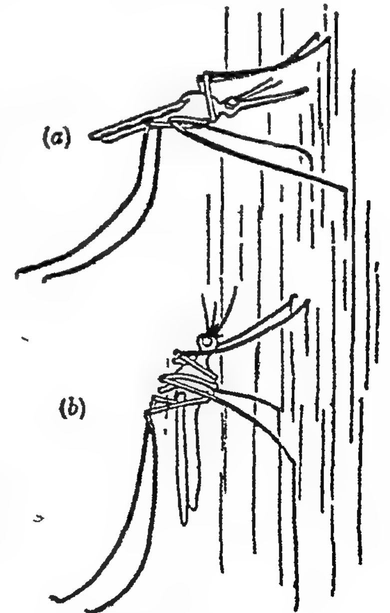
आयुर्वेद के अनुसार जो ज्वर अनियमित रूप से अनियमितकाल मे आता हैं, साथ ही जिसका वेग भी विषम (कभी तीव्र सताप, कभी मन्द सन्ताप) होता है उसे मलेरिया ज्वर कहते हे। इसका आरम्भ, क्रिया और काल भी विषम है। कभी ज्वर सिर से प्रारम्भ होता है कभी पृष्ठ भाग से। कभी ज्वर मे शीत अधिक लगता है, तो कभी सन्ताप। मलेरिया विषम ज्वर के अन्तर्गत आता है, क्योकि इसके लक्षण इससे मिलते है और विषम ज्वरनाशक आयुर्वेदिक औषधिया मलेरिया मे प्रभावकारी होती हे। सुश्रुत ने कहा है कि विषम ज्वर की उत्पत्ति मे अन्य आगन्तुक (भूत या वाह्य निमित्त जीवाणु) अथवा स्वभाव ही कारण होता है। मलेरिया का क्षेत्र स्वय विस्तृत होता हे।

कारण—

मलेरिया ज्वर का प्रधान कारण मलेरियाणु है। यह एक प्रकार का एककोषीय प्राणी है। इसका वर्ग स्पोरोजोआ कहलाता है तथा इसकी जाति प्लाज्मोडियम कहलाती है। इस जीवाणु का ज्ञान सन् १८८० ई० मे लैवरन नामक विद्वान को सर्वप्रथम हुआ। तत्पश्चात् रोनाल्ड रोस ने एनाफिलीज मच्छर के आमाशय की दीवाल मे इसका अस्तित्व पाया। पुन यह तथ्य प्रकट हुआ कि दूषित रोगजनक जीवाणु वाहक मच्छरो द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य मे मलेरिया का प्रसार होता है। चरक और सुश्रुत ने आगन्तुक (वाह्य जीवाणु सक्रमण या भूताभिषङ्ग (क्षुद्र जीवाणु आक्रमण) को विषम ज्वर का कारण माना है। मलेरिया विषम ज्वर के अतर्गत आता है। मलेरिया का कारण भी उपर्युक्त कथनानुसार एक ही है।

(a) एनफिलिस पिछला भाग ऊपर की ओर करके बैठता है। मलेरिया के लिये यही मच्छर उत्तरदायी है तथा अधिक खतरनाक है। इसके पखो पर बिन्दु होते हैं।

(b) क्यूलैक्स दीवार पर यह समतल बैठने के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है।



एक दीवाल पर बैठे दो प्रकार के मच्छर

जिन ऋतुओ मे मच्छरो की वृद्धि अधिक होती है उन ऋतुओ मे इस ज्वर का प्रसार विशेष रूप से होता है। हमारे देश मे व्यापक रूप से इसका प्रसार बहुत काल से होता चला आ रहा है। इसमे मिलती-जुलती

व्याधियो (विषम ज्वर मलेरिया) का वर्णन प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता चला आ रहा है। शरद् ऋतु मे प्रधान रूप से प्रकोप होने के कारण शारदीय ज्वर एव उपत्यका (पहाडी तराई) के निवासियो मे व्यापक रूप मे होने वाला ज्वर औपत्यिक ओर अनियमित समय मे ज्वर का प्रकोप, वेग की विषमता, शीत एव उष्ण अनुबन्ध का विषम सम्बन्ध, वेग मे विषमता आदि विशेषताओ के कारण विषम ज्वर सज्ञक विकारो का वर्णन आया है।

सक्रमण—मलेरियाणु वाहक मच्छर (एनाफिलीज) जब किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तब दश स्थान मे मच्छर की मुखं की लार के साथ मलेरिया के बीज निकलकर मनुष्य के रक्त मे प्रवाहित होकर यकृत कोषाओ मे पहुचते है वहा वे ६ से १० दिन तक पोषण पाते है। यह मलेरिया का सचयकाल (Incubation period) कहलाता हे। यहा पर ये अनेक बीज खडो (मीरोजोआइड्स) मे परिणत हो जाते है। साथ ही यकृत कोषा को फाडकर बाहर निकल आते हे। इन बीज खडो मे से अधिकाश मनुष्य के रक्त (लाल कण) मे मिल जाते है और कुछ यकृत कोषाओ मे गुप्त रूप से पडे रह जाते हैं। ये गुप्त बीज खड ही मलेरिया नाशक औषधि के प्रयोग से मलेरिया नाश कर दिये जाने पर भी मलेरिया के पुनराक्रमण (Relapse) के कारण बनते हे।

ऊपर बताये अनुसार जो बीजखड रक्त के लाल कणो मे प्रविष्ट हो जाते है वे वहा दूसरे चक्र को प्रारम्भ करते है। इस चक्र को रुधिराणु चक्र (Erythrocytic cycle) कहा जाता है। यह मलेरियाणु प्रथम लालकणो मे रिंग के रूप मे रहते है। तत्पश्चात् इनका आकार बढने लगता है और उनका रूप विषम हो जाता है। यह रक्त के हीमोग्लोबीन को खाते है। शनै शनै इसका खड गुणन प्रारम्भ हो जाता है और उनसे अनेक गाठे बन जाती है। गुणन पूर्व (Schizont) के पक जाने पर लालकण फट जाता है और उसमे असख्य जीवाणु जीव खड (मीरोजोआइड्स) निकल पडते है। इन जीव खडो मे से एक-एक पुन नये नये लाल कणो मे प्रवेश कर जाते है और वहा बढकर उचित समय पर लाल कणो को विदीर्ण कर जीवाणु-जीव खंडो की फौज निकल पड़ती है।

जिस समय जीवाणु रक्त कणो को भेद कर बाहर निकलते है तभी पुन ज्वर हो जाता हे। इस प्रकार जब नियत काल के पश्चात् जीवाणु अपनी वृद्धि पूरी कर लेते हैं, तब रक्ताणुओ को भेदन कर बाहर निकलकर पुन अपने जीवन चक्र के लिए रक्ताणुओ मे प्रविष्ट हो जाते है। इस तरह प्रत्येक आक्रमण मे पहले से १०-२० गुने अधिक रक्त कण नष्ट हो जाते है। तत्पश्चात तीसरी बारी मे पहले से सौ-दो सौ, चार सौ गुने तक, चौथी बारी मे एक से आठ हजार गुने तक रक्त कण नष्ट हो जाते हैं। जीवाणु खडो का यह अमैथुनीय रूप (Asexual Form) कहलाता है, जो ज्वर उत्पत्ति करता है।

जिस समय परिपक्व जीवाणु लालकणो को विदीर्ण कर बाहर आते है तब शीत आदि लक्षण होते है। इनके परिपक्व होकर बाहर आने का समय प्रत्येक जाति के जीवाणु मे भिन्न भिन्न होने के कारण ज्वर का आवेग भिन्न भिन्न समय पर आता हे। इसी ज्वर काल के अनुसार मलेरिया ज्वर के तृतीयक आदि भेद किये गये हे। इन जीवाणुओ की निम्नलिखित जातिया विभिन्न प्रकार के विषम ज्वरो को उत्पन्न करती हे—

विषम ज्वर का स्वरूप	जीवाणु की जातिया
१ तृतीयक	प्लाजमोडियम वाइवेक्स
२. चतुर्थक ज्वर	प्लाजमोडियम मलेरिया
३ घातक विषम ज्वर	प्लाजमोडियम फैल्सिफेरम
४ अघातक तृतीयक के समान	प्लाजमोडियम ओवेल

इन जीवाणुओ के जीवन के दो चक्र होते हे—

१ मैथुनी चक्र—इसमे नर और मादा दोनो की आवश्यकता होती हे। साथ ही चक्र मच्छरो की आन्त्र मे पूरा होता हे।

२ अमैथुनी चक्र—इसमे नर और मादा की आवश्यकता नही होती है। यह जीवन चक्र मनुष्य के शरीर मे पूरा होता हे।

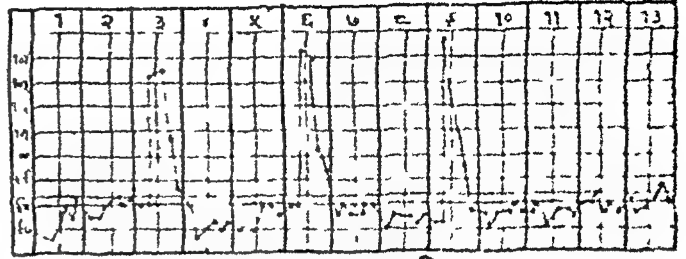
तृतीयक—इसका जीवाणु प्लाजमोडियम वाइवेक्स है। इसके अमैथुनी चक्र का काल ४८ घटे मे पूर्ण होता है। इसमे मीरोजोआइड्स ४८ घटे पश्चात् रक्त कणो को विदीर्ण कर बाहर आते हे। इसलिए तीसरे-दिन ज्वर का वेग आता है। इसलिए इसे तिजारी या अतरिया (Tertian) कहते हे। यह एक दिन छोडकर आता है।

मच्छरो के जीवन की विभिन्न अवस्थाये

एनाफिलीज		क्यूलैक्स	
अंडा	बहुत से अंडे	अंडा	अंडे समूह में
प्यूपा	पूर्ण वृद्ध लार्वा	प्यूपा	पूर्ण वृद्ध लार्वा
पूर्ण मच्छर (मादा)		पूर्ण मच्छर (मादा)	
बैठा हुआ पूर्ण मच्छर		बैठा हुआ पूर्ण मच्छर	

इस ज्वर मे उष्णता अधिक होती है और ४ घटे मे इसका वेग अत्यधिक हो जाता है। कभी कभी यह ज्वर दिन मे दो बार प्रात साय आने लगता है। यह दूसरे दिन न आकर तीसरे दिन आता है। इसे डुप्लीकेटिड टर्शियन फीवर कहते है। जब इसकी उत्पत्ति कफ और पित्त से होती है तब मेरुदड, कन्धा और ग्रीवा मे वेदना होती है। इसके वात और कफ के उत्पन्न होने पर पीठ मे तथा पित्त से उत्पन्न होने पर सिर मे पीडा होती है।

चतुर्थक मलेरिया ज्वर—इसका जीवाणु प्लाजमोडियम मलेरिया है। इसका अमैथुनीय जीवन चक्र ७२ घटे मे पूर्ण होता है। इसके मीरोजोआइप्स लाल कणो को विदीर्ण कर ७२ घटे मे बाहर आते है। इसलिए इसमे ज्वर २ दिन छोड कर आता है। इसलिए इस ज्वर को चतुर्थक ज्वर (क्वार्टन फीवर) कहते है। यह प्राणघातक हो सकता है। यह पहले और चौथे दिन अर्थात्



चतुर्थक ज्वर का चार्ट

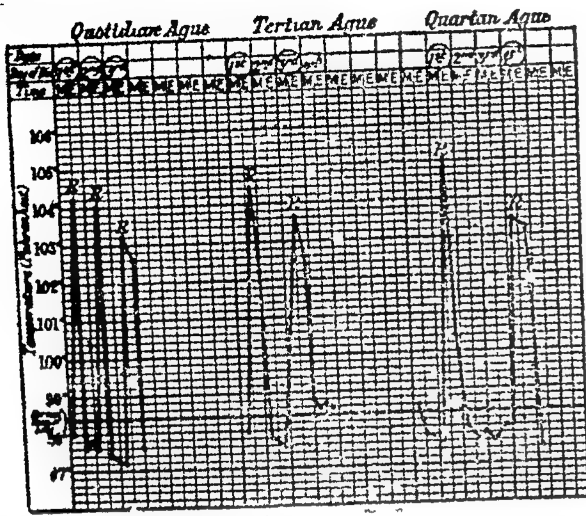
२ दिन का विश्राम लेकर आता है। इसमे कफ की अधिकता होने पर जङ्घाओ को पीडित करता हुआ चढता है। वात प्रधान होने पर यह पहले सिर मे वेदना, तत्पश्चात् ज्वर के वेग को प्रकट करता है।

चातुर्थक विपर्यय—इसे डबल क्वार्टन फीवर कहते हैं। इसमे चतुर्थक जीवाणु का लगातार दो दिन तक निरन्तर उपसर्ग होता है। अर्थात् जो जीवाणु एक तारीख को शरीर मे प्रवेश करता है वह २० दिन सचयकाल के पश्चात २०, २३, २६, २९ आदि दिनाङ्को मे ज्वर को उत्पन्न करेगे। इसी प्रकार जो जीवाणु २ तारीख मे प्रवेश करेगे वह प्राय २१, २४, २७ तथा ३० वे दिनो मे ज्वर का वेग उत्पन्न करेगे।

अन्येद्युष्क—इसे क्वार्टीडियन फीवर कहते है। यह प्रतिदिन २४ घटे मे एक बार आने वाला ज्वर है। इसका कोई स्वतन्त्र जीवाणु नही होता है, अपितु तृतीयक के जीवाणु के दो स्वतन्त्र वश विस्तार होने मे (जो दो लगातार दिनो मे होते हे) अन्येद्युष्क ज्वर होता है। यह ज्वर मास मे आश्रित रहता है। यदि किसी मनुष्य के लाल कणो मे तृतीयक जीवाणु का एक उपसर्ग एक तारीख को हुआ और दूसरी तारीख को उसका दूसरा उपसर्ग हुआ तो जो जीवाणु प्रथम दिन शरीर मे प्रवेश किया वह १५ दिन के पश्चात १५, १७, १९, आदि तारीखो मे ज्वर उत्पन्न करते हैं। इसी तरह जो उपसर्ग दूसरी तारीख को होता है उसका ज्वर १६, १८ और २० तारीख को होता है। इस प्रकार से ज्वर का वेग प्रतिदिन आता है।

घातक मलेरिया—

इसे मेलिगनेन्ट मलेरिया कहते हैं। यह फेल्सीपेरम कृत मलेरिया स्वरूपत घातक होता है। यह प्राय उष्ण प्रदेशो मे होता है। परन्तु अन्य स्थानो मे भी मिल सकता



तीन प्रकार के विषम ज्वरो का तापमान चार्ट

र गर है। यह उपरोक्त प्रकारो से अधिक गम्भीर तथा अल्पकालिक होता है। इसके जीवाणु का अमैथुनी चक्र का समय ३६ से ४८ घंटे का कुछ अनिश्चित सा रहता है। इसमे ज्वर का आवेग एक समय मे नही होता है। ज्वर प्राय अर्धविसर्गी स्वरूप का रहता है। इसमे लाक्षणिक विविधता का आधिक्य रहता है। ज्वर का आक्रमण दिन-रात किसी निश्चित समय मे नही, कभी कभी हो सकता है। वाहर से अल्पमात्रा मे सन्ताप होने पर भी तीव्र शिर दर्द, वमन, दाह, सम्पूर्ण शरीर मे दर्द, प्रलाप, मूर्च्छा आदि गम्भीर लक्षणो के कारण घातक मलेरिया का अनुमान किया जाता है। इस ज्वर का अनुवन्ध कई दिनो तक वना रहता है जिससे सन्तत ज्वर का सन्देह होने लगता है। इसका अनुमान विशेष रूप से पैत्तिक लक्षणो की उपस्थिति, अधिक प्यास, सिर दर्द, प्रवाहिका, कामला, प्लीहावृद्धि आदि के आधार पर किया जाता है।

मलेरिया ज्वर की अवस्थायें—

मलेरिया के जीवाणु से सक्रात रोगी को होने वाला यह ज्वर रुक-रुक कर वार वार होता है। इसलिए यह सविराम ज्वर (इन्टरमिटेन्ट फीवर) कहलाता है। रोगी को ज्वर चढता है और कुछ समय तक रहता है और फिर उतर जाता है।

इस प्रकार के बुखार की ३ अवस्थायें होती हैं—

(१) शीतावस्था (२) उष्णावस्था (३) प्रस्वेदावस्था

(१) शीतावस्था—शीत (जाडा) लगना इसका प्रधान लक्षण है। जाडा रोगी का स्वप्रत्यक्ष है, दूसरा व्यक्ति उसका अनुभव नही कर सकता है। रोगी का शरीर छूने पर गरम प्रतीत होता है। शरीर शिथिल हो जाता है। सन्धियो मे दर्द होने लगता है। रोगी जोर-२ से कापता है, शीत के कारण दात किटकिटाने लगता है। उसकी शय्या हिलने लगती है, वह बिस्तर पर ऐसे उछलता है मानो उसे भूत ने पकड लिया है। यदि दो एक आदमी उसे दवाने की कोशिश करते है फिर भी वह हिलता रहता है। हाथ-पैर और सन्धियो मे ऐठन होने लगती है उसकी अगुलिया सिकुड जाती है। उसका जी मिचलाने लगता है और त्वचा का रग नीला हो जाता यह अवस्था ॥-१ घटे रहती है।

(२) उष्णावस्था—इस अवस्था मे रोगी का शरीर गर्म हो जाता है। रोगी गर्मी के कारण व्याकुल होने लगता है। इस समय तापक्रम १०३-१०५° फा० तक अथवा कभी कभी १०६° फा० तक हो जाता है। रोगी की त्वचा जलती हुई प्रतीत होती है। शिर शूल तीव्र होने लगता है, कभी कभी रोगी प्रलाप करने लगता है। प्राय वमन होता है। यह अवस्था ३-४ घटे रहती है।

(३) प्रस्वेदावस्था – इस अवस्था के प्रारम्भ होते ही रोगी के मस्तक और मुह पर स्वेद विन्दुकाऐ निकलती है तत्पश्चात सम्पूर्ण शरीर से जोरो के साथ पसीना निकलने लगता है। रोगी के विस्तर तथा सव कपडे पसीने से भीग जाते है। इस समय पसीना आने से रोगी का तापक्रम कम हो जाता है। शिर शूल तथा वेचैनी कम होने से रोगी की तवियत हल्की होने लगती है। पसीना आने के वाद रोगी थकान अनुभव करने लगता है। कभी कभी रोगी को दस्त भी आता है। प्राय रोगी को इस अवस्था मे नीद आ जाती है और जागने पर वह अपने को स्वस्थ अनुभव करता है। इस प्रकार से पुन ज्वर के आक्रमण होने तक एक-दो दिन रोगी ज्वर-मुक्त रहता है। यदि किसी रोगी को इसी प्रकार अधिक समय तक ज्वर आता रहता है तो रोगी धीरे क्षीण और दुर्वल हो जाता है, उसका मनोवल गिर जाता है। अपथ्य के सयोग से कभी कभी रोगी की प्लीहा तथा यकृत की वृद्धि हो जाती है। प्लीहा कुछ कठोर प्रतीत होती है। कुछ रोगियो मे वहुत अधिक रक्त रजित

पाडुता उत्पन्न हो जाती है ।

रोग विनिश्चय—

शरद एव वसन्त ऋतु मे ज्वर का आकस्मिक आक्रमण, ज्वर के वेग से पूर्व शीत-सह शिर शूल, हृल्लास, सम्पूर्ण शरीर मे पीडा, ज्वर के वेग के क्रम से शीतावस्था, उष्णावस्था और तत्पश्चात प्रस्वेदावस्था, ज्वर के पश्चात सामान्य दुर्वलता, ज्वर के समय प्लीहा वृद्धि, जिह्वा की मलावृत्ति, यकृत की स्पर्शलभ्यता, कभी कभी ज्वर मे नियतकालिक विशेषकर तृतीय, एव चातुर्थक ज्वर, तृष्णा, वेचैनी, अरुचि, वमन, कभी कभी कामला आदि लक्षणो से मलेरिया रोग का निदान आसानी से हो जाता है । साथ ही घातक मलेरिया का निदान, पैत्तिक लक्षणो की उपस्थिति, तृष्णा, दाह, शिर शूल, प्रवाहिका, कामला, प्लीहावृद्धि आदि विशेषताओ के आधार पर इस रोग का निर्णय हो जाता हे ।

रक्त परीक्षा—

मलेरिया मे रक्त परीक्षण से पर्याप्त सहायता मिलती है । यदि प्रत्यक्ष रूप मे सूक्ष्म दर्शक से जीवाणुओ की उपलब्धि हो जाती हे तो मलेरिया का निर्णय असदिग्ध हो जाता है । किन्तु कई वार मलेरिया रोग से पीडित व्यक्ति मे भी रक्त परीक्षा मे जीवाणुओ की उपस्थिति नही मिलती है । ऐसी स्थिति मे २-३ वार परीक्षा आवश्यक होती है ।

यदि रक्त परीक्षण मे जीवाणुओ की उपस्थिति नही मिलती है और लक्षणो के आधार पर रोग का अनुमान हो रहा हो तो उपशयात्मक निदान निर्णायक माना जाता है । मलेरिया को उपशम करने वाली औपधियो का ३-४ दिन सेवन करने से ज्वर मोक्ष हो जाने पर मलेरिया का शतप्रतिशत निर्णय हो जाता है ।

सापेक्ष निदान—

मलेरिया का आन्त्रिक ज्वर, दडक ज्वर, श्लेष्मोल्वण सन्निपात, इन्फ्लूएन्जा, श्लीपद आदि से भेद करना चाहिए । मलेरिया ज्वर मे तृतीयक, चातुर्थक आदि नियतकालिक बुखार होने पर सापेक्ष निदान मे विशेष असुविधा नही होती है ।

सामान्य चिकित्सा निर्देश—

१. दोषो की प्रधानता एव अप्रधानता के अनुरूप औपधि व्यवस्था व पथ्य व्यवस्था करनी चाहिए ।

२ मलावरोध के लिए रात्रि मे एक वार अश्वकंचुकी या ज्वर केशरी कुछ दिन तक देना चाहिए ।

३ रोग के प्रारम्भ मे ही वस्ति या विरेचन देने से रोग का वेग कम हो जाता है ।

४ पानी के लिए औपधि सिद्ध या केवल शृतशीत जल पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिए ।

५ मलेरिया मे १०४-१०५° फा० तापक्रम होने पर घवडाना नही चाहिए । यदि १०५° फा० ताप अधिक समय तक रहे अथवा इससे भी अधिक हो जाये तो तत्काल शीतोपचार करना चाहिए ।

६ वात प्रधान रोग मे वातघ्न द्रव्यो से सिद्ध... का प्रयोग करना चाहिए । पित्त प्रधान मे पि[illegible] मे गोघृत, क्षीर, विरेचन, शीतवीर्य औपधि एव [illegible] की व्यवस्था करे । कफ प्रधान रोग मे लघन, पाचन, वमन एव कषाय रस प्रधान उष्णवीर्य औपधि एव अन्नपान की व्यवस्था करनी चाहिए ।

७ यदि मलेरिया मे ज्वर तीव्र स्वरूप अथवा मारात्मक न हो तो मलेरिया की विशिष्ट औपधियो का प्रयोग ज्वर प्रारम्भ के २-३ दिन वाद करना चाहिए ।

८ ज्वर आक्रमण के पूर्व क्वनीन का प्रयोग लाभदायक न होने के कारण रोगी को न दे ।

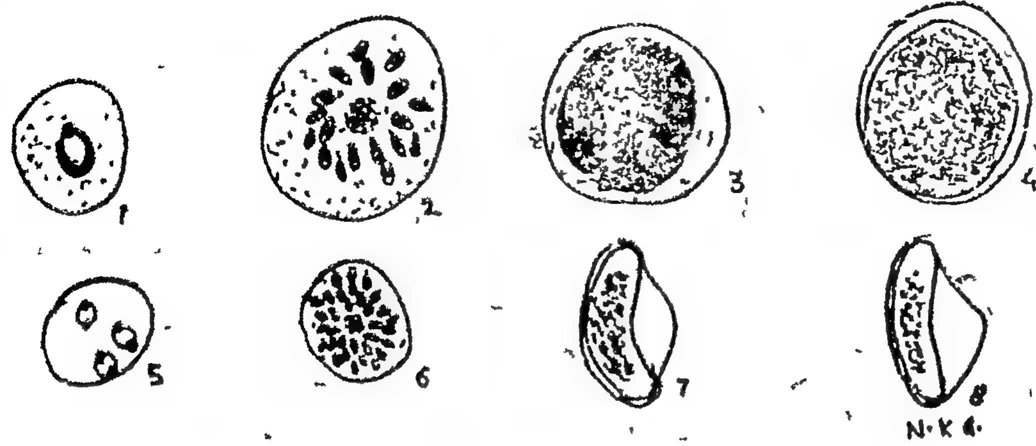
९ मात्रा से अधिक क्वनीन का प्रयोग नही करना चाहिए । साथ ही अधिक समय तक न दे । अधिक समय तक देने से शारीरिक क्षमता कम हो जाती है जिससे रोग के पुनराक्रमण की सम्भावना रहती है ।

१० इस रोग मे सभी साधनो से युक्त पुनरावर्तन निरोध की व्यवस्था करनी चाहिए ।

११ ज्वर के प्रथम आवेग मे यथाशक्ति क्वनीन का ही प्रयोग करना चाहिए । शेप नवीन औपधिया ज्वराक्रमण की शाति के वाद ही प्रयोग करनी चाहिए ।

१२ ज्वर की तीव्रावस्था मे रोगी को पूर्ण आराम देना चाहिए । लघु आहार की व्यवस्था ज्वर की शाति मे सहायक होती है ।

१३ ज्वर शामक विशिष्ट औपधियो को रोग के प्रारम्भ मे एक समय मे ७ दिन से अधिक प्रयोग नही करना चाहिये । मध्य मे ७ से १० दिन तक का अवकाश



प्लाज्मोडियम वाईवैक्स
१ मुद्रिका स्थिति
२ सिजोंट
३. जेमेटोसाइट (नर)
४ जेमेटोसाइट (मादा)

प्लाज्मोडियम फाल्सीपैरम
५ मुद्रिका स्थिति
६ सिजौन्ट
७.-८. जेमेटोसाइट

देकर ज्वरशामक औषधियो को पुन चालू करना चाहिए, उससे चिकित्सा मे अच्छे परिणाम देखने को मिलते है।

१४ तृतीयक, चतुर्थक और वातज मलेरिया ज्वरो पर ज्वरशामक औषधिया एकसा प्रभाव नही दिखाती है। एक ही जाति के जीवाणुओं की अनेक गग जातिया होती है, जिन पर प्रत्येक औषधि का परिणाम भिन्न-२ होता है।

१५ ज्वरावस्था मे रोगी को अन्न न दिया जाये, अन्यथा प्लीहा की अधिक वृद्धि होती है साथ ही ज्वर भी शीत के साथ तीव्रतम रूप मे आता है। गरम जल शीतल करके आवश्यक मात्रा मे देते रहे। सगर्भा को विवनीन कम मात्रा मे विटामिन बी कम्पलैक्स के साथ दे।

मलेरियानाशक आयुर्वेदीय चिकित्सा —

१ पंचतिक्त घन वटी—३ गोली १ बार मे जल से निगलवा दे। यह मलेरिया मे अद्वितीय लाभकारी सिद्ध हुई है।

२ सप्तपर्ण वटी—२ गोली लेने से मलेरिया मे पर्याप्त लाभ मिलता है।

३ करंजादि वटी—ज्वर आने के २ घंटे पूर्व १ गोली, फिर एक घंटा बाद १ गोली, बाद को ज्वर आने के १ घंटा पहले तीसरी गोली तुलसी स्वरस के साथ दे।

४. ज्वर भैरव चूर्ण—२ से ५ ग्राम प्रात सांय सेवन करावे। इससे विषम ज्वर, मलेरिया, यकृत, प्लीहा वृद्धि सभी नष्ट होते है।

५. सर्वज्वरहर लौह—१-१ गोली प्रात साय देने से मलेरिया-यकृत-प्लीहा वृद्धि आदि सभी नष्ट होते हैं।

६ वृहत्सर्वज्वरहर लौह—१-१ गोली प्रात साय पिप्पली चूर्ण+गुड के साथ सेवन करने से पर्याप्त लाभ होता है। इसके सेवनकाल मे करेला, ककड़ी, केला आदि से परहेज करे। शालि चावल का भात तक्र के साथ सेवन करावें।

७ विषम ज्वरांतक लौह—इसके सेवन से प्लीहावृद्धि नष्ट होती है, हृदय तथा नेत्रो को शक्ति प्रदान करता है।

८ पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लौह—२ रत्ती प्रात साय भुनी हीग+सैंधानमक के साथ दे।

९. तृतीयकारि रस—१-१ गोली प्रात साय अतीस के क्वाथ के साथ सेवन से तृतीयक ज्वर नष्ट होता है।

१० चातुर्थिकारि रस—१-१ गोली प्रात साय चम्पा की छाल के रस के साथ ज्वर आने के १ घंटा पूर्व दे। इससे चातुर्थिक ज्वर नष्ट होता है।

११ मलेरिया मे प्लीहावृद्धि एक विशिष्ट लक्षण है। ज्वर के शान्त होने पर प्लीहावृद्धि के लिए प्लीहाशार्दूल रस, प्लीहान्तक रस, प्लीहारि रस, प्लीहार्णव रस, यकृत प्लीहारि लौह, लोहासव आदि प्रयोग करे।

आयुर्वेद मे कटु-तिक्त औषधि—सुदर्शन चूर्ण, निंबादि चूर्ण, पंचतिक्त क्वाथ, गुडूच्यादि क्वाथ, पटोलादि क्वाथ इनका उपयोग लाभकारी है। पीछे से घृतो का उपयोग करना तथा लोहे के योग देना चाहिए। घृतो मे पंचतिक्त घृत, महापंचतिक्त घृत उत्तम है। औषधियो मे जया वटी, मृत्युञ्जय रस या हिंगुलेश्वर को परवल के रस या बिल्व रस+मधु के साथ दे। ज्वर संहार रस ज्वर को नियमित रखता है साथ ही उपद्रवो से बचाता है। प्यास की अधिकता मे निम्बु चूसने को दे। वमन की स्थिति मे यवक्षार ३ ग्राम+रस सिन्दूर १२० मि०ग्रा० मिला

कर पानी के साथ देते है। ज्वर उतारने के लिए भुनी फिटकिरी+गोदन्ती भस्म का उपयोग लाभकारी होता है। इसके लिए ज्वर सहार को पटोलपत्र रस अथवा नारियल के पानी के साथ दिया जा सकता है।

ज्वर मुक्ति के पश्चात निर्बलता दूर करने के लिए दूध+घी मिलाकर दें। आरोग्यवर्धिनी, दशमूलपटपल घृत या नवायस लोह देते है।

मलेरियानाशक विशिष्ट चिकित्साक्रम—

प्रयोग न० १—क शीतभजी रस २४० मि०ग्रा०—१×३ प्रात दोपहर शाम पान के रस+मधु के साथ।

ख शुद्ध कुपीलु १२० मि०ग्रा०+शु स्फटिका २४० मि०ग्रा०—१×२ दोपहर रात्रि गरम पानी के साथ।

अथवा—सोडावाई कार्ब ३६० मि०ग्रा०+सुदर्शन चूर्ण १ ग्राम—१×२ दोपहर रात्रि गरम पानी के साथ।

प्रयोग न २—क महाज्वराकुश रस १२० मि० ग्रा०+शुद्ध स्फटिका २४० मि० ग्रा०—१×३ प्रात दोपहर शाम तुलसी पत्र रस से।

ख करजादि वटी १४० मि० ग्रा०—१×३ न० १ के २-२ घटे बाद गरम पानी से।

प्रयोग न० ३—गोदन्ती भस्म, शुद्ध स्फटिका, करज का गूदा १२०-१२० मि० ग्रा०—१×६ (गोली रूप मे) आवेग के ६ या ४ घटे पूर्व से दे। आधा घटा पूर्व सभी मात्राये दे दे।

तृतीयक ज्वर (१) त्र्याहिकारि रस २४० मि० ग्रा० १×३ भुना जीरा व घृत से ज्वर आने से पूर्व ही दे दे।

(२) किरातादि क्वाथ—५० मिली० प्रात एक वार।

चतुर्थक ज्वर—(१) चतुर्थकारि रस २४० मि०ग्रा १×३ हारसिगार के रस+मधु से।

(२) गुडूच्यामलकादि क्वाथ ५० मिली० प्रात १ बार।

अन्येद्युष्क ज्वर—(१) करजादि वटी २४० मि० गा०+लाल भस्म २४० मि० ग्रा०—१×३ जल से।

(२) निम्बादि क्वाथ—५० मिली० प्रात एक वार।

—मलेरियानाशक आयुर्वेदीय पेटेन्ट औषधियां—

टेवलेट—

(१) कॉटिना टेवलेट (चरक फार्मास्युटिकल्स)—२ गोली दिन मे २ या ३ वार। वालक—१ गोली ३ या ४ वार दूध के साथ।

(२) कुरिल टेवलेट (चरक फार्माम्युटिकल्स)—वयस्क—२ गोली दिन मे २ या ३ वार दूध, जल या मधु के साथ। वालक—१ गोली दिन मे २ या ३ वार दूध या मधु के साथ। शिशु—आधी गोली दिन मे २ या ३ वार दूध या मधु के साथ। मलेरिया, तृतीयक एव चतुर्थक ज्वर मे विशेष लाभकारी।

(३) त्रिशून टेवलेट (झडू फार्माम्युटिकल्स)—१-१ गोली दिन मे ३ वार पानी, चाय या कॉफी के साथ।

(४) करजादि वटी—बुखार के दिन ठड लगने से ३ घटे पूर्व १ गोली गरम जल से। जिस दिन बुखार न आये, उस दिन प्रात साय दोपहर १-१ गोली गरम जल से। गर्भवती स्त्री को भी सेवन कराई जा सकती है।

(५) ज्वरहरण वटी (श्री कुष्ठ चिकित्साश्रम)—१-१ गोली दिन मे ३ वार जल या दूध के साथ। यह इकतारा, तिजारी, चौथिया मे उपयोगी है।

लिक्विड-तरल योग—

[१] ज्वरोना पेय (निर्मल आयु० सस्थान)—३ ड्राम। १५ वर्ष से कम आयु वालो को १/२ मात्रा। ५ वर्ष से कम १/४ मात्रा दें। गर्भवती को भी दे सकते है।

[२] प्राणदा (वैद्यनाथ)—२-३ ड्राम। पारी, तिजारी, चौथिया बुखार, यकृत-प्लीहा वृद्धि में उपयोगी।

इन्जेक्शन—मलेरिया रोग मे एच० क्यू०, इन्द्रायण, ओपोक्विनीन, एरण्ड, जलोदरारि, पुनर्नवा, मर्सेलिल (पारा), मूत्रल, सनाय आदि विभिन्न कम्पनियो के सूचीवेध लाभकारी है।

नोट—विस्तार भय से इन्जेक्शनो की मात्रा आदि का प्रयोग यहा नही किया जा सका है। इसके लिए लेखक की पुस्तक "आयुर्वेद की पेटेन्ट औषधिया" देखे।

मलेरिया रोगनाशक आधुनिक चिकित्सा—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे क्विनीन मलेरिया की प्रधान औषधि है। उसके योग क्लोरोक्वीन, रिसोचीन, निवाक्वीन, मेलूब्रिन, क्वीनारसोल (सिपला) आदि है। इनकी २-२ गोली दिन में २ वार अथवा आवश्यकतानुसार ४ गोली एक साथ देते है। तन्द्रावस्था या वमन की स्थिति मे क्लोरोक्वीन का सूचीवेध करते है। क्विनारसोल का इन्जेक्शन २ मिली० की मात्रा मे मासपेशीगत

निरापद उत्तमकारी है। इससे रोगी को रोग मुक्ति के साथ-साथ शक्ति भी मिलती है। इस उपयोगी सूचीवेध को सिपला क० ने बनाया है।

अन्य औषधियो मे मेलोमाइड अथवा मेटाकैल्फिन अति उत्तम है। मेटाकैल्फिन की मात्रा २ गोलियो की है। उसे आवश्यकतानुसार १ सप्ताह के पश्चात पुन दे सकते है। मैलोमाइडिस की मात्रा २-३ गोली है।

क्विनीन औषधियो का प्रयोग १ सप्ताह तक लगातार करने के पश्चात रोग के पुनरावर्तन की सम्भावना कम रहती है। ८-१० दिन का अन्तर देकर पुन क्विनीन का अल्पमात्रा मे प्रयोग रक्तवर्धक औषधियो के साथ किया जा सकता है। इससे पुनरावर्तन का निरोध, पाडुता तथा पाचन शक्ति की वृद्धि होती है। इस कार्य हेतु निम्न योग विशेष लाभकारी पाया है—

क्विनीन सल्फेट ४ ग्रेन, एसिड सल्फ डिल १० बूंद, टि० नक्स ५ बूंद, फैरम सल्फेट ३ ग्रेन, मैग सल्फ ३० ग्रेन, लाइकर आरमेनीकलिस ३ बूंद, एक्स्ट्रेक्ट कालमेघ २० बूंद, एक्वामेन्थापिप १ औंस। १ मात्रा। ऐसी १-१ मात्रा दिन मे २ बार भोजनोपरान्त दे। इसे १ सप्ताह देकर कुछ दिन बन्दकर १ सप्ताह और दिया जा सकता है।

तृतीयक तथा चतुर्थक मलेरिया ज्वर मे—पूर्णतया निरोध के लिए प्रथम सप्ताह क्विनीन प्रयोग के बाद एटेब्रिन या मेपाक्रिन १ सप्ताह तक ३ ग्रेन की मात्रा मे ३ बार दे।

घातक मलेरिया की चिकित्सा—प्रारम्भ से ही क्विनीन का प्रयोग पूर्ण मात्रा मे करना चाहिये। वमन, मूर्च्छा आदि के कारण मुख द्वारा औषधि देना सम्भव न हो तब I/V सूचीवेध द्वारा औषधि पहुचानी चाहिए। इसके लिये क्विनीन बाईहाईड्रोक्लोराइड १० ग्रेन २ c c में शिरा द्वारा १२॥% ग्लूकोज घोल २० c c मे मिला कर १५ मिनट मे शनै शनै देना चाहिए।

यदि हृदय अधिक दुर्बल हो तो I/V इजेक्शन देने से पूर्व कोरामीन १ से ७ मिली तक देना चाहिए।

सन्ताप की अधिकता होने पर—मस्तिष्क पर बर्फ की थैली तथा गुदा द्वारा जल पहुचाना चाहिए। साथ ही शिरामार्ग से २००-४०० मिली ग्लूकोज २५% घोल दे।

विश्व स्वास्थ्य केन्द्र (W H O) के प्रभावशाली प्रायोगिक निर्देश—डब्लू एम ओ ने क्लोरोक्विन के सम्बन्ध मे व्यापक प्रयोगो का तुलनात्मक मूल्याकन करने के पश्चात निम्न क्रम से प्रभावशाली प्रयोग निर्देश किये है—

इसकी पूर्ण मात्रा रोगी को रोग मे मुक्त कराने के लिये २ ५ ग्राम मात्रा निर्धारित की है। पहले दिन १/२ ग्राम की २ मात्राये, उसके बाद २ दिन तक आधा ग्राम की १ मात्रा प्रतिदिन देनी चाहिये।

भारतीय चिकित्सको के अनुभव मे उपरोक्त क्रम निर्दुष्ट सिद्ध नही हुआ है। इस क्रम से रोगी मे अरुचि, चक्कर, निद्रानाश तथा अवसाद आदि लक्षण अधिक होते हैं। निम्न क्रम से ऐसी स्थिति उत्पन्न नही होती है—

प्रथम मात्रा ० ३ ग्राम, दूसरी मात्रा ८ घटे पर १५ ग्राम; दूसरे दिन से १५ ग्राम की २ मात्रा ४ दिन तक दी जाती है।

घातक विषम ज्वर—मलेरिया की तीव्रावस्था मे क्लोरोक्वीन की अपेक्षा कैमाक्विन के प्रयोग से शीघ्र लाभ मिलता है। रोग प्रतिषेध के लिये भी २ ग्रेन की मात्रा प्रतिदिन ली जा सकती है।

मलेरिया की नवीनतम् औषधि—आर्टीनिजीन नामक नवीन रसायन तैयार किया है जो मलेरिया रोग मे बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ मैडीसिनल एंड एरोमैटिक प्लान्टस इसके विपाक्त लक्षणो पर अभी परीक्षण कर रहा है। यह औषधि आशा है कि गत् २ वर्षों मे हमारे देश मे मलेरिया रोग की उत्कृष्ट औषधि मानी जाने लगेगी।

चिकित्सा क्षेत्र में काम आने वाली मलेरिया की आधुनिकतम् औषधियां

१ क्रेमोक्वीन (पार्कडेविस)—इसकी २०० मि ग्रा की टेवलेट आती है। यह मलेरिया के प्रतिषेध तथा चिकित्सा दोनो प्रयोग मे आती है। मलेरिया की चिकित्सा हेतु—२-३ टेवलेट। बालक ५ से १५ वर्ष तक १-२ टेवलेट, ५ वर्ष तक आधा गोली।

२ सिपलाक्वीन (सिपला)—इसमें २५० मि ग्रा (१ गोली) औषधि रहती है। प्रारम्भ मे ४ गोली तत्पश्चात २ टेवलेट ६ घटे पर तत्पश्चात २ टेबलेट प्रतिदिन २ दिन तक। इसका इन्जेक्शन भी आता है।

३ क्रोयडोक्सिन—एफ एम (विडल सेयर)—इसकी १ टेबलेट में सल्फाडोक्सिन ५०० मि ग्रा तथा प्राइमेथा-

मीन २५ मि ग्रा रहता है। क्लोरोक्विन के असफल होने पर लाभकारी है। मात्रा–प्रतिषेधात्मक–वयस्क १ टेवलेट। ६ से १४ वर्ष ३/४ टेवलेट। ४ से ८ वर्ष १/२ टेव्लेट। ४ वर्ष के बीच १/४ टेवलेट। सप्ताह मे १ बार।

चिकित्सार्थ—वयस्क २ टेवलेट। ६ से १४ वर्ष १ टेवलेट। ४ से ८ वर्ष आधा टेवलेट। ४ वर्ष के बीच आधा टेवलेट।

नोट—शिशुओ और दुग्धावस्था मे इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

[४] लेरियागो (इपका)–इसकी १ टेवलेट मे १५० मि. ग्रा. क्लोरोक्वीनीन फास्फेट रहता है। मात्रा–४ टेवलेट, इसके ६ घटे पश्चात् २ टेवलेट। तत्पश्चात २ टेवलेट प्रतिदिन २ दिन तक। इसका इन्जेक्शन भी आता है। इसके १ मि ली मे ४० मि ग्रा क्लोरोक्वीन फास्फेट रहता है। मात्रा–१० मि ली तत्पश्चात ६ घटे पर ५ मि ली.। इसके वाद ५ मि ली प्रतिदिन २ दिन तक। इसका लिक्विड भी आता है।

नोट—इसका इन्जेक्शन ५ वर्ष से कम उम्र के वालक को नहीं दिया जाता है।

[५] मैलाक्वीन (स्टेडमेड)–इसकी १ टेवलेट में २५७ मि ग्रा क्लोरोक्वीन फास्फेट रहता है। मात्रा–पहले दिन ४ गोली, तत्पश्चात २ टेवलेट ६ घटे पर। दूसरे दिन २ टेवलट। प्रतिषेधात्मक रूप मे १-२ गोली सप्ताह मे। इसका तरल भी आता है।

[६] मेलोसाइड (टोरेन्ट)–इसकी १ टेवलेट में सल्फाडोक्सिन ५०० मि ग्रा +पाइरीमेथामीन २५ मि ग्रा रहता है। यह क्लोरोक्वीन रसिस्टेन्ट मलेरिया मे दी जाती है। मात्रा प्रतिषेधात्मक रूप मे–२ टेवलेट। ६ से १० वर्ष के वच्चे को आधा टेवलेट १ माह के अन्तर पर।

चिकित्सार्थ २-३ टेव्लेट। वालक २० मि ग्रा./किलो शरीर भार पर।

[७] मेतूब्रिन (रेनवेक्सी)–इसकी १ टेवलेट मे २५० मि.ग्रा क्लोरोक्वीन फास्फेट रहता है। प्रथम दिन ४ तत्पश्चात २ गोली। प्रति ६ घटे पर तत्पश्चात् २ गोली प्रतिदिन २ दिन तक।

[८] मेटाकेल्फिन (वाल्टर कुशनेल)–इसकी १ टेवलेट मे सल्फामेथापाइरीन ५०० मि ग्रा +पाइरीमेथामीन २५ मि ग्रा रहता है। मात्रा–२ गोली। आवश्यकता पडने पर १ सप्ताह वाद दुहरायें। वालक–२५ मि ग्रा /किलो। प्रतिषेधात्मक रूप मे–२ टेवलेट प्रति सप्ताह। वालक-२५ मि ग्रा /किलो। केवल १ खुराक।

[९] निवाक्वीन (एम ड्री)—इसकी १ टेवलेट में २५० मि ग्रा क्लोरोक्वीन फास्फेट रहता है। इसका इन्जेक्शन भी आता है। इन्जेक्शन ५ वर्ष से नीचे के बालको मे प्रयोग न करें।

[१०] ओनली-२ (कोप्रान)—इसकी १ टेवलेट मे सल्फाडोक्सीन ५०० मि ग्रा +पाइरीमेथामीन २५ मि ग्रा रहता है। इसका प्रयोग जीर्ण एव क्लोरोक्वीन रेसिस्टेन्ट मलेरिया के रोगी मे लाभकारी है। प्रतिषेधात्मक रूप मे–१ टेवलेट। वालक ४ वर्ष तक १/४ टेव, ४ से ८ वर्ष आधा टेव, ६ से १४ वर्ष तक ३/४ टेव।

चिकित्सार्थ—२ गोली १ मात्रा केवल।

[११] क्वीनारसोल (सिपला)—इसकी १ टेवलेट मे क्विनीन सल्फ १५० मि ग्रा +पैरासिटामोल ३२५ मि ग्रा +अरहेनल २१४ मि ग्रा. + फिनोफ्थेलीन ११.६ मि ग्रा. रहता है। मात्रा–१-३ गोली रोजाना। इसका इन्जेक्शन भी आता है। मात्रा–१-२ मिली मासपेशीगत नित्य २-३ दिन तक।

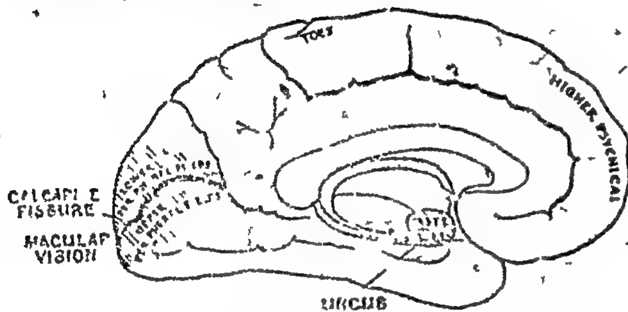
[१२] रिसोचिन (बेयर)—इसकी १ गोली मे क्लोरोक्वीन फास्फेट १५० मि ग्रा रहता है। मात्रा–प्रथम दिन ४ गोली तत्पश्चात २ टेव ६ घटे पर। दूसरे दिन २ गोली, तीसरे दिन २ गोली। प्रतिषेधात्मक रूप मे—२ गोली प्रति सप्ताह। इसका इन्जेक्शन भी आता है। मात्रा—२००-३०० मि ग्रा मासपेशीगत अथवा शिरामार्ग से (I.V) ६ घटे पर आवश्यकतानुसार दुबारा दे सकते है। २४ घटे मे ९०० मि ग्रा. से अधिक नहीं। वालको में ५ मि ग्रा /किलो भार पर।

[१३] डेराप्रिम (वेल्कम)—इसकी १ गोली मे पाइरीमेथामीन २५ मि ग्रा रहता है। इसका प्रयोग मलेरिया मे प्रतिषेधात्मक रूप में होता है। मात्रा—वयस्क एवं १० वर्ष से ऊपर के वालक २५ मि ग्रा. प्रति सप्ताह। वालक ५ से १० वर्ष १२.५ मि ग्रा प्रति सप्ताह। ५ वर्ष के वालक ६.२५ मि ग्रा प्रति सप्ताह। ★★

मस्तिष्कगत विषम ज्वर

श्रीमती शारदा व्यास, जयपुर

आधुनिक मतानुसार मलेरिया (विषम ज्वर) एक कीटाणुजन्य व्याधि है। यह प्लाज्मोडियम जाति के कीटाणु द्वारा फैलता है जिसकी कई जातियां हैं। यह कीटाणु अपनी मैथुनी तथा अमैथुनी चक्र के रूप मे बढता है। मच्छी तथा मनुष्य इसके निवास हैं। ये रक्त के लाल कणो मे रह कर उन्हे ही खाते है। इसीलिए इन्हे शोण कीटाणु (Haematozoa) कहा जाता है।



एक कीटाणु लाल कण मे प्रवेश कर १० से ३२ कीटाणु तक पैदा करता है। इन कीटाणुओ मे से अनेक को प्लीहा लाल कणो के साथ ही नष्ट कर देती है। प्रत्येक समय मे ३-४ लाल कण बच पाते है। जिस समय ये लालकण फटते हैं तो उनसे निहित कीटाणु रक्त रस मे स्वतत्र होते है उस समय मनुष्य को जाडा देकर ज्वर हो जाता है। एक प्रौढ व्यक्ति मे १५ करोड लालकण कीटाणु उपसृष्ट होने आवश्यक हैं। इनके लिए जितना समय लगता है वह सचयकाल कहलाता है। मैथुनी चक्र मे जितना काल लगता है उतना ही विलम्ब ज्वर मे होता है। मारक मलेरिया (Malignant Malaria) मे अमैथुनी चक्र का काल सबसे छोटा होता है। अशुकेतो की सख्या अधिक होती है और क्षमता अधिक रहने के कारण अधिक सख्या मे अशुकेतो के बच जाने के कारण उसका चयकाल सबसे छोटा होता है।

यो १५ करोड लालकणो का उपसृष्ट होना जूडी बुखार लाने के लिये पर्याप्त है परन्तु देखा यह गया है कि इस सख्या से कही अधिक (कई सौ गुना अधिक) लाल कण विषम ज्वर के कीटाणुओ से अभिभूत पाये जाते है। तथा मारक ज्वर मे ५००० लाख कण उपसृष्ट मिलते है। मारक ज्वर मे कभी-कभी सम्पूर्ण रक्त के लाल कणो के तिहाई से आधे तक लालकण उपसर्जित पाये जाते है। इससे यह स्पष्ट है कि जितने अधिक लालकण अभिभूत पाये जावेंगे उतनी ही मारकशक्ति अधिक होगी। लाल कणो के नाश के परिणामस्वरूप रक्तक्षय तथा शोणवर्तुलि का ह्रास होता है जिसके कारण शरीर को उचित मात्रा मे प्राणवायु प्राप्त नही हो सकती और Anoxaemia और हृदयादि मर्माङ्गो मे अपूजनन होजाता है।

विषम ज्वर के कीटाणुओ के कारण रक्त कणो के टुकडे हो जाते है तथा रागक कण प्रचुर परिमाण मे आ जाते है। इन विजातियो को ग्रहण तथा नष्ट करने का मुख्य कार्य जालकान्त श्लेष्मीय सस्थान को करना पडता है अत सर्व प्रथम उसके कोशाओ का परमचय होजाता है (प्लीहा इन कोशाओ का भडार है तथा वही लालकणो का विनाश पूर्णत होता है अत प्लीहाभिवृद्धि विषमज्वर का एक महत्वपूर्ण कार्य है। यदि रोग जीर्ण हो तो यकृत् को भी इस कार्य मे सहायता देनी पडती है और वह भी वृद्धि को प्राप्त होजाता है मज्जागत जालकान्तश्लेष्मीय सस्थान मे कोशाओं में भी अभिवृद्धि होती है। अत रक्तकण उत्पन्न नही हो पाते और रक्ताल्पता के लक्षण रोगी मे दृष्टिगत होते है।

मारक विषम ज्वर के कीटाणु जिन लालकणो मे घुस जाते हैं उन्हे भिदुर, टिपट, अनम्य कर देते हैं। ये परिवर्तन जैसे-जैसे कीटाणुओ का विकास होता है त्यो त्यो बढते जाते है। केशिकाओ मे जाते समय उनके अन्तच्छद पर ये उपविष्ट कण चिपकते जाते है और जब वे सख्या मे अधिक हो जाते हैं तो उनके मार्गों का अवरोध कर देते है। केशिकाओ को तथा समीपस्थ ऊति के पास रक्त का पहुचना कम हो जाता है जिससे वहा प्राण वायु की कमी होती चली जाती है और वहा का कार्य सम्यक्तया चलना रुक जाता है। जब ये कीटाणु मस्तिष्क मे जाकर यही क्रिया करते हैं तो ज्वर का तापाश अत्यधिक बढ जाता है। फलस्वरूप प्रलाप, विसज्ञता तथा अपस्मार के समान आक्षेप आने लगते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानो पर जाकर वे वहा पर भी विकृति के लक्षण पैदा कर देते है।

जब विषम ज्वर के मारात्मक कीटाणुओं को शरीर संख्या में साथ लेकर रक्ताणु रक्त परिभ्रमण के साथ मस्तिष्क में पहुंचते है तो वह सूक्ष्म केशिकाओं को अवरुद्ध करते ह तथा बड़ी धमनिकाओं को विस्फारित कर देते है। रक्त के साथ-२ रागक कण भी पाये जाते है। ये दोनो सकीटाणु रक्तकण तथा रागक मिलकर मस्तिष्क के त्वक्षीय भाग को सीस धातु के समान काला बना देता है। जहा रागक के कण सचित होते हे वहा बिन्दु के आकार का रक्तस्राव होता हे। यह रक्तस्राव अनुत्वक्षीय श्वेत भाग मे होने के कारण यह कर्बुरित हो जाता है। मस्तिष्कगत विषम ज्वर के कारण जिनकी मृत्यु होती हे उनकी मृत्यूत्तर परीक्षायें यह बतलाती हे कि मृतकों के मस्तिष्क का श्वेत भाग असख्य छोटे छोटे रक्तस्रावो मे भरा होता है। केशिकावरोध तथा रक्तस्रावो के कारण अत्यधिक सन्ताप, विमर्शता, तन्द्रा, आक्षेप, मूकता तथा अङ्गघातादि लक्षण प्रकट हुआ करते है।

मस्तिष्कगत विषम ज्वर की स्थिति पूर्णतया मारक न सही तो भी कृच्छ्रसाध्य तो है ही। इसका निदान शीघ्र हो तथा इसकी चिकित्सा शीघ्रातिशीघ्र हो तो रोगी मृत्युमुख से निकाला जा सकता है।

प्रसगवश ये कीटाणु हृदय आदि मर्म स्थानों मे पहुंच कर भी मारक बन सकते है। इसी दृष्टि से ही सम्भवत आयुर्वेद ने विषम ज्वर को सन्निपातिक तथा मारक माना है।

इस स्थिति मे जब विषम ज्वरी सज्ञाशून्य होना दीखे तब ग्लूकोज २५ सी सी मे कुनैन २ सी सी का इन्जेक्शन मिलाकर शिरान्तर्गत सूचिका लगावे। आवश्यकता पड़ने पर अधिक मात्रा मे भी दिया जा सकता है। अन्य सूचिकाद्रव Nevaquine तथा Chloroquine की भी सूचिका लगाई जा सकती है परन्तु वे सभी ग्लूकोज के साथ तथा शिरान्तर्गत ही लगाई जानी चाहिये।

इसका असर तत्काल ही होजाता है। यह रोग मारक है तथा इससे रोगी की रक्षा तत्काल उपचार द्वारा ही हो सकती है। विलम्ब घातक सिद्ध होगा। ✱

मारक विषम ज्वर

दोषो अल्पोहित सम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुन । धातुमन्यतम प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥ (७१९)

ज्वर से मुक्त हुए रोगी के अहितकर आहार विहार आदि आचरणो के कारण हीन बल त्रिदोष पुन बल प्राप्त कर रस रक्तादि धातुओ मे-से किसी एक धातु को दूषित कर पुन ज्वर उत्पन्न कर देते है। इसे विषम ज्वर कहते है।

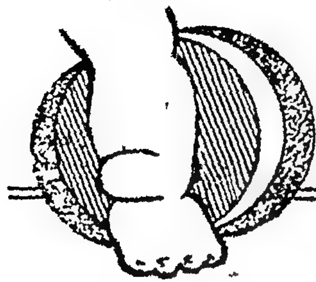
टीका—तत्र विषमज्वरस्य निदान कथन पूर्विका सम्प्राप्तिमाह दोष इति। अयमर्थ—ज्वरोत्सृष्टस्य ज्वरेण त्यक्तस्य। सन्निकृष्टहेतुमाह—दोषऽल्प=ज्वर मुक्तता स्वल्पोऽपि। विप्रकृष्टहेतुमाह—अहितम्= आहार विहारादि, तेनसम्भूते सम्पूर्णो जात।

यहा पर यह भी समझना चाहिए कि—इस श्लोक मे विषम ज्वर के निदानो को प्रथम कहते हुए उसकी सम्प्राप्ति को भी कहते हे और 'ज्वरोत्सृष्टस्य' पद का 'ज्वर से मुक्त हुये व्यक्ति के' यह अर्थ समझना चाहिये और थोड़े बल वाले वातादिक दोषो को सन्निकृष्ट कारण तथा 'अहितकर आहार विहारादि को' विप्रकृष्ट निदान समझना चाहिए।

अन्यतम धातु = रसरक्तादिकम्, प्राप्य-दूषयित्वा, पुनर्विषमज्वर करोति। ज्वरोत्सृष्टस्य येति। वा शब्देनेति बोध्यते, प्रथम तो विषम ज्वरोभवति। यदुक्तम् आरम्भाद्विषमो-यस्त्विव इत्यादि।

अन्यतम धातुम् इन पदो मे रस रक्तादि धातुओ मे से किसी एक धातु को तथा 'प्राप्य' पद का प्राप्य होकर अर्थात् दूषित करके यह अर्थ समझना चाहिए। 'ज्वरोत्सृष्टस्य वा' इस स्थल पर 'वा' शब्द के प्रयोग करने से यह समझना चाहिए कि—प्रथम से ही विषम ज्वर होता है क्योकि शास्त्र मे कहा भी है कि आरम्भ से ही जो विषम ज्वर होता है उसे असाध्य जानना चाहिए। 'अन्तकमिवमारकत्वात् ॥'

(भाव प्रकाश ११९ ज्वराधिकार)



श्लीपद

—श्री जयनारायण गिरि 'इन्दु'

श्लीपद के सामान्य लक्षण

इस व्याधि मे वक्षण सन्धि मे शोथ और रुक् हो जाता है। ज्वर की उपस्थिति होती है और स्वत उसका



श्लीपद रोग का जीवाणु-फाइलेरिया बैनीक्राफ्ट

उपशम भी हो जाता है। शोथ अथवा ज्वर आवेग रूप मे आते हैं। अति आवेग मे शोथ पैर की ओर अग्रसर होता है। श्लीपदजनित शोथ अगुली से दबाने पर अन्य शोथ की भाति उसमे गढा नही पडता है। प्रत्येक वार वेग शमन होने पर किंचित् शोथ अवशिष्ट रह जाता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि पूर्वापेक्षया प्रतिवार के वेग मे शोथ की वृद्धि होती है।

श्लीपद रोग भेद

श्लीपद के ८ भेद होते है-(१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) कफवातज, (५) रक्तज, (६) मासज, (७) मेदज और (८) शुक्रज।

साध्यासाध्यता—

'तत्र सम्वत्सरातीतमात महद्वल्मीक जात प्रभूतमिति वर्जनीयानि।' —सु० नि० १२

अर्थात्—जिन श्लीपद के कारण शोथ मे वल्मीकवत् उभार उत्पन्न होकर उसमे से स्राव निष्कासित हो और उसे एक वर्ष व्यतीत हो गया हो वैसा श्लीपद साध्य नही होता। रोगी अगर कफज प्रकृति का हो और कफज, आहार-विहार द्वारा यह रोग हुआ हो, शोथ महान एव स्रावयुक्त हो, तीनो दोषो के लक्षण मिलते हो, साथ ही कण्डू की विशेषता हो तो ऐसा श्लीपद असाध्य होता है।

चिकित्सा

(१) भावमिश्र लिखते हैं—

वर्षाभू त्रिफला चूर्णं पिपल्यासर योजितम्।
सक्षौद्र श्लीपदे लिह्याच्चिरोत्थं श्लीपद जयेत्॥

अर्थात्—पुनर्नवा, त्रिफला, पिप्पली के चूर्ण को मधु के साथ सेवन करने से पुरातन श्लीपद का नाश होता है।

(२) भावमिश्र ने उपर्युक्त योग के अतिरिक्त कतिपय वाह्य प्रयोगार्थ योगो का भी निर्देश दिया है। यथा—

धत्तूररंरड निर्गुण्डी वर्षाभू शिग्रु सर्षपं।
प्रलेप श्लीपदहन्ति चिरोत्थमपि दारुणम्॥

अर्थात्—धत्तूर, एरड, पुनर्नवा, शिग्रु, सर्षप लेप करते रहने से चिरकालिक शोथ शमन होता है।

(३) भैषज्य रत्नावली के मतानुसार—

गन्धर्व तैल सिद्धा हरीतकी गोजलेन य पिवन्ति।
श्लीपद वन्धन मुक्तो भवत्यसौ सप्त रात्रेय॥

अर्थात्—एरण्ड भ्रष्ट हरीतकी चूर्ण को गोमूत्र से सेवन से मात्र ७ दिन मे ही श्लीपद का शमन होता है।

(४) 'भैषज्य रत्नावली' के अनुसार हरिद्रा चूर्ण गुड के साथ लेकर ऊपर से गोमूत्र का व्यवहार इस व्याधि के निवारणार्थ करना उपयोगी होता है। यथा—

रजनी गुड संयुक्ता गोमूत्रेण पिवेन्नर।
वर्षोत्थं श्लीपदं हन्ति दद्रु कुष्ठ विशेषत.॥

(५) भैषज्य रत्नावली के प्रणेता का कथन है कि नित्यानन्द रस ५-१० रत्ती १-२ बार गोमूत्र के साथ प्रयोग कराना चाहिए। आयुर्वेदीय परम्परा में यह योग वैद्यवर्ग द्वारा विशेष रूप से आदृत होता है।

(६) चरकाचार्य का अभिमत है कि शोथ स्थान पर वेदनाहर तैल के अभ्यङ्ग से अपूर्व लाभ प्राप्ति होती है। अभ्यङ्ग करने के उपरान्त उपनाह स्वेद, गोधूम या यव चूर्ण को अम्ल काञ्जी सुराबीज तथा स्नेह मिलाकर मोटा लेप लगा देना चाहिये। तदुपरान्त ऊपर से उष्ण वस्त्रों यथा कम्बल आदि से बांध देना चाहिए। दिवाबन्ध को रात्रि में और रात्रिबन्ध को दिन में खोल देना चाहिए।

(७) सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय प्रतिष्ठान जी० ए० मिश्रा आयुर्वेदिक फार्मेसी झांसी 'श्लीपदारि' नाम से कैपसूल और इन्जेक्शनों का निर्माण करती है जो इस रोग की अतीव गुणप्रद विशुद्ध आयुर्वेदीय अवदान मानी जायगी। विवरण पत्रानुसार प्रयोग कर लाभ उठावें।

(८) पित्तज श्लीपद में, जिसका वर्ण पीताभ भासित है, स्पर्श में मृदुशोथ होता है, सूतशेखर रस १ ग्राम और प्रवाल भस्म २ ग्राम को मिलाकर ३ घंटा मर्दन करके दूध एवं निम्न क्वाथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिए—

वृहत्पाठा, शिग्रु-त्वक, मार्कण्डिका, पुनर्नवा, हरीतकी, देवदारु, निर्गुण्डी, गुडूची सब समभाग लेकर आठ गुने पानी में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर प्रयोग करावें।

(९) पित्तज श्लीपद में बाह्य प्रयोगार्थ निम्न लेप का प्रयोग हितावह है—

> मञ्जिष्ठा मधुकं रास्ना सहिस्रा सपुनर्नवाम्।
> पिष्ट्वारनाल लेपोऽयं पित्त श्लीपद शान्तये॥
>
> —भै० र०

अर्थात्—मजीठ, मधुयष्टि, रास्ना, हिंस्रा, पुनर्नवा और कांजी का प्रलेप पित्तजन्य श्लीपद को शमन करता है।

(१०) कफज प्रकार के श्लीपद में शोथ का वर्ण श्वेत व पाण्डु होता है तथा स्पर्श में स्निग्धता प्रतीत होती है। आन्तरिक प्रयोगार्थ आरोग्यवर्धिनी २ से ८ रत्ती दिन में दो बार उष्णोदक के साथ प्रयोग करावें, मेरा अनुभूत है।

(११) कफ विकारजन्य श्लीपद में सुश्रुत वर्णित निम्न योग बाह्य प्रयोगार्थ अतीव गुणप्रद है—

शिरीष, मिर्च, आक, सुंठी एवं चित्रक का लेप।

(१२) महर्षि सुश्रुताचार्य के अभिमतानुसार कफज श्लीपद के रोगी के पैर के अंगूठे में शिरावेधन कर्म सम्पादित करके रक्तमोक्षण करना चाहिए।

(१३) सुश्रुत के ही अनुसार अजा का गोमूत्र के साथ सेवन कराना इस रोग में उपयोगी है।

(१४) रसोन गुग्गु १५ बूंद से ६० बूंद तक जल के साथ भोजनोपरान्त देवें।

(१५) हरिद्रा व गुड दोनों समभाग मिलाकर गोमूत्र के साथ सेवन करने से श्लीपद का प्रतिषेध होता है।

(१६) लोध्र बड़ी हरड़, कायफल, आंवला, खदिर और शाल की छाल समभाग २ तोला, जल २५० ग्राम क्वाथ कर २५ ग्राम शेष रहने पर पीने को दें। इससे श्लीपदजन्य पायसमेह (Chylúria) की निवृत्ति होती है।

(१७) श्लीपद-गज-केशरी (भै०र०)-२ रत्ती गरम जल के साथ प्रात तथा सायंकाल दें।

(१८) नित्यानन्द रस (र० सा० स०) १ गोली हरड़ के कषाय के साथ प्रात साय दें।

(१९) चित्रक, देवदारु, सरसों, सहजन की छाल को गो-मूत्र में पीसकर सुखोष्ण लेप करने से श्लीपद के शोफ का शमन होता है।

(२०) धतूरे की पत्ती, एरण्ड की जड़, निर्गुण्डी की छाल, भूमि आमला, सहजन की छाल, सरसों को गोमूत्र या जल में पीसकर लेप करने से श्लीपद की सभी अवस्थाओं में लाभ होता है।

श्लीपद की आधुनिक चिकित्सा

(२१) एसिटार्सल, एमिटिलारसोन, एसिटार्सिन, ऐन्थियोमलीन के इन्जेक्शन सप्ताह में २ बार २ सी० सी० की मात्रा में देने से लाभ होता है।

(२२) हैट्राजन, बैनासाईड, कार्मिलाजाइन में से किसी को ५० मि० ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार लेने से रक्त में सूक्ष्म श्लीपदी पूर्णतया निकल जाते हैं। कुल १५ दिन तक देना चाहिए।

पथ्यापथ्य—

पुरातनशालि, षष्टीक शालि, यव, कुरथी, एरण्ड तैल, गोमूत्र, सहसुन करेला, पुनर्नवा, परवल, मूली, गोदुग्ध पथ्य आदि। पिष्टान्न, गुड, आनूप मांस, गर्म मसाला, जलाशय का जल अपथ्य हैं।

—वैद्यरत्न श्री जयनारायण गिरि 'इन्दु'
धजवा, पो० नूरचक (मधुबनी) बिहार



पुनरावर्तक ज्वर

श्री वैद्य छगनलाल समदर्शी आयु०रत्न
प्रभारी–समदर्शी मल्टीपर्पज हास्पीटल, रायपुर [झालावाड] राज०

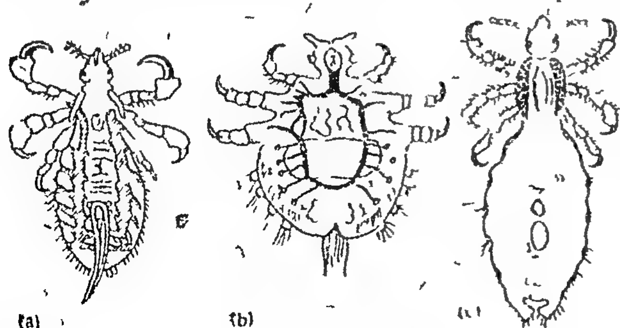
पर्याय—हेर-फेर का ज्वर [Relapsing fever]

हेतु—इस रोग का कारण स्पायरोकीटा ड्यूटोनी और स्पा रिकरटिस नामक चक्रकीटाणु है।

सहायक कारण—यह रोग शीतकाल में प्रारम्भ होकर, वसन्त में अधिक रहकर गर्मियो मे बन्द हो जाता है। सब अवस्थाओ के स्त्री-पुरुषो मे यह होता है। परन्तु जवान पुरुष इससे अधिक पीडित होते है। जू ओ से फैलने वाला रोग होने के कारण पुराने मलीन कपड़ो से सम्बन्ध रखने वालो मे जैसे धोबियो मे, रोगियो के नौकरो तथा परिचारको मे अधिक होता है।

सक्रमण—इस रोग का सक्रमण जू और किलनी [Ornithodorus moubta] द्वारा होता है।

यूका—सरतन प्राणियो के रक्त पर निर्वाह करने वाले बिना पख के कीडे है। मनुष्यो पर इसकी तीन उपजातिया मिलती है—[१] शीर्ष यूका [Pediculus capitis]—यह जुआ सिर के बालो मे रहता है। [२] मानवी शरीर यूका [P Humanus coporis]—यह जुआ मनुष्यो के शरीर तथा कपडो पर रहता है। [३] गुह्याग यूका [Phthirus Pubis]—इसको कर्कट यूका [Crab louse] भी कहते है। यह जुआ जननेन्द्रिय के बालो मे रहता है। जुआ अपने पैरो द्वारा, जिनमे बारीक नख होते है शरीर या बालो मे चिपट जाते है।



तीन प्रकार की यूकायें
[a] शीर्ष यूका [b] गुह्याङ्ग यूका
[c] मानव शरीर यूका

इसके सिवा नाखूनों के द्वारा भी उनका स्थानान्तर हो सकता है। एक ही व्यक्ति पर तीनो प्रकार के जुए मिल सकते है, परन्तु साधारणतया स्त्रियो मे सिर के जुए और पुरुषो मे बाकी दोनो प्रकार के जुए अधिक मिलते है।

यूका नाशन—जिन लोगो मे जुए हो उनका सम्पर्क बन्द करो। प्रतिदिन शरीर की और कपडो की तथा बिस्तरे की सफाई रक्खो।

रोग प्रतिषेध—प्रतिषेध के लिए रोग का निदान एक आवश्यक बात है। निदान होते ही १०% डी डी टी से रोगी तथा उसके घर के लोग और कपडे निर्यूक करने चाहिए।

किलनी—उष्ण प्रदेशो मे बहुत मिलने वाला यह एक साधारण कीडा है जो गाय, बैल, कुत्ते, घोडे के ऊपर अकसर पाया जाता है और इनके सपर्क से मनुष्यो पर चिपट जाता है।

पुनरावर्तक ज्वर के सिवा किलनी से तद्रिक ज्वर का भी सवहन होता है।

किलनीवह रोग प्रतिषेध—कच्ची मिट्टी के फर्श और घास-फूस-बास इनकी झोपडियो से किलनी का नाश

—शेषांश पृष्ठ १५१ पर देखें।

पूष ज्वर (TYPHUS FEVER)

वैद्य अम्बालाल जोशी आयु० केशरी, पुंगलपाटा, मकराना मोहल्ला, जोधपुर (राज०)



यह ज्वर उप सक्रमक है जो यूकालीक्षा मे तथा गन्दे वातावरण से फैलता है। इसीलिये इसे वन्दीग्रह ज्वर, यूकालीक्षा ज्वर (Louse Fever), अकाम ज्वर, शिविर ज्वर नामो से पुकारा गया है। आचार्य त्रिवेदी जी ने इसे तन्द्रिक ज्वर कहा है। यूकालीक्षा द्वारा यह मनुष्य देह मे प्रवेश करता है। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य मे जू लगकर इस रोग को फैलाती है।

इस ज्वर के सक्रमण का पाककाल ५ से २० दिन तक का है। इसके पूर्वरूप मे अवसाद तथा अङ्गमर्द देखा गया है। सर्व प्रथम सामान्य ज्वर कम्प द्वारा होता है। तापमान १०३-१०४ डिग्री होता है। कभी छर्दी भी होती है। मुख मण्डल व नेत्र रक्त हो जाते है। जिह्वा मलीन, दुर्गन्धयुक्त, श्वास, शिर शूल, कास होते है। रोगी अवसन्न एव मदाभिभूत होता है।

कभी-कभी रोगी मोह और प्रलाप के वेग से आक्रात होता है। ज्वर तापमान १२ से १४ दिन तक उच्च रहता है। प्रात ताप कुछ न्यून रहता है। मृदु प्लीहा वृद्धि हो जाती है। यकृत्, हृदय तथा वृक्कद्वय मे कुछ विकृति पाई जाती है। यह एक सघातिक रोग है, इसमे आक्रान्त रोगी हृदपेशीय क्षति के कारण, मूर्च्छा सम्बन्धी विपाक्तता के कारण, या श्वसनक के कारण मरते है।

यह जू वो मे पैदा होने वाला रोग जू वो के मल मे भी फैलता है। शरीर मे खरोंच या जखम मे होकर मल शरीर मे प्रवेश कर जाता है, श्वास मार्ग द्वारा, नासिका मार्ग द्वारा, मुख द्वारा, हवा के रजकणो मे होकर यह शरीर मे प्रवेश कर जाता है। यह विकार पहाडी देशो मे अधिक पाया जाता है, इसके प्रकार भी होते है। जू के सिवाय पिस्सू और किलनी जीवो द्वारा भी यह फैलता है जिनके लक्षणो मे कुछ मन्द ज्वर हुआ करता है।

रक्त परीक्षा—(१) श्वेत कायाण्वपकर्ष (२) वील फैलिक्स प्रतिक्रिया (Weil Felix Reaction) (३) अस्त्यात्मक वासरमैन प्रतिक्रिया।

अव हम टायफाइड, टायफस ज्वर का अन्तर वताते हैं—

आन्त्रिक ज्वर (टायफाइड)	पूष ज्वर (टायफस)
[१] मर्यादा २१ दिन	मर्यादा १४ दिन
[२] दाने एक सप्ताह मे निकलते है	दाने ५ दिन मे निकलते है
[३] ज्वर वेग की अपेक्षा नाडी मन्द	ज्वर वेग के अनुपातानुसार नाडी गति तीव्र
[४] आन्त्र तथा उदर मे शूल	आन्त्र व उदर मे पीडा का अभाव
[५] पेट मे आध्मान तथा अतिसार	मलावरोध
[६] ताप मे क्रमश वृद्धि	प्रारम्भ से ही ताप वृद्धि
[७] शिर शूल तथा प्रलाप का अभाव	शिर शूल तथा प्रलाप

इस रोग की चिकित्सा करते समय सजीवनी, कस्तूरी भैरव रस आदि उपयोगी है। अन्य चिकित्सा लक्षणानुसार की जानी चाहिए। देह शुद्धि, वस्त्र शुद्धि की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। स्थान शुद्धि मे फिनायल, तारपीन का तैल गरम जल से स्थान साफ रखना चाहिए। वस्त्रो को उवलते गरम पानी मे छोडकर फिर साफ करना चाहिये। ✿

तन्द्रिक ज्वर

श्री वैद्य छगनलाल समदर्शी आयुर्वेद रत्न
समदर्शी मल्टीपर्पज हास्पीटल, रायपुर [झालावाड] राज०

—★✶★—

रिकेट्सीय रोग या तन्द्रिक ज्वर

(Rickettsia diseases, Typhus fevers)

हेतुकी—प्रधान हेतु रिकेट्सिया वर्ग के जीवाणु हे।

प्रसार और प्रकार—रिकेट्सिया कोशान्तर्य जीव होने के कारण प्राणियो के शरीरो के बाहर या धातु कोशाओं के बाहर नही मिलते। कुत्ता, खरगोश, मूषक, चूहा इत्यादि रदनिन (Rodents) वर्ग के प्राणी इनके सचयाधार (Reservoir) होते है जिनमे मनुष्य भी होता हे। इन रदनिन जीवो से तथा मनुष्यो मे अन्य मनुष्यो पर इनका सक्रमण कुटकी, किलनी, मकडी इत्यादि अष्टपाद (Arachnids) तथा षट्पाद (कीटक Hexapods) वर्ग के जीवो से हुआ करता है।

इसके निम्न चार भेद है—

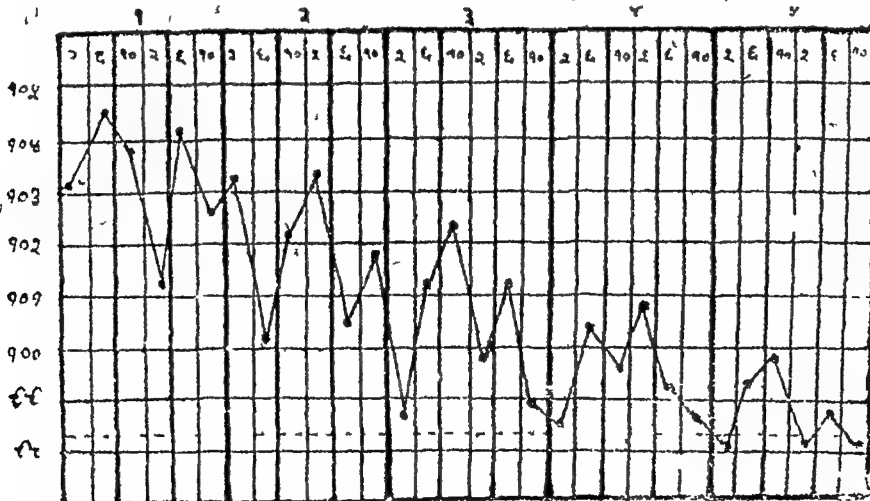
१. मरक तन्द्रिक

इसे Epidemic typhus, विस्फोट तन्द्रिक Typhus exanthematicus, शिविर या कारावास ज्वर Camp or jail fever, यूकावह तन्द्रिक Louse-borne typhus युरुपियन तन्द्रिक, अकालज्वर भी कहते है।

यह एक तीव्र तथा घातक रिकेट्सिया का उपसर्ग हे जिसमे सन्तत ज्वर, त्वचा पर विस्फोट, नाडीसस्थान का प्रक्षोभ और अत्यधिक अवगन्वता होती है। ठीक होने वाले रोगियो मे १४वे दिन यकायक ज्वरमोक्ष होता है।

हेतुकी—इस रोग का कारणभूत जीवाणु रिकट्सिया प्रोवझेकी (R Prowazeki) हे।

यह रोग प्राय महामारी या जानपदिक रूप धारण करता है। इसलिए इसको मरक तन्द्रिक नाम दिया गया हे।



२. पिस्सू तन्द्रिक

पर्याय— Flea typhus, मूषा तन्द्रिक Murine typhus, स्थानपदिक तन्द्रिक Endemic typhus

व्याख्या—यह एक ससार व्यापी सौम्य तन्द्रिकराग ज्वर है जो महामारी के रूप में नही होता। इसका सचयाधार चूहे तथा अन्य रदनिन (Rodents) जीव होते हैं। मनुष्यो पर इसका सक्रमण पिस्सुओ से होता है।

हेतु—इस रोग का हेतु मरक तन्द्रिक के रि० प्रोवाझेकी के समान रि० मुसेरी (R Mooseri) है।

प्रसार—प्लेग का सक्रमण जिस पिस्सू से होता है उसी से इस ज्वर का भी सक्रमण होता है। इसके शरीर मे भी जू के समान जीवाणुओ की विवृद्धि होती है। परन्तु यूकावह प्रकार के समान यह मरक का रूप नही लेता।

रोगी या सौम्य रोग पीडित मनुष्यो से स्वस्थ मनुष्यो पर इसका सक्रमण शरीर पर रहने वाली जू के द्वारा होता है। यह जू वस्तुत शरीर पर न रहकर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले कपडो मे रहा करती है। इसलिए इसको वस्त्रयूका (P vestimenti) भी कहते है। इस रोग का प्रसार मुख्यतया वस्त्रयूका से होता है। शिरोयूका भी क्वचित् सवहन का कार्य कर सकती है। इसके अतिरिक्त चूहे के पिस्सू भी कभी-२ रोग का सवहन करते है।

३. किलनी तन्द्रिक (Tick Typhus)

पर्याय—Rocky Mountain spotted fever, शैलपर्वत कर्बुरित ज्वर।

व्याख्या—यह एक महामारी के स्वरूप मे फैलने वाला तीव्र और तन्द्रिकसम ज्वर है जिसमे सचयाधार रदनिन जीव होते हैं।

हेतु—रिकेट्सिया रिकेट्सी नामक जीवाणु है।

४. कुटकी तन्द्रिक (Mite typhus)

पर्याय—Tsutsugamushi disease) त्सुत्सुगामूशी रोग, खरक तन्द्रिक, Scrub typhus, खरक उष्णकटिबन्धज Scrub tropical, तन्द्रिक, कूट-तन्द्रिक Pseudo typhus

व्याख्या—रिकेट्सिया से उत्पन्न होने वाला यह एक तीव्र रोग है जिसमे २-३ सप्ताह का ज्वर, स्थानिक प्राथमिक व्रण तथा तत्स्थान, सम्बन्धित लसग्रन्थि शोथ, सार्वदैहिक विस्फोट, कर्णनाविर्य और फुफ्फुस मे अवस्नल रक्ताधिक्य आदि लक्षण होते हैं।

भारतवर्ष मे यह रोग मद्रास, बम्बई, शिमला पहाड़, असम, पजाब, बगाल आदि स्थानो मे पाया जाता है। इस रोग का कोई विशेषकाल नही होता। फिर भी नम और तर प्रदेशो मे नदियो के समीपवर्ती स्थानो मे जब भूमि पर घास-फूस तथा उद्भिज्जात (Vegitations) अधिक रहता है तब अधिक होता है।

प्रसार—इस रोग का प्रसार कुटकी (Trombicula Deliensis) की इल्लियो (Larva) द्वारा होता है।

प्रतिबन्धन—यूका तन्द्रिका का प्रतिबन्धन यूकावह परिवर्तित ज्वर के समान करना चाहिए।

लघु आन्त्रिक ज्वर मे उत्ताप अधिक, छाती मे प्रदह तथा बृहदान्त्र मे व्रणो की प्राप्ति होती है। यह २१ दिन का होता है। लक्षण आन्त्रिक ज्वर के समान होते हैं। परन्तु इसका प्रारम्भ शीत लगकर ज्वर होता है। इसमे नासिका से रक्तस्राव होता है। उदर मे पीडा नही होती। ज्वर का वेग उतार-चढाव पर रहता है। पीडिकायें प्रचुर मात्रा मे होती है। अतिसार, फुफ्फुस विकार भी होते हैं।

तन्द्रिक ज्वर चिकित्सा

(१) मलावरोध दूर करने के लिए एरण्डतैल का एनीमा या ग्लिसरीन की पिचकारी का प्रयोग करे। अश्वकंचुकी रस भी काम मे ले सकते है।

(२) कोष्ठशुद्धि होने के बाद लक्ष्मीनारायण रस, कस्तूरी भैरव रस, ज्वर केशरी रस या महाज्वरांकुश रस का प्रयोग १-१ रत्ती की मात्रा मे प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, मधुरान्तक वटी २ रत्ती के साथ दिन मे दो बार करे।

(३) बालो मे जुओ को मारने के लिए डी डी. टी (D D T) या निम्ब तैल भरना चाहिए।

(४) टेरामाइसीन, एकोमाइसीन आदि कैपसूल एव सूची के रूप मे देने से शीघ्र लाभ होता है।

(५) एण्टीटाइफस वैक्सीन (Anti Typhus Vaccine) के दो इञ्जेक्शन १ सी सी के १-१० दिन के अन्तर से दे।

★←०→★

दण्डकज्वर

कविराज डा० हरिवल्लभ मन्नुलाल द्विवेदी सिलाकारी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
चिकित्सक चक्रवर्ती, आयुर्वेद बृह०, स्वामी निरंजन-निवास, सागर।

—०:०—

पर्याय—इसे हिन्दी मे हड्डीतोड बुखार, अंग्रेजी मे ब्रेकबोन फीवर और डेग्यू फीवर कहते है।

व्याख्या—इसमे ज्वर, त्वचा पर छोटे-छोटे गुलाबी दाने और हड्डियो के जोडो मे तीव्र पीडा के लक्षण होते हैं। हड्डियों की पीडा इतनी तीव्र होती है कि हड्डिया टूट रही है ऐसा मालूम होता है। इस कारण से यह रोग 'हड्डीतोड बुखार' भी कहलाता है।



दण्डक ज्वर कीटाणु वाहक मक्षिका

हेतु और सक्रमण—इस रोग का कारण कोई विषाणु है। रोग का प्रसार स्टेगोमिया फेशिएटा या ईडीज इजिप्टी (Stegomyia Fasciata or Ades Aegypti) से होता है। दंडक ज्वर पीडित-मनुष्य के रक्त मे प्रारम्भिक ३ दिन तथा उसके पूर्व १० घन्टा रोग का विष रहता है। इस अवधि मे स्टेगोमिया मच्छरी के काटने से उसके शरीर मे रोग का विष प्रविष्ट होता है। वहा पर १०-१२ दिन तक उसमे कुछ परिवर्तन होता है। उसके पश्चात् मच्छरी जीवन भर रोग का सक्रमण अपने दश मे कर सकती है। यह मच्छरी दिन मे काटती है।

सम्प्राप्ति—शरीर मे जीवाणु का प्रवेश होने पर कूर्पर सन्धि के ऊपर स्थित ग्रन्थिया फूल जाती है। कभी कभी प्लीहा स्पर्शलभ्य होती है। रक्त मे रोग के प्रारम्भिक दिनो मे विष विद्यमान रहता है। श्वेतकण घटकर ३ से ४ हजार तक रह जाते है। बहुकेन्द्रीय कण बहुत कम तथा एक केन्द्रीय कण अधिक बढ जाते है। ज्वर उतर जाने पर ईयोसिनोफिल की सख्या बढ जाती है।

लक्षण—

ज्वर अकस्मात आरम्भ होता है और कुछ घन्टो मे १०४ डिग्री तक बढ जाता है। ज्वर तीसरे दिन कुछ कम होता है। पाचवे दिन पुन बढता है। इसके बाद सातवे दिन उतर जाता है।

पीडा—सिर, नेत्र, कमर तथा हाथ-पैरो मे तीव्र पीडा होती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे हड्डिया टूटी जा रही हो। शरीर अकडता है।

विस्फोट—शरीर पर प्राय विस्फोट निकलते है। पहले या दूसरे दिन मे विस्फोट-मुख, गर्दन तथा वक्ष पर दिखाई देते हैं। इनके कारण ये स्थान लाल लाल दीखते है। एकाध दिन बाद विस्फोट मिट जाते है। चौथे अथवा पांचवे दिन दूसरी बार ज्वर चढने के साथ विस्फोट निकलते है। ये धड, शाखाओ तथा हथेलियो पर अधिक दिखाई देते है। इनके मुर्झाने पर चर्म भुसी की भाति निकलता है। कभी कभी ये विस्फोट नही भी दीखते।

नाडी—प्रारम्भ मे नाडी की गति ज्वर के अनुसार बढती है परन्तु उत्तरोत्तर मन्द हो जाती है। यहा तक कि १०२ डिग्री ज्वर होने पर भी नाडी की गति स्वाभाविक रहती है। स्पर्श मे उष्ण होती है। इसके अतिरिक्त दुर्बलता, अनिद्रा, तीव्र ज्वर, प्रलाप, जी मचलाना, वमन, मन्दाग्नि, विवन्ध, जीभ मैली ये लक्षण होते है।

उपद्रव¹—बहुत कम उपद्रव होते है, तथापि निम्न उपद्रव हो सकते है—रक्त प्रवाह, अल्ब्युमिन मेह, प्रवाहिका, वृषणशोथ, कर्णमूलकशोथ, तीव्रज्वर तथा नेत्राभिष्यन्द।

साध्यासाध्यता—यह सुसाध्य ज्वर है। बालक, वृद्ध एव दुर्बलो को कभी कभी मारक होता है। बहुधा बालकों मे–नासिका से रक्तस्राव, प्रलाप आदि लक्षण अधिक होना तथा तीव्रज्वर इससे मृत्यु होती है। विद्वान वैद्यो के विशेष दिशादर्शन हेतु कविराज गणनाथ सेन कृत निदान उद्धृत है—

अस्थिसन्धिरुजास्तीव्रा दण्डाकृतिकृता इव।
प्राय क्षिप्रोदयलयो वीसर्प. सर्वांगात्रग ॥
ज्वरश्च कण्ठरुग्युक्त पुनरावर्त्तते गत।
सञ्चारिणा सशोथेने सन्धिशूलेन लक्षित. ॥
प्रतिश्यायकासवान् प्रायेणाष्टाहेन प्रमुच्यते।
चिर सन्धिरुजा सन्ति सज्ञेयो दण्डक ज्वर ॥
प्रायोऽसौजानपदिको वातश्लेष्म प्रकोपण.।
बालाना जरतञ्चातिदारुण· परिलक्ष्यते ॥
(सिद्धान्त-निदानम्)

चिकित्सा

आर्ष आयुर्वेदाचार्यो का आदेश है कि—

ज्वरादौ लङ्घन कुर्यात् ज्वरामध्येतुपाचनम्।
ज्वरान्ते रेचनं दद्यात् तदनन्तर भेषजम् ॥ (यो र)

ज्वर के पहले लङ्घन, ज्वर के मध्य मे पाचन और ज्वर के अन्त मे रेचन देना, तदुपरान्त औषधोपचार करना चाहिए। यदि ज्वर की सामावस्था हो तो एक सप्ताह लङ्घन कराना उचित है, अन्यथा नही। स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, यदि कब्ज होवे तो पहले अश्वकचुकी रस देकर कोष्ठ शुद्धि करने के बाद ज्वराकुश रस, महाज्वराकुश रस, चढते हुए ज्वर मे इनका उपयोग करने मे ज्वर का वेग बढता है, अतएव ज्वर आने के पूर्व प्रयोग करना चाहिए। नारायण ज्वरांकुश रस २ रत्ती, तुलसी पत्र, सोठ, कालीमिर्च की चाय के साथ सेवन कराके कपडे ओढाकर रोगी को सुलाना। इससे पसीना आकर ज्वर का वेग कम हो जाता है। यदि ज्वर का वेग तीव्र हो, रक्तस्राव हो रहा हो, पित्त प्रकृति हो एव ग्रीष्म ऋतु मे इन औषधियो का उपयोग नही करना।

ज्वरेन्द्रवल्लभ रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ, शुद्ध धत्तूर बीज, माम्हर शृङ्ग भस्म, सोठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल, पीपरामूल, प्रत्येक ५-५ तोला। चूने के पानी मे पकाया हुआ सुम्मल २ तोला, गोदन्ती हरताल भस्म २ तोला, चौकिया सुहागा भुना हुआ ४ तोला, करजबीज का चूर्ण १० तोला, शुद्ध पारद ५ तोला, शुद्ध गन्धक ५ तोला।

विधि–प्रथम पारद और गन्धक दोनो को काजल के समान घोटकर कज्जली करना। फिर औषधियो का चूर्ण और अन्य औषधियो का कपडछन किया हुआ चूर्ण मिलाकर क्रमश करेले के पचाग रस, इनकी पृथक्-पृथक् १-१ भावना देकर मर्दन करना और १ रत्ती प्रमाण वटी बनाकर रख लेना। मात्रा—१ से ३ वटी तक। अनुपान—तुलसी पत्र रस तथा मधु के साथ।

समय—प्रात, मध्याह्न एव साय अथवा आवश्यकता और अवस्थानुसार देना। उपयोग—दण्डक ज्वर, शीतपूर्व विषम ज्वर, जीर्ण ज्वर, सर्व प्रकार के ज्वरो पर।

दशमूलादि क्वाथ का उपयोग करने से उपद्रवयुक्त दन्डक ज्वर एव वायुजन्य वेदना का विनाश होता है। विशेष वेदना के वास्ते महानारायण तैल मे तारपीन का तैल मिलाकर मर्दन करके मदार का पत्ता गर्म कर बाधना चाहिए। अश्वकचुकी रस, ज्वरांकुश रस, महाज्वराकुश रस, नारायण ज्वराकुश रस, दशमूलादि क्वाथ तथा महानारायण तैल के प्रयोग सारगधर सहिता एव भैषज्य रत्नावली मे देखकर निर्माण करना चाहिए।

उक्त चिकित्सा परम्परागत तथा मेरी सात वर्ष के कार्यकाल मे प्रयुक्त स्वानुभूत है। आशा है सहयोगी वैद्य बन्धु चिकित्सा का प्रयोग कर यशार्जन के साथ आयुर्वेदीय चिकित्सा की विजय पताका फहरावेगे।

१—कासोमूर्छाऽरुचिर्छर्दिस्तृष्णातिसार विड्ग्रहा। हिक्काश्वासोङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवादश ॥

कास, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, तृष्णा, अतिसार, मलबद्धता, हिक्का, श्वास, अगभेद (हडफूटन)। ये दस ज्वर के उपद्रव विशेषकर आयुर्वेदाचार्यो ने उल्लेख किया है।

ज्वरघ्न प्रयोग संग्रह

[१] करज बीज १० तोला, कालीमिर्च २ तोला दोनो को कूट पीसकर छानकर तुलसी पत्र स्वरस मे घोटकर मटर प्रमाण गोली बनाकर सुखाकर रख लीजिये ।

मात्रा—१ से ४ गोली तक । अनुपान—ज्वर चढने से दो घन्टे पहले दो घूंट पानी से, छोटे बच्चो को दूध या मधु के साथ । समय—दिन मे तीन बार या आवश्यकतानुसार । गुण—विषमज्वर, ऐकाहिक-तृतीयक-चातुर्थिक ज्वर, शीतज्वर, उदरशूल पर उपयोगी ।

(२) अर्कपत्रो को कपडो से पोंछकर उसकी नसो को काटकर सिल पर चटनी के समान महीन पीस लेना । इसके वजन का अष्टमाश कालीमिर्च और हल्दी का चूर्ण मिलाकर चने प्रमाण वटी बनाकर छायाशुष्क कर सुरक्षित रख देना ।

मात्रा—१ से २ रत्ती तक । अनुपान—मिकी हुई मुनक्का, मधु, मिश्री का सीरा, ताजा जल ।

समय—दिन मे तीन बार । गुण—विषमज्वर, जीर्ण ज्वर, मन्दाग्नि, प्लीहा पर लाभप्रद ।

(३) करेले के पत्तो के साथ पीपल के चतुर्थाश चूर्ण को सिल पर पीसकर जङ्गली बेर के बरावर वटी बना कर सुखा रखना । मात्रा—१ से ३ वटी तक । समय—३ वार तक । अनुपान—मधु, कवोष्ण जल, मिश्री का शर्बत । समय—दिन मे चार बार तक । गुण—शीतपूर्व ज्वर, विषमज्वर पर गुणप्रद ।

(४) नाह बूटी को सिल पर, महीन पीस ले, इसका चतुर्थाश भाग कालीमिर्च का छना हुआ चूर्ण मिला कर चने समान गोली बना सुखाकर रख लीजिये ।

मात्रा—१ से ४ गोली तक । अनुपान—ताजा जल । शक्कर का सीरा । समय—ज्वर चढने से एक घन्टे पूर्व । दिन मे चार वार तक देना । गुण—विषमज्वर, शीतपूर्व ज्वर, पित्त विकृति पर लाभप्रद ।

(५) रक्तस्फटिक चूर्ण तथा गोदन्ती हरताल भस्म, दोनो को समान भाग लेकर रख लेना ।

मात्रा—२ से ६ रत्ती तक अवस्थानुसार ।

अनुपान—मिश्री का शर्बत, मधु । समय—ज्वर से पूर्व तथा पश्चात् दिन मे चार वार तक या आवश्यकतानुसार । गुण—विषमज्वर, वातश्लेष्मज्वर, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, कास, प्रतिश्याय पर ।

(६) नीम की छाल, पटोलपत्र, तुलसीपत्र, गुडवेल, चिरायता, कुटकी, सबको समान भाग लेकर जौकुट कर रखना । २ तोला लेकर २० तोला पानी मे उबालना, जब चौथाई बाकी बचे तब छानकर पिलाना ।

समय—दिन मे तीन बार । गुण—विषमज्वर, जीर्ण ज्वर, पित्तज्वर, पुनरावर्तीज्वर मे लाभप्रद ।

उक्त छहो ज्वरघ्न प्रयोग मेरे द्वारा दातव्य औषधालयो मे व्यवहृत ३० वर्षो तक के स्वानुभव सिद्ध है ।

पृष्ठ १४५ का शेषाश

करना असभव है । प्रवास मे झोपडी मे न सोना चाहिए तथा विस्तरा जमीन पर न रखकर ट्रक मे रखना चाहिए, जिसमे ये उसमे न जाने पावे । जमीन पर न सोना चाहिए । मसहरी का उपयोग करना चाहिए । किलनी प्रकाश से दूर भागती है, इसलिए दिन मे सुप्रकाशित स्थान मे कोई डर नही होता तथा रात को वत्ती जलाने से भी उनकी तकलीफ कम हो जाती है । जिस मकान मे ये अधिक हो वह अगर पक्का हो तो उदश्यामिक वायु से उसका विशोधन करना जरूरी है । जमीन पर तथा दरारो मे डी० डी० टी० या गमैक्सीन का छिडकाव करने मे इनका नाश हो सकता है ।

पुनरावर्त्तक ज्वर की चिकित्सा—(१) कस्तूरी भैरव रस, चन्द्रोदयरस, मकरध्वज या जवाहर मोहरा किसी एक को १-१ रत्ती की मात्रा मे प्रात साय सेवन करे ।

(२) सोमल पुष्प, रसपुष्प या मल्ल पुष्प को १-१ रत्ती की मात्रा मे शहद से प्रात साय देवे ।

(३) पेनिसिलीन का इन्जेक्शन ४ लाख यूनिट की मात्रा मे देने से लाभ होता है ।

(४) नोबारसेनोविलियम [N A B] ० ३ की मात्रा मे १० सी मी जल मे घोल सिरामार्ग से धीरे धीरे देवे ।

(५) एसिटिलारसन [Acetylarson] ३ सी सी का एम्पुल पेशी मार्ग से देवे ।

(६) स्टोवारसल [Stovarsal] ४ ग्रेन की गोली ३ वार प्रतिदिन सेवन करावे ।

(७) नेयोसोलोनाल [Neo Solanol] ० ५ ग्राम की मात्रा मे पेशीमार्ग से देवें ।

ग्रन्थि ज्वर (GLANDULAR FEVER)

अकस्मात ही आक्रमण करने वाला यह ज्वर एक विषाणुजन्य संक्रमण है। यह रोग पुरुष, स्त्री, बालक सभी को जनपद रोग की तरह पकड़ लेता है। इसमें दैहिक तापमान १०१° से १०३° F तक रहता है। इसका पाक काल ५ से १२ दिन तक का है। इस रोग मे तीव्र-शिर शूल-हाथ पैरो मे ऐंठन होती है। दूसरे या तीसरे दिन गले की गाठो मे शोथ होजाता है जिससे ग्रीवा को छूने मे भी असह्य पीडा होती है। कभी-२ ये ग्रन्थिया बहुत बढ़ जाती है तथा साथ ही काख तथा पैरो के जोडो की ग्रन्थिया भी सूज जाती है। पेट स्पर्श करने पर शूल का महसूस होना तथा अधिक शूल तथा अफरा होने से इस बात का संकेत देता है कि पेट की गाठे भी अन्दर से सूज गई हैं। प्लीहा तथा यकृद वृद्धि भी देखी गई है। कष्ट-दायक कास भी हो जाता है।

इसका एक और प्रकार भी है। इसमे गलगुण्डी (टांसिल्स) के ऊपर एक झिल्ली बन जाती है। इससे गले के अन्दर चारो ओर सूजन आ जाती है। इससे कभी-२ रोहिणी (डिफ्थीरिया) का भ्रम हो जाता है। यह युवाओ मे अधिक होता है।

इस रोग मे अधिकतर शीत लगकर ज्वर होता है साथ ही दारुण शिर शूल भी होता है। पीडिकायें तथा फफोले पहले पेट तथा छाती पर दिखते है। इस रोग मे ग्रंथियो में शोथ बाद मे होता है। पहले दूसरे लक्षण सामने आते है। कभी-२ यह शोथ तीसरे सप्ताह मे होता है जो ३-४ सप्ताह तक बना रहता है। सताप अवस्था-नुसार विसर्गी अविसर्गी तथा विषम होता है। प्लीहा वृद्धि अत्यल्प होती है। ग्रन्थि शोथ ५ से ७ दिनो में न्यून होने लगता है परन्तु ज्वर २ से ३ सप्ताह तक बना रहता है। उपद्रव मे रक्तमेह, ज्वर का पुनरावर्तन तथा कामला हो सकता है।

इसमे वासरमैन टेस्ट प्राय अस्त्यात्मक होता है और ल्यूकोलाइटोसिस ६००० से बढकर २०००० तक होजाते है। इसमे मोनोन्यूक्लियर सेल्स भी अप्रौढ तथा प्रौढ रूप मे अधिक होजाते है जो ६० से ७५% तक रहते है।

इसकी चिकित्सा भी प्रायः लाक्षणिक होती है। मल्ल योग-मल्ल ज्वरांकुश, मल्ल वटी इसमें अच्छा लाभ करती है। इस रोग मे पैनसिलीन या सल्फा औषधियां काम नही आती।

पथ्य मे--मूंग का भोजन, नमक, दूध तथा पौष्टिक आहार तथा फलो का रस लेना उपयुक्त है।

खाई ज्वर (TRENCH FEVER)

यह ज्वर जैसाकि नाम से स्पष्ट है Trench खात निवास के कारण होता है। युद्धकाल मे सैनिक जब खातो मे छुपकर वार करते है या बचाव करते है तब वहां के पीडक जानवरो के काटने से यह ज्वर पैदा होता है। जैसे कि विगत विश्वयुद्ध मे हुआ था। वहीं से इस ज्वर का यह नामकरण हुआ था।

यह उग्र ज्वर है जिसके चढने पर देह की मांसपेशियां तथा अस्थियां अत्यधिक पीडा महसूस होती है। रोगी शिथिलता तथा दौर्बल्य का अनुभव करता है। पिण्डलियो तथा जाघो मे अत्यधिक वेदना होती है। इसका अन्य नाम जंघास्थि ज्वर भी है। ज्वर का दौर पांच-छ दिन के अन्तर से आता है। इसे विषमज्वर के प्रकारो मे पंचा-हिक ज्वर भी कह सकते हैं। चिरकालानुबन्धी ज्वर से देह मे कोठोत्पत्ति भी होती है।

इस ज्वर के उत्पादक जीवाणु का नाम Reckettsia Quintana है। मतान्तर से इसका वाहन मानव देह पर रहने वाली जू है जिसके पेट मे उसके जीवाणु चले जाते है। वे वहा की कला के कीटाणुओ मे प्रवेश किये बिना ही सीधे आंतो मे पहुंच कर वहा अपना प्रसार करने लगते है। संक्रामक जू के पेट मे इस रोग के असंख्य जीवाणु पड़े रहते है और कही भी खरोंच या क्षत पाकर वे देह मे प्रवेश पा जाते है। जुओ के काटने से संक्रमण होता है।

रोग के निवारण के लिये इसके कारणभूत जू से बचने का प्रयास करे तथा इसकी चिकित्सा लक्षणानुसार करे। विषम ज्वर के प्रकार होने से इसकी चिकित्सा उसी आधार पर की जानी चाहिए।

—श्री वैद्य अम्बालाल जोशी आयु० केशरी
गकराना मोहल्ला, जोधपुर (राज०)

विशूचिका

डा० वी एन० गिरि ए०एम०बी०एस०, एस०सी०डी०, ग्राम पो० डगरा जिला गया (विहार)

हेजा, कॉलरा, विसूचिका आदि नामो से जाना जाता है और साधारण लोग भी इसकी भयानकता से अच्छी तरह परिचित है। यह एक अति भयानक सक्रामक और जनपदोध्वमक व्याधि है तथा अपनी अनुकूलता पाकर फैलता है। इसके प्रमुख लक्षण कै, दस्त, हाथ पैरो मे ऐठन, बेचैनी, पीनाम्न आदि होते है।

कारण—

आयुर्वेदिक सहिताओ के अवलोकन मे पता चलता है कि विशूचिका होने का मुख्य कारण अजीर्ण है। अजीर्ण उसे कहते है जिसमे अन्न एव अन्य प्रकार के खाये हुए आहार का अच्छी प्रकार से परिपाक नही हो, उसे अजीर्ण कहते हैं। कफ से आम, पित्त से विदग्ध, एव वात से विष्टब्ध, इस प्रकार तीन प्रकार का अजीर्ण रोग होता है। "आम विदग्ध विष्टब्ध कफ पित्तानिलैस्त्रिभि"। इन तीनो अजीर्ण के द्वारा ही विशूचिका की उत्पत्ति एव अलसक तथा विलबिका की उत्पत्ति होती है।

अजीर्णमामंविष्टब्ध विदग्धं च यदोरितम्।
विशूच्यलसकौतस्माद्भवोच्यापि विलविका॥ मा नि

आचार्य वकुल का भी कहना है कि आम विष्टब्ध एव विदग्ध अजीर्ण ही विशूचिका उत्पन्न होने का मुख्य कारण है। आचार्य सुश्रुत लिखते है—

सूचिभिरिण गात्राणी तुदनसतिष्ठतेऽनिल।
यस्यार्जीर्णे न सा वैद्यैं विषुचितो निगधतेः॥ सु.सू

जिस मनुष्य को अजीर्ण के कारण उत्पन्न वायु शरीर मे सुई चुभाने के समान पीडा करे उसे आयुर्वेदज्ञ विशूचिका कहते है। आचार्य आगे भी कहते है—

नतां परिमिताहारालभते विदितागमाः।
मुढारताम जितात्मानो लभंतेऽशनलोलुपा॥ सु सू

जिस मनुष्य का आहार विहार नियमानुसार ही किये गये अर्थात खाये हुए आहार का पूर्णरूपेण परिपाक होने पर ही पुन भोजन करता हो उस व्यक्ति को विशूचिका रोग नही होता है। परन्तु जो व्यक्ति मूर्खतावश भोजन के लालची है, असयमी है उन्हे यह रोग अवश्य हो जाता है। लिखा है—

तत्र विशूचिकामूर्ध्वंचाधश्च प्रवृताम
दोषा यथोक्त रूपा विद्यात। च वि अ २

आचार्य चरक ने अजीर्ण मे उत्पन्न आमदोषो के कोप के कारण वमन विरेचन से प्रवृत दोषो को विशूचिका मानते है जिसमे कुपित वायु शरीर को एव विशेषकर उदर को सूचिवत् भेदता हुआ लक्षण उपस्थित कर देता है। विशूचिका एक गम्भीर आमाशयान्त्रिक रोग है। आचार्य वाग्भट भी इसी मत की पुष्टि करते हुए लिखते है—

पीडयमानाहिवाताद्या युगपतेन कोपिता॥
आमेनान्नेनदुष्टेन तदेवाविश्यकुर्वते।
विष्टम्भयन्तोऽलसक च्यावयन्तो विशूचिकाम्॥
आधारोत्तर मार्गाभ्या सह सैवाजितात्मन।
—अ० हृ० सू० अ० ८

परिमाणित आहार से अत्यधिक खाने से सभी दोष उसी दुष्ट आम अन्न से दबते हुए पुन एक साथ कुपित होकर उसी दूषित आम अन्न मे प्रविष्ट होकर उसे रोकते हुए अलसक उत्पन्न करते है। अथवा आम अन्न को ऊपर नीचे के मार्गो से वमन विरेचन के रूप मे वेग के साथ बाहर करते हुए असयमी मनुष्य को विशूचिका उत्पन्न करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि विशूचिका एक गम्भीर आमाशयान्त्रिक व्याधि है।

माधव निदान के परिशिष्ट मे उल्लिखित श्लोक के अनुसार इस रोग के उत्पन्न होने का कारण एक प्रकार के दण्डाकार जीवाणु होते है जो मल, मूत्र, पित्ताशय अथवा उदर कला मे होने वाली लसिकोत्पादक ग्रन्थियो मे रहते है और यह जीवाणु (चित्र पृष्ठ १५९ पर) ग्रीष्म अथवा वर्षा ऋतु के दूषित जल द्वारा उत्पन्न होते हैं।

अस्य किटाणवः प्रोक्ता कारण दण्ड सन्निभा।
मले, मूत्रे तथाऽन्त्रेच प्रायेण निवासन्तिते॥
पित्ताशयेकदाचित्सयुरुदरावणो तथा।
समुत्पन्नासु ग्रन्थिषु लसिकोत्पादन केषुहि॥
आन्त्रिक ज्वर सङ्काशप्रसरन्त्यस्य कीटकां।
अस्य रोगस्य ग्रीष्मेकैः प्रावृषिच विशेषत॥
वस्त्र खाद्यादिभिश्चैव मलिनैर्वस्यु वास्तुभि।
अनेयाम विधानेनं रोग सक्रमता व्रजेत॥

—मा. नि मधु परि

ये जीवाणु भोजन, जल के द्वारा आतो मे पहुच कर एव विष निर्माण कर विष को रक्त मे मिला देते हैं। तव विशूचिका की उत्पत्ति होती हे। किन्तु पाश्चात्य मतानुसार विष रक्त मे नही मिलता केवल क्षुद्रान्त्र मे ही रहकर रोग की उत्पत्ति करते हैं तव वमन, विरेचन द्वारा अत्यधिक तरल पदार्थ विशेष मात्रा मे निकलता है। परिणामस्वरूप रक्त गाटा होकर रक्त की सचालन क्रिया रुक जाती हे। इस प्रकार रक्त गाढा होने से रोगी को अन्दर ताप तथा वाहर शरीर शीतल हो जाता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इस रोग की उत्पत्ति का विशेष कारण एक अर्ध विराम (') स्वरूप के जीवाणु द्वारा होती है जिसे कोशका अर्ध विरामिक जीवाणु (Koch's Comma Vibrio) कहते है। अथवा कॉलरा विब्रियो (Cholera Vibrio) भी कहा जाता है। ये जीवाणु जब आन्त्र मे पहुच कर क्रिया प्रारम्भ करते हैं तव चावल के धोवन जैसा सफेद वमन एव दस्तो मे अत्यधिक मात्रा मे यह जीवाणु वाहर निकलते हैं। यहा तक कि आन्त्रो मे ही नही वल्कि पित्ताशय और उदर कोष्ठक आदि मे भी प्राय ये पहुच जाते हैं।

इस रोग का परिपाक काल अथवा सचयकाल कुछ घन्टो से लेकर एक से पाच दिन तक का होता है। परन्तु प्राय तीन दिन वाद भी इसका आक्रमण हो सकता है और कुछ घटो से लेकर कई दिन तक चल सकता है। इस जीवाणु की वृद्धि क्षुद्रान्त्र मे हुआ करती है। सर्व प्रथम इस जीवाणु का पता १८८३ ई० मे कौक नामक विद्वान ने मेडिकल कालेज एण्ड हास्पीटल कलकत्ता मे लगाया था। जिन स्थानो मे जल दूषित होने के कारण उपस्थित रहते हैं वहा विशूचिका की उत्पत्ति के अवसर अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। इस रोग की उत्पत्ति मे ऋतु का विशेष महत्व होता है, वर्षाऋतु मे जल की मात्रा अधिक रहती है इस समय इसकी उत्पत्ति का मुख्य अवसर उपस्थित रहता है। वर्षा के कारण जल दूषित होता है तब भी इस रोग की उत्पत्ति प्रमुखता से होती है। भारतवर्ष मे विशूचिका का प्रसार मेले और एकत्र तीर्थ यात्रियो के द्वारा विशेष रूप से होता है। इस रोग के प्रसार मे वाहको का हाथ भी रहता ही है, परन्तु उतना नही जितना कि आन्त्रिक ज्वर अथवा मन्थर ज्वर के प्रसार मे रहता है।

किसी भी व्यक्ति मे इस रोग के जीवाणु के प्रति हमेशा के लिए प्रतिरोधात्मक शक्ति का निर्माण नही किया जा सकता है। जब तक व्यक्ति के स्वस्थ मनुष्य के आमाशय मे लवणाम्ल की यथोचित मात्रा प्रस्तुत होती रहती है यह जीवाणु मनुष्य की कुछ भी हानि नही कर सकता है। परन्तु ज्यो ही अत्यशन अथवा मिथ्याहारादि के द्वारा अग्नि मन्द पड जाती है, परिणामस्वरूप जीवाणूत्पत्ति होकर विशूचिका की उत्पत्ति हो जाती है। एक बार विशूचिका से पीडित होने के ६ माह बाद पुन व्यक्ति विशूचिका से पीडित हो सकता है।

आक्रमण—जैसाकि उपर्युक्त विवेचन किया गया है कि एक व्यक्ति पर जब इसका अर्थात् इस रोग का आक्रमण होता है तव उसके मल एव वमन के द्वारा इसके जीवाणु असख्य रूप मे वाहर निकलते हैं। वहा से वाहको द्वारा अर्थात् मक्खियो द्वारा ये जीवाणु खाद्य पदार्थो मे मिलकर दूसरे पर आक्रमण करते है। ये जीवाणु नल के जल, नदी जल आदि मे मिलकर व्यापक रूप मे महामारी फैलाते हैं। यदि रोगी द्वारा किये गये मल, वमन को साफ नही किया जाता तो मक्खियो एव पिस्सुओ आदि के शरीर मे प्रविष्ट होकर फिर वे जहा पर वैठते हैं उन वस्तुओ मे जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं और उन वस्तुओ का उपयोग जव मनुष्य करता हे तव मनुष्य शरीर मे यह जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं तथा आन्त्र मे पहुच कर ये जीवाणु अपनी क्रिया करते है एव फिर रक्त मे प्रवाहित होकर वृक्क आदि स्थानो मे आक्रमण करते हैं जिसके कारण मूत्र वन्द होकर शरीर मे विष का और प्रसार हो जाता है।

इसके कारण हृदय स्थान का रक्त दूषित होकर हिमागावस्था (Coallpsc) होकर हृदय क्रिया बंद होजाती है। शरीर का तरल पदार्थ एवं जलीय अंश अत्यधिक मात्रा में निकलने के कारण रक्त का आपेक्षिक गुरुत्व और घनत्व १०५५ से बढ़कर १०५८ अथवा इससे भी अधिक हो जाता है। यही कारण है कि वृक्क से मूत्र नहीं आता है। रक्त न्यूनता से अन्तस्ताप अधिक हो जाता और इसी कारण रोगग्रस्त मनुष्य जलन (ज्वाला) प्यास का तीव्र अनुभव करता है। तथापि शरीर का तापमान घट जाता और हिमागावस्था आ जाती है।

मूत्र कमी के निम्न कारण होते हैं–रक्त का आपेक्षिक घनत्व का बढ़ जाना एवं विष प्रभाव के कारण वृक्क (किडनी) में सूजन होना तथा रक्त का गुरुत्व कम होना। रक्त में क्षार की मात्रा कम होकर अम्ल की मात्रा का बढ़ जाना। रक्त में नाइट्रोजन का अंश अधिक बढ़ जाना आदि कारण होते हैं।

जीवाणु का स्वरूप—विशूचिका उत्पन्न करने वाला जीवाणु छोटा बीच में मुड़े हुये दण्ड के समान होता है, जैसाकि अंग्रेजी कौमा (,) होता है। कभी-२ यह जीवाणु सीधा भी देखा गया है। उसमें एक चलनशील पूंछ (Mobile Flagellum) होता है। इसका संवर्धन क्षारीय माध्यम में बहुत होता है। यह जीवाणु बहिर्विष की उत्पत्ति नहीं करती, अन्तर्विषोत्पत्ति करने वाला होता है। आन्त्र में जब यह जीवाणु मरने लगता है तब उसके शरीर के विघटन से शरीर में विष फैलता है। रोगग्रस्त मनुष्य के मल एवं वमन में ये जीवाणु अत्यधिक पाये जाते हैं। सुखाने से अथवा लवणाम्ल के घोलो में रखने से ये शीघ्र ही मर जाते हैं। ४५° सेन्टीग्रेड ताप पर भी यह जीवाणु मर जाते हैं। ठंडे जल अथवा समुद्री जल में पर्याप्त काल तक जीवित रह सकते हैं। जलाशयों में लगभग दो सप्ताह तक जीवित अवस्था में देखा गया है।

निदान—

जनपदोध्वंस महामारी के रूप में यह फैलता है तो वमन, दस्त, ऐंठन इत्यादि लक्षणों को देखकर निदान करना सरल होता है। किन्तु कभी कभी एकाकी प्रकार में जब आक्रमण होता है एवं संदिग्ध हो वहां पर मल परीक्षा के द्वारा निर्णय कर लेना आवश्यक है। क्योंकि आर्सेनिक विष, पारावि‍ष एवं विषैले पदार्थों के आहार के कारण भी यह रोग लक्षण उत्पन्न हो सकता है।

लक्षण—

विशूचिका में प्राय तीन अवस्थायें पाई जाती हैं जो इस प्रकार से हैं—

(१) प्रथमावस्था—रोगी को अकस्मात दस्त आने लगते हैं। यदि उदर में पहले से कोई वैसी अवस्था उपस्थित रहती है तो अतिसार अत्यन्त ही भयानक रूप में होता है। दस्त के साथ पेट में दर्द ऐंठन होता है। परन्तु कभी-कभी वेदनाहीन दस्त भी होता है। दस्त प्रारम्भ होता है तब मल का अंश रहता है और अधिक अन्तर में दस्त होता है परन्तु क्रमश जब दस्त कम अन्तर में होता है तब मल भी बदरंग होता जाता है यहां तक कि जब प्रति ५-६ मिनट के अन्तर से दस्त आने लगता है तो उसका रङ्ग चावल के धोवन के समान पानी जैसा अथवा खरबूजा के पानी के समान होने लगता है। इस प्रकार जितने दस्त आते हैं उतने ही रोगी के प्रति दस्त में शरीर से शक्ति निकलती जाती है और ऐसी अवस्था आ जाती है कि रोगी बिछावन पर ही मल त्याग करने लगता है।

कभी-कभी वमन से यह रोग प्रारम्भ होता और बाद में अतिसार होने लगता है अथवा कै दस्त एक साथ ही आरम्भ हो जाते हैं और दस्त के समान क्रमश वमन की मात्रा भी साथ साथ बढ़ने लगती है। प्रथम आमाशय से खाई हुई वस्तुएं कै के द्वारा निकलती फिर छोटी आन्त्र से पित्त युक्त द्रव निकलता और प्रति वमन में तीव्र खट्टेपन का अनुभव होता है। परन्तु बाद में केवल श्वेत पानी के समान हो जाता है। कै और दस्त में इस रोग के जीवाणु असंख्य रूप में वर्तमान रहते हैं। दुर्बलता बढ़ने का प्रथम लक्षण होता है पिंडलियों के फटने एवं उनमें ऐंठन होना, अन्दर का ताप का बढ़ना जिसके कारण जलन, दाह, प्यास का बढ़ना। शरीर का ताप-क्रम घटने लगना और स्पर्श करने से शरीर ठंडा जान पड़ता है। परन्तु मलद्वार में तापमापक यन्त्र लगाने पर प्राय १०३ डिग्री गर्मी जान पड़ती है। विशूचिका और अतिसार के लक्षणों में भेद पाया जाता है जो इस प्रकार है—

विशूचिका	अतिसार
(क) दस्तो का रङ्ग चावल के धोवन के समान एव सफेद पानी के समान होता हे।	(क) दस्तो का रङ्ग हल्का पीला एव दस्तो में मल का अश रहता है।
(ख) रोगी की अवस्था अकस्मात विगड जाती है।	(ख) रोगी क्रमश -धीरे-२ कमजोर होता जाता है।
(ग) शरीर का तापमान कम हो जाता है।	(ग) शरीर का तापमान बिल्कुल ही कम नही होता।
(घ) १ से २ घटे के अन्दर रोगी का शरीर वर्फ के समान ठडा हो जाता है और आखे धस जाती, हाथ एव पैरो मे ऐठन तथा सिकुडन हो जाती है।	(घ) इसमें रोगी की ऐसी अवस्था ऐसी नही होनी है।

आयुर्वेदिक सहिताओ मे विशूचिका के लक्षण इस प्रकार वतलाये गये है—

मूर्च्छातिसारो वमथुः पिपासा
शूलं भ्रमोद्वेष्टन जृंभ दाहाः।
वैवर्ण्य कम्पौ हृदयेरुजश्च
भवति तस्या शिरसश्च भेदः ॥–मा० नि०

आचार्य सुश्रुत सहिताकार एव माधवाचार्य ने इस रोग के लक्षण मे मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, भ्रम द्वेष्टन, ऐठन, वधना जम्भाई, दाह, ज्वाला, शरीर का विवर्ण होना, ठडा होना, कम्प, हृदय प्रदेश मे वेदना एव मस्तकपीडा आदि लक्षण वतलाये ह। पेशियो मे ऐठन होने से रोगी को अत्यन्त ही कष्ट होता है, यह ऐंठन शाखाओ अर्थात हाथ पैरो मे होती है। यह लक्षण इसलिए उत्पन्न होता हे कि शरीर मे जलीयाश का अत्यन्त ही अभाव हो जाता है।

(२) द्वितीयावस्था—प्रथमावस्था के पश्चात द्वितीय अवस्था आती है। इसे हिमाङ्गावस्था भी कहा जाता है। रोगी इतना दुर्वल एव क्षीण हो जाता है कि विस्तर पर ही मल त्याग करने लगता है। वैसे ही यह अवस्था प्रारम्भ हो जाती हे, शरीर क्रमश ठडा होने लगता है, चेहरा मलीन एव बैठ जाना तथा पीला और नीला पड जाता है। आखे धस जाती और शरीर की चमडी पर झुर्रिया दिखाई पडती है। रोगी जोर-जोर से सासे लेने लगता हे, भयानक तीव्र प्यास लगती, क्रमश मूत्र गाढा होकर अन्त मे विल्कुल ही वन्द हो जाता है। रक्त का घनत्व १०६५ और रक्त भार १२० से ८० तक होजाता है, नाडी भी इसी प्रकार इतनी क्षीण हो जाती है कि देखने पर पता भी नही चल पाता है। वेहोशी उत्पन्न होना, इसके पश्चात हृदय क्रिया वन्द होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अस्तु यह दूसरी अवस्था चरम अवस्था होती है। उदर मे दाह जलन एव वार-वार हिचकी आना, रोगी का हाथ पैर इधर उधर फेंकना इत्यादि लक्षण अत्यन्त ही गम्भीर होते है। आयुर्वेदिक सहिताओ मे विशूचिका के पाच प्रकार के दारुण लक्षण एव उपद्रव वतलाये गये हे—

निद्रानाशोररति कम्पो मूत्राघातो विसञ्ज्ञता।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विशूच्यां पचदारुणा. ॥ मा नि

निद्रा का नाश होना, मन का न लगना कम्प, मूत्र का रुकना, सज्ञा का नाश ये विशूचिका के अत्यन्त ही घोर कठिन उपद्रव है। आचार्य सुश्रुत सहिताकार के शब्दो मे—

यः श्यावदतौष्ठ नखोऽल्प सञ्ज्ञो-
वम्यर्दितोऽभ्यंतर्यात नेत्र।
क्षीण स्वर सर्व विमुक्ति सधि-
र्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥ सु स

जिस रोगी का दात, नख, ओष्ठ काले हो जाय, सज्ञा जाती रहे अर्थात वेहोशी हो जाय, वमन से पीडित हो और नेत्र अन्दर वैठ जाये, मन्द स्वर हो, हाथ पैरो की सधि ढीली पड जाये तो वह मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता हे, ऐसी आयुर्वेदज्ञो की मान्यता थी।

(३) तृतीय अवस्था—द्वितीय अवस्था के अन्त मे जो लक्षणो का वर्णन किया गया है, उसमे यदि सुचिकित्सा की गई तो वहा से रोगी की अवस्था रुककर पुन धीरे-२ स्वस्थता की ओर अग्रसर होती है। इसीको तृतीय अवस्था कहते है। यह अवस्था कई घटो से लेकर कई दिनो तक रहती है। क्रमश. वमन और फिर दस्त

बन्द होते है। कभी-२ पतनावस्था के साथ-२ कै दस्त भी रुक जाते है। इसके पश्चात् स्वस्थता की अवस्था आरम्भ होती है। स्वस्थता की अवस्था शरीर की गर्मी लेकर पलटती और प्राय ज्वर आता तथा बेहोशी दूर होकर रोगी होश मे आजाता है।

किंतु यह अवस्था अत्यन्त ही नाजुक होती है कारण आन्त्र अत्यन्त ही नाजुक एव कमजोर हो जाती है। अतएव इस अवस्था मे पथ्यादि की व्यवस्था अत्यन्त ही सावधानीपूर्वक करनी चाहिये अन्यथा रोग का पुनराक्रमण हो जाता है और रोगी शायद ही बच पाता है।

बन्द कालरा अथवा अवरुद्ध विशूचिका—

यह एक अवरुद्ध प्रकार का कॉलरा होता है जिसे लोग सूखा कॉलरा भी कहते है। यह बहुत ही भयानक होता है। इसमे कै दस्त नही होते, केवल उदर मे शूल होता है। पेट चढा हुआ अर्थात् अफारा रहता है और हिमागावस्था आजाती है। अथवा अधिक समय तक उदर वेदना के सामान्य रूप से एकादि बार कै, दस्त होता है और रोगी असाध्यावस्था मे आकर शीतावस्था मे आजाता है। इस प्रकार की विशूचिका अति भयानक होती है। प्राय रोग का ज्ञान भी नही होपाता और रोगी काल कवलित हो जाता है। आयुर्वेद मे इसे विलम्बिका कहते है।

दुष्ट तु भुक्त कफ मारुताभ्या
प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य ।
विलम्बिका ता भृशदुश्चिकित्स्या-
माचक्षतेशास्त्रविद पुराणा ॥—मा नि

जिस मनुष्य को भोजन किया हुआ आहार कफ वात से दूषित हो जाय और वमन विरेचन नही हो उसे आयुर्वेदज्ञो ने विलम्बिका नाम दिये है। इसमे उदर मे अफारा मल, मूत्र रुक जाता और वमन नही होता, प्यास अत्यधिक लगे, विरेचन नही होवे और रोगी अत्यधिक कष्ट का अनुभव करे अथवा भोगे तथा हिमागावस्था (Collapse) होकर रोगी की मृत्यु तक हो जाती है। यह विलम्बिका रोग अत्यन्त ही घातक होता है।

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा—

जिस घर मे यह रोग का आक्रमण हो उस घर के रोगी को सर्वथा अलग एकान्त स्थान खिडकी युक्त हवादार स्थान मे ही रखना चाहिए। रोगी के निकट सम्पर्क मे रहने वाला व्यक्ति भी सावधानीपूर्वक रहकर सेवा कार्य करे। जब तक रोगी पखाना मे अथवा कही पर भी जाये और पखाना कै करे उस स्थान को अच्छी प्रकार से सफाई करवा देनी चाहिए। पश्चात ब्लीचिंग पाउडर अथवा परमेगनेट पोटाश के घोल अथवा फिनोल के घोल से भूमि की सफाई कराते रहना आवश्यक है।

रोग का आक्रमण होते ही यदि रोगी को कॉलरा हास्पीटल मे भेज दिया जाय तो अधिक अच्छा रहता है। रोगी जहा पर मल, मूत्र, कै करे वहा मक्खी आदि जीव उसे फैलाने न पावे, इसके लिए गर्म और सूखा राख तुरन्त काफी मात्रा डलवा दे। इसके पश्चात् उस स्थान को साफ करवा दे। जो व्यक्ति सफाई का कार्य करे उन्हे भी जीवाणुमारक लोशनो से हाथ पैर, कपडे आदि की अच्छी तरह सफाई करनी चाहिए। जिस घर मे रोगी हो अथवा पडोस मे हो तो खाने पीने की वस्तुओ को हमेशा ढक कर रखे एव बर्तनो को खौलते गर्म पानी से धोने के बाद ही उपयोग मे लाना चाहिए। बासी अन्न पानी का व्यवहार नही करे।

याद रक्खे बर्फ, लेमनेट एव बाजार मे बने खुले खाद्य पदार्थो का खाना बिल्कुल ही बन्द करदे। जिन व्यक्तियो को रोग नही हुआ है उन्हे कॉलरा वैक्सीन की सुई अवश्य लगवा दे। किन्तु रोगग्रस्त व्यक्तियो को वैक्सीन का इञ्जेक्शन भूलकर भी नही लगवाना चाहिए।

आरोग्य चिकित्सा—

रोगग्रस्त व्यक्ति को सर्व प्रथम पथ्य पर ध्यान देना अति आवश्यक है। रोग पूर्णरूपेण आरोग्य होने पर ही हल्का खाद्य पदार्थ दिया जाना चाहिए। रोगी को जब तक वमन होती रहती है ऐसी स्थिति मे कोई औषधि देने पर पचता नही और वमन के द्वारा बाहर हो जाता है इसलिये वमन रोकने के लिये सर्व प्रथम उपाय किया जाना अति आवश्यक होता है। इस रोग मे सबसे सुन्दर और अच्छी अति उपयोगी इञ्जेक्शन एव सैलाइन चिकित्सा ही विशेष कारगर (शीघ्र लाभदायक) होती है। इसलिए प्रत्येक चिकित्सक को इस विधि से लाभ उठाना चाहिए। इसका विशेष विवरण आगे पृष्ठ १६४ के लेख मे देखे।

आयुर्वेदिक सूचीवेध एव उपयोगी औषधिया —

(१) कॉलरा स्पेशल (सिद्धि), विशूचिकान्तक (ए० वी० मिश्रा)—उपर्युक्त सूचीवेध आयुर्वेद क महत्वपूर्ण इञ्जेक्शन है। इनमे से किसी का भी व्यवहार आवश्य-कतानुसार करना चाहिए। इसमे कॉलरा की सभी अव-स्थाओ मे लाभकारी है। इसके प्रयोग से कॉलरा के जीवाणु नष्ट हो जाते है और वमन, दस्त वन्द होकर मूत्र उतरने मे लाभ होता है। प्रति २-२ घटे पर मासात-र्गत विधि से दे।

(२) कर्पूर कस्तूरी (जी ए भिश्रा) (ए वी एम) प्रताप का गध कर्पूर तथा सिद्धि फार्मा का कस्तूरी इनमे कोई एक का व्यवहार करे। इसके प्रयोग से प्रलाप, शीताङ्गावस्था आदि मे आशा से अधिक लाभ मिलता है। शरीर मे गर्मी आकर रोगी की चेतना लौट आती है एव क्षीण नाडी अपनी स्वाभाविक अवस्था मे आ जाती है। प्रति घटे पर मासान्तर्गत विधि से आवश्यकतानुसार दे।

(३) पुदीना अर्क, सोंफ अर्क, अजवाइन अर्क, प्याज का स्वरस ये चारो ५०-५० मि लि, निम्बु स्वरस २५ मि लि, सेधा नमक पिसा हुआ १० ग्राम, शुद्ध हीग २ग्रा चीनी अथवा मिश्री ५० ग्रा अथवा ग्लूकोज ५० ग्रा सभी को एक साथ मिलाकर एक वोतल मे रख दे ओर इमे प्रत्येक घटे पर २-२ चाय चम्मच की मात्रा मे दे। इससे वडा ही लाभ मिलता है।

(४) अर्क कर्पूर वनाने की विधि—शुद्ध कर्पूर २५ ग्राम, पिपरमेन्ट १० ग्राम, रैक्टीफाइड स्प्रिट १०० मि लि। इन सभी को एक शीशी मे डालकर कसकर ढक्कन लगादे। कुछ घण्टो मे ही तैयार हो जायगा।

मात्रा—५ से २० वूद तक चीनी अथवा वतासे मे रखकर आवश्यतानुसार १० मिनट के अन्तर से अथवा ३० मिनट के अन्तर मे दे। अर्क कर्पूर देने के वाद तुरन्त पानी पीने के लिये नही देना चाहिए। इससे कॉलरा के उपद्रव गर्मी के दस्त, कै, उदरशूल आदि शीघ्र ही शात हो जाते है। कॉलरा की द्वितीय अवस्था मे जब हिमागा-वस्था हो जाती है उस समय अर्क कर्पूर की शरीर पर मालिश कराये तो अत्यधिक लाभ मिलता है।

(५) अमृतधारा—शुद्ध कर्पूर, फूल पिपरमेन्ट और सत अजवायन समान भाग लेकर एक शीशी मे मिलाकर रखदे। थोडी देर मे ही तरल रूप मे तैयार हो जायगा। कार्क कराकर लगाये अन्यथा औषधि उड जायेगी।

मात्रा—५ से १० वूद वतासे मे रखकर दे। यह विशूचिका की उत्तम और लाभप्रद औषधि है। इसके उपयोग से पेट का दर्द कै, दस्त, जी मिचलाना, वद-हजमी आदि शीघ्र दूर होते है।

(६) लहशुन, जीरा, सेधा नमक, शुद्ध गन्धक, सोठ, काली मिर्च, पीपल, भुनी हुई हीग सभी समान भाग लेकर निम्बू स्वरस मे घोटकर २५० मि ग्रा की गोलिया वनाले और रोग के अनुसार २ से ४ गोली तक जल के साथ देने से विशूचिका मे विशेष लाभ मिलता है।

(७) महाशख वटी २५० मिग्रा, सजीवनी वटी २५० मि ग्रा एक मात्रा हुआ—इसे गर्म जल के साथ अथवा अर्क अजवाइन के साथ देने से वडा ही लाभ मिलता है।

(८) हिमागावस्था होने पर वृ० कस्तूरी भैरवरस १२५ से २५० मि ग्रा तक अदरख रस एव मधु के साथ देने पर अत्यधिक लाभ मिलता है। रोगी की अवस्था मे शीघ्र सुधार होकर शरीर की गर्मी लौट आती, वेहोशी दूर होजाती एव नाडी की गति मे सुधार होकर रोगी की जीवनी शक्ति वापिस आती है।

(९) अग्निकुमार रस, क्रव्यादि रस, लहशुनादि वटी, गन्धक वटी ये चारो १२५-१२५ मिलीग्राम—यह एक मात्रा है। इसी प्रकार २-२ घटे पर गर्म जल के साथ देने से वडा ही महत्वपूर्ण लाभ मिलता है।

(१०) तीव्र प्यास लगने पर चूसने के लिए वर्फ दे अथवा पुदीना देकर औटाया हुआ जल दे अथवा कच्चा नारियल का पानी अथवा ग्लूकोज मे जल मिलाकर देना चाहिए। उपयुक्त अर्क का मिक्श्चर प्यास मे वडा अच्छा लाभ करता है।

एलोपैथिक औषधियो द्वारा चिकित्सा—

(११) सल्फागुनाडिन, कौलिन पावडर के साथ २-२ गोली प्रति ३-३ घटे पर दे। शीघ्र लाभ मिलता है।

(१२) लार्जेक्टिल (क्लोरप्रोमाजिन), सिक्युल की १० मि ग्रा की गोलिया अथवा एवोमिन, स्टेमेटिल इनमे स कोई एक टेवलेट, सीरप, इजेक्शन मे उपलब्ध है। यह वमन रोकने एव निद्रा लाने मे अमृत तुल्य कार्य करता है।

—शेषाश पृष्ठ १६३ पर देखे।

विसूचिका क्यों? कैसे? उपचार

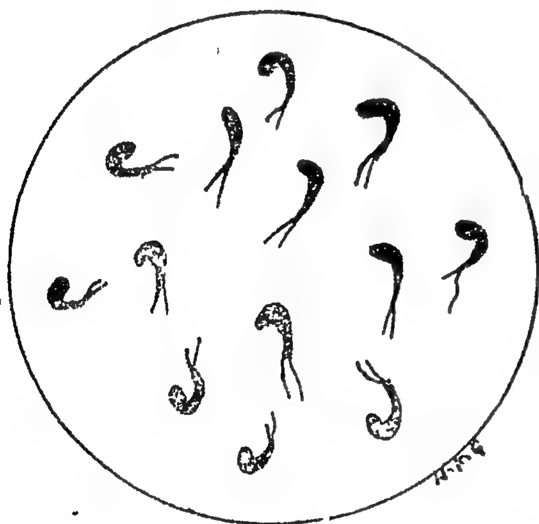
डा० शिवपूजन सिह कुशवाह शास्त्री, एम० ए०, साहित्यालंकार
संयुक्त सम्पादक 'वेदवाणी', बहालगढ (सोनीपत) हरियाणा ।

'विसूचिका' यह सस्कृत शब्द है। (स्त्री०) [विशेषेण सूचयति मृत्युम्, विमूच् + अच्–ङीप् + कन्–टाप्, ह्रस्व]

यह विशेप रूप से मृत्यु को सूचित करती है, इसीलिए विसूचिका कहते है ।

कारण—

अन्नपान विधि मे आमाजीर्ण, रसशेषाजीर्ण के कारण विसूचिका और अलसक होते है । जिस अजीर्ण के कारण वायु शरीर मे सूई चुभने के समान वेदना उत्पन्न करती है, उस अवस्था को वैद्य (भिषक्) विसूचिका कहते है । दूपित आमाशय वाले, अजितेन्द्रिय, खाने के लालची मूर्ख लोग विसूचिका से पीडित होते है ।



विसूचिका उत्पन्न करने वाला कीटाणु विसूची-आकुन्तलाणु छोटा, मध्य मे मुडे हुए दण्ड के समान होता है कौमा (,) जैसा होता है। इसमे एक चलनशील पुच्छ (Mobile flagellum) होता है । (इसी पृष्ठ का चित्र देखे)

लक्षण—

अतिसार, वमन व हृदयावपात ३ अवस्थायेहोती हैं—

१ अतिसार—श्रम और आभासरहित प्रभूत मल का बार बार त्याग, साधारण से लेकर चावल के माड सदृश श्वेत कणयुक्त होता है । उसमे भयङ्कर दुर्गन्ध आती है ।

२ वमन—अतिसार के साथ या पश्चात् उत्पन्न होता है, इसमे जलीय पदार्थ पर्याप्त मात्रा मे बाहर निकलता है । वमन (कै, उल्टी) ही हृदयावपात (Collapse) का मुख्य कारण है । उदर मे कर्तरीवत् वेदना का होना तथा पेशियो मे वेस्टन (ऐ ठन) की पीडा असह्य होती है । उसकी छाती और गले मे जलन एव बार बार तृष्णा होकर हृदयावपात तथा मृत्यु हो सकती है ।

३ हृदयावपात—ज्यो-२ रोग बढता है त्यो-त्यो रोगी की त्वचा शीतल, झुर्रीदार हो जाती है । बगल व मुख का तापमान ९५° या उससे भी कम हो जाता है। नेत्र बैठ जाते है, ओठ और अगुलियो मे श्यावता (कालापन Cyanosis) प्रकट होने लगता है । रोगी का स्वर क्षीण हो जाता है । अत्यन्त तृष्णा होती है तथा मूत्रावपात पूर्णता को प्राप्त हो जाता है । शरीर मे जल की कमी हो जाती है । मूत्राघात (Anuria) भी हो सकता है ।

असाध्य लक्षण—

य. श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसज्ञ·
छर्द्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ।
क्षाम स्वर· सर्वविमुक्त सन्धिर्या-
यान्नर सोऽपुनरागमाय ।।

[सुश्रुत सहिता, उत्तर तन्त्रम् अध्याय ५६, श्लोक ११]

अर्थात्—जिस रोगी के दात, ओठ, नख काले पड गए, जिसको चेतना थोडी हो, वमन होती हो, आखे अन्दर धस गई हो, स्वर क्षीण हो गया हो, सन्धिया शिथिल हो गई हो, वह मनुष्य मर जाता है । असाध्य होता है ।

विसूचिका की अवस्थायें—

पहली अवस्था आक्रमणावस्था (Stage of invasion)—इस समय रोगी के पेट मे दर्द तथा वमन होता है । तत्पश्चात् रोग का आक्रमण तीव्र हो जाने से बराबर पतले दस्त आते हैं जिनका रग पहले पीला होता है, बाद मे इनका रग चावल के धोवन के समान होता है ।

दूसरी अवस्था-पूर्ण विकासावस्था (Stage of full development)—इसमे रोगी की प्यास बढ जाती है। उसकी नाडी क्षीण हो जाती है। ऐ ठन, मूत्र बन्द होना, मुखाकृति मलीन हो जाना, स्वर भङ्ग होना, शीतलता, पसीना आना, चावल के पानी के समान विशेष दस्त तथा वमन आदि होते है।

तीसरी अवस्था-हिमाग अवस्था (Stage of collapse)—जब शरीर का सभी जलीय अ श दस्त व वमन के साथ शरीर से बाहर निकल जाने से रक्त जमने लगता है और रक्त सचालन क्रिया बन्द होने लगती हैं। प्राय वमन व दस्त बन्द हो जाते है। नाडी कलाई मे ज्ञात नही होती है। हृदय व फेफडो की क्रिया मन्द होजाती है।

चौथी अवस्था-प्रतिक्रिया अवस्था (Stage of reaction)—अवपातावस्था प्राय मारक होती है। इसके वमन व अतिसार बहुत घटने लगते है। उनमे पाचक पित्त प्रकट होने लगता है। बेचैनी व श्यावता समाप्त हो जाती है। शरीर मे तापमान की वृद्धि होने लगती है। कभी कभी विसूचिका के पश्चात् मूत्राघात उग्ररूप धारण कर लेता है और प्राणनाश का कारण बन जाता है।

पाचवी अवस्था (Stage of Sequalae)—इस अवस्था मे रोगी स्वस्थ होने लगता है। यदि उपचार मे अनुकूल औषधिया दी है तो इसके बाद होने वाले साधारण विकार जैसे ज्वर होना, फेफडो का रोग, मूत्र का बन्द होना आदि नही हो पाते है।

आयुर्वेदिक उपचार—

१. हरड, वच, हीग, इन्द्र जौ, लहसुन, सौवर्चल, अतीस इनका चूर्ण गर्म जल मे पीने पर शूल विसूचिका और अरुचि नष्ट होती है।[सुश्रुत उ०अ०५६, श्लो०१४]

२ त्रिकटु करज का फल हल्दी दारुहल्दी इनके बराबर बिजौरे की जड इनको पानी मे पीसकर गोलिया बनाकर छाया मे सुखाये। इन गोलियो के अजन करने से विसूचिका नष्ट होती है। [सु० उ० ५६/१८]

३ विसूचिका दूषित जल पीने से फैलता है अत जल की शुद्धि करना आवश्यक है। फलो को भी शुद्ध जल मे धोकर व्यवहार मे लाना चाहिए। एक भाग क्लोरीन पचास लाख भाग जल की शुद्धि कर सकती है। उसी प्रकार ५ लाख भाग जल मे एक भाग पोटाशियम परमेगनेट २४ घन्टे रखने से विसूचिका के जीवाणु जल से नष्ट किये जाते है।

मक्खिया इस रोग के प्रसार मे विशेष सहायता करती है। अत रोग प्रतिषेध के लिए सब सामान विशेषकर खाद्य पेयो को इनसे बचाकर रखना चाहिए।

४ रोगी की प्यास बुझाने के लिए उसे नारियल का पानी तथा बर्फ हिम के टुकडे चूसने को देना चाहिए।

५ कर्पूर १ तोला, अल्कोहल (रेक्टीफाइड स्प्रिट) २० तोला इन दोनो को शीशी मे मिला देवें। रोगी की अवस्थानुसार ५ बू द की मात्रा मे तीन घंट के अन्तर से देवे। प्रथम अवस्था मे बहुत लाभ होता है।

६ सजीवनी वटी [वायविडङ्ग, सोठ, पीपल, हरीतकी, आँवला, बहेडा, मीठा वच, गिलोय, शुद्ध भिलावा, शुद्ध मीठा तेलिया विष प्रत्येक २-२ तोला। इन औषधियो को अलग अलग कूट ले और फिर गौ मूत्र से खूब मर्दन करके १-१ रत्ती की गोली बनावे] २ गोली तीन लौग के साथ पीस करके खिला देवे। ऊपर से २ तोला ताजा प्लाण्डु (प्याज) का रस पिलावे। इसी भाति एक एक घटे का अन्तर देकर पिलावे। इससे दस्त, वमन सब बन्द हो जाते है।

७ लहसुन, जीरा, सैंधानमक, गन्धक, सोठ, मिर्च, पीपर और हीग, इन आठो को समभाग ले, कूट कपडछन, नीबू के रस मे गोली बना सेवन करने से तत्काल विसूचिका मे लाभ होता है। (तरुण को एक बार मे ४ गोली, कमजोर को कम।) गोली खाकर ऊपर से ताजा पानी पीना चाहिए।

८ अपामार्ग (ओगा, चिरचिटा) की जड जल मे पीसकर पिलाने से शूल सहित विसूचिका नष्ट होता है।

९ गर्मी की विसूचिका मे इलायची के बीज, कासनी और धनिया ४-४ माशे और गुलकन्द एक तोले, इनको घोट छानकर पिलाने से लाभ होता है।

१० दरियाई नारियल एक जौ के बराबर अर्क गुलाब मे घोटकर चटाने से वमन व दस्त निश्चय ही बद हो जाते है।

११ सोठ, बेल का गूदा और जायफल इन तीनो का क्वाथ पिलाने मे विसूचिका मे आराम हो जाता है।

१२ २ माशे सरसो की जड जल मे पीसकर पीने

से हैजा का नाश होता है।

१३ खरैंटी की जड ५ माशे पानी मे घिसकर पीने से हैजा मे आराम होता है।

१४ लाल मिर्च का एक वीज देशी मोम मे मिलाकर गोली वना लो। इस गोली के निगल जाने से विसूचिका मे अत्यन्त लाभ होता है।

१५. पपीता जल मे अथवा गुलाव जल मे घिसकर चटाने से हैजा का नाश होता है।

१६ गेहू के खेत मे होने वाली तितली की पत्तिया ६ माशे लेकर २ तोले पानी मे घोट पीने से हैजा नाश होता है।

१७. ३ माशे जाधिनी दूध मे पीसकर पिलाने से हैजा मे आराम होता है।

१८ एक तोले अरहर के पत्ते एक छटाक शीतल जल मे पीसकर कपडे मे छान लो। इसे घटे घटे मे पिलाने मे हैजा मे आराम होता है।

१९ करेले के रस मे तेल मिलाकर पीने से हैजा नष्ट होता है।

२० चूहे की मैगनी मे थोडा सा कलमी शोरा मिलाकर पानी के साथ पीसकर लुगदी सी वना लो और नाभि के नीचे पेडू पर गाढा गाढा लेप कर दो। इससे अवश्य ही मूत्र होता है।

२१ चोवह्यात पानी मे घिसकर पीने से हैजा का नाश होता है।

२२ नरकचूर का क्वाथ पीने से हैजा नाश होता है।

२३ ३ माशे पेठे के फूल ५ तोले पानी मे पीसकर हैजे वाले रोगी को पिलाने से हैजा मे आराम होता है।

२४ सूखी लाल मिर्च और सैंधानमक हाडी मे उवालकर आधा-२ घटे मे देने से हैजा आराम होता है।

२५ तावे की खान मे काम करने वाले को विसूचिका होने का भय नही रहता है। इसलिए वहुत से ताम्वे की मुद्रिका, कडा आदि धारण करते है।

२६ सुधा विन्दु—पुदीना सत्व एक भाग, अजवायन सत्व एक भाग, कर्पूर २ भाग लेकर शीशी मे डालकर हिलावे तो १५ मिनट के वाद सव द्रव हो जावेगा।

मात्रा—२-५ वूद जल से देवे।

२७ हिंग्वादि वटी—तालावी हीग ५ तोला, कपूर ४ माशा, शुद्ध अहिफेन २ माशा, पहाडी लाल मिरची ४ तोला, चन्द्रोदय ६ माशा। पहिले मिरिचियो का वारीक चूर्ण कर कपडे मे छान लें। फिर अन्य औषधिया मिलाकर प्याज के रस से दो दिन खरल मे घोटकर मूंग के वरावर गोली वनाकर छाया शुष्क कर ले। १ गोली प्याज के रस अथवा पुदीना के अर्क के साथ दे।

२८ विसूची विजय—पारद शुद्ध, शुद्ध गन्धक, चौकिया सोहागे का फूला तीनो १-१ तोला ले। पहले पारा-गन्धक की कज्जली वनाकर, फिर सोहागे का फूला मिलाकर जायफल के क्वाथ की सात भावना देकर सुखा ले। मात्रा—१ रत्ती मिश्री १ तोला के साथ दे।

२९ श्वेत पर्पटी—(लाल फिटकिरी ४ तोला ओर शोरा ८ तोला ले। दोनो को पीसकर तवे पर रख करके गर्म करे। जव दोनो पिघल जावे तो उनको चीनी के पात्र मे ढाल दे।) मात्रा—३ माशा, केले का पानी २ तोला। इससे एक घटे के वाद मूत्र खुलकर आता है। शोरा से कलमी शोरा समझे।

३० अर्कादि वटी—अर्क (आक, मदार, अकौआ) की जड की छाल, शुद्ध अहिफेन (अफीम), काली मिर्च, कर्पूर प्रत्येक १-१ तोला, इनको पीसकर २-२ रत्ती की गोलिया वनावे। १ गोली अदरक रस १ तोला के साथ।

३१ अहिफेनासव—महुआ के फूलो का मद्य १२।। सेर, अफीम १६ तोला, नागरमोथा ४ तोला, जायफल ४ तोला, वडी इलायची ४ तोला ले। इन औषधियो को एक पात्र मे भर कर मुख वन्द कर दे। वर्तन कुछ खाली रहने दे। एक मास तक रखने के वाद छानकर वोतल मे भर दे। मात्रा—५ से १० वूद शीतल जल के साथ दे। इससे विशेष लाभ होता है।

३२ अमृतधारा—पिपरमेन्ट सत, अजवायन सत, कर्पूर तीनो को मिला दे। वताशे या चीनी से दे।

३३ जामुन का सिरका ५ ग्राम पानी मे डालकर दें

३४ नीवू रस अरु प्याज रस, दीजै खूव मिलाय।
प्रति घण्टा सेवन करे, हैजा देय मिटाय॥

३५ तोला एक मदार जड, लेय महीन पिसाय।
अद्रक रस मे सान के, गोली लेय वनाय॥
ताहि गर्म जल सग मे, घण्टा घण्टा पाय।
एहि प्रकार सेवन करे, हैजा देय मिटाय॥

(वाग्भट्ट)

होमियोपैथिक उपचार—

[१] घृत की बनी हुई नस्तुये या खीर आदि खाने पर पल्सेटिला ६ दे ।

[२] क्रोध करने पर—नक्सवोमिका, एकोनाइट ६ या ३० शक्ति की दे ।

[३] डर जाने पर—ओपियम, इग्नेगिया ६ शक्ति का दे ।

[४] कुल्फी या हिम से विसूचिका होने पर-कार्बोवेज, आर्सेनिक, पल्सेटिला ६ या ३० दे ।

[५] किसी विसूचिका के आक्रान्त रोगी को देखने पर—एकोनाइट २X दे ।

[६] पत्तागोभी (करमकल्ला) विशेष खाने पर—ब्रायोनिया ६ दे ।

[७] हिमाग अवस्था मे-कैम्फर ६, कार्बोविज ६ दे।

[८] कैन्थरिस ६, एपिस, नक्स, ओपियम ६ मूत्र बन्द होने पर दे ।

[९] मूत्र लाने का वाह्य प्रयोग-कैन्थरिस Q (मदर टिंचर) १० बूद १०० ग्राम पानी मे मिलाकर तलपेट पर पट्टी गीली कर रखी जाती हे ।

पल्सेटिला Q (मदर टिंचर) की १० बूदे २०० ग्राम पानी मे मिलाकर पट्टी भिगोकर रखी जाती है ।

[१०] जो खाता हो वही वमन मे निकलने पर—इपीकाक, आर्स ६ या ३० दे ।

[११] पानी पीने से १५ मिनट मे वमन होता हो तो फास्फोरस ६ या ३० दे ।

[१२] अतिसार अधिक हो, जिनमे विशेष दुर्गन्धि होती हो तथा मरोड हो तो वैप्टीशिया ६ या ३० दे ।

वायोकैमिक उपचार—

१ विसूचिका के प्रारम्भ मे नेट्रम सलफ्यूरिकम ३X देने से रोग के आक्रमण का भय नही रहता हे ।

२ अधिक प्यास व वेचैनी मे फेरमफास ३X दे ।

३ मूत्र रुक जाने पर नेट्रम फॉस्फोरिकम ३X दे ।

एलोपैथिक उपचार—

ग्लूकोज विद सलाइन वाटर (किसी वढिया कम्पनी का) नस द्वारा एक वोतल चढाने से मरणासन्न रोगी के वचने की वहुत आशा रहती है ।

पेटेण्ट गोलिया—

(१) क्लोरोमाइसेटिन कैपसूल [पार्क डेविस]—दो-दो कैपसूल ४-४ घण्टे के वाद रोगानुसार दें ।

(२) क्लोरोस्ट्रेप [पार्क डेविस]—१-१ कैपसूल कुछ अन्तर से रोगानुसार दे ।

(३) स्ट्रेप्टोपाराकिशन कैप्सूल—१-१ कैपसूल जल के साथ दे । अतिसार, दस्त के लिए अचक हे ।

(४) सिरोसोन टेवलेट [रिस्टोरेटिव कम्पनी]—रोग की तीव्रता मे ३ से ६ गोली दिन मे २-३ वार [१५ से २० गोलिया प्रतिदिन] देते है ।

(५) कोमाइसीन टेवलेट [ग्लेक्सो]—दिन भर मे १० गोलिया शहद या फलो के रस के साथ दिन मे ३-४ वार दे।

(६) थाइरोडोक्सिन [एवियोन केमीकल]—१-२ गोली देने से वमन रुक जाता हे ।

(७) सल्फाग्वानीडीन टेवलेट [वूट्स]—६ गोलिया ४-४ घण्टे मे ३ दिन तक दे ।

पेटेण्ट पेय—

१ ओम्नी (सिपला)–३-१० बूद हर भोजन के वाद।

२ क्लोरोस्ट्रेप [पार्क डेविस]—वच्चो को दे ।

३ ऑयल यूकेलिप्टस [वर्गोयन्स कम्पनी]—विसूचिका के दिनो मे १० बूद दिन मे ३ वार देने से रोगाक्रमण का भय कम रहेगा ।

४ कोमाइसीन सीरप (ग्लेक्सो)—दिन-रात मे ८ चम्मच पाच मात्राओ मे वाटकर रोगानुसार दे ।

५ कार्डियामिड [सिपला]–२० बूद जल मे ३ वार

६ हाइड्रोप्रोन [सिपला]–२ से ४ वडी चम्मच दिन मे ३ वार दे ।

७ ग्वानीमाईसीन सस्पेन्सन फोर्ट [ग्लेक्सो]—१/२ औंस द्रव ४ से ६ घण्टे के अन्तर से दे ।

पेटेण्ट इन्जेक्शन—

१ कोरामीन (सीवा)—२ से ५ सी मी दिन मे कई वार नस मे दे ।

२ ग्लूकोज सैलाइन सोल्यूशन (वगाल इम्युनिटी)–१०० सी सी धीरे धीरे नसो मे दे ।

३ एट्रोपीन सल्फ—१ सी सी दिन मे १-२ बार चर्म में लगावे ।

४ एण्टी कोलेरा सीरम (बगाल इम्युनिटी)—२५ से ५० सी सी गुनगुने सैलाइन सोल्यूशन मे हल्का करके नस मे ।

५ कैम्फर-मुश्क इन इथर (बगाल इम्युनिटी)—१ सी सी दिन मे २ बार मास मे लगावे ।

६ कार्डियामिड (सिपला)—२ एम्पुल मास या नस मे लगावे ।

७ नौर्मल सैलाइन सोल्यूशन (बगाल इम्युनिटी)—२५० से १००० सी सी दिन मे २ बार नस मे लगावे ।

८ हाइपरटोनिक सैलाइन (बगाल इम्युनिटी)—हिमाग में १ से ४ पिण्ट नस मे लगावे ।

९ वेटनैसोल (ग्लेक्सो)-२४ घटे मे ४ बार मॉस मे

१० कोरामीन इफैड्रिन (सीबा)—दिन मे १ या २ इन्जेक्शन मास या नस मे दे । जब रोगी की अन्तिम अवस्था हो तब दे ।

११ सीक्विल (स्क्वीब)—१ से ३ मि ग्रा नस मे, ५ से १० मि ग्रा मास मे दिया जा सकता है । यह वमन मे जादू का काम करता है ।

१२ कॉलेरा वेक्सिन (डेज)—विसूचिका की रोक-थाम के लिए चर्म मे १ मि ली लगावे ।

✱←०→✱

✱ विशूचिका ✱ → ✱ पृष्ठ १५८ का शेषांश ✱

(१३) पेसुलिन ओ, पिकोलिन मिक्स्चर, कालटिन आदि इनमे से कोई एक २-२ चम्मच दिन भर मे २ से ३ घटे पर दे ।

(१४) डिपेण्डल, फुरोक्सीन, टेट्रासाइक्लीन, टेरा-माइसिन, एम्पीसिलीन आदि के इन्जेक्शन, टेबलेट, कैप-सूल का व्यवहार हर २-२ घण्टे अथवा ४-४ घण्टे पर दे ।

(१५) मार्फिन एण्ड एट्रोपिन अथवा एट्रोपिन के इन्जेक्शन त्वचान्तर्गत अथवा मासान्तर्गत आवश्यकता-नुसार दे । इससे ऐंठन, उदरशूल शीघ्र शात हो जाते है।

(१६) कैम्फर इन ईथर अथवा मुस्क इन ईथर के इन्जेक्शन मे पतनावस्था मे विशेष लाभ मिलता है ।

(१७) कोरामिन, निकथामाइड के इजेक्शन से हिमागावस्था मे हृदय एव मस्तिष्क को शक्ति मिलती है और तापमान बना रहता है । मात्रा २ मि लि प्रति २-२ घटे पर अथवा आवश्यकतानुसार दे ।

(१८) डेक्सट्रोज एण्ड सोडियम क्लोराइड ५ प्रति-शत एव ७ प्रतिशत अथवा केवल डेक्सट्रोज अथवा नार्मल सैलाइन बोतल मे उपलब्ध है । सैलाइन इस रोग के लिए अमृत तुल्य सर्वोत्तम चिकित्सा है । इसे शिरामार्ग द्वारा बू द-२ करके रोगी को आवश्यकतानुसार १ से १० बोतल तक भी चढाया जाता है । इसके चढाने के उपरात रोगी काल के मुख से लौट आता है । मरणासन्न जैसी अवस्था होने पर भी इस सैलाइन से शीघ्र लाभ मिलता है ।

यदि रोगी मरणासन्न अवस्था मे हो हिमागावस्था हो बेहोश हो ऐसी स्थिति मे इस सैलाइन मे पोलि-बियोन २ मि लि, डेक्सोना अथवा डेक्काड्रोन २ मि लि, पिट्युट्री १ मि लि, कोरामिन २ मि लि मिश्रितकर चढाने से आशातीत सफलता मिलती है । गर्भवती स्त्री हो तो पिट्युट्री का प्रयोग नही करे ।

(१९) क्लोरोस्ट्रेप, एन्ट्रोस्ट्रेप, टेट्रासाइक्लीन, टेरामाइसिन, रेस्टेक्लीन, एम्पीसीलिन के कैपसूल आव-श्यकतानुसार २-२ घण्टे पर १-१ कैपसूल दे ।

उपद्रव—

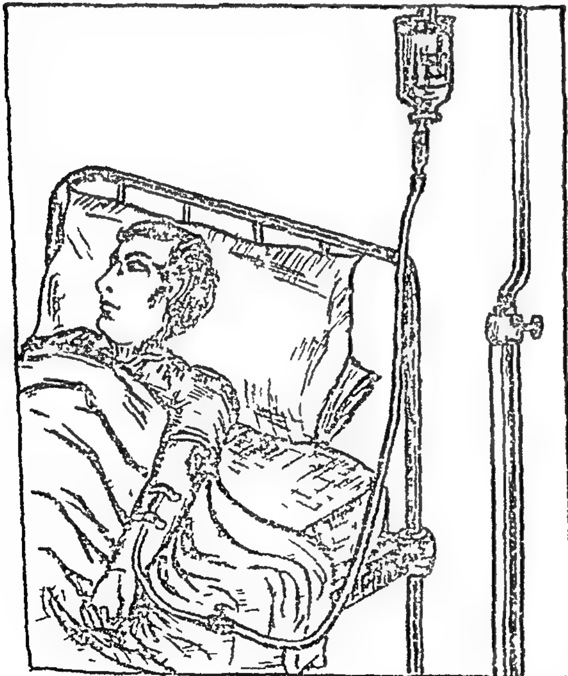
यदि रोगी को मूत्राभाव हो तो उसके लिए कैथीटर का प्रयोग करना चाहिये और गर्म जल अथवा गर्म नार्मल सैलाइन से मूत्राशय को धोना चाहिये एव वृक्क स्थान पर गरम सेक करना चाहिए । जब रोगी पूर्णत ठीक हो जाय तब एव पेशाब उतर जाय तब ही अत्यन्त हल्का एव सुपाच्य पथ्य देना चाहिए । कारण इस रोग मे आते अत्यधिक नाजुक और कमजोर रहती है। ऐसी स्थिति मे यदि सुपाच्य पथ्य नही दिया जाय तो रोग का पुनरा-क्रमण होने की सम्भावना रहती है । पथ्य मे मू ग का यूप अथवा खिचडी घृत एव हीग मिला हुआ निम्बू स्वरस मिश्रित देना हितकर है ।

—०✤०—

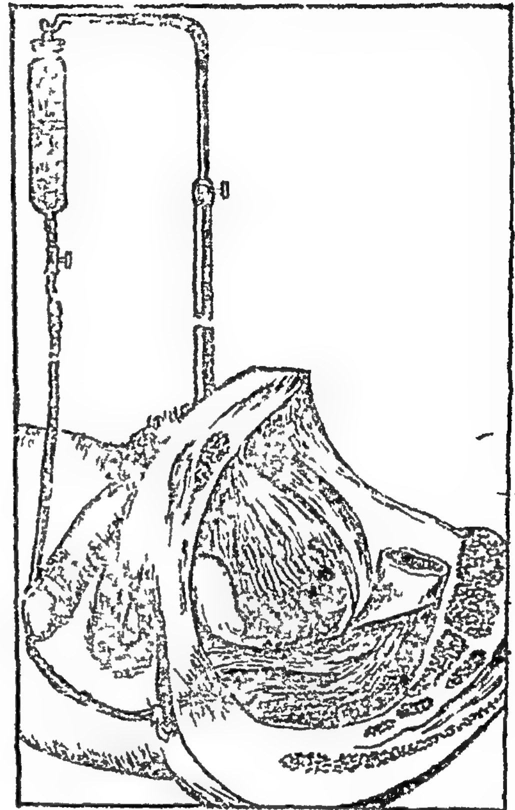
❀ विसूचिका में नमक का पानी चढ़ाना ❀

डा० कृष्णपाल सिंह चौहान वैद्य, चिकित्सा अधिकारी मदरोली कृष्ण क्लेशोपचार सेवा सदन,
ग्राम—मदरोली, पो० मदनापुर, जिला शाहजहापुर (उ० प्र०)

शरीर मे जलीयाश की कमी हो तो उसे पूरा करने के लिए शरीर मे जल पहुचाया जाता है। दो प्रकार का लवण विलयन मिलता है। हाइपरटौनिक सेलाइन सोल्युशन और दूसरा आइसोटौनिक सेलाइन सोल्यूशन। जव रक्तभार ७०-८० तक हो तथा रक्त का आपेक्षिक घनत्व (Specific Gravity) १०६० से १०६४ अथवा ऊपर हो, तो हाइपर टॉनिक सेलाइन गोल्युशन का प्रयोग किया जाता है। जव रक्तभार ६० हो तथा आपेक्षिक घनत्व १०६० से कम हो, तो आइसो टॉनिक सेलाइन सोल्युशन का प्रयोग किया जाता है। यह सव सिरामार्ग से दिया जाता है तथा वू द-२ कर देने की विधि प्रचलित है। कभी-कभी अधस्त्वक मार्ग से भी इसको दिया जाता है।



कूर्पर सन्धि के सामने की शिरा मे लवणोदक दियाजा रहा है। सूचिका को शिरा प्रवेश करने के पश्चात् एडिसिव प्लास्टर से अपनी जगह पर चिपका दे।



गुदा द्वारा लवणोदक चढाने की विधि

उस दशा मे नार्मल सेलाइन सोल्युशन का प्रयोग किया जाता है। यह मार्ग विश्वस्त नही और विसूचिका की अवस्था मे इस मार्ग पर निर्भर भी नही किया जा सकता। वालको मे गुदामार्ग से इसका प्रयोग करे। यद्यपि गुदामार्ग से औपधियो के प्रचूषण मे सदेह ही है। कभी-२ सिरामार्ग से लवण जल देते समय कम्पन होने लगता है।

रोगी का शरीर अत्यन्त शीतल हो गया हो तो उसके चारो तरफ गरम पानी की वोतले रक्खे। तेज ज्वर एव निपात की अवस्था मे सिरा मार्ग से स्ट्रोफेनथिन का प्रयोग करना चाहिए। विसूचिका मे १०% कैल्शियम ग्लूकोनेट का घोल ५-१० सी० सी० की मात्रा मे सिरा मार्ग से देना चाहिए।

[illegible]-मन्थर ज्वर

डा० जहान सिंह चौहान आयु० वारिधि

इसे मौक्तिक ज्वर, मोतीझला, मधुरक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर सशोथी सन्निपात ज्वर, नारकी, मुबारकी, एन्टेरिक फीवर, टाइफाइड फीवर, मन्थर ज्वर प्रभृति नामो से पुकारते है।

इस ज्वर का प्राचीन लाक्षणिक नाम 'मन्थर ज्वर' है। यूनानी चिकित्सको ने इसे मोतीझला मुबारकी कहा है। महामहोपाध्याय आचार्य गणनाथ सेन जी ने इसका नामकरण इसके विकृत्यधिष्ठान के अनुसार आन्त्रिक ज्वर किया है जो आधुनिक संज्ञा एन्टेरिक फीवर के अनुरूप है। इस ज्वर मे आतो मे प्रधान रूप से विकार उत्पन्न होता है इसलिए इसकी आन्त्रिक (Enteric) सज्ञा अन्वर्थक है। इसमे आयुर्वेद के अनुसार तीनो दोषो का प्रकोप होता है इसलिए इसमे लक्षण भी तीनो दोषो के प्राप्त होते है। इस ज्वर मे रोगी की दशा बादल (मेघ) की तरह धूमिल तथा अर्धचेतन रहती है। इसके अतिरिक्त यह मरकरूप (Epidemic) मे उत्पन्न होता है तथा सक्रामक (Contagious) होता है। इस ज्वर से आक्रान्त रोगी के शरीर पर मन्थरी दाने या पिटिकाये निकल आती है अत इन उपर्युक्त कारणो से इसकी सज्ञा मन्थर ज्वर या टाइफाइड फीवर हुई है। इन्ही लक्षणो के कारण इस रोग के जीवाणु का नामकरण भी 'बैसीलस टायफोसस' रखा गया है। प्राचीन आचार्यो ने इसीलिए शरीर पर मन्थरी दानो के उत्पन्न होने से इसका नाम मन्थर ज्वर रखा है।

आधुनिक दृष्टि से यह एक विशेष प्रकार का औपसर्गिक ज्वर है। इसमे आतो मे क्षत होता है। क्षुद्रान्त्र की अधोभाग की लसीका ग्रन्थियो मे तथा सम्पूर्ण क्षुद्र ग्रन्थि समूह (पेयरियन पैच) मे शोथ हो जाता है। प्लीहा बढ जाती है। शरीर पर मोती के समान दाने उभड आते है तथा ज्वर लगातार चढाव-उतार के साथ बना रहता है। यह सावधिक स्वरूप का ज्वर है जो प्राय तीन या चार सप्ताह तक बना रहता है।

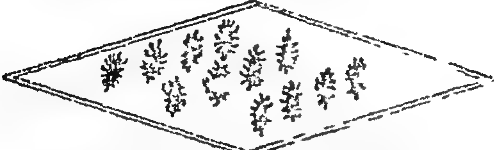
निदान—

यह एक औपसर्गिक रोग है जोकि बैसीलस टाइफोसस (Bacillus typhosus) जीवाणु से होता है। यह एक सचरणशील जीवाणु है जो अन्त कोशीय विष का निर्माण करता है। यह आमाशयिक रस को पार कर आन्त्र के क्षारीय क्षेत्र मे सुगमता से पहुच जाता है और ग्रहणी स्थित पित्त मे बढने लगता है। यह जीवाणु आगे चलकर क्षुद्रान्त्र (Small Intestine) मे क्षत उत्पन्न करके शोथ पैदा करता है और वहा से यह जीवाणु बृहदान्त्र मे पहुच जाते है। अन्त मे ये जीवाणु रक्त मे मिलकर प्लीहा और यकृत मे पहुचकर अतिवृद्धि करता है। कभी-कभी यह जीवाणु अस्थि-मज्जा मे भी पहुच जाते है। इनकी वृद्धि होने पर यह आन्त्रिक व्रण, पित्ताशय, प्लीहा रक्त एव लसीका ग्रन्थियो तथा मूत्राशय मे उपस्थित मिलते है। यहा तक कि यह रोगी के मलमूत्र तथा स्वेद मे भी मिलते है। इसके जीवाणु मल मे १५ दिन तक जीवित रहते है। इसके अतिरिक्त दुर्गन्धयुक्त स्थान मे निवास, अधिक मार्गगमन, उपवास से उत्पन्न कृशता, मलमूत्र से ससर्गयुक्त जल का सेवन, खाद्य पदार्थों का मक्षिका सम्पर्क आदि विशेष कारणो से इस रोग का प्रसार होता है।

धातु विकृति एव उसकी अवस्थाये—

आन्त्रिक ज्वर मे लभास धातु (Peyers Patches) की ग्रन्थियो मे विकृति होती है। यह विकृति क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग से प्रारम्भ होकर ऊपर नीचे वृद्धि करती है। सबसे अधिक विकृति क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग १ फुट मे होती है। सामान्य रूप से इस विकृति की चार अवस्थाये होती है। प्रत्येक अवस्था का औसत काल लगभग १ सप्ताह का होता है। इसका स्पष्टीकरण अंग्रेजी के अक्षर S द्वारा निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

मंथर ज्वर के कृमि
"Bacillus Typhosus"



यह जीवाणु आंतो मे पहुँचे तो शोथ और क्षत पैदा कर देते है ॥

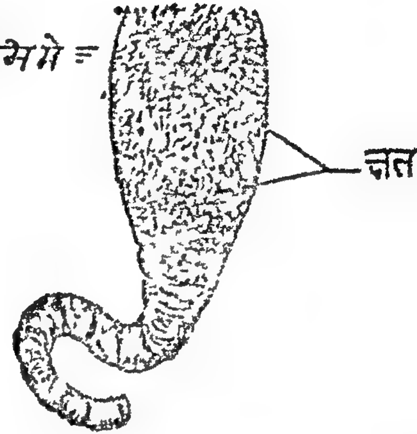
'मंथर ज्वर में आंत्र शोथ'

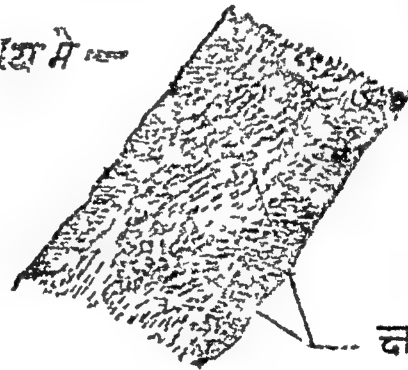


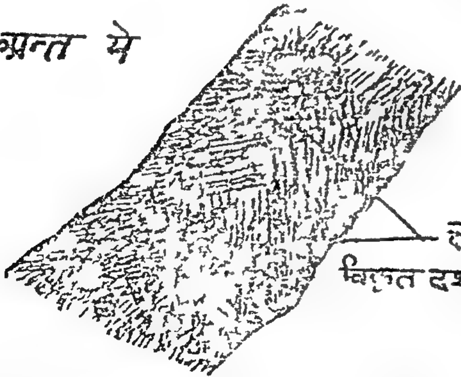
चित्र मे नं० १, २ बिन्दु वाला स्थान शोथयुक्त है

मंथर ज्वर में आंतों के क्षत

चित्र नं० १, २, ३ देखें







आंतें चीर कर देखने पर चित्र नं० १, २, ३ की तरह दिखलाई देते हैं।

१ प्रथम सप्ताह- Swelling–शोथ की अवस्था–कफाधिक्य
२ द्वितीय सप्ताह–Sloughing–कोथ या सडन की अवस्था
३ तृतीय सप्ताह–Seperation–व्रणावस्था–पित्ताधिक्य
४. चतुर्थ सप्ताह-Scarring–रोपण की अवस्था

शोथ की अवस्था के परिणामस्वरूप रक्तसचार मे बाधा पडती है जिससे रक्त तथा प्राणवायु दोनो की कमी हो जाती हे। जीवाणुओ का विष पर्याप्त मात्रा मे बढ़ जाता हे जिससे लभास धातु गलने लगती हे।

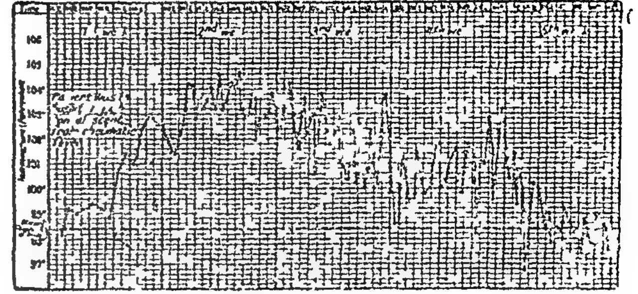
सौम्य प्रकार मे केवल ऊपर का ही भाग गलता है और मध्यम प्रकार मे सम्पूर्ण लभास धातु गल जाती है और तीव्र प्रकार मे पेशियो तथा उदरावरणकला के स्तर भी गल जाते हे। इसी अवस्था मे रक्तस्राव, आन्त्र छिद्रण आदि उत्पन्न होकर वाताधिक्य एव असाध्यता उत्पन्न हो जाती हे।

रोग लक्षण—

प्रथम सप्ताह—इस रोग मे ज्वर प्राय सोपानवत् आरोहण करता है अर्थात सन्ध्या के समय २ अंश बढ जाता है और प्रातःकाल १ अंश कम हो जाता है। ज्वर क्रमश बढता है जो बिना शीत के आता है। प्रथम सप्ताह ज्वर क्रमश बढता है जो कभी पूरा नहीं उतरता है। सप्ताह के अन्त मे ज्वर चरम सीमा (१०३-१०५° F) तक पहुच जाता है। नाडी प्राय मृत्यु तथा ज्वर की तीव्रता की दृष्टि से २० से ४० स्पन्द कम रहती है। शिर के पूर्व भाग मे पीडा, जिह्वा का मलावृत रहना, सफेद किनारो पर लाल, दातो, मसूढो पर मैल, सुस्ती, उदासीनता, धूमिल तथा तन्द्रिल अवस्था, प्लीहा वृद्धि, तृष्णा वृद्धि, रात्रि प्रलाप, जडता तथा निभुग्न नेत्रता आदि लक्षण रहते है। ज्वर के आरम्भ मे कोष्ठबद्धता किन्तु सप्ताह के अन्त मे अतिसार हो जाता है। उदर मे आध्मान तथा नाभि के नीचे दबाने पर पीडा होती है। पेशियां क्षीण हो जाती है और मास गलने लगता है। मूत्र थोडा थोडा तथा गहरे लाल रङ्ग का आता है।

द्वितीय सप्ताह—ज्वर चरम सीमा पर जाकर स्थिर हो जाता है जो लगभग १०३° F रहता है। इस सप्ताह मे उदर तथा छाती पर धीरे धीरे दाने (पिडिकाये) निकल आते है। नाडी की गति तीव्र हो जाती है तथा शिर शूल मे कमी आ जाती है। प्रलाप, बेचैनी, तन्द्रा, मुख-शोष, कास, दौर्बल्य, आध्मान और मानसिक सन्ताप बढ जाता है। ज्वर प्रातःकाल कुछ कम रहता है और नाडी की गति ११० से १४० तक प्रति मिनट रहती है। जिह्वा शुष्क होकर फट जाती है। अनेक रोगियो मे मटर के जूस की भाति पीला, पतला तथा रात दिन मे २ से १० बार तक पतले दस्त (अतिसार) आते है। अनेक रोगियो को इस सप्ताह मे भी कोष्ठबद्धता निरन्तर बनी रहती है। कभी कभी आन्त्र क्षत के फटने पर मल के साथ रक्त आने लगता है। किसी किसी रोगी को खासी तथा न्यूमोनिया भी हो जाता है। हृदय दौर्बल्य, अनिद्रा तथा कृशता आदि लक्षण देखने को मिलते है।

प्राय सौम्य रोग मे इसी सप्ताह के अन्त तक सुधार प्रारम्भ हो जाता है। तीव्रस्वरूप के रोग मे मल के साथ रक्त का आना, श्वास-कास (न्यूमोनिया) का होना, विषमयता, हृद्भेद, आन्त्र छिद्रण आदि का होना घातक है और इसमे रोगी की मृत्यु तक हो जाती है।



आन्त्रिक ज्वर रोगी का तापमान चार्ट

तृतीय सप्ताह—इस सप्ताह मे उपर्युक्त लक्षण कम होने लगते है। यदि ये लक्षण बढ जावे तो ज्वर की अवधि चार सप्ताह अथवा अधिक बढ जाने की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति मे नाडी तीव्र तथा विषम हो जाती है। श्वास-कष्ट बढ जाता है। रोगी को अधिक पसीना आने से कृशता बढ जाती है। हाथ-पैर तथा जीभ मे कम्पन होने लगता है। तीव्र रोग मे यह सप्ताह अति चिन्ताजनक है। वाताधिक्य से प्रलाप, तन्द्रा, कम्पन, अधिक कृशता, मूत्रावरोध, अनजाने मलमूत्र त्याग, सन्यास आदि भयानक अशुभ लक्षण उत्पन्न हो जाते है। साथ ही अत्यधिक मलत्याग और कदाचित रक्तस्राव जिसकी चिकित्सा सद्य फलप्रद न होने से रोगी का जीवन सदिग्ध हो जाता है।

वास्तव मे टाइफाइड ज्वर ३ सप्ताह की अवधि वाला होता है और समुचित चिकित्सा होने पर ठीक २१ वे दिन ज्वर उतरने लगता है।

चतुर्थ सप्ताह—इस सप्ताह मे तृतीय सप्ताह के लक्षण उपस्थित रहते है। इसमे रोगी ज्वर से चिल्लाता तथा शनै शनै बेहोश हो जाता है, वह अपने परिचित को भी नही पहिचान पाता है। धीरे धीरे असंगत बात करने लगता है, वह शय्या के वस्त्र को फेंकने लगता है। यदि रोगी उस भयानक अवस्था को न प्राप्त हुआ या योग्य समयानुसार चिकित्सा हुई तो चौथे सप्ताह मे अथवा तीसरे सप्ताह के अन्तिम दिन रोगी का प्रातःकालीन तापक्रम घटने लगता है। चौथा सप्ताह समाप्त होते होते तापक्रम स्वाभाविक स्थिति मे आ जाता है। जिह्वा का अग्र भाग तथा किनारे अच्छे हो जाते है।

रोगी अपने को चैतन्य अनुभव करने लगता है। क्षुधा प्रतीत होती है और रोगी आरोग्यमुख हो जाता है।

रोग के प्रबल होने पर ज्वर के कारण निम्न परिवर्तन मिलते हैं—

[१] लसीका ग्रन्थियो, यकृत, प्लीहा आदि की वृद्धि हो जाती है।

[२] रक्त मे अशुद्धि, पतलापन, श्वेतकण तथा हीमोग्लोबिन की न्यूनता से शरीर कातिहीन हो जाता है।

[३] मास मे नित्यप्रति क्षय तथा श्याववर्णता।

[४] नाडी क्षीण, गति डेढ गुनी अथवा दो गुनी हो जाती है।

[५] उदर मे स्पर्शासहिष्णुता, मल दुर्गन्धयुक्त और पेट मे गुडगुडाहट होती है।

[६] प्यास की अधिकता, जीभ का मलावृत, किनारे लाल तथा फटी हुई होती है।

[७] यकृत-प्लीहा की वृद्धि तथा उदावर्त होता है।

[८] उपद्रवस्वरूप न्यूमोनिया, श्वासनलिका शोथ, श्वसन मे तीव्रता तथा शुष्क कास (Bronchitis) होता है।

[९] मूत्र लाल-पीला दुर्गन्धयुक्त थोडा थोडा बार बार होता है।

[१०] मूत्र मे यूरिया तथा फास्फेट की अधिकता, पर क्लोराइड की न्यूनतम उपस्थिति।

[११] शरीर से विशेष प्रकार की तीखी गन्ध निकलती है। शरीर मे गले से उरु तक श्वेताभ गुलाबी पिडिकाओ के निकलने से इस ज्वर का निश्चय हो जाता है।

[१२] चक्कर आना, निद्रानाश, शिर शूल, कृशता, वाधिर्य और विचार शक्ति मे ह्रास होता है।

[१३] रात्रि के समय प्रलापाधिक्य।

[१४] इस रोग मे प्रात १०१ डि० फा० तथा सायङ्काल १०४ डि० फा० तक ज्वर रहता है।

[१५] सीढी के समान तापमान चार्ट, शिर शूल, तन्द्रा, जडता, मोती जैसे दाने निकलना और प्लीहा वृद्धि से इस रोग का निर्णय हो जाता है।

[१६] प्रयोगशाला मे रक्त, मूत्र तथा मल की परीक्षा करने से आन्त्र जीवाणुओ की उपस्थिति मिलती है।

[१७] इस रोग मे वमन तथा कभी कभी भयङ्कर अतिसार हो जाता है।

[१८] किसी किसी रोगी मे रक्तस्राव पहले ही होता है, किन्तु ऐसा कम देखने को मिलता है।

रोग के अन्य प्रकार—

(१) सौम्य अभ्रगत्म, (२) भ्रमणशील, (३) तीव्र प्रकार, (४) विशेष प्रकार, (५) रक्तस्रावी प्रकार, (६) ज्वर रहित प्रकार।

उपद्रव—

मुख्य रूप से ३ होते हैं—

१ रक्तस्राव, २. आन्त्र छिद्रण (छिद्रोदर) ३ फुफ्फुस पाक।

लाक्षणिक निदान—सन्ताप, नाडी तीव्रता, विषमयता, प्लीहा वृद्धि, विस्फोट, रोगी की मुखचर्या आदि का सूक्ष्म निरीक्षण करने से रोग की पहिचान सुगमता से हो जाती है। फिर भी प्रायोगिक निदान से भी निश्चित कर लेना चाहिए।

प्रायोगिक निदान—(१) रक्तरोगीन परीक्षा (२) रक्त परीक्षा (३) संवर्धन परीक्षा [Blood culture] (४) विडाल की अभिश्लेषि परीक्षा [Agglutinine test]। इन परीक्षाओ से रोग का निश्चयात्मक निर्णय हो जाता है।

सापेक्ष निदान—तीव्र विषम ज्वर, श्लेष्मक, दण्डक, तन्द्रिक ज्वर, राजयक्ष्मा, कालाजार, माल्टा ज्वर, पुनरावर्तक ज्वर आदि से इनका विभेद (पृथक्करण) कर लेना चाहिए।

साध्यासाध्यता—गर्भिणी, मद्यपी, पाण्डुरोगी, मधुमेह से पीडित रोगी, हृदय रोगी, अति स्थूल, वृक्क विकार से उत्पन्न शोथयुक्त रोगी मे यह कष्टसाध्य होता है। श्वासनली प्रदाह, फुफ्फुस प्रदाह, आन्त्रिक रक्तस्राव, स्वरयन्त्र क्षत, आन्त्र विदारण से आन्त्र प्रदाह, सताप की अति तीव्रता, प्रलाप, आध्मान, वृक्कशोथ आदि उपद्रव घातक होते हैं। प्राय तीसरे सप्ताह के पश्चात् इनसे मृत्यु हो जाती है। रोग के प्रारम्भ मे रक्तस्राव होने से रोगी की मृत्यु निश्चित है। आन्त्र मे उग्रता, समय-समय पर रक्तस्राव, नाडी की अति तीव्रता, आन्त्रावरण प्रदाह, सहसा आध्मान का होना आदि रोगी की

मृत्यु का सूचक है। उदर वेदना, अतिसार, अतिबल क्षय, हाथ-पैरो का कापना आदि रोगी के अनिष्टकारक लक्षण है। प्रातःकाल तापक्रम का बढना, सारे दिन बराबर रहना और रात मे बढ जाना यह सभी खराब लक्षण हैं। तापक्रम का एकाएक बढ कर गिर जाना असाध्यता का सूचक है। प्रातःकाल मे शरीर का ताप कम हो जाना शुभ लक्षण है। बडो की अपेक्षा बच्चे इस रोग को सहन करने मे काफी सक्षम होते हे, पर क्षीरपायी बच्चो के लिये यह रोग साघातिक होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त—

रोगी को स्वच्छ हवादार कमरे मे रखना चाहिए। रोगी को शारीरिक तथा मानसिक रूप मे पूर्ण आराम दे। लघुपौष्टिक आहार, मौसम्मी तथा दूध दे। टाइफायड का निदान होने पर तुरन्त उसके रोकने का उपाय करे। सामान्य प्रकार के रोग मे क्रमशः कफ, पित्त एव वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। रक्तस्राव आदि तीव्र लक्षण होने पर प्रथम पित्त को शान्त करने का उपाय करना चाहिए। सन्निपात ज्वर के सारे उपक्रम पथ्यादि सभी इस रोग मे अवलम्बन करना सफलतादायक है। रोगी को अधिक तेज रोशनी से बचाना चाहिए। रोगी की शय्या आरामदायक हो। रोगी को स्पज करे अथवा भीगी तौलिया से शरीर को पोछते रहे। जब तक रोगी की स्थिति सुधर न जावे तब तक उसे तरल भोजन दे। मुख की शुद्धि रखना अति आवश्यक है। इसके लिए लिस्टेरिन डेटाल या सेवलान १५ बूद को २५० मिली० गुनगुने जल मे मिलाकर रोगी को कुल्ला कराना चाहिए। पोटास परमैंगनेट घोल का प्रयोग किया जा सकता है। लौग+पान का काढा बनाकर कुल्ला कराया जा सकता है। दूसरे सप्ताह मे शय्या पर रोगी की करवटे बदलवाते रहना चाहिए। अधिक प्यास लगने पर रोगी को थोडा थोडा जल बार बार पिलाते रहना चाहिए। इसके लिये षडङ्ग पानीय की व्यवस्था करनी चाहिए। आध्मान, उदर वेदना, गुडगुडाहट आदि होने पर वायविडङ्ग, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, लौग इनका पानीय बनाकर दे। अतिसार की स्थिति मे शतपुष्पार्क पीने के लिए देना चाहिए। पैत्तिक लक्षणो की अधिकता पर ब्राह्मी पत्ती ३ माशा+धनिया नागरमोथा, सुगन्धबाला, सारिवा प्रत्येक ३-३ माशा का क्वाथ ५०० मिली० जल मे बनाकर आधा शेष रहने पर २० ग्राम मिश्री के साथ दिन मे कई बार पिलावे। दूसरे सप्ताह मे मलावरोध की प्रवृत्ति होती है। ग्लिसरीन की वत्ती देकर मल की शुद्धि करायी जा सकती है। ऐनिमा का पानी पिलाने से मल की गाठे साफ हो जाती है। आन्त्रिक ज्वर की चिकित्सा मे लघन-पाचन और शमन के लिए क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय सप्ताह मे व्यवस्था की जाती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

टाइफाइड रोग मे निम्न चिकित्साक्रम विशेष लाभकारी है—

प्रथम सप्ताह—(१) मृगश्रृङ्ग भस्म १२० मि० ग्रा०, मुक्ताशुक्ति भस्म १२० मि० ग्रा०। १×३ प्रातः दोपहर शाम मधु के साथ।

(२) खूबकला १२ ग्राम, मुनक्का १० ग्राम। १ मात्रा क्वाथ बनाकर प्रात।

अथवा—

सौभाग्य वटी १२० मि० ग्रा०, आनन्द भैरवी गुटिका १२० मि०ग्रा०। १×३ प्रात दोपहर शाम भुना जीरा+मधु से। इससे आमदोष के पाचन मे सहायता मिलती है।

द्वितीय सप्ताह—(१) कस्तूरी भैरव रस १२० मि०ग्रा०, मुक्ताशुक्ति भस्म १२० मि० ग्रा०। १×२ प्रात शाम मधु से।

(२) ज्वरार्यभ्र १२० मि० ग्रा०, सौभाग्य वटी २४० मि० ग्रा०। १×२ दोपहर रात्रि आर्द्रक रस मे।

अथवा—मुक्ता भस्म ६० मि० ग्रा०, योगेन्द्र रस १२० मि० ग्रा०, सौभाग्य वटी १२० मि० ग्रा०, त्रैलोक्य चिन्तामणि ६० मि०ग्रा०। १ मात्रा। दिन मे २-३ बार भुना जीरा+मधु से। यह महगा है।

अथवा—ब्राह्मी वटी १२० मि० ग्रा०, प्रवाल भस्म ६० मि० ग्रा०, मुक्ताशुक्ति भस्म ६० मि० ग्रा०. आनन्द भैरव रस १२० मि० ग्रा०, ज्वरारि अभ्र १२० मि० ग्रा०। १ मात्रा। दिन मे २-३ बार भुना जीरा तथा मधु से।

तृतीय सप्ताह—(१) वसन्तमालती, प्रवाल भस्म, अमृता-सत्व तीनो १२०-१२० मि० ग्रा० । १×२ प्रात शाम मधु से ।

(२) सर्वज्वरहर लौह २४० मि०ग्रा०, पिप्पली चूर्ण २४० मि०ग्रा० । १×२ दोपहर रात्रि मधु से ।

अथवा—त्रिभुवन कीर्ति, ब्राह्मी वटी, चन्दनादि लौह तीनो १२०-१२० मि० ग्रा० । १×३ प्रात दोपहर शाम मधु से ।

चतुर्थ सप्ताह—(१) बसन्त मालती १२० मि० ग्रा०, नवायस चूर्ण २४० मि०ग्रा०, सितोपलादि १॥ ग्रा । १×२ प्रात शाम मधु से ।

(२) विषमुष्ट्यासव ५ मिली०, लोहासव १० मिली०, अमृतारिष्ट १० मिली० । १×२ भोजनोपरान्त समजल से ।

(३) महालाक्षादि तैल—मालिश ।

अथवा—(१) प्रवाल पचामृत, पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लौह, वसन्त मालती, सितोपलादि चूर्ण चारो १२०-१२० मि० ग्रा० । १×२ प्रात शाम मधु से ।

(२) लोहासव, अमृतारिष्ट, कुमारी आसव तीनो १०-१० मिली० । १×२ भोजनोपरान्त सम भाग जल से ।

(३) महालाक्षादि तैल—मालिश ।

लाक्षणिक चिकित्सा—

१ वात की अधिकता मे—वृहत वात चिन्तामणि, वृहत कस्तूरी भैरव ।

२ पित्त की अधिकता मे—प्रवाल पिष्टी, मुक्ता पिष्टी, नागार्जुनाभ्र ।

३ कफ की अधिकता मे—मकरध्वज, सौभाग्य वटी ।

४ रक्तस्राव की आशङ्का मे—सिद्ध प्राणेश्वर ।

५ हृदय दौर्बल्य की स्थिति मे—विश्वेश्वर रस, मुक्तापिष्टी, वृहत कस्तूरी भैरव—इनको मधु मे दे ।

६ प्रलाप की स्थिति मे—वातोल्वण सन्निपात की चिकित्सा का अवलम्बन ।

७ अतिसार की स्थिति मे—अफीम के योग जहा तक हो सके न दें । मजीवनी, रामवाण एव महागन्धक रसायन का प्रयोग करें । अतिसार न रुक रहा हो तो अगस्ति सूतराज १२० मि० ग्रा० दिन मे १ वार दे । अथवा कोरैया की छाल+बेल का गूदा+मोचरस+नागरमोथा+धनिया प्रत्येक ६-६ माशा—ऐसी १ मात्रा ५०० मिली० जल मे पकाकर ५० ग्राम शेष रहने पर छानकर १० ग्राम मधु के साथ मिलाकर प्रात साय पिलावे ! इस कार्य के लिए निम्न योग भी पर्याप्त लाभकारी सिद्ध हुआ है—

आनन्द भैरव, सिद्ध प्राणेश्वर, कर्पूर वटी तीनो १२०-१२० मि० ग्रा०, रामवाण रस २४० मि० ग्रा०, महागन्धक रसायन ४८० मि० ग्रा० । १×३ भुना जीरा तथा मधु से, प्रात दोपहर शाम ।

८ अनिद्रा मे—सर्पगन्धा चूर्ण २४० मि० ग्रा० की ४ मात्राये, दोपहर से ४ बजे तक ४ वार जल से दे ।

९ दाने ठीक से न निकलने पर—५-१० ग्राम लौंग १॥ लीटर जल मे डालकर उबाले और रोगी को यही पानी पीने को दे ।

१० विबन्ध—विरेचन का प्रयोग न करे । ग्लिसरीन की गुदवर्ति को गुदा मे लगावे ।

११ आध्यमान की स्थिति मे—ग्लिसरीन वत्ती का गुदा मे प्रयोग करे तथा हिंग्वादि वटी+लशुनादि वटी का प्रयोग करे । उडद के आटे की रोटी पकाकर एक तरफ एरण्ड तैल चुपडकर उदर पर बाधे । अथवा जौ का आटा १०० ग्राम+जवाखार १०० ग्राम मिलाकर गरम पेट पर लेप करने से आध्यमान शात हो जाता है ।

१२ कास की स्थिति मे—लवङ्गादि वटी (योग रत्नाकर)+सितोपलादि चूर्ण २ माशा—एक मे मिलाकर मधु से ३-३ घण्टे पर चटावे । साथ ही एलादि वटी मख मे रखकर चूसे ।

१३ छिद्रोदर की स्थिति मे—हिरण्यगर्भ पोटली, कस्तूरी, कपूर, चन्द्रोदय आदि उचित मात्रा मे प्रति ३-३ घण्टे पर । उदर पर ऊनी वस्त्र लपेट दे तथा वीच-वीच मे रोगी को थोडा थोडा पानी पिलाते रहे ।

१४ यकृत शोथ की स्थिति मे—पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लोह १२० मि० ग्रा० शर्बत वनपसा के साथ । मलावरोध हो तो कुमारी आसव दे ।

१५ न्यूमोनिया+श्वासनली शोथ के उपद्रव मे—चतुर्मुख रस+श्वास चिन्तामणि रस का प्रयोग, पुन-

नवा+निर्गुण्डी क्वाथ से। छाती और पीठ पर मैन्धवादि तैल की मालिश कर छाती को ऊनी वस्त्र से लपेट दें। कफ पतला करने के लिये वासावलेह, अष्टाङ्गावलेह का प्रयोग करे।

१६ मूर्च्छा, प्रलाप तथा प्यास की अधिकता मे—प्रवाल भस्म १२० मि० ग्रा०+मुक्ता भस्म ६० मि० ग्रा०+सजीवनी वटी २ गोली+तालीसादि चूर्ण १ माशा मिलाकर शर्वत वनफ्सा के साथ ३-३ घण्टे के अन्तर से दे।

१७ कर्णमूल शोथ की स्थिति मे—आमवातघ्न और कफनाशक लेप करे। इसके लिए कुचला २४० मि० ग्रा०, कायफल, सोठ, कालीजीरी और अफीम प्रत्येक, २४० मि० ग्रा०–इन्हे पीस गरम करके लेप करे।

१८ अधिक स्वेद आने पर––चन्द्रोदय १२० मि० ग्रा०+शृङ्ग भस्म १२० मि० ग्रा०+सजीवनी ३६० मि० ग्रा०+मृत्युन्जय ३ गोली–पीसकर १ मात्रा मे मधु के साथ दें। ३ घण्टे पश्चात पुन ऐसी १ मात्रा और दे दे। साथ मे पीने के लिए अमृतारिष्ट २० मि० ली० की मात्रा मे दे।

१९ हृदय दुर्बलता मे—चतुर्भुज रस ६० मि० ग्रा०+विश्वेश्वर ६० मि० ग्रा०+मुक्ता भस्म ६० मि० ग्रा०–ऐसी १ मात्रा दिन मे २ वार मधु के साथ दे।

२० हृदय निपात की स्थिति मे—वृ० कस्तूरी भैरव १२० मि०ग्रा०+सिद्ध मकरध्वज ६० मि०ग्रा०+चिन्तामणि चतुर्मुख १२० मि० ग्रा०। ऐसी १ मात्रा प्रति ४ घण्टे पर पान रस+मधु के साथ दे।

टाइफाइड रोग मुक्ति के पश्चात धातु पुष्टि, व्रण सजनन एवं स्वास्थ्य लाभ के लिए—

(१) नवायस लौह २४० मि० ग्रा०, वसन्त मालती १२० मि ग्रा, सितोपलादि १ माशा। १ मात्रा×२ प्रात· साय मधु मे।

(२) लोहासव १० मिली, अमृतारिष्ट १० मिली १×२ समभाग जल से भोजनोपरान्त।

नोट—जो चिकित्सा सप्ताह वार दी गई है उसके साथ ही यह लाक्षणिक चिकित्सा सहयोगी औषधि के रूप मे चलेगी।

आधुनिक चिकित्सा—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे इसकी एकमात्र विशिष्ट औषधि 'क्लोरेम्फेनिकाल' है। इससे रोग का सम्पूर्ण नाश हो जाता है। रोग के प्रारम्भ मे क्लोरेम्फेनिकाल की २५० मि ग्रा की मात्रा प्रति ४ घण्टे (अधिक से अधिक ३ ग्राम प्रतिदिन) पर दे। रोग की उग्रावस्था मे ५०० मि ग्रा प्रति ६ घण्टे पर तव तक देते है जब तक तापक्रम सामान्य नही हो जाता। तत्पश्चात ५०० मि ग्रा प्रति ८ घण्टे पर १० दिन तक देते है। इधर कुछ वर्षो से ज्वर के प्रारम्भ मे ही क्लोरेम्फेनिकाल अथवा क्लोरोमाइसेटीन के साथ विटामिन सी ५०० मि ग्रा तथा प्रेड्नीसोलोन ५ मि. ग्रा की मात्रा मे प्रयोग करते है।

प्रेड्नीसोलोन का प्रयोग प्रारम्भिक दिनो मे तो अच्छा रहता है। वाद के समय मे अधिक समय तक प्रयोग करने से आन्त्र से रक्तस्राव की सम्भावना रहती है। क्लोरेम्फेनिकाल उपर्युक्त मात्रा मे १० दिन तक प्रयोग करने के पश्चात अव नवीनतम चिकित्साक्रम मे ७ दिन के लिए वन्द कर देते है, तत्पश्चात् एम्पीसिलीन ५०० मि ग्रा दिन में ३ वार अथवा कोट्रीमोक्साजोल (Cotrimoxazole) जो सेप्ट्रान के नाम आती है। २ गोली के रूप मे दिन मे २ वार ७ दिन तक देते है। जव मुख द्वारा औषधि देना सम्भव नही होता है तव इसे १ ग्राम की मात्रा मे इन्जेक्शन केमीसेटिन (Inj Kemicetin) जिसे क्लोरेम्फेनिकाल सक्सीनेट कहते है। मासपेशीगत दिन मे २ वार देते है। वच्चो को वयस्को की आधी मात्रा मे देते है। वच्चो के लिए क्लोरेम्फेनिकाल के शर्वत पाल्मीटेट, स्टेरिएट (Steriate) अथवा ड्राई सीरप आते हैं।

अन्य एण्टीवायोटिक्स—यदि रोगी को क्लोरेम्फेनिकाल सत्य नही होता है अथवा साधारण स्वरूप के रोग मे निम्न एण्टीवायोटिक का प्रयोग करते हैं—

१ एमोक्सीसिलिन (Amoxycillin)—५०० मि ग्रा प्रति ६ घण्टे पर।

२ एम्पीसिलिन (Ampicillin)—५०० मि ग्रा प्रति ६ घण्टे पर।

३ कोट्रीमोक्साजोल (Cotrtmaxozole)–२ गोली

प्रति १२ घण्टे पर ।

४ ट्राईमेथोप्रिम (Trymethoprim)—२०० मि ग्रा. प्रति १२ घण्टे पर ।

लाक्षणिक चिकित्सा—

टाइफाइड ज्वर मे कभी कभी कुछ लक्षण रोगी के लिए अधिक कष्टदायक हो जाते है । उपर्युक्त चिकित्सा विधि के अतिरिक्त उनका भी उपचार साथ मे करना पडता है ।

विषमयता (Toxaemia)—हाइड्रोकार्टीजोन २०० मि ग्रा अथवा डेक्सामेथाजोन ८ मि ग्रा सूचीवेध के रूप मे देने के पश्चात ४५ मि ग्रा प्रेड्नीसोलोन विभक्त मात्रा मे प्रथम दिन, ३० मि ग्रा दूसरे दिन, १५ मि ग्रा तीसरे दिन, १० मि ग्रा चौथे दिन और ५ मि ग्रा. ५ वे दिन (आखिरी दिन) दे । विषमयता की शान्ति के लिए ग्लूकोज तथा जल का उचित मात्रा मे प्रयोग सर्वोत्तम माना गया है । यदि रोगी मूर्छित हो अथवा अन्य किसी कारण से पर्याप्त मात्रा मे जल न पी सके तो रायल की नली (Ryle's Tube)के द्वारा पेय पदार्थो को आमाशय मे नियमित रूप से पहुचाना चाहिए ।

अतिसार—दूध देना बन्द कर देना चाहिए । वटर मिल्क तथा सेगो केन्जी अथवा राइस केन्जी पानी मे दें । स्टार्च ओपियम एनीमा (१ चम्मच स्टार्च+२ औस जल+३० बूद टिं ओपियम) लाभकारी है। केओलीन+विस्मथ मुख द्वारा दे । अथवा लोमोटिल (Lomotil) २ ५ मि ग्रा टेवलेट दिन मे ३ वार दें ।

अधिक दुर्गन्धयुक्त मल आने की स्थिति मे—सल्फाग्वानेडीन १ गोली+कार्वोकेओलिन (Carbokeolin) १० ग्रेन+विस्मथ कार्व १० ग्रेन–ऐसी १ मात्रा प्रति ४ घण्टे पर दे । इनके स्थान पर कार्वोग्वानासिल या एन्टरोकार्व का प्रयोग किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त सल्फामाडसिटीन, क्लोरोस्ट्रेप, स्ट्रेप्टोट्राइड, फ्यूरोक्सोन (Furoxone) आदि पेटेण्ट योग अतिसार के निराकरण हेतु पर्याप्त लाभकारी होते हैं ।

सन्ताप—१०४ डि फा तापक्रम होने पर रोगी को अधिक वेचैनी हो जाती हे । ऐसी स्थिति मे ज्वर शामक औषधि नही दी जाती । ऐसी स्थिति मे मस्तक पर वर्फ की थैली, यूडीकोलन अथवा ठण्डे पानी की पट्टी रखना चाहिए । ठण्डे पानी से समूचे शरीर को पोंछना हितकारी होता है ।

हृदय दौर्वल्य—द्वितीय तथा तृतीय सप्ताह मे सहायक औषधि के रूप मे निम्न योग का प्रयोग करने से हृदय दौर्वल्य मे पर्याप्त लाभ मिलता है । स्ट्रिक्नीन हाइड्रूक्लोराइड १/२०० + एट्रोपीन सल्फ १/२०० + एड्रीनलीन १० मिनिम्स–ऐसी १ मात्रा जिह्वा के नीचे दिन मे २ वार रखनी चाहिए । अथवा कोरामीन लिक्विड, कार्डियाजोल, वेरिटॉल आदि हृद्य औषधियो का प्रयोग करना चाहिए । श्वासकृच्छ्रता की स्थिति मे—आक्सीजन सुघाना चाहिए । कैम्फर इन आइल, कोरामीन कैफीन, किसी एक का सूचीवेध किया जा सकता हे।

कास एव टोन्सिल शोथ—खासी के लिए कोरेक्स, फेन्सेडिल सीरप आदि का प्रयोग करे । टोन्सिल शोथ के लिए पेनिसिलीन लोजेन्जिज, ओरियोमाइसीन ट्रोचिस आदि चूसने को दे । साथ ही गले मे मैंडल्स पेन्ट अथवा फैरी-ग्लिसरीन पेन्ट का प्रयोग करे ।

शय्याव्रण—शरीर पर लेटे रहने के कारण व्रण होने पर हाइड्रोजन पर आक्साइड अथवा ई० सी० लोशन से अच्छी तरह साफ कर सिवाजोल पेनिसिलीन अथवा औरियोमाइसीन के मलहम लगाकर ड्रेसिंग करे । इसे दिन मे २ वार वदलना अच्छा रहता है । मरक्यूरोक्रोम लोशन व्रणो मे मासाकुर उत्पन्न करने हेतु लाभकारी है ।

कर्णशोथ—एण्टीवायोटिक औषधिया लाभकारी है । कर्णमूल शोथ के स्थान पर गर्म जल से सेक करके एण्टीफ्लोजिस्टीन की पुल्टिस बाधनी चाहिए । साथ ही पेन्सिलीन, आइलोटाइसिन, ओरियोमाइसीन, टेट्रासाइक्लीन, एम्पीसिलीन इत्यादि का प्रयोग करने से मूल व्याधि तथा कर्णमूल शोथ–दोनो का निराकरण होता है ।

फुफ्फुस एव श्वसनी पाक—यदि टाइफाइड ज्वर मे क्लोरेम्फेनिकाल का प्रयोग न हुआ हो तो इसका प्रयोग करने से मूल व्याधि तथा उपद्रव दोनो का निराकरण हो हो जाता हे । अवशिष्ट स्वरूप के उपसर्ग मे टेट्रासाइक्लीन का उपयोग विशेष लाभकारी होता हे । साथ ही सेक-प्रलेप पुल्टिस आदि का प्रयोग तथा हृदय को वलकारक औषधिया अवश्य देनी चाहिये ।

—शेषांश पृष्ठ १८३ पर देखे ।

मन्थर ज्वर

कविराज डा० हरिवल्लभ मन्नूलाल द्विवेदी सिलाकारी शास्त्री, चिकित्सक चक्र०, आयु०, आयु० वृह०
स्वामी निरञ्जन-निवास, चकराघाट, सागर (म० प्र०)

—★★—

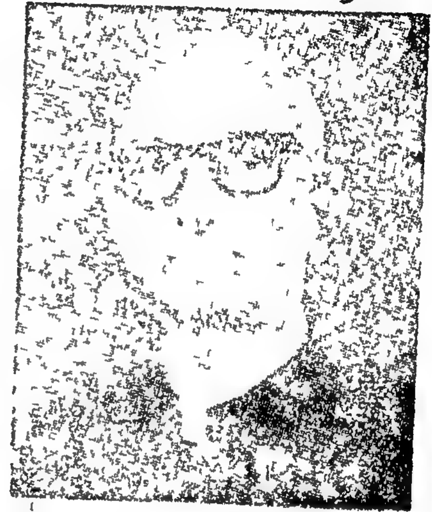
पर्याय नाम–

मरकत-मौक्तिक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, सशोपी सन्निपात, मन्थर ज्वर कहते हे। हिन्दी–मोतीझरा, मोती ज्वर, मदरा। उर्दू–मुट्रका इसहाली, तपेमुवारक, अंग्रेजी–टाइफाइड फीवर तथा एन्ट्रिक फीवर।

व्याख्या- बैसिलस टायफोसस (Bacillus Typhosus) जीवाणु से उत्पन्न होने वाला एक मर्यादित स्वरूप का ज्वर है जी सन्तत स्वरूप का होता हे। इसमे उदर पीडा, अतिसार, त्वचा पर गुलाबी विस्फोट (दाने–आकार मे राजगिर-रामदाने अथवा अनविधे मोती के समान) वहुत छोटे छोटे होते हैं, जो परिवर्धक लैन्स द्वारा स्पष्ट देखे जाते है। प्लीहा वृद्धि ये लक्षण प्रकट होते है। Bacillus Typhosus जीवाणु मन्थरज्वर (Typhoid) से पीडित रोगियो के रक्त, मल, मूत्र, पित्ताशय और अत्रियो मे पाये जाते है। यह रोग समस्त ससार मे तथा सभी ऋतुओ मे होता हे, परन्तु उष्ण प्रदेशो एव उष्ण और वर्षा ऋतु मे अधिक होता हे। प्राय युवा व्यक्ति ही इससे पीडित होते हे। स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे तथा शक्ति से अधिक शारीरिक श्रम करने वाले पुरुषो (महनतकश-मजदूरो) मे अधिक दिखाई देता हे। एक वार आक्रमण के बाद शरीर मे रोग प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न होती है जिसके कारण रोग की पुनरावृत्ति नही होती।

कारण—इस रोग का कारण Bacillus Typhosus नामक दण्डाकार जीवाणु हे। यह चचल तथा तन्तुपुच्छ युक्त होता हे।

सक्रमण—रोगी के मल, मूत्र, दूपित जल, उससे प्रस्तुत वर्फ या शर्वत आदि पेय पदार्थ, साग, दूध के सेवन मे, दूषित जल मे उत्पन्न होने वाली मछली के सेवन से यह रोग उत्पन्न होता है। उक्त वस्तुओ (खाद्य एव

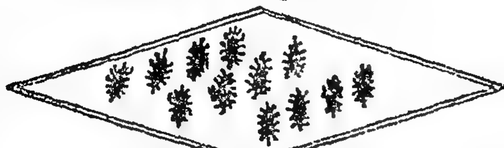


पेय पदार्थों) मे दुष्ट जीवाणु युक्त मल-मूत्रादि से, जीवाणुओ के हवा मे या धूल मे मिलकर जलाशय अथवा अन्य खाद्य, पेय के सम्पर्क मे आने से या मक्खी द्वारा होता है। मक्खी जीवाणुयुक्त मल पर बैठ कर फिर खाद्य पदार्थो पर बैठती हे। उसके पैरो पर तथा शुण्ड मे जीवाणु लिपट जाते है जो कि खाद्य सामग्री को दूषित करते है।

सम्प्राप्ति–जीवाणु जव मुख मार्ग से होकर महाकोष्ठ मे प्रविष्ट होते है और आमाशय के अम्ल से वच कर जव वे क्षुद्र अन्त्र मे पहुचते है तव वहा पर इनकी वृद्धि होना प्रारम्भ होती है। वहा से अन्त्रगत लसीका पिण्डो मे प्रवेश करते है, फिर वहा से लसीका वाहनियो द्वारा अन्त्रकला मेजेन्ट्री मे और वहा से रक्त मे, रक्त से प्लीहा, मज्जा आदि स्थानो मे फैलते है। क्षुद्र तथा स्थूलान्त्र की श्लेष्मलकला इस रोग के कारण लाल हो जाती हे। सवसे अधिक विकृति क्षुद्र अन्त्र के निचले तृतीयाश के अतिम भाग मे होती है। विकृति क्षुद्र एव स्थूलान्त्र के

मंथर ज्वर के कृमि

"Bacillus Typhosus"



यह जीवाणु आंतों में पहुँचे तो शोथ और व्रण पैदा कर देते हैं ॥

'मंथर ज्वर में अंत्र शोथ'



चित्र में नं. १, २ बिन्दु वाला स्थान शोथयुक्त है

सङ्क्रमण स्थान पर स्थित पेयर की ग्रन्थियो से प्रारम्भ होती है। इसके पश्चात् ऊपर की ओर फैलती है, जहा से स्थूलान्त्र आरम्भ होता है वहा की लसीका ग्रन्थिया भी विकृत होती है। अन्त्र की लसीका धातु मे प्रथम रक्ताधिक्य तथा तन्तुओ मे प्रथम रक्ताधिक्य तथा तन्तुओ के जमा होने के कारण पेयर की ग्रन्थियो मे शोथ हो जाता है। इस परिवर्तन के लिये प्राय एक सप्ताह का समय लग जाता है। इसके बाद वहा पर सडन होती है। यह शोथ अन्त्र की मास धातु के आवरण तक सीमित रहती है, कभी कभी जब यह सडन उदरकला द्वारा निर्मित आवरण (पेरिटोनियम) तक भी पहुच जाती है तब उदरकला-शोथ (पेरिटोनाइटिस) उत्पन्न होने की सभावना रहती है। इसके अनन्तर कला का सडा हुआ भाग पृथक् होने लगता है, जिसके फलस्वरूप अन्त्र मे व्रण बनना प्रारम्भ होता है, इनसे रक्तस्राव होता है। व्रण जब अधिक गहरे होते हैं जो कि उदर कला तक पहुचते है तब उनसे उदरकला मे शोथ होता है। ये व्रण पृष्ठ भाग की अपेक्षा गहराई की ओर अधिक फैलते है। यह अवस्था दूसरे सप्ताह के अंत तक चलती है। तीसरे सप्ताह मे व्रणो का सडा हुआ भाग गलता है। चौथे सप्ताह मे व्रणो का रोपण होना है। रोपण धातु की रचना पूर्व धातु के समान होने के कारण अंत्रियो की अवस्था पूर्ववत् हो जाती है और अन्त्रकला के अन्दर सङ्कोच नही होता। आन्त्रगत इस परिवर्तन के अतिरिक्त निम्न परिवर्तन भी होते हैं—

प्लीहावृद्धि, प्रथम सप्ताह मे कठिन तथा दूसरे सप्ताह मे मृदु होती है। यकृत् मे वृद्धि, पित्ताशय-शोथ, अन्त्रकला की लसीका-ग्रन्थियो का शोथ, हृद्दौर्बल्य, श्वास नलिकाओ मे शोथ तथा अधिक काल तक शैया पर पडे रहने के कारण फुफ्फुस के नीचे हिस्से मे रक्ताधिक्य ये परिवर्तन भी होते है। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेतकणो की सख्या कम होती है, उनमे भी बहुकेन्द्रीय श्वेतकण ५०% होते है। ईयोसिनोफिल का अभाव, लिम्फोसाइट ४०% मिलते है। जीवाणु प्रथम सप्ताह मे आन्त्र की लसीका ग्रन्थियो मे रहते है। वहा से रक्त मे जाते है। प्रथम सप्ताह मे ही रक्त मे जीवाणु मिलते है। रक्त से जीवाणु प्लीहा, वृक्क एव पक्वाशय मे प्रविष्ट हो जाते है। मल मे जीवाणु दूसरे सप्ताह के अन्त से मिलने लगते है।

रोग के लक्षण——जीवाणु प्रविष्ट होने के १० से १४ दिन के भीतर रोग के लक्षण प्रारम्भ होते हैं।

पूर्वरूप—अरुचि, आलस्य, बेचैनी, शिर शूल, नासिका से रक्तस्राव, ये लक्षण रोग होने के पहले प्रकट होते है।

लक्षण—प्रथम सप्ताह मे ज्वर शनै शनै बढता है। शाम को दो अश ज्वर बढता है तथा प्रात काल एक अश उतरता है। इस प्रकार ज्वर १०३ से १०५ अश (डिग्री) तक चढता है। यदि किसी ग्राफ पर इस ज्वर का आलेख्य (चार्ट) बना लिया जावे तो वह एक सीढी की भाति मालूम होता है।

नाडी—ज्वर के अनुपात से नाडी गति नही बढती, तापक्रम १०४ डिग्री होने पर नाडी की गति ९० प्रति मिनट रहती है। श्वास एव नाडी के अनुपात मे फर्क रहता है।

पाचन सस्थान——जिह्वा मटमैली, शुष्क तथा श्वेत और मसूढो पर मैल जम जाता है। अग्निमाद्य, आध्मान और आटोप (पेट फूलना तथा गुड-गुड शब्द होना) मल

पतला, कभी कभी विवन्ध युक्त। त्वचा—शुष्क एव उष्ण, त्वचा पर गुलावी रग के छोटे (२-३ मि मी व्यास वाले) विस्फोट उत्पन्न होते है। ७ से १२ वे दिन तक निकलना प्रारम्भ होते है, ये उदर तथा छाती पर अधिकतर दिखाई देते है, पार्श्व एव हाथ के पृष्ठो पर दिखाई पड सकते है। दूसरे सप्ताह के प्रारम्भ तथा तीसरे सप्ताह के अन्त पर्यन्त ये विस्फोट निकलते तथा मिटते रहते है।

मुखाकृति—प्रथम सप्ताह मे रोगी चेष्टारहित, उदासीन दिखाई पडता है। नेत्र चमकीले और पुतलिया फैली रहती है। मुख उतरा हुआ रहता है, कपोल रक्त वर्ण, ओष्ठ कृष्ण वर्ण तथा शुष्क रहते है। इसके अतिरिक्त कुछ कास एव शिर शूल होता है।

द्वितीय सप्ताह मे—ज्वर उच्चतम सीमा तक चढकर स्थिर हो जाता है। नाडी की गति वढ जाती है। आलस्य और दौर्वल्य वढते है, शिर शूल कम हो जाता है। उदर मे आध्मान, अतिसार, मल मे पेयर की ग्रन्थियो के सडे गले टुकडे, अपक्व अन्न, रक्त कण, कभी-कभी रक्त तथा फास्फेट के कण पाये जाते है। मल मे जीवाणु भी मिलते हैं। प्लीहावृद्धि, कृशता, अनिद्रा, हृदय मे धडकन, ये लक्षण उत्पन्न होते है। साधारण रोग मे—रोग की दशा मे यही से सुधार प्रतीत होता है। तीव्र प्रकार मे जीवाणु जन्य विप की अधिकता, हृत्कार्यावरोध, आत्र विदार अथवा आत्र से अधिक रक्तप्रवाह के कारण रोगी की मृत्यु होजाती है।

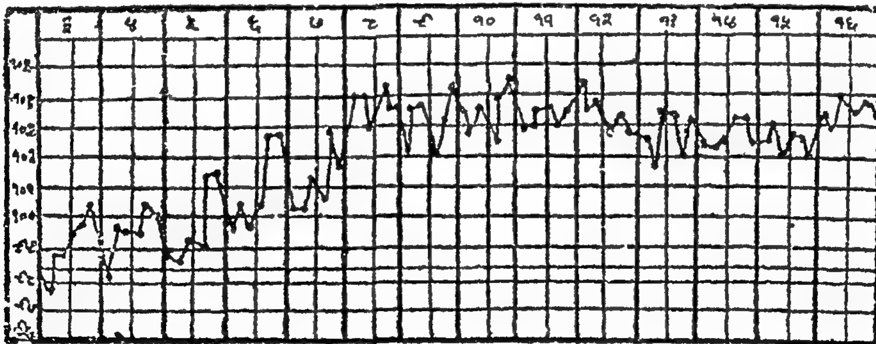
तृतीय सप्ताह मे—ज्वर शनै शनै उतरने लगता है। रोगी की दुर्वलता एव शक्ति क्षीणता वढती है, तथापि शनै शनै रोगी की दशा मे सुधार होने लगना है।

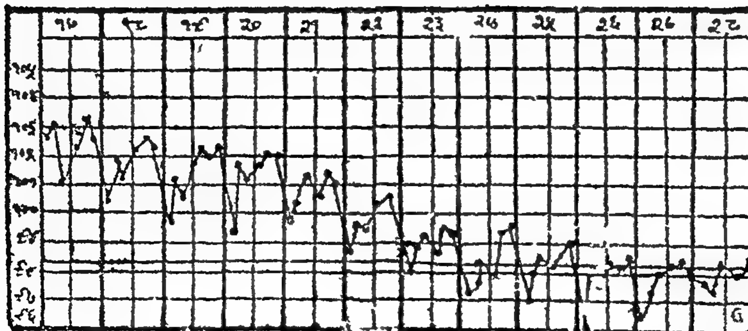
तीव्र प्रकार मे—प्रलाप, तन्द्रा, कम्प, मल-मूत्र का अनैच्छिक उत्सर्ग और मूत्रावरोध उत्पन्न होता है।

पाचन सस्थान के लक्षण—जिह्वा तथा ओष्ठ का सूखना, ओष्ठ पर पपडी पड जाना, आध्मान, अन्त्रियो के वर्णो द्वारा अधिक रक्त स्राव और आत्रच्छेद का आविर्भाव होता है। फुफ्फुस के अधोभाग मे रक्त की अधिकता होती है।

चतुर्थ सप्ताह मे—सभी लक्षण मन्द हो जाते हैं, ज्वर उतर जाता हे, शरीर का तापक्रम स्वाभाविक से भी कम (सवनार्मल) रहता है, नाडी भी बहुत मन्द चलती है। रोगी क्रमश अपने खोयें हुए पूर्ववर्त्ती स्वास्थ्य को पुन प्राप्त करता है।

तीव्र प्रकार मे—रोग अकस्मात वढता है। शीत





मन्थर ज्वर रोगी का ४ सप्ताह का तापमान चार्ट

एव कम्प के साथ ज्वर शीघ्रतापूर्वक, उच्चतम अश तक बढता है। तन्द्रा, प्रलाप, आत्र-प्रदाह-भेद आदि आदि उपद्रवो से रोगी दूसरे ही सप्ताह मे मर जाता है यदा कदा रोग का एक विशेष प्रकार भी दिखाई देता है। इसमे मन्थर ज्वर के सामान्य लक्षणो के साथ शरीर के किसी अङ्ग मे विकृति विद्यमान रहती है। इस अवस्था मे इसको विविध अङ्ग (जिसमे विकृति विशेष होजाती है) के नाम से पुकारते है, यथा—वृक्क मे विकार होने पर—नेफ्रो टाइफाइड, फुफ्फुस मे विकृति होने पर—न्युमोटाइफाइड, मस्तिष्क मे विकृति होने पर मेनिंगो टाइफाइड नाम दिये गये है।

शिशुओ मे मन्थर ज्वर—यदि शिशु को रोग उत्पन्न हो तो ४० % प्रतिशत अकस्मात प्रकट होता है। ज्वर अर्द्ध विसर्गी अथवा विसर्गी (स्वाभाविक अश तक उतरने वाला), तन्द्रा, प्रलाप आदि लक्षण कम होते है। आत्र-भेद कम होता है। रोग की अवधि भी अल्प होती है। रक्तस्राव भी अधिक नही होता किन्तु विस्फोट, प्लीहा वृद्धि, दौर्बल्य, कास, मूकता, मुखपाक,अस्थियो मे विकृति ये लक्षण अधिक होते है। रोग के अनेको वार पुनरावर्तन होते है।

उपद्रव—

(१) रक्तस्राव—दूसरे सप्ताह के अन्त से चोथे सप्ताह के पूर्व तक उत्पन्न होता है। यह वहुत कम रोगियो मे होता है। कभी-कभी अधिक रक्तस्राव होजाने पर हृदयावसाद के लक्षण उत्पन्न हो जाते है।

(२) आत्र भेद—उदर के दाहिनी ओर आत्र भेद होता है। पीडा अत्यधिक, अवसाद के लक्षण होते है।

(३) अतिसार, आध्मान, आटोप, कर्णमूल ग्रन्थि शोथ, पित्ताशय तथा पित्तवाहिनीशोथ, शरीरस्थ ताप अत्यधिक होना शैया पर अधिक काल तक लेटे रहने के कारण पीठ, नितम्व आदि पर व्रण वनना, मूत्र के साथ जीवाणु निकलना, आत्र पुच्छ शोथ (एपेण्डिसाइटिस) न्यूमोनिया, मूत्र के साथ रक्तस्राव ये उपद्रव उत्पन्न होते है। गर्भवती स्त्रियो मे गर्भपात हो सकता है। इसके उपद्रव मे निम्न रोग उत्पन्न होते है—(१) स्मृतिनाश (२) सधिशोथ (३) अस्थ्यावरण शोथ (४) कशेरुको का शोथ (५) पित्ताश्मरी (रीनल कैल्कुलस)। इसके अतिरिक्त मूकता उत्पन्न होती है, जो शिशुओ मे अधिक दिखाई देती है। वधिरता भी उत्पन्न होती है जोकि धीरे-धीरे स्वत शात हो जाती है।

कासोमूर्च्छाऽरुचिच्छर्दिस्तृष्णातिसार विड्ग्रहा।
हिक्काश्वासाङ्गभेदाश्चज्वरस्योपद्रवादश ॥

रोग का निदान—

ज्वर का शनै शनै चढना, ज्वर का (मर्यादा के भीतर) साधारण अश तक नही उतरना, शिर-शूल, नाडी मे तीव्रता न होने पर भी रोगी की दशा अवधि को देखते हुए गभीर होना, विस्फोट, प्लीहा वृद्धि अतिसार, आध्मान के लक्षण रोग निश्चिति में सहायक होते है। यदि रसायनशाला (लैवोरेट्री) पास मे हो तो मल-मूत्र की परीक्षा जीवाणु के लिये करा लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त रोगी का ५ सी सी रक्त निकाल कर रसायनशाला मे विडाल परीक्षा के लिये भेजना चाहिए। इस रोग मे मूत्र मे (डाइजोरिएक्शन) मिलता है। रक्त मे श्वेत कणो की सख्या कम मिलती है।

मारिस की एट्रोपीन परीक्षा—भोजनोत्तर १ घटा तक विश्राम करने के उपरान्त रोगी की नाडी की गति १० मिनट तक प्रति मिनट देखनी चाहिए। तत्पश्चात १/१०० ग्रेन एट्रोपीन की ३ टेवलेट मुख द्वारा एवं १/३३ ग्रेन एट्रोपीन त्वचा मे इन्जेक्शन द्वारा प्रविष्ट करके २५ मिनट वाद नाडी की प्रति मिनट गति देखे। यदि उसमे प्रति मिनट १० या उससे भी कम वृद्धि हो तो मन्थर ज्वर से रुग्ण हुआ समझना चाहिये।

सापेक्ष रोग निदान—मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, घातक विषम ज्वर, श्वसनक ज्वर, वात श्लैष्मिक ज्वर, काल ज्वर, टाइफस ज्वर, माल्टा ज्वर, तीव्र राजयक्ष्मा, पूय जनित ज्वर, उपान्त्रिक ज्वर, केचुए का—सक्रमण इनसे मन्थर ज्वर को पृथक करना चाहिए।

साध्यासाध्यता—वच्चो मे १५ वर्ष तक (प्रथम वर्ष को छोडकर) रोग सुसाध्य होता है। १५ से २५ वर्ष की आयु तक साध्य, इसके उपरात एव प्रथम वर्ष मे कष्टसाध्य होता है। मद्यसेवी, गर्भिणी, स्थूलहृदय तथा वृक्क विकार वाले रोगियो मे यह रोग कृच्छ्रसाध्य स्वरूप का होता है। इसके अतिरिक्त यदि रोग के आरम्भ से ही विषाक्तावस्था, प्रलाप, कम्प, तन्द्रा, तापक्रम अत्यधिक

होना, नाड़ी की गति अनियमित तथा शीघ्र, हृदय दौर्बल्य एव अन्त्र भेद से रक्त स्राव, आध्मान, पतले दस्त, मस्तिष्कावरण शोथ, श्वसनकज्वर ये उपद्रव तीव्र हो तो रोग असाध्य होता है। रक्तपरीक्षण द्वारा यदि श्वेत कणो की सख्या अत्यल्प हो और यदि दूसरे सप्ताह मे भी रक्त मे जीवाणु पाये जावें तो रोग असाध्य होता है।

सशोथी सन्निपात—

मेचकवपुरतिमेचकरोचनयुगलोऽवलमलोत्सर्गी ।
संशोषिणीमितपिडिकामण्डलयुक्तो ज्वरोभवति ।।
(आयु० स ग्रह)

यह सशोथी सन्निपात मन्थर ज्वर की असाध्यावस्था का सूचक है। अत्यन्त दुर्बल, वयोवृद्ध, सगर्भा स्त्री एव उपद्रव युक्त मथर ज्वर रोगी असाध्य होता है।

प्रतिषेध—इसका हर समय विशेष ध्यान रखना चाहिए कि रोग का सक्रमण न होने पावे, एतदर्थ आरोग्य मनुष्यो मे दूर रोगी को मकान के एक कमरे मे पृथक रखना चाहिए। कमरा स्वच्छ-प्रकाशयुक्त-हवादार होना चाहिए। रोगी के मल-मूत्र को तुरन्त दूर कर नष्ट कर देना चाहिए, ताकि उनके द्वारा जीवाणु सक्रमित होकर विस्तृत न हो सकें। सेवा करने या पास रहने वाले परिचारको को अपने हाथो की सफाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। रोगी के कपडो को प्रथम कार्बोलिक घोल मे भिगोकर पश्चात् उबालना चाहिए। रोगी के ओढने-बिछाने वाले वस्त्रो को नित्यप्रति धूप दिखलाते रहना अच्छा है। रोगी के कमरे मे मक्खिया प्रविष्ट न हो इसका उत्तम प्रकार से प्रबन्ध या प्रतिकार करना चाहिए। कमरे के दरवाजो और जगलो मे मसहरी वाले-पतले जालीदार कपडे के सफेद पर्दे बाधना चाहिए। घरमे खाने के पदार्थ मक्खियो तथा धूल से सुरक्षित आलमारियो मे बन्द रखना चाहिए। दूध तथा पानी सदैव उबालकर और खाद्यान्न ताजा तथा गरम सेवन करना चाहिए। किसी भी पदार्थ को खाने के पहले हाथ मुह भली-भाति विशोधित कर लेना आवश्यक है क्योकि अगुलियो से भी इस रोग के जीवाणु भीतर प्रवेश कर सकते है। रोग मुक्त के बाद भी उपसर्ग काल के अन्त तक रोगी का सम्बन्ध घर मे नहीं रखना चाहिये। रोगी के आरोग्य होने के उपरात वह कमरा भी अच्छी तरह गोबर से लीप कर तथा कलई से पोतकर स्वच्छ करना चाहिए। मकान मे शुष्क निम्ब पत्र, गूगल, गन्धक की धूप देनी चाहिए।

सामाजिक दृष्टि से विशुद्ध जल तथा दूध का प्रबन्ध एव वाहको की जाच करनी चाहिये। साथ ही उनकी तथा पृथक्करण (कम से कम भोजन अथवा खाद्य-पेय पदार्थो से) ये सब महत्वपूर्ण उपाय है। नल की टड्की और कूप जल की शुद्धि फिटकरी अथवा निर्मली डालकर करनी चाहिए।

उपान्त्रिक ज्वर—पेराटाइफाइड ये ज्वर ए बी सी नामक जीवाणु के कारण प्रकट होता है। रोग के लक्षण मन्थर ज्वर के समान होते है। परन्तु इसकी अवधि कम होती है तथा लक्षण सौम्य होते है। इसका प्रसार तथा प्रतिषेध मन्थर ज्वर के समान ही होता है।

चिकित्सा—

मथर ज्वर सान्निपातिक व्याधि है, और सन्निपात जन्मजात कष्टसाध्य होता है।

मृत्युनासहयोद्धव्य सन्निपात चिकित्सता ।
यश्चतत्र भवेज्जेता सजेताऽऽमयसकुले ।। (भा. प्र.)

सन्निपात की चिकित्सा करने वाले वैद्य को मृत्यु के साथ युद्ध करने के समान दक्ष (सिद्ध-हस्त) होना चाहिए। इसमे जिसने जय प्राप्त करली, अर्थात सन्निपातज्वर को आरोग्य कर दिया उसने समस्त व्याधियो की चिकित्सा मे सफलता प्राप्त करली। आर्ष आयुर्वेदाचार्यो का अभिमत है कि--

ज्वरादौलङ्घनकुर्यात् ज्वरमध्येतुपाचनम् ।
ज्वरान्ते रेचन दद्याद्तदनन्तर भेषजम् ।।

ज्वर के आरम्भ मे दोष पाचनार्थ लघन, मध्य मे षडङ्ग जल द्वारा पाचन, अन्त मे रेचन और तत्पश्चात औषधि के उपयोग का आदेश है। इस पद्धति से चिकित्सा करने से ज्वर समूल नष्ट होता है, उपद्रव उत्पन्न नही होते, और पुनरावृत्ति भी नही होती। यह मेरा पैंसठ वर्षीय अनुभव है।

साप्ताहिक चिकित्सा—

प्रथम सप्ताह—सजीवनी वटी २ रत्ती, अमृतासत्व ४ रत्ती, मुक्तापिष्टी आधा रत्ती अथवा मुक्ताशुक्ति भस्म २ रत्ती सबका मिश्रण कर मात्रा तैयार करना।

अनुपान—तुलसी पत्र रस १० बूद, मधु २० बूद।

समय–३ या ४ वार देवे। गुण–ज्वरवेग शामक और उपद्रव नाशक है।

मन्थर ज्वर हर क्वाथ—गुडवेल, चिरायता, पित्तपापडा, नागरमोथा, कटाई मूल, कुटकी, अमलतास का गूदा, अतीस, इन्द्रजौ, सब समान भाग लेकर जौकुट कर आधा लीटर पानी मे मिट्टी के पात्र मे डालकर पकाना जब चतुर्थांश शेष रहे तब छानकर दिन मे दो वार पिलाना चाहिए।

विशेष ज्ञातव्य—यदि अतिसार हो तो अतीस और इन्द्रजौ मिलाकर देना और यदि कोष्ठवद्धता हो तो कुटकी और अमलतास मिलाना चाहिए। यदि कदाचित कफ शुष्क हो तो इस अवस्था मे मुलहठी एव मुनक्का मिलाकर क्वाथ पिलाना हितकर है।

द्वितीय सप्ताह—सजीवनी वटी २ रत्ती, कल्पतरु रस २ रत्ती, मुक्तापिष्टी आधी रत्ती, प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, अमृतासत्व ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण ४ रत्ती। सवका मिश्रण कर एक मात्रा तैयार करें। अनुपान–तुलसीपत्र रस और मधु से दिन मे ५ वार तक दे। गुण–दोष एव ज्वर शामक, हृद्य तथा शक्तिदायक, कासनाशक है।

तृतीय सप्ताह—जिस उपचार द्वारा रोगी को द्वितीय सप्ताह के अन्त तक लाभ प्राप्त हुआ है उसी क्रमानुसार चिकित्सा तृतीय सप्ताह मे भी करनी चाहिए।

चतुर्थ सप्ताह—स्वर्णमालिनी वसन्त २ रत्ती, प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १॥ माशा, सवका मिश्रण कर एक मात्रा तैयार करें। अनुपान–मधु, अथवा च्यवनप्राशयावलेह १ तोला के साथ लेकर ऊपर से १ कप औटा हुआ गौदुग्ध पीवे। प्रात साय दिन मे दो वार।

उपद्रवो का उपचार—उपशयावस्था अर्थात् चतुर्थ सप्ताह मे रोगी को सामान्यतया क्षुधा उत्पन्न होती है, साथ ही अधिक अशक्तता रहती है। यदि इस अवस्था मे मिथ्या आहार विहार अथवा प्रकृति के प्रतिकूल परिचर्या हो तो ज्वर का पुनराक्रमण हो जाया करता है। ज्वर का पुन पुन आक्रमण होना भयानक अवस्था का सूचक है। इसके अतिरिक्त रोग की अवधि भी वढ जाती है, जैसे ४२ दिन तथा ६० दिन। ६० दिन की अवधि वाला मन्थर ज्वर सांघातिक होता है, परन्तु यदि रोगी बलवान, युवावस्था वाला, उत्तम शक्ति वाला जिसके अग्नि, वल, मास आदि क्षीण न हुए हों और "भिषक् द्रव्याण्युपस्थाता रोगीपाद चतुष्टयम्" ये चिकित्सा के चतुष्पाद गुणवान हो तो रोगी अवश्य आरोग्य होजाता है। अतः अनुकूल आहार-विहार एव व्यवस्थित परिचर्या पर पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिए। उपस्थित उपद्रवो के उपचार की ओर अधिक ध्यान देकर उपयुक्त औषधि का उपयोग करना उचित है।

विनापिभेषजैर्व्याधि पथ्यादेव निवर्तते।

केवल पथ्य पालन से विना औषधि प्रयोग के रोग निवारण होता है। आयुर्वेद चिकित्सा मे पथ्य पर बहुत वल दिया गया है, जिसका पालन आवश्यकीय है।

लेखक की प्रकाशित पुस्तक "मन्थर ज्वर चिकित्सा" नवलकिशोर प्रेस वुक डिपो, लखनऊ से मगाकर वैद्य वन्धुओ को अवलोकन करना चाहिए।

"ज्वर प्रधानो रोगाणा मुक्तो भगवता पुरा"
"सर्वरोगाग्रजावली" (च स)

आचार्यो ने रोगो मे ज्वर को प्रधानता प्रदान की है। व्याधियो का सक्रमण कैसे होता है इस विषय में आचार्य सुश्रुत का सारगर्भित मत मननीय है—

प्रसङ्गात गात्र सस्पर्शात् निश्वासात सहभोजनात्।
एक शय्यासनाच्चापिवस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठज्वरश्चशोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

(सुश्रुत सहिता)

प्रसग से, शरीर स्पर्श से, श्वास-प्रश्वास से, साथ मे भोजन करने से, एक विस्तर पर सोने से, रुग्ण के कपडे पहिनने से, माला और उवटन (चन्दनादिलेप) लगाने से कुष्ठ, ज्वर, शोष (क्षय), नेत्राभिष्यन्द—ये फैलने वाले रोग एक से दूसरे पुरुष पर सक्रमण करते हैं।

मसूरिका, मन्थर ज्वर, उपदश, त्वग्रोग आदि सक्रामक व्याधि पीडितो से स्वस्थ पुरुष को सदैव स्वरक्षित रहने या वचाव का प्रयत्न करना चाहिये।

—★★★—

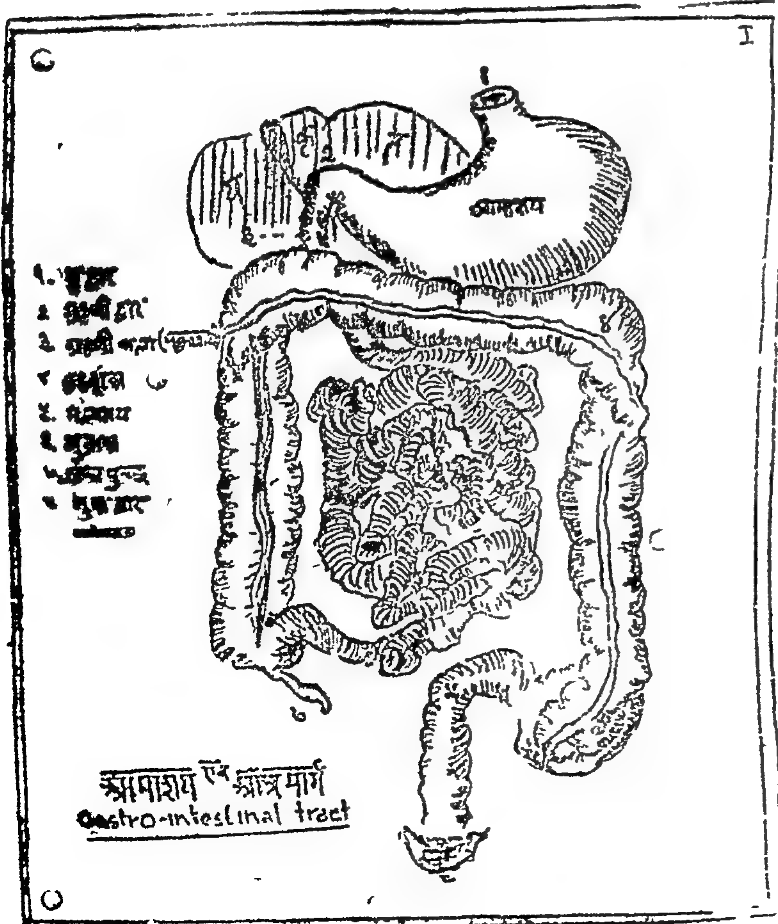
आंत्रिक ज्वर

श्रीमती पदमा देवी सोनी, द्वारा–श्री वैद्य ओ० पी० वर्मा, सरदारशहर (राज०) ३३१४०३

—०✱०—

श्रीमती पी० डी० सोनी ने संक्रामक रोग चिकित्साङ्क मे 'आंत्रिक ज्वर' पर अपने अनुभवो से पूरित यह लेख प्रकाशनार्थ भेजा है। लेख सरल भाषा मे रुचिकर लिखा गया है। आपका लेखन क्षेत्र मे यह पहला प्रयास होते हुए भी लेख को साङ्गोपाङ्ग बनाया गया है। 'धन्वन्तरि' पत्रिका मे इसी प्रकार भविष्य मे लेख भेजकर कृतार्थ करती रहेगी। —डा० दाऊदयाल गर्ग।

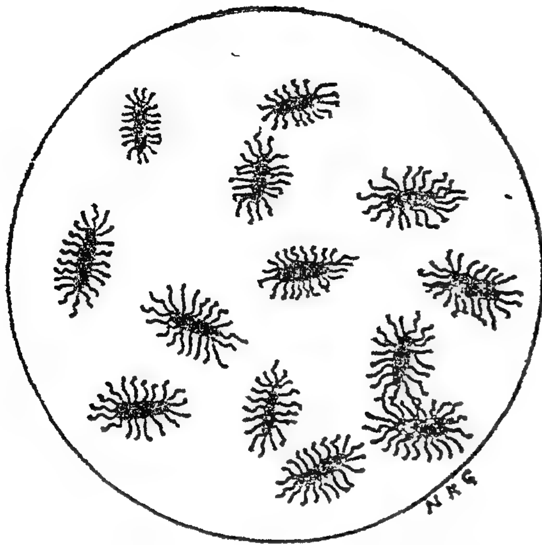
आन्त्रिक ज्वर को आम भाषा मे मोतीझला के नाम से जानते है। इस रोग के विभिन्न नाम मधुरा, टाइफाइड, एन्टरिक फीवर, मन्थर ज्वर आदि है। यह एक सक्रामक रोग है जोकि एक से दूसरे व्यक्ति मे जल, वायु, ससर्ग, भोजन द्वारा मक्खी तथा अन्य जीवाणुओ के द्वारा फैलता है। यह रोग वेसिलस टाइफोसस नामक जीवाणुजन्य मर्यादित स्वरूप का उष्ण प्रदेशीय प्रचलित है। इस रोग का प्रकोप प्राय सितम्बर से नवम्बर मास तक होता है। यह रोग प्राय १० वर्ष से ३० वर्ष तक की आयु वालो मे होता है। इन कीटाणुओ की वृद्धि होने पर ये पित्ताशय, प्लीहा, रक्त, आत्रव्रण, लसीका तन्त्रिका, मूत्राशय आदि मे प्रतीत होते है। ये कीटाणु शरीर के बाहर स्वेद, मल, मूत्र आदि माध्यम से निकलते रहते है।



निदान—

अधिक मार्ग गमन, मिथ्या आहार-विहार, अति मैथुन, अजीर्ण, दुर्गन्धयुक्त स्थानो मे निवास, गर्द गुबार के वातावरण मे रहने से, ज्यादा धूप सेवन से व बासी भोजन करने से, खाद्य पदार्थो आदि पर जीवाणुओ को मक्खियो द्वारा छोडने से इसके जीवाणु आतो मे चले जाते है तथा कालान्तर मे आतो मे शोथ उत्पन्न कर व्रण कर देते है। धीरे धीरे रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र सप्त धातुओ को दूषित कर वात-पित्त-कफ को प्रकुपित करते है।

यदि रोगयुक्त अवस्था मे रोगी खान-पान का पूरा ध्यान नही रखेगा तो धीरे धीरे रोग बढता जायेगा और बाद मे इस रोग से छुटकारा पाना आसान नही रह जायेगा, इसलिए कदापि बासी, भोजन, गरिष्ट पदार्थ का सेवन नही करे, नही तो रोगी की आतो में व्रण होकर



आन्त्रिक ज्वर का जीवाणु [वैसिलस टाइफोसस]

रक्त मिश्रित अतिसार हो जायेगा। रोगी को हल्का व रुचिकर भोजन दे।

पूर्वरूप—

अजीर्ण, शिर शूल, चक्कर आना, बेचैनी, अरुचि आदि लक्षण देखने को मिलते है।

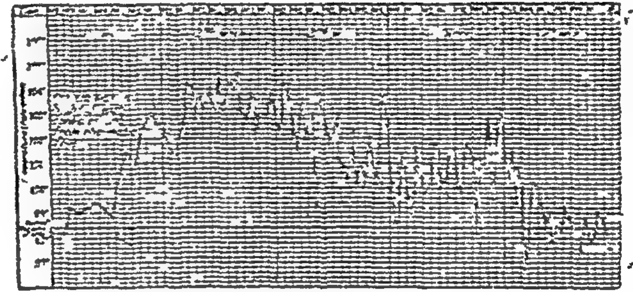
रूप—

प्रथम सप्ताह—ज्वर के पहले रोगी को आलस्य आता है। रोगी को कब्ज हो जाता है। अजीर्ण हो जाता है। रोगी को बेचैनी हो जाती है। मुख सूखा हुआ मालूम देता है। रोगी की जीभ गन्दी मालूम देती है। रोगी के प्लीहा वृद्धि भी हो जाती है। सात दिन होने पर कंठ पर लाल रंग की पिडिकाये दृष्टिगोचर होने लगती है। अगर रोगी का वर्ण काला हो तो ये पिडिकायें स्पष्ट दिखाई देती है।

द्वितीय सप्ताह—द्वितीय सप्ताह मे रोगी का ज्वर १०४ से १०५° के बीच रहता है। इस समय मे ज्वर स्थिर हो जाता है। ज्वर सायं घटता है लेकिन सुबह फिर अपने मूल स्थान पर आ जाता है। कास, तन्द्रा, बेहोशी की अवस्था, अफारा, प्रलाप, जिह्वा पर मैल चढ जाना आदि उपद्रव देखने को मिलते है। आन्त्रिक ज्वर मे प्रायः मलावरोध रहता है लेकिन कभी कभी रोगी के अधिक दस्त भी लगने लगते है। उदर विभाग मे आध्मान हो जाता है तथा छूने मे वहां पर रोगी दर्द महसूस करता है, रोगी दुर्बल हो जाता है। यदि इस अवस्था मे रोगी की परिचर्या तथा खान-पान का पूरा ध्यान नहीं रखा जाय तो रोगी विषमावस्था को प्राप्त होकर आन्त्र मे रक्तस्राव होकर मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। इसलिए इस अवस्था मे रोगी का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

तृतीय सप्ताह—इस सप्ताह मे धीरे धीरे शमन होने लगता है तथा रोगी को कुछ राहत मिलती है। ज्वर क्रमश धीरे धीरे घटने लगता है। बेचैनी कम होकर प्लीहा वृद्धि मे भी सुधार होने लगता है। तृतीय सप्ताह के अन्त तक ताप साधारण रहता है।

चतुर्थ सप्ताह—चौथे सप्ताह मे रोगी को भूख लगने लगती है। जिह्वा साफ हो जाती है। बेचैनी कम हो जाती है। नाडी की गति भी सामान्य हो जाती है।



आन्त्रिक ज्वर मे तापमान चार्ट

योग्य चिकित्सा होने पर आन्त्रिक ज्वर २२वे दिन चला जाता है। रोगी निर्बलता अनुभव करता है लेकिन फिर भी इस अवस्था मे सारे लक्षणो मे कमी होकर रोगी स्वस्थता को प्राप्त होता है।

अरिष्ट (असाध्य) लक्षण—

आन्त्रिक ज्वर मे असाध्य लक्षण निम्नलिखित होते है—

[१] काले रंग का रक्त मिला हुआ मल का आना।
[२] आंतो मे छिद्र हो जाना।
[३] सारा शरीर और नेत्रो का काला हो जाना।
[४] अचानक पेट मे अफारा आ जाना।
[५] भयङ्कर शीत लगना।
[६] वृक्क स्थान पर सूजन हो जाना।
[७] श्वासनलिकाओ मे शोथ हो जाना।
[८] नाडी की गति १३० हो जानी।

[९] दुर्बल हृदय वाले रोगी की मानसिक अवस्था खराब होने से ।

[१०] अधिक मात्रा मे अतिसार होना ।

[११] शैया मे मल मूत्र का निकल जाना ।

[१२] आंतो मे छिद्र हो जाना ।

आन्त्रिक ज्वर का अन्य ज्वरो से सापेक्ष निदान—

आन्त्रिक ज्वर व अन्य ज्वरो मे कई बार योग्य से योग्य चिकित्सक भी भेद नही कर पाते है। अत आन्त्रिक ज्वर मे अन्य ज्वरो की अलग पहचान की जा सके इस हेतु यह तालिका दी जा रही है—

आन्त्रिक ज्वर (२१ दिन का ताप)	टाइफस (१४ दिन का ताप)
१ पिडिकाये दूसरे सप्ताह मे निकलती है ।	१ पिडिकाये ५वे दिन निकलती है ।
२. नाडी की गति मन्द रहना ।	२ नाडी की गति तीव्र रहना ।
३ उदर मे पीडा, अफारा तथा दुर्गन्धयुक्त पीले दस्त ।	३ उदर मे कोई व्यथा न होना, केवल कब्ज रहना ।
४ ताप क्रमश धीरे धीरे बढना ।	४ ताप प्रारम्भ से ही तेज रहना ।
५ बहुधा प्रलाप और मस्तिष्क शूल नहीं होता ।	५ अति प्रलाप व मस्तिष्क शूल ।
६ न्यूमोनिया, रक्तातिसार या आन्त्र भेद हो जाने से मृत्यु हो जाती है ।	६ बेहोशी वृद्धि या रक्त जम जाने से मृत्यु होती है ।

आन्त्रिक ज्वर	सन्तत ज्वर
(१) नियमित समय पर ताप उतरना ।	(१) अनियमित समय पर ताप उतरना ।
(२) शीत नही लगता ।	(२) बहुधा शीत लगकर ताप चढता है ।
(३) दुर्गन्धयुक्त पीले पतले दस्त, अफारा तथा नाभि के पास दबाने पर पीडा ।	(३) मलावरोध, क्वचित् पतले दस्त (अति दुर्गन्ध नही) तथा हृदयाधटिन प्रदेश मे दर्द ।
(४) वमन व कामला का न होना ।	(४[पित्त की व कामला होना ।
(५) नाडी का वेग उष्णता से कम ।	(५) नाडी का तेज चलना ।

आन्त्रिक ज्वर	वातश्लैष्मिक ज्वर
१ ताप धीरे धीरे बढता है ।	१ ताप बहुत जल्दी बढता है ।
२ सन्धि-पीडा, शक्तिक्षय तथा जुखाम नही होते ।	२ सन्धि-पीडा, शक्तिक्षय तथा जुखाम रहता है ।

आन्त्रिक ज्वर	आन्त्रिक विद्रधि
[१] शूल का अभाव, जिह्वा की त्वचा फट जाना तथा किनारी लाल हो जाना ।	[१] भयङ्कर शूल, जिह्वा चिकनी तथा मुलायम ।
[२] गुलाबी स्फोट, शरीर मे विशेष प्रकार की वास, नाडी भेद, ताप की नियमित गति तथा शारीरिक बलक्षय ।	[२] स्फोट, वास, नाडी, ताप की गति तथा शारीरिक बल—इन सब बातो मे आन्त्रिक ज्वर मे भेद हो जाता है ।

सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त—

आन्त्रिक ज्वर को शमन करने के लिए शीघ्र ताप उतारने वाली औषधि का प्रयोग नही करना चाहिए। आन्त्रिक ज्वर मे धातु मे लीन दोषो को शनै शनै पाचन करके उपद्रवो को शमन करने वाली औषधियो को व्यवहार मे लाना चाहिए।

इस रोग मे रोगी को अधिक से अधिक विश्राम की सलाह दी जाये। इसके साथ साथ रोगी के कमरे, वर्तन, कपडे आदि की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाये। कब्जी के लिऐ प्रारम्भ मे रोगी को मधुर, विरेचन पदार्थ दें। रोगी को एकान्त मे रखा जाये तथा रिश्तेदार या पडौसियो को रोगी के पास कम जाने दे क्योकि वे रोगी से वात करके रोगी की वेचैनी वढा देते है तथा रोगी को तरह-२ के अनुभवयुक्त नुक्शे वताने लग जाते है। क्योकि रोग का समय लम्वा होता हे इसलिए रोगी औपधि मे ऊव जाता हे तथा नीम हकीम खतरे ए जान युक्त पडौसियो या रिश्तेदारो द्वारा वताये गये नुक्शे को अमल मे लाने की जिद्द करता ह। इसलिए कदापि रोगी के पास अधिक समय तक रिश्तेदारो को न रहने दे। क्योकि इसमे रोग मे कमी न होकर वढोत्तरी होगी।

रोगी के पथ्य मे असावधानी वरतने से, ठीक लघन के न करने से रोगी को अतिसार, आध्यमान, रक्तस्राव आदि उत्पन्न हो जाते है। इसलिए रोगी के पथ्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए। आन्त्रिक ज्वर रसदूष्यना के द्वारा उत्पन्न होने वाला त्रिदोपज ज्वर माना गया है। अत प्रारम्भ मे आमदोप के पाचनार्थ कम मे कम एक सप्ताह तक रोगी को लघन कराना चाहिए।

रोगी का शरीर दुर्वल हो जाता हे, इसलिए रुग्ण को प्रत्यक्ष वायु न लगे, इसका ध्यान रखना चाहिए। ऋतु के अनुसार रुग्ण के रहने के स्थान का चयन करना चाहिए। कमरे की नियमित सफाई के साथ-२ धूप इत्यादि भी कमरे मे जलानी चाहिए। रुग्ण की शय्या का भी इस रोग मे विशेष स्थान है। रुग्ण की शय्या मुलायम होनी चाहिये क्योकि रुग्ण दुर्वल हो जाता है, इसलिए कभी-कभी वह करवट भी नही वदल पाता है। अधिक स्थानो पर रगड खाने से रुग्ण के उस स्थान पर व्रण हो जाते है, इसलिए शय्या कोमल होनी चाहिए। नियमित रूप से विस्तर की चद्दर वदलनी चाहिये। मल-मूत्र आदि के द्वारा अशुद्ध हुई चद्दर या विस्तरो को तुरन्त साफ करना चाहिए।

रुग्ण के शरीर की सफाई भी आवश्यक है, इसलिए परिचारक को चाहिए कि वह गुनगुने पानी मे कपडा को भिगोकर रुग्ण के शरीर को पोंछे, इससे सारा शरीर हल्का रहेगा। रुग्ण को अगर दन्त धावन भी करा दिया जाये तो अच्छा रहेगा क्योकि इससे दातो पर जो मैल जम गया है वह तथा मैलयुक्त जिह्वा साफ हो जायेगी तथा रुग्ण का मुख साफ हो जायेगा। इस प्रकार से उपर्युक्त सामान्य चिकित्सा पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। औपधि से अधिक रुग्ण की परिचर्या, पथ्य आदि महत्वपूर्ण होते हैं और इस ओर ध्यान नही देगे तो कालान्तर मे आत्रिक ज्वर विगड जाता है तथा अरिष्ट लक्षण दृष्टिगत होते है।

दोष पाचक औषधियां— (चि. त प्र)

[१] पित्तोल्वण सन्निपात पर मुस्तादि क्वाथ या परूपकादि क्वाथ अथवा प्रलापक सन्निपात पर तगरादि कपाय दे।

[२] लक्ष्मीनारायण रस, कस्तूरीभैरव रस, मधुरान्तक वटी, सूतशेखर रस, सजीवनी वटी, मधुर ज्वरातक क्वाथ, अमृताष्टक क्वाथ ये सभी औपधिया आन्त्रिकज्वर मे हितकारक है। अत चिकित्सक सुविधा व रोग की तीव्रता को ध्यान मे रख अनुकूल औपधि का प्रयोग करे।

[३[गिलोय, अजवायन, तुलसी के पत्र और कालीमिर्च को मिला जल मे भिगोकर छानकर देने से दोष पाचन होकर पित्तदोप का शमन होता है।

[४] रक्त चन्दन, खस, धनिया, पित्त पापडा, सोठ और नागर मोया क्वाथ दिन मे २ समय पिलाने से दोष का सत्वर पाचन हो जाता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

प्रथम सप्ताह मे—रुग्ण को निम्नलिखित औषधि भुने हुए जीरे तथा मधु के साथ दिन मे तीन समय देना चाहिए—सौभाग्य वटी, आनन्द भैरव रस, लक्ष्मीनारायण रस ये सब १२५-१२५ मिग्रा। १ मात्रा

द्वितीय सप्ताह मे—रोगी को वात-पैत्तिक लक्षणो मे वृद्धि होती जाती है। इसलिए दूसरे सप्ताह

मे रुग्ण को निम्नलिखित औषधिया दिन मे तीन समय भुना हुआ जीरा व वडी इलायची व शहद के साथ देवे। मुक्ताभस्म ७५ मि.ग्रा, त्रैलोक्य चिन्तामणी ७५ मिग्रा, सौभाग्य वटी १२५ मि ग्रा । १ मात्रा

तृतीय सप्ताह मे—रुग्ण को निम्नलिखित औषधि देनी चाहिए—ब्राह्मी वटी, त्रिभुवनकीर्ति, धात्री लौह, सूतशेखर रस ये चारो १२५-१२५ मि ग्रा । १ मात्रा। उपर्युक्त मात्रा मधु के साथ दिन में दो समय देनी चाहिए।

चतुर्थ सप्ताह मे—रोगी को ताकत की औषधि देनी चाहिये क्योकि इस अवस्था तक रोगी वहुत अधिक कृश हो जाता है। सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम, प्रवाल पचामृत १२५ मि ग्रा, स्वर्ण भूपति रस १२५ मि ग्रा, स्वर्ण वसन्त मालती १२५ मि ग्राम । १ मात्रा

उपर्युक्त औषधियो की एक मात्रा बनाकर मधु के साथ रोगी को देनी चाहिये। इस मात्रा के वाद रोगी की इच्छानुसार दूध लेने की सलाह रोगी को दी जावे।

इस प्रकार उपर्युक्त ४ सप्ताह मे उक्त औषधिया रोगी पर प्रयोग मे लानी चाहिए। अन्य उपद्रव होने पर इन उपद्रवो की शामक औषधिया इन्ही औषधियो मे मिलाकर प्रयोग करवानी चाहिए। ★

टाइफाइड—मन्थर ज्वर → पृष्ठ १७२ का शेषाश

आन्त्रगत रक्तस्राव—कैल्शियम क्लोराइड एव केल्शियम ग्लूकोनेट का पेशी अथवा शिरामार्ग से सूचीवेध करना चाहिए। अथवा हीमोप्लास्टिन, कोआगिलन सीरम, विटामिन के सी, क्लाउडेन आदि रक्तस्तम्भ औषधियो का प्रयोग करना चाहिए। अधिक रक्तस्राव के कारण शरीर मे अधिक रक्त की कमी हो जाती है। ऐसी स्थिति मे—ब्लड ट्रान्सफ्यूजन अथवा अधस्त्वचीय मार्ग मे समलवण जल ५% ग्लूकोज मिलाकर दे। साथ ही रक्तभार बढाने वाली औषधियो का प्रयोग करे। वाह्य भोजन वद करदे।

आन्त्रनिच्छिद्रण—शल्य कर्म की व्यवस्था करनी चाहिए। व्यवस्था सम्भव न होने पर मारफीन या पेथीडीन का आवश्यक मात्रा में सूचीवेध करें। साथ ही क्लोरेम्फेनिकाल या टेट्रासाइक्लीन का सूचीवेध करे।

पित्ताशय शोथ—स्थानीय सेक, पुल्टिस एण्टीफ्लोजिस्टीन का प्रयोग लाभकारी रहता है। क्लोरम्फेनिकाल के प्रयोग से शीघ्र लाभ की आशा की जानी चाहिए। हेक्सामीन, ग्लूकोज, सोलूशन, विटामिन सी आदि तथा यूरोट्रोपीन से पर्याप्त लाभ मिलता है।

मूत्राशय शोथ—स्थानीय पुल्टिस, हेक्सामीन का प्रयोग, एण्टीवायोटिक औषधियो का सेवन पर्याप्त लाभकारी है। मूत्र की मात्रा कम होने पर ६।-१२॥% ग्लूकोज ५०० मिली, विटामिन सी ५०० मि ग्रा, सोडावाईकार्व सोल्यूशन २० मिली का प्रयोग शिरा द्वारा बूद-बूद मात्रा मे देना चाहिए।

अस्थिमज्जाशोथ—प्रारम्भिक अवस्था मे वर्फ की थैली के प्रयोग से लाभ मिलता है। पेनिसिलीन आदि एण्टीवायोटिक का प्रयोग आशुकारी फलप्रद रहता है।

रोग मुक्ति के वाद धातुपुष्टि तथा बल सजनन के लिये—थेराग्रन, मलीविटाप्लेक्स, बीकाडेक्स, फेरीलेक्स, केसीनोन, लीडरप्लेक्स आदि मे से किसी का प्रयोग १-२ माह तक करना चाहिए। निम्न योग भी लाभकारी है—

टि० नक्स ५ बूद + लाइकर आर्सेनीकेलिस २ बूद + एसिड एन एम डिल १० बूद + फैरीसल्फ १० ग्रेन + इक्स कालमेघ २० बूद + वी कम्पलेक्स इलेक्जीर १ ड्राम + जल १ औंस—ऐसी १ मात्रा दिन मे ३ वार भोजनोपरान्त दे।

प्रतिषेध—

व्याधि प्रतिबधन के लिये टी ए वी वैक्सीन का प्रयोग होता है प्रथम मात्रा आधा मिली तथा दूसरी और तीसरी मात्रा ७ दिन के अतर पर अधस्त्वचीय मार्ग (Subcutaneously) से देते है। तत्पश्चात प्रतिवर्ष के अन्त मे १/२-१ मिली देते है।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण—कभी-कभी ऐसे भी रोगी मिलते हैं जिनमे सम्पूर्ण उपर्युक्त चिकित्सा एव क्लोरम्फेनिकाल चिकित्सा असफल हो जाती है। ऐसी स्थिति मे रक्तमोक्षण (२५ मिली) करने के वाद 'चतुर्मुख' का सेवन कराना चाहिए। वसन्तमालती, ज्वराग्यभ्र तथा 'मुक्ताशुक्ति पिष्टि' से आशातीत सफलता मिलती है।

तुण्डिकेरी या टांसिल

आयुर्वेद वृहस्पति आचार्य डा० महेश्वर प्रसाद, चीफ सर्जन–एम० हास्पीटल, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

—•※•—

विहार राज्य भारतवर्ष मे गरीबी के लिये प्रसिद्ध है, वहीं यह राज्य आयुर्वेद विद्वानो की दृष्टि से धनी है। मंगलगढ जिला समस्तीपुर मे एम० हास्पीटल के संस्थापक एवं चीफ सर्जन डा० श्री महेश्वरप्रसाद उमाशंकर आयुर्वेद सेवा मे समर्पित हैं। आप न केवल सफल चिकित्सक ही है, वल्कि लेखनी के भी धनी व्यक्ति है। आपकी लेखनी मे जादू है। आप द्वारा अभी तक कई पुस्तकों की रचना की जा चुकी है। विभिन्न चिकित्सा सम्बन्धी पत्र पत्रिकाओ मे आपके लेख ससम्मान प्रकाशित किये जाते हैं।

आपकी आयुर्वेद अनुसंधान मे गहरी रुचि ही नही है, वल्कि इसमे प्रयत्नशील रहकर कुछ न न कुछ उपलब्धि प्राप्त करते ही रहते हैं। प्रस्तुत लेख आपने वैज्ञानिक शोध के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत किया है। आपकी प्रतिभा का उपयोग आयुर्वेद के गहन रहस्यो को प्रकट करने हेतु ही हुआ है। –वैद्य ओ० पी० शर्मा

श्लेष्मासृग्भ्या तालमूलात्प्रवृद्धो
दीर्घ शोफोध्मातवास्त प्रकाश।
तृष्णाकास श्वासकृत्त' वदन्तिव्याधि
वैद्या कण्ठशुण्डीति नाम्ना॥

—माधव निदान-तालु रोग

अभिप्राय यह हे कि कफ और रक्त मे तालु की जड मे सूजी हुई वस्ति के सदृश अत्यधिक सूजन हो जाय तथा इसके प्रभाव से प्यास, खासी, श्वास रोग आदि लक्षण हो जाये तो ऐसी व्याधि को कण्ठशुण्डि कहते है। इसी को तकनिक (पारिभाषिक) शब्द मे 'गलतुण्डिका शोथ' या 'टॉसिलाइटिस' (Tonsillitis) कहते है।

पर्याय नाम—तालु मूल प्रदाह, गलगुटिका शोथ, गलतुण्डिका शोथ, कण्ठशुण्डि, टॉसिलाइटिस आदि।

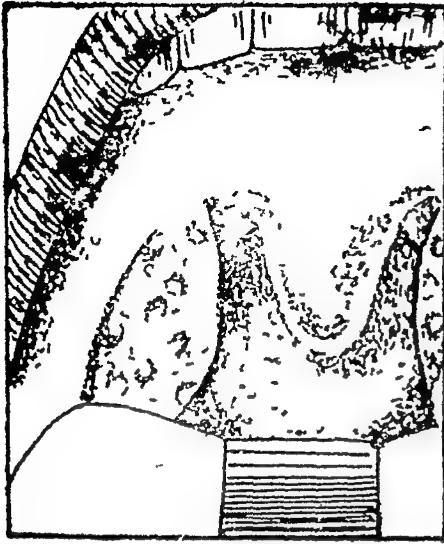
स्वरूप—तालु की जड के दोनो या एक ओर ही वादाम के सदृश ग्रन्थियां जव लाल, उष्ण और सूज जाती हैं तो इस व्याधि को गलतुण्डिका शोथ कहते हैं।

कारण—इस व्याधि के उत्पन्न होने का मुख्य कारण सर्दी लगना है। इसके अतिरिक्त ऋतु परिवर्तन, खट्टे पदार्थों का सेवन, गन्दी वायु मे निवास करने, अशुद्ध और सक्रमित एव विकृत दूध पीने, रक्ताधिक्य, कण्ठरोहिणी, आतशक, वात या ज्वर आदि विविध कारणो से भी यह व्याधि हो जाया करती है। सक्रमण से भी फैलती है।

लक्षण—

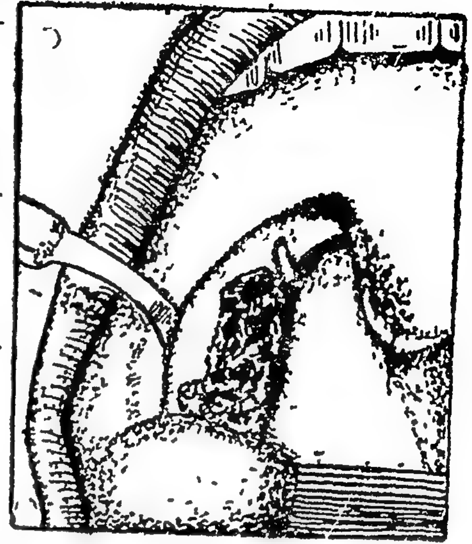
इस व्याधि मे गलतुण्डिका सूजकर लाल हो जाते है उन पर जगह जगह पीला या श्वेत चिन्ह पड जाता है। सर्व प्रथम तो पीडित स्थान ईंट के समान लाल हो जाता है किन्तु व्याधि अधिक वढ जाने पर प्रदाह वाला अश पक जाता है तथा उसमे पूय हो जाता है। यह व्याधि विशेषकर वच्चो को ही होती है। यदि वयस्क इससे पीडित होते हैं तो ग्रीवा सूज और गलतुण्डिका पक जाने पर अधिकाधिक पीडा, वेचैनी, कष्ट एव ज्वर हो जाता है, रोगी को कोई खाद्य या पेय पदार्थ निगलने मे महान कष्ट होता है। प्रदाह अधिक हो जाने पर उस स्थान मे निरन्तर दर्द वना रहता है। वच्चो को भी ज्वर १०४° फॉ या ४०° से० तक हो जाता है तथा वह रह-रहकर चौंकने एव रोने लगता है। ज्वर के साथ सिर दर्द, श्वास कष्ट, सर्वाङ्ग मे पीडा, स्वरभग, व्याकुलता तथा सुस्ती भी रहती है।

शिशु या वच्चे का निरीक्षण करने पर उसकी ग्रीवा इधर-उधर घुमाने पर यदि अकडी हुई तथा कठोर प्रतीत



तुण्डिका शोथ (Acute Folli-culai Tonsıllıtıs) ←

तुण्डिका शोथ का दूसरा प्रकार (Vıncents Angına) →



हो तो तीन व्याधियो के होने की कल्पना करनी चाहिए— (१) गलतुण्डिका शोथ,(२) सन्निपात ज्वर या (३) गर्दन तोड बुखार। सापेक्ष या विभेदक निदान के आधार पर इन तीनो मे अन्तर ज्ञात करके यथार्थ व्याधि को ढूढ निकालना चाहिए। इसी प्रकार आरक्त ज्वर (Scarlet fever) तथा कण्ठ रोहिणी (Dıphtherıa) एव गलतुण्डिका शोथ मे भी विभेदक निदान करके इनके परस्पर अन्तर को ज्ञातकर यथार्थ व्याधि को ढूढ लेवें।

गलतुण्डिका शोथ, सन्निपात तथा गर्दन तोड बुखार के सापेक्ष निदान की सारणी

गलतुण्डिका शोथ	सन्निपाताज ज्वर	गर्दन तोड ज्वर
१ प्रदाह, सूजन और लालिमा प्राय एक या दोनो गलतुण्डिका तक ही सीमित रहती है। रवादार (दानेदार)सूजन मे गलतुण्डिका चिपचिपे और श्लेष्मा से आवृत्त रहते हैं। इसके साथ स्राव के अनेक छोटे-२ पीले चिह्न विखरे रहते है।	१ सामान्यत गले और तालु लाल होते हे किंतु गलतुण्डिका सूजे नही रहते और न उनमे विशेष लालिमा ही रहती है। मुख सूखता रहता हे। इसमे गलतुण्डिका पर छोटे-२ पीले या श्वेत वर्ण के चिह्न नही रहते है।	१ गला जकड जाता है, गलतुण्डिका, जीभ और तालु सामान्य ही रहते है किंतु उन पर थोडा कफ आवृत रहता है जिससे वे प्रदाह सदृश दीख पडते किंतु सूक्ष्म जाच करने पर उनकी सूजन या प्रदाह के कोई सूत्र नही मिलते।
२. इस व्याधिका आक्रमण सामान्यत एकाएक होता है। आक्रमण की अवधि मे ज्वर रहता है।	२ इसमे मे आक्रमण धीरे-२ होकर फिर एकाएक वढ जाता है जो तीव्रता को प्राप्त करता हे।	२ आक्रमण प्राय अचानक शीत ज्वर के साथ गर्दन मे जकडाहट एव भयकर सिर दर्द के साथ होता है।
३ शरीर का तापमान वहुत अधिक हो सकता है किंतु स्थानीय लक्षण सर्वाङ्ग शरीर के लक्षणो की अपेक्षा विशेष दु खदायी होते है।	३ शरीर का तापमान अधिक, हड्डियो मे पीडा, शीतकम्प, जलन, प्यास, मूर्च्छा (मोह),तन्द्रा, प्यास सर्वाङ्ग शरीर मे दर्द, सिर मे चक्कर,गुरुता आना आदि लक्षण होने पर भी रोगी कोई विशेप कष्ट अनुभव नही करता।	३ शरीर का तापमान दिन प्रतिदिन वढता जाता है तथा गर्दन पीछे की ओर खिच जाने के साथ सिर एव गर्दन मे भयकर दर्द होता है। कठ जकड जाता,वमन होता, पैर आदि किसी न किसी शाखाओं का सकोच हो जाता तथा वेचैनी होती है। रोगी तीव्र कष्ट अनुभव करता है।

गलतुण्डिका शोथ, आरक्त ज्वर एव कण्ठरोहिणी व्याधियो मे सापेक्ष निदान निदर्शक सारिणी

गलतुण्डिका शोथ	आरक्तज्वर	कण्ठरोहिणी
१ इस व्याधि मे प्रदाह और लालिमा तथा गलतुण्डिका की सूजन प्राय एक या दोनो गलतुण्डिका तक ही सीमित रहती है। रवादार प्रदाह मे गलतुण्डिका (Tonsil) चिपचिपे श्लेष्मा मे आवृत्त रहते हैं और इसके साथ स्राव के अनेक छोटे २ और श्वेत या पीले चिह्न बिखरे होते हैं।	१ सामान्यत तालु और ग्रीवा पर फैली हुई चमकीली लाली रहती है, गलतुण्डिका फूले हुए होते है तथा श्लेष्मा मे आच्छादित रहते है। ध्यान से देखने पर गले पर लाल फुसिया दिखलाई पडती हैं।	१ गलतुण्डिका (Tonsils), तालुमूल तथा मृदु तालु पर भस्म के वर्ण के सदृश भूरे और धूसर चकत्ते रहते है, जो चकत्ते पूय वाली गलतुण्डिका शोथ मे बने रहते हैं। चकत्तो के चिह्न चारो ओर से लाल कोषो से घिरे रहते हैं। कई बार श्लेष्मा पूय मिला हुआ स्राव होता किंतु दर्द एकदम नही होता ।
२ व्याधि का आक्रमण प्राय एकाएक होता है। इसमे हल्का-सा ज्वर रहता है।	२, आक्रमण ज्वर के साथ होता है तथा इसमे सामान्यत वमन होती रहती है। शरीर पर लाल दाने निकले हुए दीख पडते है।	२ इस व्याधि का आक्रमण चुपके से होता है, ग्रैवेयिक ग्रन्थिया शीघ्रता से काफी अधिक बढी हुई रहती हैं।
३ तापमान अत्यधिक हो सकता है किंतु स्थानीय लक्षण सर्वांग शारीरिक लक्षणो की अपेक्षा काफी दुख देने वाले होते हैं।	३ तापमान अधिक भी रह सकता है और कम भी। स्थानीय लक्षण सामान्य रूप मे व्यक्त रहते है। प्रथम या द्वितीय दिवस शीतपित्त (कोठ) या दाने निकल आते है।	३ प्रथम अवस्था मे तापमान अधिक नही होता तथा समस्त शरीर मे तापमान कम रह सकता है। अनेक बार तो ताप रहता ही नही तथा निष्क्रियता भी रहती है।

वैज्ञानिक परीक्षण—अभिवर्धक काच (Magnifying glass) द्वारा गले के अन्दर देखने पर उपजिह्वा के बगल मे सुपारी सदृश सूजन दिखलाई पडती है। तुण्डिकाशोथ के पूय अश को लेकर काच पट्टिका एव कॉवर स्लिप से माउण्ट कर माइक्रोस्कोप के अन्दर देखने पर उसमे स्ट्रेप्टो कोकस कीटाणु पाये जाते है।

गलतुण्डिका शोथ के भेद—

१ तीव्र पुटकीय गलतुण्डिका शोथ (Acute Follicular tonsillitis)

२ तीव्र मारऊतक गलतुण्डिका शोथ (Acute Parenchymatous tonsillitis),

३ चिरकारी पुटकीय गलतुण्डिका शोथ (Chronic follicular tonsillitis)

४ चिरकारी सार ऊतक गल तुण्डिकाशोथ (Chronic parenchymatous tonsillitis)

५ पूय स्फोटिक गलतुण्डिकाशोथ (Pustular tonsillitis) और ६ गलतुण्डिकाश्मरी (Tonsillitis)।

पूर्वरूप—सर्व प्रथम सर्दी लगती है, फिर टॉसिल मे हल्का सा सूजन आने लगता है, आंख मे स्राव होने लगता है, गलतुण्डिका सूजकर लाल, प्रदाहयुक्त एव सुपारी के समान हो जाता है। थूकने मे या पेय पदार्थ का घूट लेने मे अधिक दर्द होता है क्योकि तालुमूल क्रमश अधिक से अधिक फूलता जाता है।

विशिष्ट लक्षण—उचित चिकित्सा नही कराने पर प्रदाह के स्थान पर व्रण हो जाता है, व्रण फटकर पूय निकलने लगता है, व्याधि जीर्ण एव जटिल हो जाती है, जिह्वा मूल की ग्रन्थि इतनी बढ जाती है कि निगलने मे महान कष्ट होता है तथा निगलने की अवस्था नही रह जाती

है तथा उपजिह्वा एक ओर को टेढी हो जाती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

चिकित्सा सूत्र—

मदन फल चूर्ण ६ माशा (ग्राम) वयस्को को खिला तथा १ से २ ग्राम वच्चों को खिला वमन करावे तथा वाल हरीतकी चूर्ण १ से २ ग्राम बच्चो को तथा इच्छा-भेदीरस २ गोली वयस्को को खिला विरेचन कराये जिससे दूषित श्लेष्मा और विकृत रक्त पूय का निर्हरण हो। पश्चात् गलतुण्डिका का यदि आवश्यकता पडे तो छेदन कर्म करे और दूषित पदार्थ का निष्कासन करे।

शास्त्रोक्त औषधियां—

(१) कुमार कल्याण रस ६० मि ग्रा से १२० मि-ग्राम तक दो वार प्रतिदिन मधु के साथ चटावे। फिर आहार के बाद अरविन्दासव (भैं०र०) १५ बूद से ३० बूद तक ईषत् उष्ण जल मे मिलाकर दिन मे २ वार पिलायें। बच्चो के गलतुण्डिका शोथ मे लाभप्रद।

(२) चतुर्भद्रिका चूर्ण या सितोपलादि चूर्ण या तालीसादि चूर्ण मे से किसी एक को १२० मि ग्रा की मात्रा मे मधु या मा या गाय के गर्म दूध के साथ दिन मे तीन वार पिलावें।

(३) शृंग्यादि चूर्ण या लवङ्गादि चूर्ण १२० मि ग्रा. को थोडे से मधु या मा के दूध मे मिलाकर दिन मे ३ बार पिलायें।

(४) मीठी अतीस का कपडछन चूर्ण १२० मि ग्रा थोडे से मधु या मा के दूध मे मिला दिन मे २-३ वार दे।

(५) यशद भस्म—आवश्यकतानुसार १२० मि ग्रा से २४० मि ग्रा. मधु के साथ दिन मे दो बार चटाये।

(६) शुभ्रा भस्म १२० मि ग्रा मधु पर्याप्त मात्रा मे मिला कर दिन मे २-३ वार चटाये।

अन्य अनुभूत औषधियां—

[१] फिटकरी का भस्म, चौकिया सुहागा भस्म, माजूफल, अनार का छिलका—इनमे से किसी दो या सबको १२०-१२० मि ग्रा एकत्र मधु मे मिलाकर रुई की फुरेरी से अन्दर शोथयुक्त ग्रन्थियो पर दिन मे २-३ वार लगाये।

[२] गुलबनफसा, सौफ प्रत्येक १ ग्राम को १५ मि लि जल मे औटाकर इसमे १ ग्राम मधु मिलाकर ऐसी एक मात्रा दिन मे २-३ बार पिलावें।

[३] छोटी पिप्पली ६० मि० ग्राम से १२० मि ग्रा (चूर्ण रूप मे) मधु के साथ शीत ऋतु मे इस रोग मे सेवन करने से वालको को उत्तम लाभ पहुचता है।

[४] जायफल चूर्ण ६० से १२० मि.ग्राम तक मधु या मा के दूध के साथ दे तो बच्चो के गलतुण्डिका रोग मे उत्तम लाभ पहुचाता है।

[५] बालवच (या दुध वच) चूर्ण ३० मि. ग्रा से ६० मि ग्रा तक मधु और घृत असमान भाग मे मिलाकर प्रात साय चटाये।

[६] वासक पौधे की जड का स्वरस ३ बूद मधु या मा के दूध मे मिलाकर प्रात, दोपहर एव सायं खिलाये।

[७]बच्चो की सर्व प्रथम आन्त्र शुद्धिकर जन्म घुटी को उवाल कर १० से २५ बूद की मात्रा मे पिलाये। फिर वाल हरीतकी १२० मि ग्रा, नये अमलतास का गूदा १ ग्राम, सौंफ १ ग्राम थोडे से जल मे उवालकर पिलाये। इसके बाद चौकिया सुहागा का लावा १२० मि ग्रा, भुनी हीग २ मि ग्रा, काला नमक ४ मि ग्रा इन्हे मा के दूध मे भलीभाति मिला बच्चे को सुवह शाम पिलायें।

यदि बच्चे का शरीर तथा आन्त्रस्थ मल अत्यधिक रूक्ष हो तो ५ मि लि विशुद्ध एरण्ड तैल पिलाये।

बाह्य प्रयोग—

१—जिस ओर का गलतुंडिका शोथ हो उसी ओर की मन्या, प्रगण्ड पेशी या हस्तागुष्ठ तर्जनी स्थित धमनी का मर्दन करना चाहिए। यदि मर्दन तैल या विशुद्ध घी के साथ करे तो दिन मे २-३ वार मर्दन से ही पर्याप्त लाभ पहुचता है।

२—कालाजीरा ३ ग्राम, स्वर्णगैरिक १ ग्राम को जल मे पीस कर थोडा गर्म करके गलतुण्डिका के शोथ वाले अश पर दिन मे २-३ वार लेप करदे तो प्राय शीघ्र ही सूजन, प्रदाह एव वेदना की शांति मिलती है।

३—विशुद्ध घी १ ग्राम, विशुद्ध ढेला कर्पूर आधा ग्राम एकत्र मिलाकर गलतुण्डिकाओ के बाह्य प्रदेश गले पर लगाकर कोमल हाथो से मले तथा थोडा सेंक दे तो उत्तम लाभ होगा।

४—विशुद्ध घी मे सेंधा नमक २४० मि ग्रा भलीभाति मिलाकर वाहरी गले पर लगाकर दिन मे २-३ वार मालिश करें।

५–हल्दी का कपड़छन चूर्ण १ ग्राम, सेंधा नमक का चूर्ण २ ग्राम और खोआ कच्चा थोडा सा मिलाकर पोटली बनाकर आग पर गर्मकर हल्का-हल्का दर्द-स्थान पर सेंक दे। ऐसा दिन और रात मे २-३ वार करे।

६–ब्रह्मरन्ध्र जिसे शिरस्तालु कहते है पर विशुद्ध बादाम तैल, बादाम से सिद्ध घी, कट्फल घृत अथवा नारियल का तैल विशुद्ध ढेला कर्पूर मिलाकर दिन मे २-३ बार हल्के हाथो से धीरे-धीरे मालिश करे तो गल तुण्डिका शोथ को आराम आ जाता है।

—शल्य कर्म—

रोगी चाहे वह वयस्क हो या बच्चा या शिशु उसके मुख के नाप की मुख विस्फारक यन्त्र लगाकर विसक्रमित छुरी की नोक से गलतुण्डिका के सूजे ग्रन्थि का छेदन करे तथा विसक्रमित रुई को छने नीम के क्वाथ मे भिगोकर पूय, दूषित रक्त एव स्राव का निर्हरण करे तथा हल्के हाथो से दबाकर समस्त पूय को निकाल बाहर करे। तब उस पर सुहागा भस्म कपड छन करके १ ग्राम, मधु २ ग्राम तथा नीम का सत्व २०० मि ग्रा मिलाकर लेप निर्माण करके रुई की फुरेरी से प्रत्येक ३ घटे पर लगाते रहे। रोगी को नीम का सत्व ५० से १५० मि ग्रा दिन मे २-३ बार मधु से चटाते रहे तो व्रण का सशोधन एव पूरण होगा।

यूनानी चिकित्सा—

गलतुण्डिका को अरबी भाषा मे इस्तर्खाउल्लहात सुकूतुल्लहात तथा उर्दू मे कौवे का लटक या गिर जाना कहते है, कौवे मे सूजन को वर्मुल्लहात (अरबी भाषा मे) कहते हैं।

चिकित्सा–१ समूचा मसूर, धनिया प्रत्येक १२ ग्राम, कासनी और काहू के बीज प्रत्येक ६ ग्राम, कासनी के पत्ते, हरे मकोय के पत्ते तथा ताजे एव हरे शहतूत के पत्ते प्रत्येक ६० ग्राम–इन सबको १ लिटर जल मे औटाकर चौथाई शेष रहने पर छानकर छने हुए तरल मे शर्बत उन्नाव ६० मि लि भली भाति मिलाकर गरारे करावे।

२ पोस्त का दाना, खुरासानी अजवायन, गुलनार और अकाकिया–प्रत्येक समभाग ले जौकुटकर उसका काढा निर्माण करे तथा उससे दिन मे २ बार गरारे करे।

३, लाल चन्दन, ढेला कपूर (विशुद्ध), गुलाब के फूल गुलनार–प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र सूक्ष्म पीसकर गलतुण्डिका के सूजे अश पर दिन मे २-३ बार लेप करें।

४ हर हालत मे कब्ज को दूर करें। इसके लिए छोटी हरड का चूर्ण १ से ६ माशा पर्याप्त जल मे खिलायें। या एनीमा गर्म जल मिले नीबू के रस से लगायें।

५ गुल बनफशा को घी मे भूनकर गले के बाह्य प्रदेश पर बधवायें। साथ ही १२ ग्रा गुलबनफशा जल मे औटाकर पूरी तरह पक जाने पर पिलायें। उत्तम लाभ पहुचेगा।

६ उडद की कच्ची पकी रोटी पर गुलरोगन चुपड कर पीडित गले पर बाहर की तरफ से बधवाये।

७ विलायती मेहदी गुलनार, गुलाब के फूल प्रत्येक ६ ग्रा का काढा निर्माण कर उसमे ४८ मि लि शर्बत शहतूत मिलाकर रोगी को उससे कुल्ली करावें।

८ भुनी हुई फिटकरी को ३ ग्राम की मात्रा मे लेकर इसमे ६ ग्राम मधु मिलाकर रुई की फुरेरी से गलतुण्डिका शोथ पर दिन मे २ बार लगाये।

९ इस पर माजूफल को घिसकर (जल मे) लेप दिन मे २-३ बार लगाना भी गुणकारी है।

१० गुलनार सुमाक, सुपारी, गुलाब के फूल, हरा माजू–प्रत्येक १ ग्रा को सूक्ष्म पीसकर मलमल के वस्त्र मे छानकर रुई की फुरेरी से दिन मे २-३ बार लगाये।

११ पोस्तदाना, अनार के छिलका माजूफल, गुलनार फारसी, बब्बूल की छाल–प्रत्येक १२ ग्रा ले जौकुट करके १ लिटर जल मे औटावे। तब इसे छानकर इससे कुल्ली कराये। ऐसा दिन मे २-३ बार करे।

जर्राही तरीका—

सर्व प्रथम सूजे कौवा को सुहागा मिले गरम पानी से रुई के फाहे से विसक्रमित करें। तब छुरी से छेद कर पीव को निकाल फेके। अब अर्क गावजबान मे तूतस्याह का शर्बत मिलाकर पिलाते रहे जिससे व्रण का रोपण हो। व्रण पर मरहम ईशा लगावे।

प्राकृतिक चिकित्सा—

निम्नाकित आदेशो का पालन तथा चिकित्सा विधियो को कार्य रूप मे परिणत करने का यथाशक्ति प्रयास करे–

(१) रोग कष्ट के पूर्णरूपेण आराम होने तक केवल फलो का रस, दूध, सूप ही प्रत्येक घटे पर देते रहे।

(२) प्रात' शौच (पैखाना) से आते ही पेडू पर ३० मिनट गीली मिट्टी की पट्टी रखे और तब तक एक–दो लिटर हल्का उष्ण जल का एनीमा लगाये। इस जल मे १० बूद कागजी नीबू का रस निचोड दे।

(३) प्रतिदिन सन्ध्या समय भोजन के दो घण्टे बाद कमर की गीली पट्टी लगावे जिसे प्रात खोले।

(५ सप्ताह मे एक वार सन्ध्याकाल होने से पूर्व गर्म एप्सम लवण स्नान' (Hot Epsum Salts bath) लेना अनिवार्य है। जिस दिन यह ले उस दिन कमर की गीली पट्टी नही लगाये।

(५) दो बार प्रतिदिन गलतुण्डिका (Tonsil), हलक ग्रीवा आभ्यन्तर एव वाह्य पर १०-१५ मिनट तक जलवाष्प देवे। तव उष्ण जल मे कागजी नीबू का रस मिलाकर उससे गगरे कराये। इसके बाद जरूरत के अनुसार एक से दो घण्टे तक गर्दन के चारो ओर गलतुण्डिका को ढकते हुए गीले वस्त्र की लपेट या मिट्टी की पट्टी बाधे। इसे रात भर लगाये रखे।

(६) शुद्ध मधु तथा नीबू का रस मिलाकर उसे रुई की फुरेरी से आभ्यन्तरिक गलतुण्डिकाओ पर प्रात साय लगातार मालिश करे। यदि पूय निकले तो कोई बात नही, निकलने दे, पौछ दे। इसके वाद मक्खन से कठ और गीवा की वाह्य मालिश १५ से' २५ मिनट तक अवश्य करे। अन्दर मे गलतुण्डिका के सूजे अश पर नमक एव गोबर की राख मे भी मालिश की जाती है।

(७) रोगी प्रात सूर्य की ओर मुह खोलकर बैठे। तव एक नीले काच के टुकडे से छानकर सूर्य की नीली किरणे गलतुण्डिकाओ पर पडने दे।

(८) रोगी को रोज नीली वोतल के सूर्यतप्त जल को ३० मि लि की कई मात्राओ मे बाटकर ३० मि लि की एक मात्रा हर दो घटे पर कुल ६ मात्राये प्रतिदिन ८-१० दिनो तक पिलाते रहे। इसके बाद, पीली वोतल के सूर्यतप्त जल को पूर्ववत पिलाते रहे।

(९) पथ्य रखे। निषेधात्मक पदार्थो से परहेज करे।

आवश्यक बाते—प्राकृतिक चिकित्सक टासिल का छेदन कर या उसको कटवाकर चिकित्सा करने मे एकदम विश्वास नही करता। वह इसका घोर विरोधी है। उनका विश्वास है कि शरीर स्थित विजातीय द्रव्य तथा उदर की खराबी को दूर कर दिया जाय तो आक्रात गलतुडिका एव उसके कष्ट स्वत ही दूर हो जायेगे तथा स्वत ही नष्ट होकर स्वाभाविक दशा मे आ जायेगे।

विद्युत चिकित्सा—

[१] विद्युत चिकित्सा यन्त्र के एक पोल को हाथ मे पकडाकर दूसरे पोल से गलतुडिका शोथ से आक्रात ग्रीवा प्रदेश पर ऊपर नीचे ४-५ बार फेरे। तव रेगुलेटर से विद्युत शक्ति कम करके एक पोल को वाह्य गला पर सटावे तथा दूसरे पोल को अन्दर सूजे हुए गलतुडिका पर ४-५ वार स्पर्श करते मालिश करे। यदि पूय या रक्त वहे तो भय की कोई बात नही। उसे पौछ कर फिर पूर्ववत् क्रिया करते रहे।

(२) विद्युत तैल या जल निर्माण कर जल से रोगी को कुल्ली कराये तथा तैल मे रुई के फाहे भिगोकर सूजन स्थान पर लगाये तथा उसकी २-४ वार मालिश करे।

एलोपैथिक चिकित्सा—

[१] सर्व प्रथम कब्ज दूर करने के लिए मैगसल्फ का जुलाव दे अथवा फिलिप्स मिल्क ऑफ मैग्नेशिया ४-५ बूद बडे चम्मच बराबर ताजा जल मिलाकर १-२ वार पिलाये। इससे आमाशय-आन्त्र स्थित मल का निष्कासन होकर महास्रोत की सफाई होगी।

[२] एमोक्सीलीन (विडल सावर-निर्माता)—यह एमोक्ससिलीन पदार्थ से निर्मित योग है जो कैप्सूल और सीरप के रूप मे मिलता है। वयस्को को २५० से ५०० मि ग्रा हर ६ घटे पर तथा वच्चो को २० मि ग्रा प्रति किलो शरीर भार के हिसाब से प्रतिदिन कई बराबर मात्राओ मे बाट कर सेवन कराये।

यही दवा साराभाई केमिकल्स साराभाई, खडेलवाल फर्म 'एमॉक्सीयन, यूनिल्वाइड्स फर्म 'एमॉक्सीन', एफ डी सी 'फ्लेमिपेन', सिपला क० 'नोवामॉक्स', 'रैनबैक्सी-रैनाक्सील', वालेस क० 'वालामॉक्स' पेटेन्ट नामो से निर्माण कर वेचती है। इनकी मात्रा एव प्रयोग विधि पूर्ववत् है।

[३] स्पोरीडीन (रैनबैक्सी)—शिशुओ तथा वच्चो को १५ से ६० मि ग्रा प्रतिकिलो शरीर भार के अनुसार प्रतिदिन तथा वयस्को को १/२ से १ ग्राम मास मे या धीरे-२ शिरा मे इन्जेक्शन दिन मे २-३ वार लगाये।

यह सेफैलांनडीन' पदार्थ निर्मित योग है जो बाजारों मे इञ्जेक्शन वायल के रूप मे मिलते है। यही दवा ग्लैंगो लेबोरेटरीज 'सेपोरन' पेटेन्ट नाम से निर्माण कर बाजार मे बेचती है।

[४] डाइक्रिस्टिसिन (साराभाई)—आवश्यकतानुसार वयस्को को १/२ से १ ग्रा० तथा शिशुओ एव बच्चो को पीडियट्रिक नितम्ब के गहरे मास मे हर १२ घटे पर इञ्जेक्शन लगाये।

[५] होस्टामाइक्लिन (हैक्स्ट)— यह 'टेट्रासाइक्लीन' पदार्थो से निर्मित योग है जो ड्रेगी एव कैप्सून के रूप मे मिलते है। वयस्को को ५०० मि ग्रा वाला एक ड्रेगी तथा बच्चो को १/४ से १/२ ड्रेगी मधु से दिन मे २-३ बार सेवन कराये।

यही दवा सायनेमिड क० 'एक्रोमाइसिन', एलेम्बिक क० 'एलसाइक्लिन' एच ए एल 'सिक्लोलिन-२५०,' मर्करी फर्म 'लिनेमेट-३३३' साराभाई केमिकल्स'रेस्टेक्लीन', सडोज क० 'सैंडोसाइक्लिन', डेज मेडीकल स्टोर्स 'सुवामाइसिन' तथा एम एस डी फर्म 'ट्राइमिन' पेटेन्ट नामो से निर्माण कर बेच रही है। इनके प्रयोग से टासिलाइटिस दूर होता है।

सूचना—उपर्युक्त पेटेन्ट दवाओ को प्रयोग करने के पहले त्वचा मे १-२ बूद दवा इजेक्ट कर इनकी अति सुग्राहिता की जानकारी कर लेने के बाद ही इञ्जेक्शन लगाना चाहिये तथा इनके साथ हमेशा विटामिन बी कम्पलेक्स का सीरप या टिकिया अवश्य सेवन करावे।

[६] डिटॉल मिले गर्म जल से कुल्ली कराये। बोरोग्लिसरीन रुई की फुरेरी मे भिगोकर आक्रात सूजन पर दिन मे ३ बार लगाये।

शल्य चिकित्सा—

गलतु डिका जो रोगाक्रात है उसका उच्छेदन (Tonsillectomy) शल्यकर्म के विसक्रमण के सभी कठोर नियम एव आदेशो का भली-भाति पालन करते हुए सफलतापूर्वक करे।

परमाणुविक चिकित्सा (स्वानुभूत)—

मैने हॉफकीन इन्स्टीट्यूट, बम्बई से बहुत पहले विशुद्ध कृष्ण सर्प विष मगाया था तथा कैंसर रोग से ग्रस्त व्यक्ति का और दूसरी रसौषधियो के साथ तथा विभिन्न दिव्य जड़ी-बूटियो के स्वरस की भावना देकर एक ऐसी औषधि का निर्माण कर उससे चिकित्सा किया करता था कि मुझे अद्भुत चमत्कार देख अचम्भित हो जाना पड़ता था। उसी चिकित्सा अवधि मे मैने देखा कि सर्पविष किस प्रकार मुख से सेवन करने पर भी कुछ ही क्षणो मे समस्त शरीर मे व्याप्त हो अपना शुभ या अशुभ प्रभाव प्रकट करने लग जाता है। चूकि यह भयङ्कर विष था इसलिए इसके विकल्प वनौषधियां ढूढने लग गया। अनेक वर्षों की कठोर साधना के बाद शंखपुष्पी के पत्र एव मूलत्वक, नीम के पत्र, क्षार एव मूलत्वक, लक्ष्मण सजीवनी बूटी के पत्र, पुष्प, काली मिर्च, गोरखमुण्डी के पत्र-पुष्प, भृङ्गराज के पत्र, पुष्प एव मूल, गिलोय की जड़, अमरलता के काढ़, भस्म, शरपुखा के पत्र एव क्षार, मूसी आवली का फाट, श्वेत पुनर्नवा के मूलत्वक एव क्षार, वासक के मूलत्वक एव क्षार तथा निर्गुण्डी के मूलत्वक एव क्षार तथा निर्गुण्डी के पत्र स्वरस एव सत्व प्रयोगशाला एव वृहद रुग्णालय के प्रत्यक्ष वैज्ञानिक परीक्षण की कसौटी पर शीघ्र ही शुभ प्रभाव डालने तथा क्षणो मे समस्त शरीर मे व्याप्त हो जाने की प्रक्रिया मे खरे उतरे। फिर औषधि को दीर्घकाल तक परिरक्षण करने के लिए दो विख्यात औषधि (१) मृत सजीवनी सुरा तथा (२) फिटकरी (शुभ्रा) भस्म मेरे सामने आये। दोनो पर कई दिनो तक अलग-अलग परीक्षण जारी रहे और अन्त मे मृत सजीवनी सुरा ही चुनाव मे सर्व प्रथम आया। इसमे एक विशेषता और पाई गई कि औषधि सरक्षण के अतिरिक्त यह अपने मे मिलाई जाने वाली औषधि के प्रभाव एव गुण को बढाकर आशुकारी एव सर्वाङ्ग शरीर व्यापी बना देता है।

गलतु डिका शोथ विनासिनी परमाणुविक चिकित्सा—

सर्व प्रथम बाल हरीतकी चूर्ण २ ग्रा से ६ ग्रा तक प्रात ब्राह्ममुहूर्त ३-४ बजे पर्याप्त उष्ण पान के साथ निराहार खिलाकर आमाशय, आत्र-कोष्ठो की शुद्धि करें। तब निम्न औषधि दे—

गलतुण्डिका शोथ विनाशिनी परमाणुविक योग—

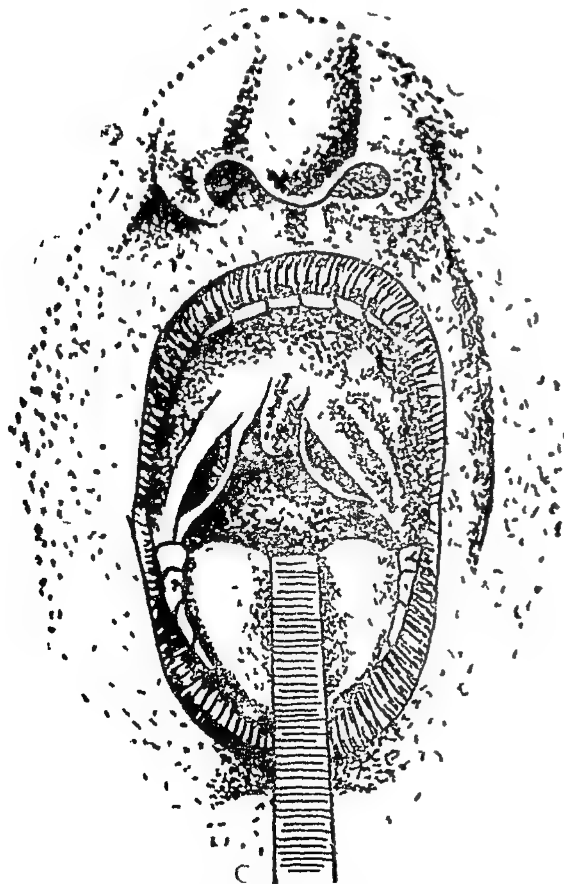
निर्माणविधि–मीठी अतीस ५ ग्रा, लवङ्ग फूल वाला ५ ग्रा, सौफ, बालवच, जायफल का कपडछन चूर्ण, मुलहठी

—शेषाश पृष्ठ १६७ पर देखे।

तुण्डिकेरी या टांसिलाइटिस (TONSILLITIS)

डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र एम०डी० (आयु०–वालरोग), विभागाध्यक्ष—प्रसूतितन्त्र, स्त्रीरोग एव कौमारभृत्य
एव
श्री प्रदीपकुमार वी०एस-सी०, आई०जी०डी०, छात्र–वी०ए०एम०एस० (चतुर्थ वर्ष)
श्री बुन्देलखण्ड राज० आयु० महाविद्यालय, झासी–३

शरीर की सभी गुहाओ मे सम्भवत मुख सर्वाधिक दूषित गुहा है। टासिल अपनी लसिकायुक्त (Lymphoid) सरचना एव विशिष्ट स्थान के कारण प्राय सदैव ही आघात जीवाणुओ द्वारा, अस्वच्छ भोजन द्वारा या न धुले हाथो के प्रयोग से सहने को तैयार रहता है। टाँसिल की सर्वाधिक सामान्य व्याधि उसकी शोथयुक्त अवस्था है। इसकी अवस्था, सक्रामकता एव सरचना के आधार पर यह व्याधि ४ वर्गों मे वाटी जा सकती है—



वायी ओर की टासिल फूली हुई हे।

१ तीव्रस्वरूप टासिलाइटिस
२. शैशवकालीन जीर्णस्वरूप टान्सिलाइटिस
३ युवावस्था मे जीर्णस्वरूप टान्सिलाइटिस
४ परितालु मूलग्रन्थिकीय विद्रधि

१ तीव्रस्वरूप टांसिलाइटिस (Acute Tonsilitis)

कारण—१ जिस समय शरीर की शक्ति का कुछ क्षय हो गया हो तथा तीव्र सक्रमण हो जाय।

२ व्याधि के उत्पादन मे कुछ महत्वपूर्ण सहायक कारण यथा प्रतिश्याय या शीत लगना, उपवास, अनिद्रा, क्लान्ति एव मानसिक चिन्तायें।

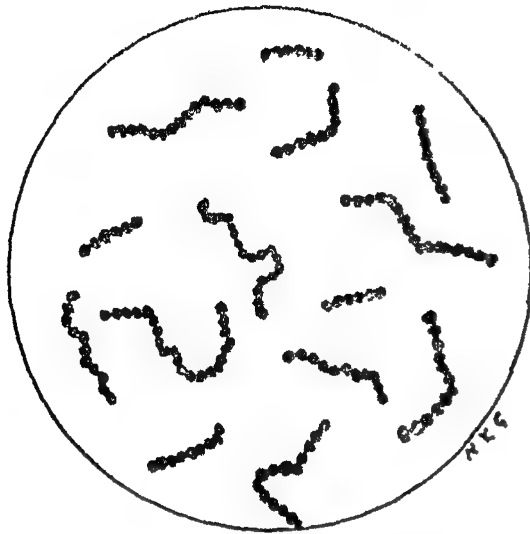
३ पहले से चली आ रही जीर्णस्वरूप टान्सिलाइटिस के साथ साथ श्लैष्मिककला मे व्रण का वन जाना।

४ जीवाणु-माला गोलाणु (Streptococcus) एव फुफ्फुस गोलाणु (Pneumococcus)।

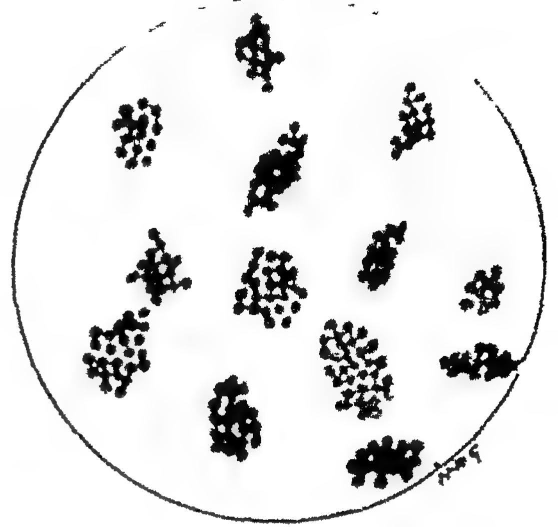
लक्षण—

रोगी चिकित्सक के पास गले मे खरास (Sore throat), निगलने मे कठिनाई तथा ज्वर की शिकायत लेकर आता है। ज्वर की तीव्रता शरीर के व्याधि क्षमत्व पर निर्भर करती है।

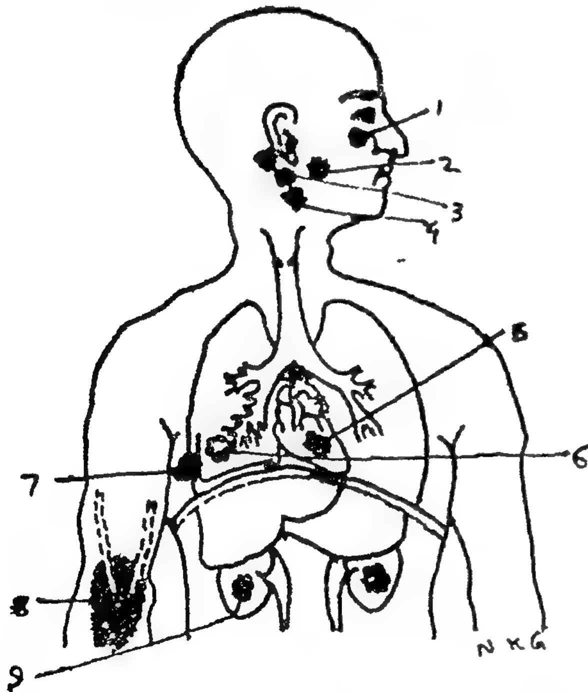
यदि रोगी का ध्यान से परीक्षण किया जाय तो शीघ्रता से निदान कर सकते हैं। सामान्य रोगी के मुख परीक्षण मे गले की पश्चभित्ति मे लालिमा मुख की अपेक्षा अधिक दीखती है। स्थानीय शूल एव तापाधिक्य मिलता है। तीव्रावस्था मे ग्रन्थि पर एक स्राव (Exudate) या झिल्ली दीखती है जो यत्न करने से साफ भी होजाती है। रोहिणी (Diphtheria) मे इस झिल्ली को हटाने पर रक्तस्राव होने लगता है। चक्राणु सक्रमण (Vincent's infection) मे इसे हटाया नही जा सकता है तथा इन दोनो अवस्थाओ मे विशिष्ट गन्ध होती है। सम्पूर्ण शरीर मे लक्षण चक्राणु सक्रमण मे रोहिणी की



टासिलाइटिस, गल विद्रधि एव पायरिया आदि रोगो के कारणभूत जीवाणु मालागोलाणु (स्ट्रेप्टोकोकाई) का सूक्ष्मदर्शकीय चित्र ।



अनेक रोगो के कारणभूत जीवाणु गुच्छ गोलाणु (स्टेफिलोकोकाई) का सूक्ष्मदर्शकीय चित्र



स्ट्रेप्टोकोकाई के सक्रमण से होने वाले रोग

१ अस्थि विवर शोथ (Sinusitis)

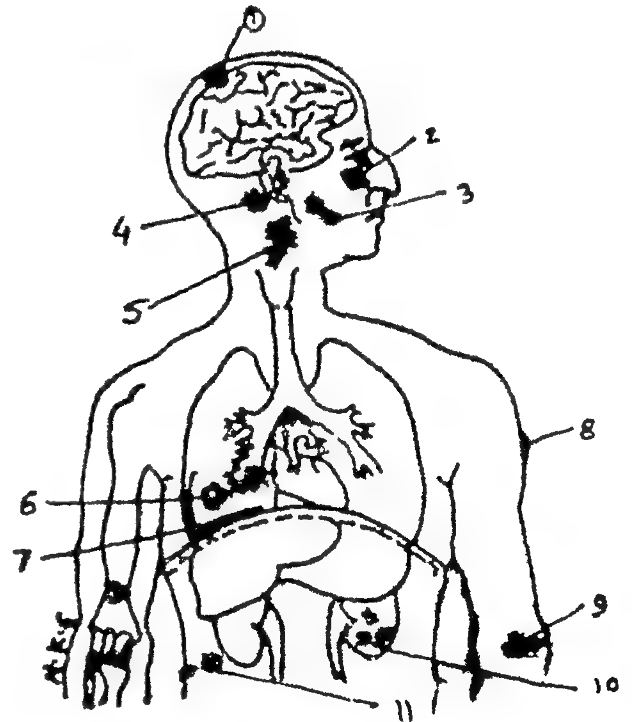
२ तुण्डिकेरी (टासिलाइटिस), ३ मध्यकर्ण शोथ

४ एडीनाइटिस, ५ आमवातिक ज्वर, हृदयावरणशोथ

६ फुफ्फुसीय विद्रधि, ७ एम्पाइमा (Empyma)

८ त्वचा के सक्रमणजन्य रोग

९ तीव्र वृक्क गवीनी एव तीव्र वृक्कशोथ



स्टेफिलोकोकाई के सक्रमण से होने वाले रोग

१ मस्तिष्कावरण शोथ, २ अस्थि विवर शोथ

३ गल तुण्डिका, गल विद्रधि या पायरिया

४ मध्यकर्ण शोथ, ५ एडिनाइटिस, ६ फुफ्फुस विद्रधि

७ एम्पाइमा, ८. त्वचा के सक्रमण या कार्बन्किल

९ खाज-खुजली-चकत्ते, १० विविध प्रकार की पूययुक्त विद्रधिया, ११ वृक्क परिधीय विद्रधिया

अपेक्षा कम होते है। साथ ही गले की लसिका ग्रन्थिया बडी एव स्पर्श पर वेदनानुभूतियुक्त मिलती हे।

चिकित्सा—

सैद्धान्तिक रूप मे स्थानीय लाभ करने वाली औषधि प्रयोग एव साम्थानिक जीवाणुरोधी (Antibiotic) द्रव्यो का प्रयोग लाभकर है।

स्थानीय प्रयोग मे—चूषणार्थ प्रयुक्त होने वाली गोलिया जिनमे Carbolic acid या Benzocaine पडा हो लाभ करती है। लवङ्गादि वटी, व्योषादि वटी का प्रयोग भी लाभकर है। Aspirin का कवल एव गण्डूप धारण एव कुल्ला करना तथा वाद मे सास्थानिक प्रयोग लाभकर है। Mandle's Paint का स्थानीय प्रयोग भी लाभ करता है। कुछ भी उपलब्ध न होने पर गर्म पानी का कुल्ला या गर्म जल मे लवङ्ग, कपूर आदि डालकर उसका कुल्ला भी लाभकर है।

सास्थानिक प्रयोग मे—सर्व प्रथम एव सर्वश्रेष्ठ द्रव्य आधुनिक औषधियो मे Penicillin ही है। सल्फा का प्रयोग भी कर सकते हैं। अन्य जीवाणुरोधी औषधियो का प्रयोगशाला द्वारा निर्धारण के वाद (Culture & Sensitivity) ही करना चाहिये।

विशेष—वार-२ टान्सिलाइटिस का होना इस वात का द्योतक है कि कही भी घ्राणेन्द्रिय या गले मे कोई शोथयुक्त प्रक्रिया चल रही है।

२ शैशवकालीन जीर्णस्वरूप टान्सिलाइटिस

कारण—

घ्राणेन्द्रिय मे अवरोध या कण्ठशालूक (Adenoid) के कारण मुख से श्वास लेना वच्चो मे जीर्णस्वरूप टासिलाइटिस का प्रमुख उत्पादक कारण है। कण्ठशालूक लसिका ऊतक का ही एक स्वरूप है जो नाक एव गले की सन्धि पर उपस्थित होता है। वरावर शोथ (Inflammation) रहने के कारण इसमे वृद्धि (Hypertrophy) हो जाती है। यह शोथ अस्वस्थ टासिल्स के कारण होता है। मुख द्वारा श्वसन की क्रिया वाद मे और भी अस्वस्थता पैदा करती है। पूयता (Sepsis) की उत्पत्ति मुखश्वसन, अस्वच्छ भोजन (दूध) या गदी अगुलियो को मुख मे डालने से होती है। इसका दूसरा प्रमुख कारण वार-२ या लगातार तीव्रस्वरूप टासिलाइटिस का होना हे।

लक्षण—प्राय माताये शिकायत लेकर आती है कि वच्चे को खासी आती है। वहुत से कासनाशक शर्वत एव औषधि दी गयी पर लाभ नही हुआ। वोलने वाला वालक गले मे खरास की शिकायत करता है। शिशु कम खाने वाला, लम्वे समय तक खाने वाला एव अग्निमाद्ययुक्त होता है। मुख से श्वास लेना एव इन वच्चो मे दवी हुई नाक एव अग्रदन्तो का वाहर की ओर निकलना, देर से दन्तोद्भेद आदि शिकायत हो सकती है।

परीक्षण मे टासिल्स अस्वस्थ, लालिमायुक्त एव मुद्रिकायुक्त (Fibrotic rings around the mouths of the crypts) मिलती है। टान्सिल की सतह पर एक या एक से अधिक रक्त कोशिकाये विस्तृत दीखती है। ग्रीवा मे लसिका ग्रन्थियो की वृद्धि भी मिलती है।

चिकित्सा—

[१] टान्सिल की छेदन चिकित्सा या कठशालूक की छेदन चिकित्सा के पूर्व घ्राणेन्द्रिय मे मार्गावरोध के अन्य कारणो पर विचार एव निवारण करना चाहिए।

[२] टासिल का छेदन कर्म ही प्रमुख चिकित्सा है।

[३] सामान्य चिकित्सा—वच्चे को यत्न करके जाग्रत अवस्था मे नाक से श्वास लेने को कहना चाहिए। इसमे नाक मे Decongestant drops डालकर मदद ली जा सकती है (दिन मे ३ वार)। गर्म पानी से कुल्ला करना एव Mandle's Paint का स्थानीय प्रयोग ३ वार हितकर है। विटामिन ए तथा सी के नियमित प्रयोग के वाद भी यदि वच्चे का स्वास्थ्य न सुधरे तो टान्सिल का छेदन ही अन्तिम चिकित्सा है।

उपद्रव—शोथयुक्त तन्तवोत्कर्ष (Fibrositis) सधिशूल, आमवातजन्य हृदशोथ (Rheumatic carditis) एव तीव्रस्वरूप का वृक्कशोथ (Acute Nephritis)।

३ युवावस्था मे जीर्णस्वरूप टान्सिलाइटिस

कारण—

प्राय यह अवस्था शैशवकाल से चली आ रही वीमारी का परिणाम होती है। परन्तु ऐसा आवश्यक भी नही है। वरावर स्वास्थ्य का ठीक न रहना, शारीरिक श्रम न करना, अनुचित भोजन की आदत, देर रात

तक जगना, भीड भरे स्थान यथा सिनेमा, जलपानगृह आदि मे देर तक रहना उत्पादन मे सहायक कारण होते है। सिगरेट एव शराव के कारण स्थानीय श्लैष्मिक कला की जीवनी शक्ति का नाश हो जाता हे तथा मुख मे उपस्थित जीवाणु या वाह्यागन्तुक जीवाणु कारण वन जाते है। तीव्रस्वरूप टान्सिलाइटिस के जीवाणु ही कारण बनते है। कभी-कभी राजयक्ष्मा जीवाणु, कुन्तलाणु [Spirochaeta] सक्रमण भी कारण होता है।

लक्षण—

रोगी की शिकायत गले मे खराश की होती है जिसका बार-२ आक्रमण होता है, कभी-कभी अन्तर वढ जाता है। पूर्व मे गले मे शोथ की भी शिकायत होती है। वह बरावर कास की शिकायत रखता है या गला साफ करने का यत्न करता है। अन्य कोई विशेष शिकायत नही होती है, यदि शरीर का कोई अन्य अवयव भी पीडित न हो गया हो।

परीक्षण करने पर टान्सिल मे वृद्धि एव लालिमा अथवा लघु आकार का, दवा हुआ एव तन्तुमय (Fibrotic) मिल सकता है। यदि प्रतिश्याय (Sinusitis) उपस्थित हो तो साथ मे ग्रसिनी नलिका दानेदार शोथ हो भी सकता है अथवा न भी हो। जिह्वादावक (Tongue Depressor) से उसके अग्रभाग को दवाने पर उसमे से पूय भी आ सकता हे। यह पूय पनीर या छैने के समान होता है। साथ मे गले की लसिका ग्रन्थियाँ भी वडी मिलती है, उनमे स्पर्शासहिष्णुता भी हो सकती है, नही भी हो सकती ह।

चिकित्सा—

सामान्य चिकित्सा शैशवकाल के समान हे जो लक्षणो को शान्त रखने मे एव आगे वढने से रोकती है। अन्तत टान्सिल का छेदन ही करना पडता है। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानो द्वारा कहे गये चिकित्सा उपाय यथा–चूपण, टान्सिलस को दवाना (Massaging), X-Ray-exposure, Radiation आदि का कोई विशिष्ट उत्तम प्रभाव नही है।

उपद्रव—शैशवकालीन जीर्णस्वरूप टान्सिलाइटिस के समान ही हे।

परितालुमूल ग्रन्थकीय विद्रधि
(Peritonsillar Abscess)

कारण—

कभी-कभी तीव्रस्वरूप का सक्रमण टान्सिल सरचना को भी पार करके टान्सिल के अन्तिम स्तर (Bed of the tonsil) तक पहुच जाता है। यह प्राय दो मार्गो से होता है—

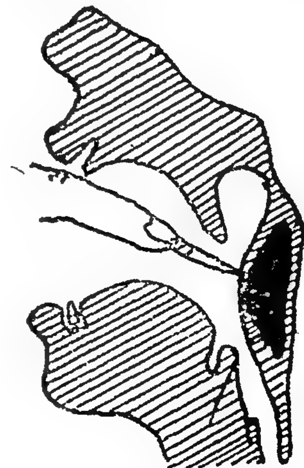
१ पूर्व टान्सिल गुहा (Supra-tonsillar fossa)

२ टान्सिल के ऊपरी अन्तिम स्थान मे (The large crypt near the upper pole of Tonsil)

यह अवस्था वच्चो मे प्राय नही होती है। कभी-कभी सहज विकृति (Congenital Anamolies) के कारण पारिवारिक इतिवृत मिलता है।



—गल विद्रधि (Peritonsillar abscess)—
विद्रधि पर चीरा लगाने का स्थान
विन्दुदार रेखा से प्रदर्शित है।



गल विद्रधि–छेदन स्थल एव विधि

सक्रमण के जीवाणु—पुञ्ज गोलाणु (Staphylococcus), फुफ्फुस गोलाणु, कभी कभी दण्डाणु—पायोसाइनस, प्रोटियस—व्यूलरिस या ई. कोलाई।

लक्षण—

गले से निगलने मे अत्यधिक कठिनाई होती हे एव जिह्वा को भी बाहर निकालने मे कष्ट होता है। ज्यो-ज्यो व्याधि बढती है मरीज को मुह खोलने मे कष्ट बढता जाता है। जब मरीज सोता है तो प्राय करवट ही लेटता है। प्रभावित दिशा ऊपर रहता है। जिह्वा पर मल का गाढा लेप रहता है। गले की मासपेशी (Sternomastoid muscle) के साथ की लसिका ग्रन्थियो मे वृद्धि, शूल एव स्पर्शासहिष्णुता रहती है। यह परितालुमूल ग्रन्थिकीय शोथ के लक्षण है जो चिकित्सा न करने पर विद्रधि मे बदल जाता है और साथ मे भोजनादि न निगल पाने से शरीर का स्वास्थ्य गिरता है। मुख से लालास्राव होता है। रोगी बोलने मे भी असमर्थ हो जाता है। शरीर का तापक्रम १०३° F. तक होजाता है।

परीक्षण पर विद्रधि एक चमकदार शोथ के रूप मे मृदु तालु पर टान्सिल के पूर्व दिखाई देती है। वहा शोथ (सूजन) एव फैली हुई लालिमा दीखती हे। विद्रधि मुख बनाकर फटती है और तुरन्त मरीज को आराम हो जाता है।

चिकित्सा—

इसे दो भाग मे बाट सकते है—

१ परितालुमूल ग्रन्थीय—इस अवस्था मे पेनिसिलीन का उपयोग करना चाहिए। यदि इससे २४ घण्टे मे लाभ न हो तो अन्य उच्च वर्ग के जीवाणुरोधी (Broad-spectrum) का प्रयोग करें।

२ विद्रधि—इसके बनने के बाद शल्य कर्म ही श्रेष्ठ चिकित्सा है। मोतिया विन्दु चाकू (Cataract Knife) से सबसे उभरे भाग पर छिद्र करे एव नाडी चिमटी (Sinus forceps) से उसे फैलाकर पूय निकाल दे। फिर उचित जीवाणुरोधी का प्रयोग आगामी ५ से ७ दिन तक करना चाहिए। विद्रधि की तीव्रावस्था समाप्त होने के १ माह बाद टान्सिल का छेदन करना हितकर है। (चित्र पृष्ठ १९६ पर)

उपद्रव—इन अवस्थाओ की उचित देखरेख न करने से स्थिति बिगड जाती है। बृहद् शल्यकर्म की आवश्यकता पड सकती है और सोते समय विद्रधि फटने से पूय के श्वास नलिका मे चले जाने से मृत्यु भी सम्भव है।

आयुर्वेद मतानुसार यह तुण्डिकेरी की अवस्था लगती है।

हनुसन्ध्याश्रित कण्ठे कार्पासी फलसन्निभ।
पिच्छिलो मन्दरुक् शोफ. कठिनस्तुण्डिकेरिका॥

—अष्टाग हृ० २१/४७

गले मे हनु सन्धि से सम्बन्धित, जङ्गली कपास के समान आकार की पिच्छिल, मन्दवेदना वाली तथा कठिन जो शोफ होती है वह तुण्डिकेरी है।

टान्सिल का यही स्थान हे। जो मुख एव गले की सन्धि पर पार्श्व मे Palatoglossal तथा Palatopharyngeal arch के मध्य टान्सिल गुहा मे रहता है।

आचार्य सुश्रुत इसे कफ एव रक्त दोष से उत्पन्न मानते है।

शोथ. स्थूलस्तोद दाहप्रपाकी
प्रागुक्ताभ्या तुण्डिकेरी मतातु।

—सु० स० नि० १६

स्थूलता, तोद एव पाकयुक्त शोथ को तुण्डिकेरी कहते है।

आचार्य सुश्रुत ने इसे तालुगत परन्तु वाग्भट्ट ने कण्ठगत व्याधि माना है।

चिकित्सा सिद्धान्त—रक्त मोक्षण, तीक्ष्ण द्रव्यो का नस्य, गण्डूष देना चाहिए। कवल एव प्रतिसारण का प्रयोग करना चाहिए।

औषधि—

[१] क्वाथ—दारुहरिद्रात्वक्, निम्ब, रसाजन, इन्द्रयव। मधु एव हरीतकी क्वाथ। कटुकादि क्वाथ।

[२] कवल गण्डूष—त्रिफला, त्रिकटु, यवक्षार, दारुहरिद्रा, चित्रक, रसौत, तेजबल, निम्ब इनका शुक्त एव गोमूत्र।

[३] प्रतिसारण—इन्ही द्रव्यो की गोलियो से।

[४] मुख मे धारण—व्योषादि वटी, लवगादि वटी

[५] घृत—व्याघ्री घृत।

[६] लेप—कदम्ब, मालकागनी, मुस्ता, देवदारु, शुण्ठी, वच, दन्ती एव मूर्वा का उष्ण लेप।

पायोरिया

आयु० बृह० आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद,
चीफ सर्जन—एम० हॉस्पीटल,
महेश्वर विज्ञान भवन,
मगलगढ (समस्तीपुर) विहार ।

कृष्णच्छिद्रश्चलस्रावी ससरम्भो महारुज ।
अनिमित्तरुजो वातात्सज्ञेय कृमिदन्तक. ।।
— माधव निदान दन्तशूल व दन्तगत रोग

अभिप्राय यह है कि वायु की विकृति से दातो मे काले छेद पड जाय, वे हिलने लगे, उनमे से पूय, दूषित रक्त का स्राव होवे, प्रदाहयुक्त वेदना उत्पन्न हो तथा विना किसी कारण के दुखने लगे, दूपित रक्त से कृमि उत्पन्न होकर दातो मे छेद उत्पन्न कर दे तो उसको कृमिदन्त या दन्तपूय (पायोरिया) कहते है ।

पर्याय—कृमिदन्त, दन्तपूय दन्तव्रण, मसूढो से पीव आना, मसूढो के पुराने पीवदार जख्म, कुरुहुल्लिस्स तकरयुहुल्लिस्स (अरवी), पायरिया अल्विओलरिस (Pyorrhoea alveolaris) आदि ।

स्वरूप—दातो मे कीडे और मैल लग जाने से मसूढो मे प्रदाह हो जाता है तथा मसूढो से पीव आने लगता है।

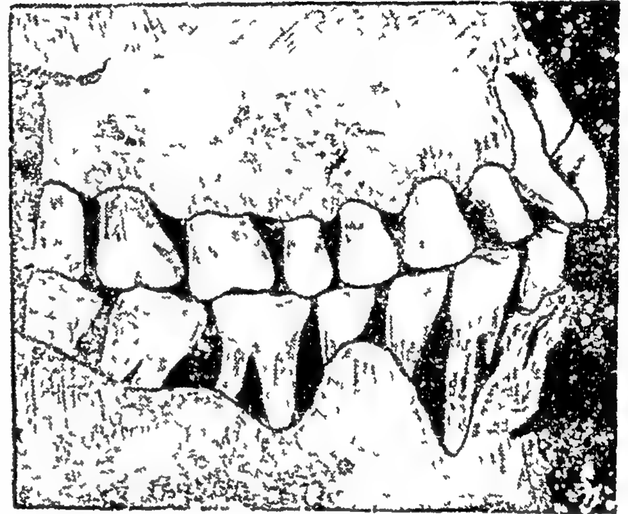
कारण—

मुह नही धोकर दातो को मैला रखना, दातो मे कीडे लग जाना, पौष्टिक तथा विटामिन सी से युक्त उपयुक्त भोजन यथोचित मात्रा मे नही मिलना, मधुमेह, क्षय, पाण्डु आदि दुर्वलताकारक व्याधियो का वहुत समय तक शरीर मे व्याप्त रहना, भोजन या पेय सेवन से वाद दातो की अच्छी तरह सफाई नही करना, गर्म चाय, कॉफी आदि पीने के वाद ही तुरन्त ठण्डा जल या मलाई, आइसस्क्रीम, वर्फ का सेवन करना आदि विभिन्न कारणो से पायरिया रोग उत्पन्न हो जाता है ।

पूर्वरूप—मुह दुर्गन्धित महकने लगता है, मसूढे सूजने लगते है, दातो मे कनकनी (दन्तहर्ष) होने लगती है, उदर मे गैस वनता है तथा पाचनक्रिया विगडती है ।

लक्षण—

इस प्रकार की व्याधि मे पीडित (आक्रान्त) दात के



पायरिया के कारण मसूढो के सड-गल जाने के कारण दात ढीले पड गये है ।

मसूढे सूजे रहते है, मसूढो को दवाने से पीव (पूय) निकलने लगता है, जिह्वा पर पपडी सी एकत्रित रहती है, दात दुर्वल हो जाने के कारण भोजन ठीक समय से चवाया नही जाता, जिसके कारण रोगी को अजीर्ण हो जाता तथा उसकी पाचन क्रिया गडवड ही रहती है । इतना ही नही पेट फूल जाता है, जठर या पक्वाशय मे व्रण हो जाते है, रोगी वरावर उदर मे गैस वनने, कलेजा जलने तथा खट्टी डकार आने की शिकायत करता रहता है । रोगी के मुह से प्राय हर समय दुर्गन्ध आती रहती है जिससे उसके समीप मे वैठकर उससे वार्तालाप करना मुश्किल हो जाता है । थोडे दिन मे मसूढे सिकुड जाते है जिसके फलस्वरूप आक्रान्त दात नगे हो जाते है । (ऊपर चित्र देखे) पाचन क्रिया की गड़वडी तथा आमाधिक्य के कारण रोगी के हाथ-पैरो मे पीडा और सन्धियो मे सूजन भी दृष्टिगोचर होती है ।

विशिष्ट लक्षण—इसका सक्रमण एक व्यक्ति से दूसरे

व्यक्ति को हो जाता है। इसमे दातो के मसूढो मे रक्त बहने लगता है तथा व्याधि जीर्ण तथा जटिल होने पर सामान्य दवाव से भी मसूढो मे से पूय (पीव) एव रक्त निकल आता है।

वैज्ञानिक परीक्षण—रोगी के मुह मे मुख विस्फारक यन्त्र तथा जिह्वा अवनामक (Tongue Depressor) यन्त्र (जिह्वा दवाने के लिए) लगाकर दातो का निरीक्षण काच अभिवर्धक (Magnifying glass) उपकरण से करे। इतना ही नही आक्रान्त दात के खोडर या सन्धि स्थल से सूक्ष्म चीमटी से मैल एव पूय लेकर उसे काच पट्टिका पर माउण्ट करके सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से सतर्कतापूर्वक निरीक्षण करें। आपको पायोरिया के जीवाणु स्पष्ट दीख पड़ेगे।

अन्तिम परिणाम—यदि इस व्याधि की शीघ्र ही यथोचित चिकित्सा नही की गई तो मुख एव दातो की विकृति से अनेक प्रकार की व्याधियो के कीटाणु समस्त मुह मे समाविष्ट हो तथा रक्त मे सक्रमित हो ब्रोको-न्यूमोनिया, कुकर खासी, मुख व्रण, क्षय रोग आदि धर दबाते है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

चिकित्सा सूत्र—

सर्व प्रथम बालहरीतकी चूर्ण ६ से ६ ग्राम गर्म जल से खिलाकर कोष्ठ की शुद्धि करे तब पाचन औषधि खिलाये। फिर नीम के क्वाथ मे लवण ५०० मि०ग्रा० मिलाकर गर्म गर्म ही कुल्ली करायें। पश्चात् लौग का तेल रुई की फुरेरी से आक्रान्त दात पर लगायें।

औषधियां—

(१) काष्ठ कोयला का कपडछन चूर्ण २५ ग्राम, कालीमिट्टी का कपडछन चूर्ण २५ ग्राम, लौग का तैल १५ बूद, ढेला कर्पूर विशुद्ध १० ग्राम तथा सुपारी का जला भस्म २५ ग्राम—इन सबको खरल मे भलीभाति घोटकर खूब बारीक कर ले।

प्रयोग विधि—इसे बन्द बोतल मे सुरक्षित रखे तथा अगुली से आक्रान्त दात पर लगाकर दिन मे ३-४ बार मले। दन्तपूय, दन्तहर्ष, दात का हिलना तथा कृमि-दन्त को ठीक करता है।

(२) फिटकरी ६ ग्राम सूक्ष्म पीसकर ५०० मि० लि० गर्म जल मे भलीभाति मिला उससे कुल्ली कराये।

(३) कागजी नीबू का रस १५ मि०लि० तथा गर्म जल १०० मि० लि० दोनो को मिलाकर प्रात साय दे।

शल्य चिकित्सा—

हिलते तथा पायोरिया से पीडित दात के मसूढो मे नोवोकेन तथा एड्रनैलीन का स्थानिक इन्जेक्शन लगा दन्त सदश से पेच की तरह घुमाते हुए दात को उखाड फेके। तब टिंक्चर आयोडीन (रेक्टिफाइड स्प्रिट से निर्मित) का फाहा रिक्त स्थान मे लगा दे। सुबह शाम लाल पुटाश मिले गर्म जल से कुल्ला कराये। डाइक्रिस्टिसिन १/२ ग्राम की सुई लगाये।

— पृष्ठ १६० का शेषाश —

मूलत्वक का कपडछन चूर्ण, नीम पत्र एव मूलत्वक का कपडछन चूर्ण छोटी पिप्पली का कपडछन चूर्ण, यशद भस्म प्रत्येक २ ग्रा० एक खरल मे लेकर इनमे द्रोणपुष्पी के मूलत्वक का कपडछन चूर्ण, नीम के पत्र एव मूल त्वक का कपडछन चूर्ण प्रत्येक १ ग्रा तथा पृथक्-पृथक इनके क्षार ५०० मि ग्रा लक्ष्मण सजीवनी बूटी के पत्र पुष्प १ ग्रा, कान्नीगिर्च १ ग्रा, गोरखमुडी के पत्र-पुष्प का कपडछन चूर्ण १५ ग्रा, गिलोय की जड १ ग्रा, अमरलता के काड के कपडछन चूर्ण १ ग्रा तथा इसके भस्म ५०० मि ग्रा, शरपुखा के पत्र, मूल के कपडछन चूर्ण १ ग्रा तथा इसके क्षार ५०० मि ग्रा सूखे आवलो का फाट (गाढा-मान्द्र) १५ मि लि, श्वेत पुनर्नवा के मूलत्वक का कपडछन चूर्ण १ ग्रा तथा क्षार २५० मि ग्रा और निर्गुडी के पत्र स्वरस १० मि लि तथा सुरासत्व १२५ मि ग्रा भी डाल दे। अब थोडा-२ मृनसजीवनी सुरा बूद-बूद करके डालते जाये तथा दृढ हाथो से निरन्तर ६ घटे तक प्रतिदिन करके ५ दिनो तक खरल करें। खूब घोटते-२ जब वारितर हो जाय तो काच की बोतल मे बन्दकर सुरक्षित रखले। प्रयोग विधि—१२५ मि ग्रा तक गर्म जल के साथ निराहार प्रात साय खिलाये। तीव्र दशा मे ब्रह्मरन्ध्र पर काकपद यन्त्र उपद्रव यथा ज्वर प्रकट होने पर नीबू के रस मे मिश्री चूर्ण मिलाकर हर ४ घटे पर पिलावे। यह गलतुण्डिका शोथ को तुरन्त शात करता है।

पायरिया में अनुभूत योग

कविराज वैदेही शरण सिंह आयुर्वेदाचार्य, वसन्तपुर पो० पीरपैंती (भागलपुर) बिहार



दन्तवेष्ट (पायरिया) नाशक शास्त्रीय योग—

[१] दशन सस्कार चूर्ण—पायरिया की शास्त्रीय औषधि है। इसे और सुन्दर वनाने के लिए उसमे सग-जहरात एव इरमेदादि तैल मिला ले तो अति उत्तम कार्य करता है।

[२] इरमेदादि तैल पायरिया की सुन्दर औषधि है। इस तैल के साथ पायरिया मजन मिला कर लगायें तो पायरिया जड से नष्ट हो जाता है।

[३] दत वेष्टारि (भै र)—वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का पायरिया नाशक दवा है।

[४] दत रोगाशनि चूर्ण(भै र) – यह दात की किसी भी प्रकार की व्याधि को खत्म करता है। घृत मिलाकर मुख मे धारण करे।

अनुभूत योग—

(१) पायरिया नाशक मजन—हल्दी, गोलमिर्च, मेथी, सेधा नमक, फिटकिरी, समुद्रफेन, माजूफल, गेरू-मिट्टी–सभी ५-५ तोले, लौग १ तोला, सभी औषधियो को लेकर कूट कपडछन कर शीशी मे सुरक्षित रखे। उसमे रोज मुह धोवे। यह पायरिया को जड़ से नष्ट कर देगा।

(२) पायरिया नाशक मजन—तम्बाकू सूखी हुई, अग्नि मे भुनी हुई फिटकिरी, अडा के ऊपर के छिलका की राख तीनो को बराबर मात्रा मे लेकर मजन बनालें और रोज दातो पर मलें, पायरिया जड-मूल से साफ हो जायेगा।

(३) पायरिया नाशक मजन—नीम की छाल या उसके पत्तो को लाकर उनकी भस्म बनावें। उस भस्म मे सुपाडी जलाकर मिला दें। फिर २ तोला महीन पीसा हुआ नमक मिला दें और रोज मजन करें तो पायरिया जाता रहेगा।

(४) पायरिया नाशक—माजूफल, मौलसरी की छाल, जामुन की छाल, सेधानमक, कचनार की लकडी का भस्म सब समान मात्रा मे लेकर एक मे मिलाकर शीशी मे रखे और रोज मजन करे तो पायरिया जड-मूल से नष्ट होजाता है। **

— पृष्ठ २०० का शेषाश —

मे प्रोटीन सश्लेपण को अवरुद्ध करके पोलीपेप्टाइड शृङ्खला निर्माण के लिए उत्तरदायी एन्जाइम ट्रासफरेज (Transferase) को निष्क्रिय करता है।

रोग क्षमता—

रोहिणी के लिये शरीर मे उत्पन्न क्षमता प्रतिवैषिक स्वरूप की होती है। अप्रकट उपसर्ग या टीके से उत्पन्न क्षमता भी इसी प्रकार की होती हे। बच्चो की सहज-क्षमता का आधार भी प्रतिविष ही होता हे। रोग निवृत्ति के बाद काफी प्रवल क्षमता उत्पन्न होती है, जिससे पुन रोगोत्पत्ति नही होती। १-४ वर्ष के बच्चे इसके लिये अधिक सुग्राही होते है।

वाहक—रोग निवृत्ति के पश्चात ये दडाणु रोगी के गले मे न्यूनाधिक काल तक रहते है। इस समय ये सन्निकृष्ट वाहक कहे जाते है। सामान्यत दडाणु १५-२० दिन मे नष्ट हो जाते है, लेकिन कुछ मनुष्यो मे आजीवन भी रहते है। रोगी के सम्पर्क मे आने वालो में ८-१०% लोग वाहक वन जाते हैं। इनमें से कुछ अल्पकालिक एव कुछ दीर्घकालिक वाहक होते हैं।

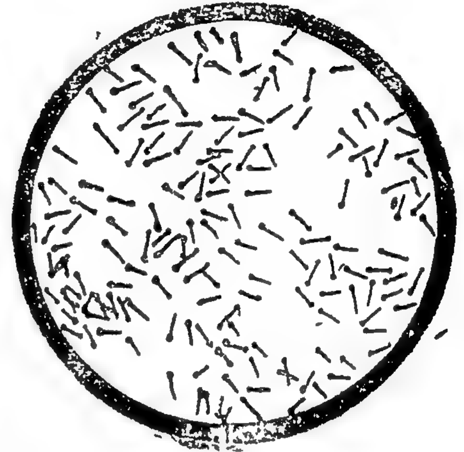
प्रतिकार—सामान्यत जीवाणुनाशक साधनो से शीघ्र ही नष्ट होते है, लेकिन अन्यजीवाणुओ की अपेक्षा शुष्की भवन एव प्रकाश के साथ अधिक शक्तिशाली होते है। आर्द्र उष्णता मे ५८°C पर १० मिनट मे नष्ट होते हे, लेकिन शुष्कावस्था में ५८°C ताप पर १ घटे तक भी जीवित रह सकते हैं। कमरे की धूलि में महीनो ताक जीवित एव विकारी रह सकते है।

पैनिसिलीन, स्ट्रैप्टोमाइसिन, ई–मायसिन, टैट्रासाइक्लिन आदि ब्रौड स्पैक्ट्रम ऐन्टीवायोटिक्स के प्रति अति सुग्राही होते है।

रोहिणी (डिफथीरिया)

डा० बृजेशचन्द्र शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बी ए एम एस, आयुर्वेद वाचस्पति (एम. डी – आयु विकृति विज्ञान)
रो० वि० विभाग, आयुर्वेद विश्वभारती, सरदार शहर (राज०)

रोहिणी मुख्यत वाल्यावस्था का एक जटिल रोग है, जोकि माता से प्राप्त निष्क्रिय क्षमता के कारण प्रथम वर्ष मे बहुत ही कम लेकिन २-५ वर्ष की अवस्था मे सर्वाधिक रूप से प्राप्त होता है। ५-१० वर्ष की अवस्था तक धीरे-२ यह कम होता जाता है तथा उसके पश्चात सामान्यत होना ही नही है। शीतकटिबन्ध की अपेक्षा यह रोग उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशो मे कम होता है। कुछ लोगो के मतानुसार यह कृष्ण वर्ण लोगो की अपेक्षा गौर वर्णो मे अधिकता से मिलता है।



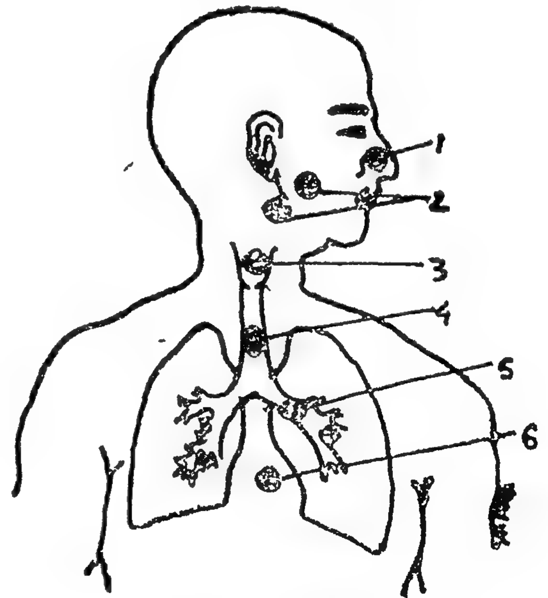
डिफथीरिया का कारणभूत जीवाणु
क्लैब्स लोफर दडाणु

हेतुकी—

रोहिणी रोग का मुख्य हेतु रोहिणी दण्डाणु माना जाता है जिसे क्लैब्स लोफ्लर का दण्डाणु (Klebs Loffler's Bacillus) या रोहिणी मुद्गराणु (Coryne bacterium Diphtheriae) भी कहा जाता है। यह सामान्यत मुद्गराकृति होने से मुद्गराणु के नाम से भी जाना जाता है। रोहिणी मुद्गराणु सामान्यत पहले किंचित टेढे मेढे, गतिहीन वहुरूपी, अक्षुल्लकोद्भव, वातपी या वातप्रिय एव ग्राम ग्राही गुणोयुक्त होते है। इस प्रजाति के कुछ दडाणु वहिर्विप (Exotoxin) भी उत्पन्न करते है। सर्व प्रथम क्लैब्स ने १८८३ मे देखा तथा लोफ्लर ने १८८४ मे शुद्ध सबर्धन प्राप्तकर प्रकाशित किया अत इन दोनो के सयुक्त नाम क्लैब्स लोफलर दडाणु नाम से जाना जाता है।

वास स्थान—रोहिणी मुद्गराणु पूर्ण परोपजीवी है जो मुख्यत नासा, कण्ठ, स्वर यन्त्र ग्रसनिका, नेत्र, गुह्याग आदि के रोहिणी जन्य व्रणो मे, वाहको के नासा, कठ एव थूक (दोनो) मे पाया जाता है।

आकारकी एव रजन—यह सामान्यत १-८ mcm लम्बा तथा ३-८ mcm चौड़ा सीधा या कुछ मुड़ी हुई



डिफथीरिया के स्थानानुसार प्रकार
१—नासिका २—कण्ठ ३—स्वर यन्त्र
४—श्वास प्रणाली ५—लघु श्वास प्रणाली
६—डिफथीरिया के विप से जनित हृदयावरण शोथ

शलाकावत, वहुरूपी दडाणु है जो तन्तुपिच्छ हीन, गतिहीन,अनम्लसह,अक्षुल्लकोद्भव एव आटोपिकारहित होना है तथा सामान्य रजको से रजित भी होता है लेकिन विशिष्ट पहिचान के लिये 'लोफलर का मैथलिन व्ल्यू' तथा 'नीरस या पूजा का रजक' प्रयुक्त किये जाते हैं। सख्या वृद्धि के समय ये सामान्यत अनुलम्व रूप मे ही विभक्त होते हैं। विभाजन का कार्य कभी-२ वीच मे तथा कभी दूसरे सिरे के पास कुछ समय के लिये रुक जाता है जिसके परिणामस्वरूप ये आपस मे V, L या Y के समान सरचना भी वनाते ह।

सवर्धन—रोहिणी दडाणु सामान्यत. वातपी या सभाव्य वातपी है।

वृद्धि के लिये ताप १५-४०° तथा ३७° पर अधिकतम वृद्धि करता है प्रशस्त पी० एव (३० स०) ७-७-७६ ही दडाणु सामान्य वर्धनको पर भी सवर्धित किया जा सकता हे परन्तु लसिका माध्यम इसके लिये सर्वोत्तम होता है अत लोफलर का वर्धनक इसके लिये मुख्यत प्रयुक्त किया जाता है। लेकिन अन्य जीवाणुओ मे पृथक करने के लिये वर्गकित वर्धनक का उपयोग भी किया जाता है जिससे रोहिणी के प्रकार भी मालूम होते है। सवधन के समय तीन प्रकार के सघ (Colonies) वनती हैं जिनके आधार पर ही रोहिणी दडाणुओ को तीन प्रकार का नाम दिया जाता है।

जीवरसायनिक गुणधर्म—दूध को नही जमाते, यूरिया का विघटन नही करते, इन्डोल की उत्पत्ति न करके हाइड्रोजन सल्फाइड गैस धीरे-धीरे उत्पन्न करते है। नाइट्रेटो को नाइट्राइट मे अपचित करते हैं,शर्कराओ पर क्रियाओ द्वारा अम्लोत्पत्ति गुरु प्रकार के दडाणु मन्ड (स्वय) एव मधुजन (ग्लाइकोजन) पर क्रिया करके अम्लोत्पत्ति करते हैं।

विपोत्पत्ति—तरल वर्धनको मे यह अत्यन्त उग्रस्वरूप का वहिर्विप उत्पन्न करता हे तथा उपसर्ग के समय शरीर मे भी वैसी विपोत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त कुछ दडाणु अन्तर्विप भी उत्पन्न करते हैं। रोहिणी का विप वहुत ही अस्थिर स्वरूप का विशिष्ट विप हे जो प्रकाश हवा-क्षारक अम्ल एव उच्चताप इत्यादि से शीघ्र ही निर्वीय हो जाता है। हवा वन्द अधेरे कमरे मे वह सप्ताहो तक अक्षुण्य रह सकता हे। उक्त कारणो मे यह विपाभ या अनविप मे भी परिवर्तित हो जाता है। विपाभ विषैला नही होता लेकिन उसका प्रतिजनिक गुण वैसा ही रहता है।

विकारकारिता एव रोगोत्पत्ति—

यह पूर्णत परोपजीवी होता है अत नैसर्गिकरीत्या मनुष्यो मे तथा कृत्रिम रीत्या प्राणियो के लिये विकारी होता है। मनुष्यो मे इसके द्वारा मुख्यत रोहिणी नामक रोगोत्पत्ति होती है। इसमे मुख्यत गले मे जीवाणुओ का उपसर्ग होता है, गले के अतिरिक्त-स्वरयन्त्र, नासा,नेत्र, कर्ण भगोष्ठ आदि स्थानो मे भी उपसर्ग सभव है। नवजात की नाभि मे भी उपसर्ग सभव है। घातक रोहिणी मे फुफ्फुस भी उपसृष्ट होते हैं। प्रयोगशालीय प्राणियो मे विल्ली, कवूतर अति सुग्राही, शशक कम ग्राही तथा मूषा एव मूषक प्रतिकारक होते हैं।

सक्रमण प्रकार—सक्रमण का मुख्य प्रकार विन्दूत्क्षेप माध्यम हे जोकि मुख्यत रोहिणी पीडित रोगियो एव वाहको के द्वारा सक्रमित होता हे। कभी-२ यह रोग धूलिकण, दूपित दूध, खिलौने, पैंसिल आदि के माध्यम से भी सक्रमित एव नासा ग्रसनिका से होकर प्राथमिक विक्षत वहा ही होते हैं। यहा से जीवाणु स्वरयन्त्र तथा नेत्रादि स्थानो पर पहुचते हैं। जीवाणु इन्ही स्थानो पर मर्यादित रहकर कूटकला (Pseudomembrane) की उत्पत्ति करते है। इसमे उत्पन्न विप रक्त के साथ मिलकर समस्त शरीर मे सार्वदैहिक लक्षण एव अनुगामी विकारोत्पत्ति करता है जिसके फलस्वरूप हृदय, रक्तवाहिकायें, मस्तिष्क, मस्तिष्क तन्त्रिकायें, वृक्क एव उपवृक्को आदि प्रमुख अग प्रभावित होकर ज्वर, हृद्दौर्वल्य, निम्न रक्तचाप, तालुघात, नेत्रपेशीघात आदि लक्षण होकर हृदयातिपात या रक्तवाहिन्यतिपात (Cardiac or Circulatory Failure) से मृत्यु हो जाती है। सक्षेप मे धनुर्वात के समान रोहिणी अन्तर्विपमयता है। आयुर्वेद मतानुसार इसे वातकफोल्वण सन्निपात ज्वर की श्रेणी मे रखा गया है।

रोहिणी रोग की सम्प्राप्ति मे हिस्टोटौक्सिन नामक वहिर्विप वहुत ही महत्वपूर्ण है। यह प्राणियो की कोशाओ

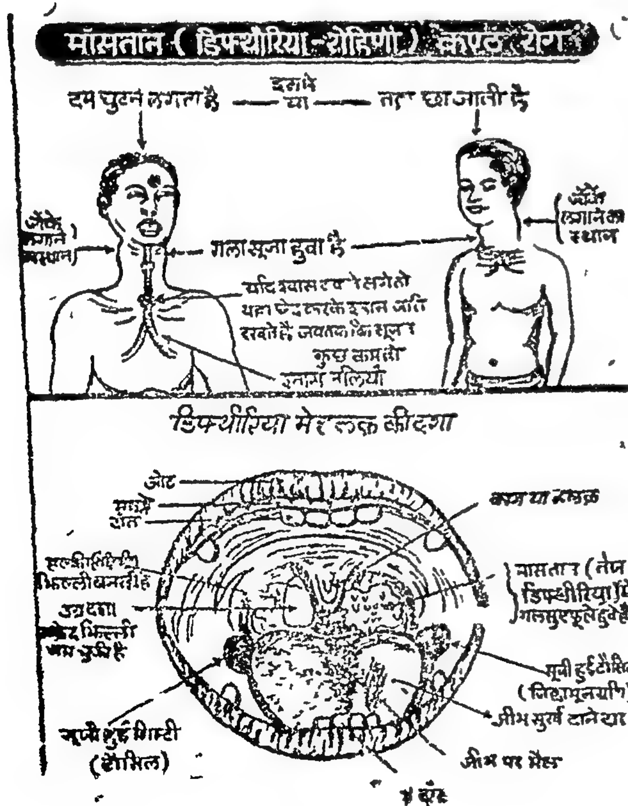
—शेपाश पृष्ठ १९८ पर देखे।

रोहिणी (DIPHTHERIA)

वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु० वृह०

इस रोग के जीवाणु गले व नाक मे एकत्रित हो जाते हैं तथा वहा पर एक प्रकार का विष उत्पन्न करते है, जो हृदय को हानि पहुचाता है। वही विप शरीर मे व्याप्त होकर रोग के शारीरिक लक्षण उत्पन्न कर देता है जिससे रोगी की मृत्यु तक हो जाती है।

आयुर्वेद मत—वात, पित्त, कफ दोप पृथक पृथक या सयुक्त होकर गले मे सञ्चित होकर वहा के मास को दूषित कर देते है तथा गले को रोकने वाले मासाकुरो को उत्पन्न करते है जिससे गला एव श्वास का अवरुद्ध होता है। इस लक्षणयुक्त व्याधि को आयुर्वेद के अनुसार



रोहिणी के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

लक्षण—

इस रोग के लक्षण साधारणत अचानक प्रकट नही होते है। प्रारम्भिक अवस्था मे हल्का सा दर्द एव सूजन प्रतीत होती हे। बालक की आवाज धीमी एव भारी हो जाती है। नाक से खून एव पीप बहने लगती हे। जाच करने पर गले मे एक प्रकार की सफेद झिल्ली दिखाई देती है। रोगी को प्रारम्भ मे हल्का बुखार सदा ३९ ५° सैं० मे नीचे रहता है। गले की लसीका ग्रन्थिया बढ जाती हैं। झिल्ली के द्वारा श्वास नली अवरुद्ध हो जाती है। अगर शीघ्र चिकित्सा नही की जाती हे तो दम घुटने से रोगी की मृत्यु तक हो जाती है। इस रोग की यह विशेषता है कि इसके जीवाणुओ से निकले विष से रोगी ठीक होने के कई सप्ताह बाद भी लकवा, हृदय रोग, वृक्क रोग, न्यूमोनिया आदि से पीडित हो सकता है। अत रोग ठीक हो जाने के बाद भी सावधानी की आवश्यकता है।

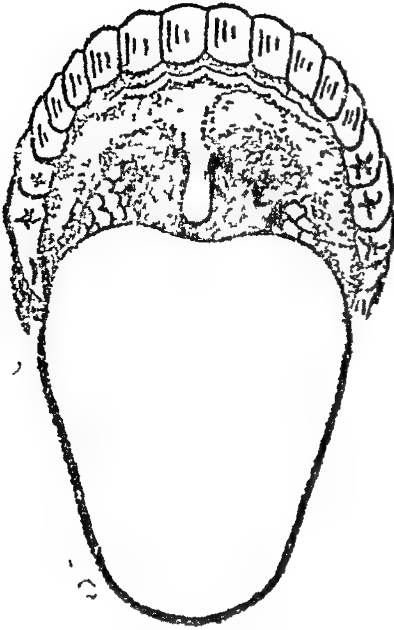
भेद—

आयुर्वेद मतानुसार इसके निम्नलिखित पाच भेद होते है—

[१] वात कण्ठरोहिणी—इस रोहिणी मे तालू तथा कठ मे शोथ होता है तथा ठोढी एव श्रोत्र मे वेदना होती है। जिह्वा के चारो ओर असीम वेदना (दर्द) पैदा होकर मासाकुरो की उत्पत्ति हो जाती है जो कण्ठ को अवरुद्ध करते हैं।

[२] पित्तज कठरोहिणी—इसमे तीव्र ज्वर उत्पन्न होकर मासाकुर बढते है तथा दाह और पाक होता है।

आचार्य वाग्भट्ट ने इस रोग के लक्षणो के बारे मे लिखा है कि इसमे ज्वर, कठशोथ, प्यास, मोह, कठ से



कण्ठ मे रोहिणीजन्य झिल्ली प्रदर्शित है

धु आ जैसा निकलना, अ कुरो की शीघ्र उत्पत्ति होकर उसका पक जाना एवं उसका रग लाल होना, स्पर्श असहनीय होना आदि प्रतीत होते है।

[३] कफज या श्लैष्मिक रोहिणी—इस रोहिणी मे भारी एव स्थिर मासाकुर उत्पन्न होते है एव उसका पाक होता हे। स्रोतो का अवरुद्ध होना इसमे पाया जाता है। आचार्य वाग्भट्ट ने इसको पिच्छिल और पाडु वर्ण माना हे। इसमे कठ का अवरोध होता है।

[४] त्रिदोषजन्य रोहिणी—इस प्रकार की रोहिणी मे वात, पित्त एव कफ तीनो दोषो का विकृत होना पाया जाता है तथा उपर्युक्त सभी लक्षण इसमे पाये जाते है। यह पूर्णतया असाध्य मानी गई है।

[५] रक्तज रोहिणी—इसमे कठ मे अनेक फुन्सिया उत्पन्न हो जाती हैं तथा अन्य उपर्युक्त लक्षण रोहिणी जैसे ही होते है। आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार यह रोहिणी तप्त अङ्गार के समान वर्ण वाली और कानो मे पीडा करने वाली होती हे।

साध्यसाध्यता—

वैसे रोहिणी एक भयङ्कर सक्रामक व्याधि है तथा इसकी समय रहते अगर चिकित्सा नही की जाती है तो गला अवरुद्ध होकर बालक की दम घुटने से मृत्यु हो जाती है। अत रोग का पता लगते ही शीघ्र उसकी चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिए। वातज, पित्तज एव कफज रोहिणी साध्य होती है जबकि त्रिदोषजन्य रोहिणी को असाध्य माना गया है। इसी प्रकार रक्तज रोहिणी भी असाध्य होती है। इसकी चिकित्सा मे बचने या न बचने की दोनो सम्भावनाओ मे इन्कार नही किया जा सकता है। फिर भी त्रिदोषज रक्त रोहिणी मृत्यु सूचक ही है।

सम्प्राप्ति—

इस रोग के जीवाणु गले की नली मे व्याप्त श्लैष्मिक झिल्ली पर आक्रमण करते हैं जिससे नली फूलकर लाल हो जाती है। परिणामस्वरूप इस झिल्ली के सैल्स नष्ट होकर स्राव जमाव से अस्वाभाविक झिल्ली का निर्माण हो जाता है। इस झिल्ली का रग मलाईदार सफेद एव चमकीला होता है, जिसे आसानी से निदान के समय पहचाना जा सकता है। यह झिल्ली श्वास नली, ग्रसनिका, स्वरयन्त्र आदि स्थानो पर विस्तृत हो जाती है। प्रारम्भ मे उक्त झिल्ली कोमल दूध की मलाई के जैसी होती है जो कुछ समय पाकर दृढ होती जाती है तथा इसका रङ्ग भूरा हो जाता है। रोग की तीव्रता एव अधिक समय बाद उसका रङ्ग काला हो जाता है। योग्य चिकित्सक रोहिणी का निदान करने मे पूर्व उनके लक्षणो के साथ-२ व्यवहारिक पक्ष मे इस झिल्ली को देखकर व्याधि की तीव्रता का ज्ञान प्राप्त करते हैं। झिल्ली का रग एव झिल्ली के आकार मे भी रोग की जटिलता का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। झिल्ली का आकार जितना बडा होगा एव इसका रङ्ग ज्यो-२ मटमैला दिखाई देने लग जाये तो रोहिणी उतनी ही असाध्य होती हे। जीवाणुओ के द्वारा निर्मित बहिर्विष रक्त मे मिलकर सर्वाधिक लक्षण पैदा करते हैं—इस विष का प्रभाव हृद्पेशी पर पडता हे जिसके परिणामस्वरूप वह क्षीण होने लगता है। हृद्पेशी की क्षीणावस्था के कारण हृदय बढ जाता है जिसके परिणामस्वरूप हृदय गति बन्द होने की सभावना हर समय बनी रहती है। इसके अलावा इसका प्रभाव नाडी सस्थान एव वृक्क पर भी पड़ता है।

रोग प्रतिरोधक चिकित्सा—

रोगी द्वारा व्यवहार मे लाई गई वस्तुओ को रोगाणु रहित कर देनी चाहिये । रोगी को स्वस्थ वालको से यथा-सभव दूर रखना चाहिए । गले के लिये अस्वस्थकारी, समस्त परिस्थियो यथा अधिक गर्मी, हवा का कुप्रवन्ध, बुरी गैस, वायु का मकान मे प्रवेश, नाली आदि की अस्वच्छता आदि का शीघ्र निराकरण करना चाहिए । रोगमुक्त हो जाने के बाद भी रोगी को १० दिनो तक अन्य स्वस्थ बालक से दूर रखना चाहिए । रोग के सक्रमण काल मे कीटाणुनाशक घोल से कुल्ले करते रहे ।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

आयुर्वेदिक चिकित्सा मे निम्नलिखित औषधि की व्यवस्था तुरन्त करनी चाहिए—

हरताल भस्म, शृङ्ग भस्म, अभ्रक भस्म (शतपुटी), टङ्कण भस्म, त्रिभुवन कीर्ति रस-ये सब ५०-५० मि ग्रा, मल्ल चन्द्रोदय, प्रवाल पचामृत ये दोनो २५-२५ मि.ग्रा – एक मात्रा । उपर्युक्त सभी औषधियो को मिला एक मात्रा बनाले । रोगी को यह मात्राएं व्याधि की तीव्रता को दृष्टि-गत रखते हुए शहद के साथ बालक को चटा देवे ।

अश्वकचुकी रस १/२ गोली–एक मात्रा । यह भी शहद के साथ चटा दे, जिससे दस्त लगकर कफ मल मार्ग से निकल जायेगा ।

सामान्य लाभकारी उपाय—

(१) वस्तिकर्म—प्रतिदिन सुबह एव शाम को गर्म जल या नीबू रस से वस्ति देने से शरीर मे विष शमन मे सहायता मिलती है ।

(२) वाष्प स्वेद—वाष्प स्वेद देना भी इस रोग मे बडा लाभकारी है तारपीन के तैल को गर्म पानी मे मिलाकर नासिका द्वारा देने से भी कठ मे जो रुकावट आती है उसमे लाभ होता है ।

(३) उपवास—बच्चे की शक्ति बनाये रखने के लिए सन्तरे का रस देते रहे । ✱

रोहिणी [DIPHTHERIA]

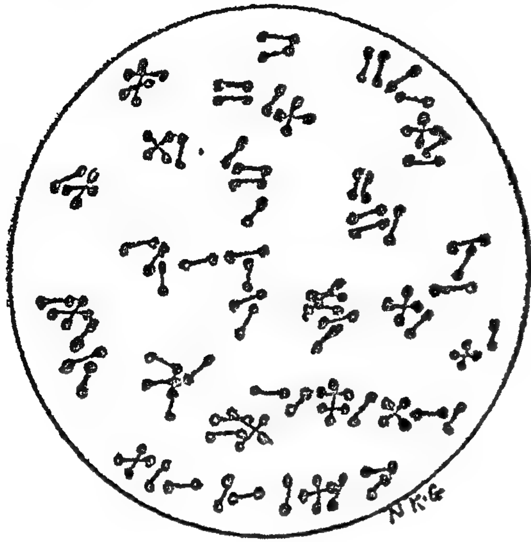
डा० मोहम्मद मन्नान सिद्दीकी बी ए, डी एस सी ए, वैद्य विशारद, आयु रत्न



गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
पृथक समास्तश्च तथैव शोणितम् ।
प्रदूष्य मांसं गलरोधिनऽकुंरान्
सृजन्ति यान साऽशुहरण हि रोहिणी ॥

वात, पित्त कफ पृथक-२ तथा त्रिदोष एवं रक्त विकृत होकर गले मे व्याप्त होकर वहा के मास को दूषित करता है और गले को अवरुद्ध करने वाले अकुरो को उत्पन्न करता है–जो आशु प्राण नाशक रोग उत्पन्न करता है उस रोग को रोहिणी कहा जाता है ।

गले के प्रमुख १८ रोगो मे रोहिणी का स्थान प्रधान रोगो मे है । रोहिणी को कूप प्रदाह ज्वर, गलतोरणकीय तथा डिफ्थीरिया (Diphtheria) के नाम से जाना जाता है । यह तीव्र सक्रामक रोग है । इस रोग की उत्पत्ति क्लैब्स लुफर वैसीलस (Klebs-Loffier Bacillus) नामक रोगाणु से होती है। यह रोगाणु मुडा हुआ गाठदार, ना चलने वाला कीटाणु है । इसकी तीन उपजाति होती है जिसमे से गम्भीर जाति का कीट अत्यन्त घातक होता है । इस कीट का प्रसार ड्राप लेट से होता है । यह रोग गले की झिल्ली के अतिरिक्त नासा योनि नेत्रकला नाभि तथा व्रणो मे भी हो जाता है। इस रोग के रोगाणु अन्य पीव पैदा करने वाले रोगाणुओ की उत्पत्ति करते हैं। यह रोग शरीर मे २ से ४ दिनो मे प्रगट हो जाता है । यह रोग अधिकतर बच्चो को होता है मगर कभी-कभी नौ-जवानो मे भी देखने को प्राप्त होता है । आयुर्वेद मे



डिफ्थीरिया के जीवाणु

रोहिणी के पाच प्रकार बताये गए हैं—

(१) वातज रोहिणी—तीव्र वेदना के साथ गला रुद्ध हो जाता है। मासाकुर जिह्वा के चारो ओर उत्पन्न हो जाते है। इसे वातज रोहिणी जानें।

(२) पित्तज रोहिणी—ज्वर की तीव्रता के साथ अकुर शीघ्रता के साथ उत्पन्न होते है तथा शीघ्र विदग्ध होते तथा पकते है। इसे पित्तज रोहिणी जाने।

(३) कफज रोहिणी—कफज रोहिणी मे कण्ठस्रोत अवरुद्ध होते है। मासाकुर भारी तथा कठिन होते हैं। इसकी उत्पत्ति तथा पाक धीरे धीरे होता है।

(४) त्रिदोषज रोहिणी—यह गम्भीर पाकी सन्निपातज विकार रोहिणी के अन्तर्गत आती है।

(५) रक्तज रोहिणी—रक्तज रोहिणी मे पित्तज रोहिणी के लक्षण प्रमुखता से देखने को प्राप्त होते हैं।

परिचय एव उपद्रव—

रोहिणी मे गले के श्वास पथ तथा अन्न मुख पर एक विशेष प्रकार की झिल्ली का निर्माण होने लगता है। इस स्थान पर झिल्ली बनने से प्रथम इस स्थान पर अवरोध होने से इस स्थान पर अवरोध होने लगता है। रोगी के गले व नासा मे रोगोत्पादक कीटाणु मौजूद रहते हैं। ये कीटाणु गले मे सर्व प्रथम शोथ उत्पन्न करते हैं। इस विशेष प्रकार की झिल्ली के निर्माण तथा शोथ उत्पन्न होने से गले मे खराश तथा जल निगलने मे वेदना होती है। प्राय वमन होती है। कठ प्राय लाल दिखाई पड़ता है परन्तु कुछ समय पश्चात् तुण्डिका मे कुछ हरापन लिए श्वेत रूप नहि व्याव के धब्बे दिखाई पड़ते है। ये धब्बे १२ घटे मे बढकर एक कला का निर्माण कर लेते है। यह कला प्रथम तुण्डिका को ढक लेती है, पुन वहा से गलतोरणिका दडो, मृदुतालु, अधि जिह्वा तथा ग्रसनिका के ऊपर फैल जाती है। यह कला हरित मिश्रित श्वेत रङ्ग की दृढ अपने नीचे के तन्तुओ से चिपकी रहती है। उस कला मे रोग उत्पादक असख्य कीटाणु होते है। इसी झिल्ली का विषरक्त सारे शरीर मे फैलकर अपना प्रभाव दिखलाता है। रोग का विष २ से ४ दिन शरीर मे रह जाने से शरीर मे रोग के निम्न लक्षण देखे जाते हैं—

रोगी को निगलने मे कठिनाई होती है। हलका बुखार, गर्दन कडी, जबडे के कोनो मे गिल्टिया सूजी जान पडती हैं। गले की ग्रन्थियो मे शोथ की अवस्था मे मुख से एक विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आने लगती है। रक्त मे विषाक्त प्रभाव उत्पन्न होने से मृदुतालू मे रक्ताधिक्य होने से हलक पर सफेद रङ्ग की झिल्ली सी बनी दिखाई देती है जो बढकर तमाम हलक को घेर लेती है तथा गले की गिल्टियो से शुरू होकर कौवे के चारो ओर लिपट जाती है। आरम्भ मे यह झिल्ली आसानी से हटाई जा सकती है परन्तु फिर यही झिल्ली दृढता से चिपक जाती है और अगर जबरन निकाली जाती है तो उस स्थान से रक्त निकलने लगता है। ऐसी स्थिति मे सडान्द शुरु हो जाती है, आसपास की गिल्टिया सूज जाती है परन्तु उनमे पीव नही पडती। रक्ताल्पता और दुर्बलता शीघ्र प्रारम्भ हो जाती है। ज्वर साधारणत १००° से १०२° कभी-कभी १०३° तक देखा जाता है तथा कभी साधारण दर्जे से भी कम ज्वर देखा जाता है। यह रोहिणी का खास लक्षण है क्योकि अन्य गला प्रधान रोगो मे प्राय ज्वर तेज हुआ करता है। रोगी प्राय नाक के बल बोलता है। रोग स्थान से मवाद नाक तथा कठ से जुकाम अथवा नकसीर की तरह बाहर आता है। उचित चिकित्सा के अभाव मे डिफ्थीरिया के विष प्रभाव से मासपेशिया क्षीण हो जाती हैं जिससे हृदय फैल जाता है। इस अवस्था मे हृदय कार्य अवरोध होकर मृत्यु की सभावना रहती है। पक्षाघात नाड़ी शोथ होकर अङ्ग-

घात का भय रहता हे, आखो की रोशनी भी चली जाती है। वृक्क फुफ्फुस आदि को हानि का भय रहता है। डिफ्थीरिया की झिल्ली जव कठ से वढकर स्वर यन्त्र मे फैल जाती है तो वायु मार्ग मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है जिससे श्वासावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

विशेष सावधानी—यह एक भयकर संक्रामक रोग है अत परीक्षा करते समय तथा औषधि का लेप करते समय रोगाणुओ से वचाव का विशेष ध्यान रखे। प्राय. यह नालियो की सडान्ध, सील वाले घर तथा वनस्पति सडने वाले स्थानो मे बहुतायत से होता है इस कारण ऐसे स्थानो से रोगी को अलग रखे। जब तक जीवाणु नष्ट न हो जाये औषधि का प्रयोग बन्द न करे। इसका इसका विशेष ध्यान रखे।

चिकित्सा—

एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली मे डिफ्थीरिया की चिकित्सा मे प्रधान उपाय डिफ्थीरिया एण्टीटोक्सिन (रोहिणी प्रतिविष) है। सदिग्धावस्था मे चार हजार यूनिट्स की मात्रा तथा रोग निश्चय हो जाने पर १५ हजार यूनिट्स का प्रयोग करने का निर्देश है। वारह से चौदह घन्टो के वाद पुन दूसरी मात्रा देनी चाहिए। इस अवस्था मे पेन्सिलीन और व्राड स्पेक्ट्रम एन्टीवायटिक का प्रयोग करना चाहिए। सल्फा औषधियो तथा हृदय को वल देने वाली औषधियो का प्रयोग करना चाहिए। रोगी को पोषक आहार तथा पूर्ण विश्राम आवश्यक हे। छूत के रोगो के अस्पताल मे रोगी को प्रवेश कराना चाहिए।

आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान मे रोहिणी के चिकित्सा विधान मे सर्व प्रथम शस्त्र क्रिया द्वारा रक्त निकालें, तत्पश्चात वमन करायें। गण्डूप करावें। नस्य दे तथा वैरेचनिक धूम्रपान करायें। वातज रोहिणी मे रक्त निर्हरण कराने के वाद सैन्धव लवण से प्रतिसारण करके ईषदुष्ण कटु तैल का गडूष धारण मुख मे लेकर वार वार डालता जाये। इसी तरह रक्त निकल जाने के वाद पित्तज मे मिश्री, मधु और प्रियगु से घर्षण करावे। फालसा मुनक्का का क्वाथ कर गडूष धारण करायें। इसी प्रकार कफज मे रक्त निस्राव के पश्चात गृह धूम और कुटकी से प्रतिसारण करके श्वेत अपराजिता, विडङ्ग और दन्ती के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध तैल का सैन्धव मिश्रित गडूष देवे। ध्यान रहे तीनो रोहिणी मे इसी तेल का नस्य देवे। रक्तज रोहिणी की चिकित्सा पित्तवत करे। इस क्रिया के पश्चात निम्नलिखित क्वाथ एक सप्ताह तक दे—

(१) हरड का क्वाथ कर शहद के साथ मिलाकर पिलाये। मात्रा १ पल से २ पल तक प्रतिदिन चार माशा दे।

(२) कुटकी, अतीस देवदारु पाठा नागरमोथा, इन्द्रायण प्रत्येक समभाग लेकर गौमूत्र मे क्वाथ बना १ तोला से १ पल तक दिन मे तीन वार दें।

(३) मुनक्का, कुटकी, सौठ, मिर्च, पीपल, दारुहल्दी, दालचीनी, आवला, हरड, वहेडा, नागरमोथा, पाठा, रसान्जन, दूर्वा, तेजवल प्रत्येक समभाग लेकर यवकुट करके क्वाथ करे। मधु मिलाकर २ पल की मात्रा मे ६ वार २४ घटो मे प्रयोग करे

(४) रोहिणीधारण योग गुटिका—यव क्षार, तेजवल, पाठा, रसान्जन, दारुहल्दी, पीपल समभाग लेकर कपडछन चूर्ण बना शहद के सयोग से गुटिका बना मुख मे धारण करने से समस्त प्रकार की रोहिणी सहज ही ठीक होती है।

रोगी को कम से कम ३ सप्ताह तक रोग शान्ति के वाद भी प्रथक रखने की एहतियात रखे क्योकि रोहिणी एक भयकर सक्रामक रोग है।

—डा० मोहम्मद मन्नान सिद्दीकी
वी०ए०, डी०एस्-सी०ए० वैद्य विशारद आयु०रत्न
महासचिव—मनेन्द्रगढ श्रमजीवी पत्रकार सघ,
सिद्दीकी दवाखाना, आजाद रोड न० ५,
मनेन्द्रगढ ४९७-४४२ जिला सरगुजा (म० प्र०)

—✶—✶—

आन्त्रस्थ कृमि - एक विवेचन

डा० अजयकुमार शर्मा एम०डी० (आयु०), कायचिकित्सा विभागाध्यक्ष–श्री लक्ष्मीनारायण आयु० कालेज, अमृतसर
एव
डा० रनजीत खैरा बी०ए०एम०एस०, इन्टरनी–श्री लक्ष्मीनारायण आयु० कालेज हस्पताल, अमृतसर।



सामान्य परिचय एव निदान—

आज के सभ्य समाज मे मनुष्य जितना अधिक विज्ञान की प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है उतना ही अधिक वह अपने खान-पान एव शारीरिक सफाई आदि विपयो मे असभ्य होता जा रहा है। आजकल के मशीनी दौर मे मनुष्य समय की कमी के कारण अपना अधिक से अधिक समय काम मे लगाता है। फलस्वरूप वह अपनी स्वास्थ्य सम्बन्धी बातो की ओर अधिक ध्यान नही दे पाता है। देश की बढती जनसख्या के साथ ही गन्दगी भी उसी रफ्तार से बढती जा रही है। इसी गन्दगी से विभिन्न क्रिमियो की उत्पत्ति होती है। यह कृमि खाने वाली वस्तुये, जो कि अनढकी होती है उन्हे दूपित करते है। यह दूपण प्राय मक्खियो के द्वारा ही होता है। इस दूपित आहार के सेवन से मनुष्यो मे कृमि उपसर्ग होता है। इसके अतिरिक्त विना हाथ धोये भोजन करने से हमारे गन्दे हाथो की गन्दगी भोजन के साथ आतो मे चली जाती है और कृमियो की उत्पत्ति कर शरीर पर कुप्रभाव डालती है। सब्जिया फल आदि को विना धोये कच्चा खाने से भी दूपण उदर मे पहुच जाता है। यह दूपणता उदर कृमि से शरीर को आक्रमित करता है।

जिह्वालोलुपता के कारण कई मनुष्य सडक पर व बाजारो मे छाबडियो आदि की चीजे खाने के अत्यन्त शौकीन होते है। यह खाद्यान्न दूपित होने से कृमि उपसर्ग की सम्भावना अत्यन्त बढ जाती है। इसके अतिरिक्त त्वगरोगो से उपसृष्ट प्राणियो से अधिक सम्पर्क भी कृमि रोग का कारण हो सकता है।

कुछ व्यक्ति खाली समय मे दातो से अपनी अगुलियो के नाखून काटते रहते है। इस तरह से भी नाखूनो की गन्दगी लालास्राव से मिलकर उदर मे पहुंच कर कृमि उपसर्ग उत्पन्न करती है।

अन्य कारणो मे शास्त्रो मे वर्णित चर्याओ के अनुसार अनुष्ठान न करना, विरुद्ध भोजन सेवन, नगे पाव घूमना, गला-सडा भोजन करना, अधिक मिष्ठान्नो का प्रयोग, शरीर की स्वच्छता का उचित ध्यान रखना आदि कृमि उपसर्ग के लिए विशेप महत्व रखते है।

आयुर्वेद मे कृमि वर्णन—

आयुर्वेद की बृहत्त्रयी ग्रन्थो ने कृमियो का विशद वर्णन किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय मे भी कृमियो का ज्ञान आचार्यो को था। आजकल कृमियो पर अनेक अनुसन्धान भी चल रहे हैं, परन्तु कृमियो के आधुनिक ज्ञान का आधार पुरातन ग्रन्थ ही है।

आयुर्वेद शास्त्र मे आचार्य वागभट्ट, आचार्य सुश्रुत, आचार्य चरक एव आचार्य माधव ने कृमियो के हेतुस्वरूप भेद एव उनसे होने वाली व्याधियो तथा उन व्याधियो के चिकित्सा सूत्र का भी वर्णन किया है। उदाहरणार्थ— "पाडु रोग" प्रधानत आन्त्रस्थ कृमियो से उत्पन्न होता है। चरक सहिता मे वर्णित 'कृमि कोष्ठजन्य पाडु' या 'मृतिकाजन्य पाडु' का सकेत भी इसीके द्वारा मिलता है।[1]

१—(क) मृतिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मल । पाडु रोग करोत्याशु वलवर्णाग्निनाशनम् ।। (च चि १६।२९)
(ख) शूनगडाक्षि कूट भ्रू शूनपान्नाभिमेहन । क्रिमि कोष्ठोऽति सायेन्त मल सासृक् कफान्वितम् ।।
(च.चि. १६।३०)

कृमियो का वर्गीकरण—

आचार्य चरक ने दो प्रकार के कृमियो का वर्गीकरण किया है— [१] सहज कृमि [२] वैकारिक कृमि

सहज कृमि—वह होते हे जो शरीर के स्वास्थ्य का अनुवर्तन करते है और यह जन्म से ही शरीर मे पाए जाते है। परन्तु वैकारिक कृमि उन्हे कहते हैं जो शरीर मे व्याधियो को उत्पन्न करते हे।

वैकारिक कृमि दो प्रकार के होते है—

[१] वाह्य कृमि [२] आभ्यन्तर कृमि

वाह्य कृमियो का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने न करके केवल आभ्यन्तर कृमियो का ही वर्णन किया है।

वाह्य और आभ्यन्तर नाम भेद से कृमि २० प्रकार के है। कारण भेद से कृमि ३ प्रकार के हैं[1]—

१ वाह्य कृमि—२ भेद

२ अभ्यन्तार कृमि—१८ भेद

कारण भेद से ३ प्रकार →क. कफज कृमि-७ भेद
ख रक्तज कृमि-६ भेद
ग पुरीपज कृमि-५ भेद

कृमि रोग की सामान्य सम्प्राप्ति—

१ दोप—त्रिदोप (कफ प्रधान)

२ दूष्य—रस, रक्त

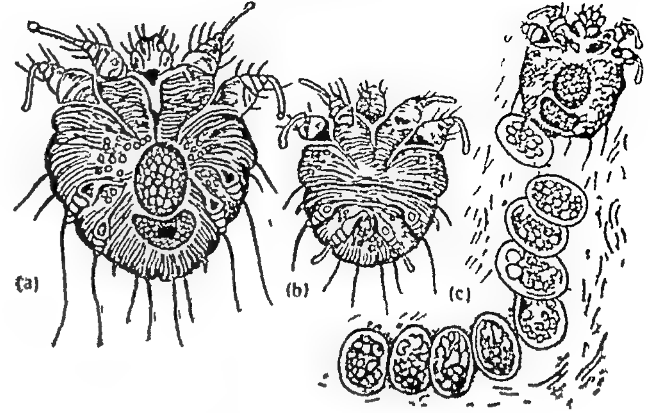
३ स्रोतस—अन्नवह, पुरीपवह, रक्तवह

४ अधिष्ठान—क. वाह्य कृमि—केशत्वक
ख आभ्यन्तर १ कफज-आमाशय
२ रक्तज-रक्तवाहि सिरा
३ पुरीपज-पक्वाशय

५ आमपक्वाशयोत्थ एव चिरकारी व्याधि है।

[१] वाह्य कृमि —कृमियो के भेद दो प्रकार—
यूका एव लीक्षा

यह प्राय मल से उत्पन्न होते है।[2] यह तिल की आकृति वाले होते हैं। यह वर्ण मे तिल के समान काले वर्ण के होते है। यह मनुष्य के वालो, कपडो आदि मे पाये जाते है।[3] यह सूक्ष्म तथा अनेक पैरो वाले होते है। यह कृमि शरीर पर चकत्ते, पिडिका, खुजली, कण्डू इत्यादि व्याधियो को उत्पन्न करते है।[4]



वाह्य कृमि
a मादा b. नर c अडे देती मादा कृमि

२ आभ्यन्तर कृमि—यह कृमि वाहर से देखने पर हष्टिगोचर नही होते है। यह शरीर के अन्दर रहकर मनुष्य के शरीर मे विभिन्न व्याधिया उत्पन्न करते है। अत इन्हे आभ्यन्तर कृमि कहते हे। इनमे से कुछ वहुत वडे अर्थात् आख से दिखाई देने वाले होते ह और कुछ वहुत सूक्ष्म होते हैं। यह केवल सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा ही देखे जा सकते हे।

निदान—आभ्यन्तर कृमियो के उत्पन्न होने मे निम्न हेतु होते है—जैसे अजीर्ण की अवस्था मे भोजन का कर लेना, खट्टे पदार्थो का अत्यधिक सेवन करना, दूध की अधिकता वाले पदार्थ, पिष्टमय पदार्थ, मीठे द्रव्यो का सेवन, दिवास्वाद या विरुद्ध भोजन, व्यायाम न करना आदि कारण प्रमुखतया अपना योगदान देते हैं—

अजीर्णभोजी मधुराम्ल नित्यो
दुग्ध प्रिय पिष्टगुडोपभोक्ता।

१—विशति विधा क्रिमय पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र, सहजेभ्य ते पुन प्रकृतिभिर्विभज्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति, तद्यथा-पुरीषजा श्लेष्मजा शोणितजा मलाश्चेति ॥ —च० वि० ७।९

२—वाह्यास्तत्र मलोद्भवा—वा० नि० १४।४३

३—तिलप्रमाणसस्थान वर्णा केशाम्बराश्रया ॥ —वा० नि० १४।४४

४—वहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामत । द्विधा ते कोठपिडिका कडू गडान प्रकुर्वते ॥ —वा० नि० १४।४५

व्यायामवर्जी च दिवाशयानो
विरुद्भुक् सलभते कृमिस्तु ॥
—वा०नि० ७।४

उपरोक्त सभी कारण कफ की वृद्धि करने वाले होते है। कफ की अधिकता के कारण जठराग्नि मन्द हो जाती है। इसी कारण से शरीर मे अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। अजीर्ण की अवस्था मे ही यदि भोजन कर लिया जाए तो खाया हुआ अन्न विकृत दशा मे आन्त्र मे पडा रहता है और यह दशा ही कृमियो की वृद्धि एव पुष्टि मे सहायक होती है।[1]

आभ्यन्तर कृमियो के सामान्य लक्षण—कृमियो के उपसर्ग से शरीर मे निम्न लक्षण उत्पन्न होते है–

ज्वर, विवर्णता, शूल, हृद्रोग, अङ्गो मे शिथिलता, भ्रम, भोजन मे अरुचि, अतिसार इत्यादि।[2] आभ्यन्तर कृमि विशेषकर रस एव रक्त को दूषित कर विभिन्न लक्षणो को उत्पन्न करते है।

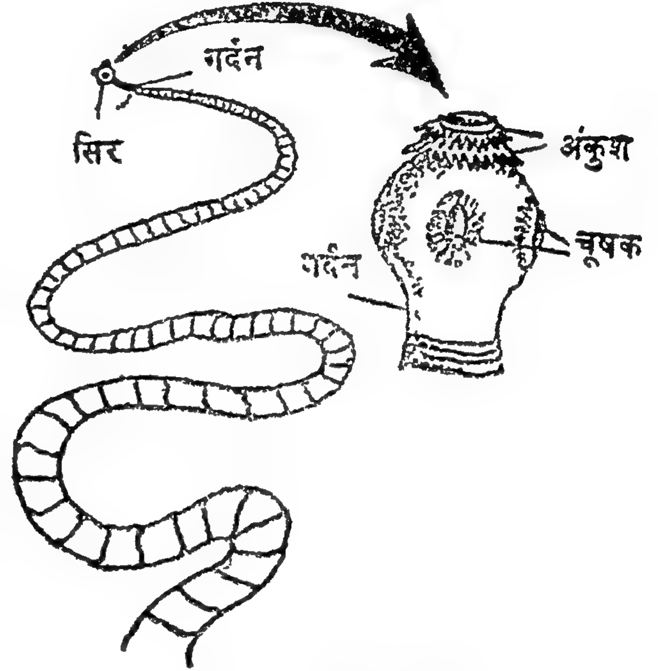
क कफज कृमि—कफ की अधिकता के कारण इनका अधिष्ठान आमाशय है और यह वृद्धि प्राप्त कर ऊपर या नीचे की ओर चलते है। यह मोटी तात या केंचुओ के समान आकृति वाले होते है। इसमे कुछ छोटे एव धान्याकुरो के समान आकार वाले सूक्ष्म कृमि होते है। कफज कृमियो का वर्ण ताम्राभ या श्वेत माना गया है। इनके सात भेद शास्त्रो मे वर्णित है—

१ अन्त्राद, २ उदरावेष्ट, ३ हृदयाद, ४ महागुद, ५ चुरु, ६ दर्भपुष्प, ७ सुगध।[3]

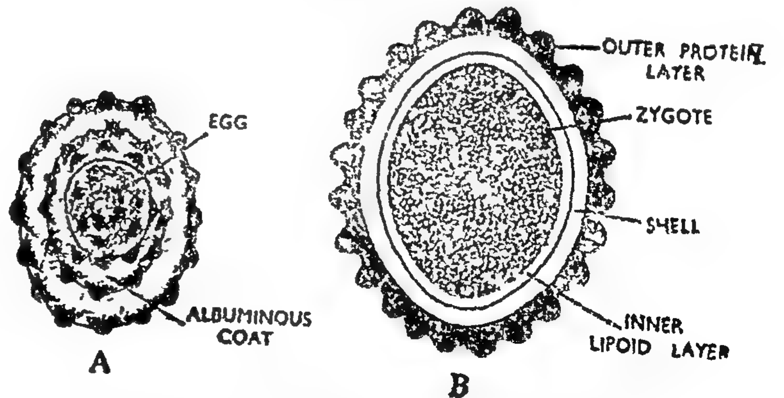
लक्षण–कफज कृमियो के कारण अधिकतर उदर के रोग ही उत्पन्न होते है–यथा मिचली, लालास्राव, अजीर्ण, मूर्च्छा, छर्दि, ज्वर, आनाह कृशता, छीक, पीनस आदि।[4]

कफज कृमियो का आधुनिक ग्रन्थो मे वर्णित कृमियो से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है जो निम्न प्रकार से है—

१ अन्त्राद–अकुश मुख क्रिमि (Hook worms)–इन क्रिमियो से ग्रसित व्यक्तियो के मल मे इस क्रिमि के अण्डे पाए जाते है। यह अण्डे २ या ३ दिन मे इल्ली के रूप मे बदल जाते है और जो व्यक्ति नगे पाव धरती पर चलता है उसके पैर की त्वचा मे इल्ली प्रविष्ट होकर वहा से लसिका ग्रन्थियो द्वारा हृदय, हृदय से फुफ्फुस, और उससे कठनाडी बाद मे महास्रोत मे पहुच जाते है।



अकुश मुख कृमि [हुक वर्म]

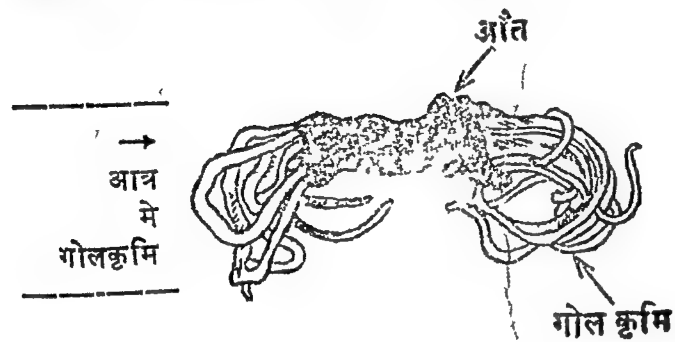


सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखने पर कृमि का क्षितिज काट

१—कफादामाशये जाता वृद्धा सर्पन्ति सर्वत । —वा०नि० १४।४७
२—ज्वरोविवर्णता शूल हृद्रोग सदन भ्रम । भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सजातक्रिमि लक्षणम् ॥ —सु०उ०५४।१९
३—अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुद । चुरवो दर्भ कुसुमा सुगन्धास्ते च कुर्वते ॥ —वा०नि० १४।४७
४—हृल्लासमास्य स्रवणमविपाकमरोचकम् । मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाह-कार्श्य-क्षवथु-पीनसान् ॥ —वा०नि० १४।५०

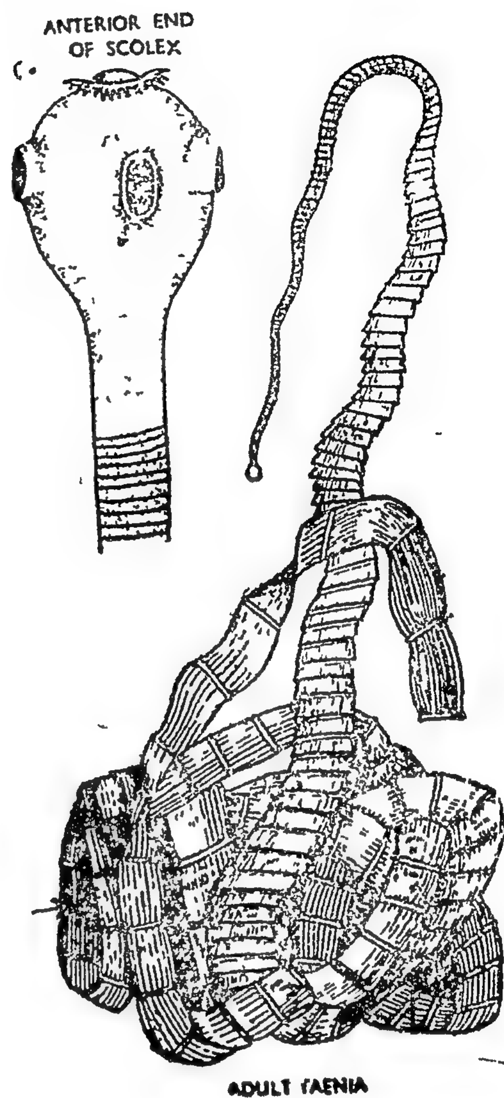
इन कृमियो के मुख अंकुश के आकार के होने के कारण यह आत्र की दीवार के साथ चिपक कर प्रतिदिन प्राय ०७५ मिली० रक्त का पान करते है जिससे पाडु रोग की उत्पत्ति होती है। इनके लालास्राव से एक विषैला पदार्थ निकल कर रक्तकणो को भी नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त इससे हृदय पीडा, श्वास कृच्छता, विवर्णता, रूक्षता आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

२ महागुद–गण्डूपद क्रिमि (Round worms)—इसके उपसर्ग से रोगी मे सन्तत या अनियत प्रकार का



ज्वर उत्पन्न होता है। रात्रि के सोते समय दातो का किटकिटाना इसकी उपस्थिति का परिचायक है। कभी-कभी यह क्रिमि कुण्डलित होकर प्राय आन्त्र को वन्द कर देते है जिससे आन्त्रावरोध की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। कदाचित यह पित्तवाहिनियो मे अवरोध उत्पन्न कर कामला रोग की उत्पत्ति कर देते हैं। यह रोगी के मल से निकले अण्डो से उपसृष्ट खाद्य पदार्थों का सेवन करने से आन्त्र मे पहुच जाते हैं। आमाशय मे इनका आवरण अम्ल के द्वारा गल जाने पर यह स्वतन्त्र हो जाते है। स्वतन्त्र होकर यह यकृत से होते हुए हृदय मे, हृदय से फुफ्फुस में जाकर पुष्ट होते है। यह अत्यन्त चचल एव गतिशील होते है। कभी कभी यह आमाशय मे पहुच कर वमन और उत्क्लेश उत्पन्न करते है। इनसे विड्भेद, उदरशूल, अतिसार, वमन आदि लक्षण होते हे।

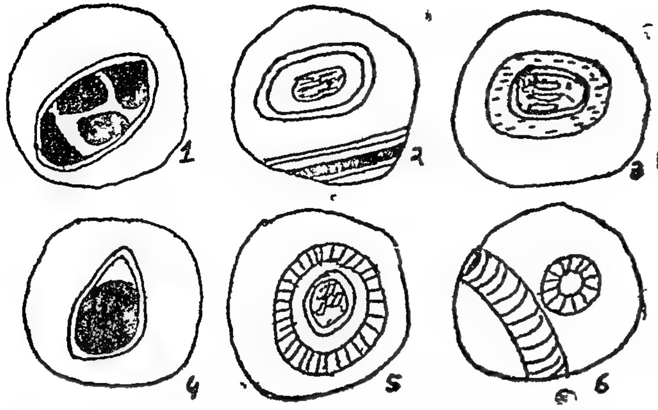
३ उदरावेष्ट–स्फीत कृमि (Tape worms)—यह प्राय ७-१० फुट तक लम्बा एव फीते के समान चौडा और चपटा होता हे। इसके सिर पर वडिश के आकार की रचना से यह आन्त्र मे चिपका रहता है। इनके शरीर मे अनेक पर्व होते है। प्रत्येक पर्व मे अनेक अण्डे पाये जाते है। पक्व होने पर अन्तिम ४-७ पर्व मल के



स्फीत कृमि (टेप वर्म)

द्वारा वाहर निकल जाते है। इनका आकार कद्दू के वीज के समान होता है। इससे कभी कभी पेट मे दर्द, भूख न लगना या अत्यधिक भूख का लगना तथा पाण्डु रोग की उत्पत्ति होती है। इनका सक्रमण प्राय दूषित सूअर के मास को खाने से होता हे।

४ चुरु–तन्तु कृमि (Thread worms)—यह वहुत पतले एव सूत की तरह इनकी आकृति होती है। इनकी लम्वाई आधे जौ के वरावर मानी है। यह श्वेत वर्ण के छोटे, धान्याकुर के समान मुख वाले होते है। इनका उपसर्ग प्राय वच्चो मे ही मिलता है। यह रात्रि मे गुदा से वाहर निकलकर गुदकडु या शय्यामूत्र उत्पन्न



विभिन्न कृमियो के अडो का सूक्ष्मदर्शकीय चित्र
१ अकुश कृमि २ सूत्र कृमि ३ हाईमेनोलेपिस
४ डाइफाइड वोथ्रियम ५ टीनिया सेजिनाटा
६ टीनिया सोलियम

करते है। इसके अतिरिक्त इनसे प्रवाहिका, गुदभ्र श, प्रतिश्याय आदि लक्षण भी पाये जाते है।

ख रक्तज कृमि—रक्तवाही सिराओ मे रहने वाले कृमि रक्तज कृमि कहलाते है। यह अति सूक्ष्म और पाद-रहित, गोल आकार के होते है। शास्त्रकारो ने इनका वर्ण ताम्र माना है। इनमे से कुछ अतिसूक्ष्म होने के कारण आखो से दिखाई भी नही पडते है। (वा नि १४-५१)

भेद—रक्तज कृमि के ६ भेद होते हैं। १ केशाद, २ रोमविध्वसक, ३ रोमदीप, ४ उदुम्वर, ५ सौरस, ६ मातृ।

यह सभी रक्तज क्रिमि कुष्ठ समान व्याधिया या कुष्ठ राग उत्पन्न करते है।[1] आयुर्वेद मे वर्णित कुष्ठ रोग से केवल 'कुष्ठरोग (लेपरोसी)' से अभिप्राय नही है वल्कि अन्य सभी त्वग् रोगो का समावेश भी इसी मे किया गया है। इसके अतिरिक्त रक्त मे पाये जाने वाले सभी जीवाणुओ (Rickettsia, Virus, Bacteria) आदि का समावेश भी इसीके अन्तर्गत हो जाता है।

२ पुरीपज कृमि—पुरीप का स्थान पक्वाशय माना गया है। अत पुरीपज कृमि भी पक्वाशय मे रहते है। यह हमेशा नीचे की ओर ही गति करते हैं। ये आकार मे मोटे गोल और छोटे या लम्वे दोनो तरह के हो सकते है।

भेद—पुरीपज कृमि के पाच भेद है[2]—

१ ककेरुक, २ मकेरुक, ३ सौसुराद, ४ सशूल, ५ लेलिह।

लक्षण—पुरीपज कृमि यदि अपने मार्ग को छोडकर विरुद्ध मार्ग मे चल जाये तो निम्न लक्षण उत्पन्न करते हे। मलभेद, शूल, मलावरोध, कृशता, रूक्षता, पाडुता, रोमाच, अग्निमाद्य, गुदकडू आदि। (वा नि १४-५६)

आधुनिक ग्रन्थो मे पुरीपज कृमियो का भिन्न वर्णन मिलता हे। मलादि के इकट्ठा पडे रहने पर मक्खिया आदि से छोटे छोटे कृमि उत्पन्न हो जाते है इन्हे मेगट्स कहते है। इसके अतिरिक्त व्रण आदि के दूषित हो जाने पर कीडो की जो उत्पत्ति होती है उन्हे भी पुरीषज कृमि कहा जा सकता है।

चिकित्सा सूत्र

कृमि रोग की चिकित्सा ४ सूत्रो पर आधारित है—

१ सशोधन, २ कृमि अपकर्षण, ३ प्रकृति विघात, ४ निदान परिवर्जन। (चरक वि० ७।१४)

१ सशोधन कर्म—रोगी का स्नेहन स्वेदन करवा कर सर्व प्रथम उसे मिष्ठान्न का प्रयोग करवाये। कृमिघ्न औषधियो को गुड के साथ देने से गुड के प्रति आकृष्ट होकर कृमि अपने स्थान से कोष्ठ मे आ जाते हैं और उसे खाते है तथा इस प्रकार कृमिघ्न औषध उस पर अपना प्रभाव दिखा देती है। इसके पश्चात् वमन या विरेचन कर्म द्वारा उसको शरीर से वाहर निकालना चाहिए। फिर परिषेक करवा कर पचकोलादि यवागू का प्रयोग करवाया जाता है। अनुवासन वस्ति का प्रयोग भी लाभकारी रहता हे।

२ कृमि अपकर्षण—कृमि अपकर्षण का अर्थ है कृमियो को शरीर से वाहर निकालना। कृमिघ्न औषधियां या तो कृमि को मार देती है या वेहोश कर देती हैं। कृमिघ्न औषधियो के साथ विरेचन औषधि भी अवश्य दी जाती है जिससे वेहोश हुये कृमि शरीर से वाहर निकल जाये। इसकी दो विधियो का शास्त्रो मे वर्णन मिलता है—

(अ) हस्तेनाभिगृह्या—यह विधि सामान्यत पुरी-

१—केशादा रोमविध्वसा रोमद्वीपा उदुम्वरा। षट् ते कुष्ठैक कर्माण सह सौरस मातर ॥—वा०नि० १४।५२

२—ते पञ्च नाम्ना क्रिमय ककेरुक मकेरुक सौसुरादा सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि। —वा०नि० १४।५५

पज एव कफज कृमियो के लिए बनाई है। जब यह कृमि अपने स्थान से च्युत हो और दिखाई दे रहे हो तो किसी उपकरण की सहायता से या हाथ की सहायता से ही कृमियो का अपकर्षण किया जाता है।

(ब) औषध द्वारा अपकर्षण—यह कर्म विविध औषधियो की सहायता से सम्पन्न होता है। इस विधि से भी कफज एव पुरीषज कृमियो का अपकर्षण किया जाता है, जबकि वह स्वय स्थान पर स्थित होते है।

१ औषधि द्वारा, २ वमन, ३. विरेचन, ४ आस्थापन, ५. शिरोविरेचन प्रक्रियाओ द्वारा अपकर्षण करे।

३ प्रकृति विघात—इसमे कटु, तिक्त, कषाय, क्षार तथा उष्ण द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए तथा कफघ्न पुरीषघ्न कर्मो द्वारा कृमियो के प्राकृतिक वातावरण का विघात करना ही प्रकृति विघात कहलाता है। इससे उत्पन्न कृमि प्रकृति अनुकूल वातावरण न होने से नष्ट हो जाते है तथा उनका प्रसार एवं सक्रमण रुक जाता है।

४ निदान परिवर्जन—इस विधि मे कृमियो के जो निदान बताये गए है, यदि उनका परित्याग कर दिया जाये तो कृमियो की वृद्धि एव क्रियाशीलता मन्द पड जाती है और कृमि उपसर्ग होने की सम्भावना अल्प हो जाती है। सामान्यत कृमि रोग की व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है।

औषधि चिकित्सा—

यह चिकित्सा दो प्रकार से की जाती है—

१—वाह्य कृमियो की चिकित्सा

२—आभ्यन्तर कृमियो की चिकित्सा

वाह्य कृमियो की चिकित्सा—(१) पारदादि लेप [धतूरे के पत्तो अथ वा पान के पत्रो के रस केसाथ पारद घोटकर उसे वस्त्र पर लिपटाकर १२ घन्टे बाधे]।

(२) नीम के उष्ण जल से स्नान करके विडङ्ग तैल या धुस्तूर तैल का अभ्यङ्ग करें।

(३) लाक्षादि धूप से रोगी के शरीर' वस्त्र, बिस्तरे तथा कमरे का धूपन करे।

(४) तम्बाकू के क्वाथ से प्रक्षालन करे।

अन्य योग—निम्बष्टक चूर्ण, कृमिनाशक धूप, विशाल धूप, विडङ्गादि तैल, पारदादि यूकापातन योग, रसादि लेप।

आभ्यन्तर कृमियो की चिकित्सा—

(१) कृमिनाशक द्रव्य—आचार्य चरक ने १० कृमिनाशक द्रव्य बताये है जिसमे विडङ्ग को सर्वोत्तम माना है।

अन्य द्रव्य—कम्पिल्लक, पलाश, पपीते के बीज, कीटमारी, यवानी, वाकुची, विडङ्ग लौह, त्रिफलाद्य घृत, हरिद्रा खड, मुस्तादि योग, दाडिम इत्यादि।

कृमिनाशन के लिए निम्न औषधियो का प्रयोग लाभकारी रहता है—

वटी—पलाशघ्न वटी, चिंचा भल्लातक वटी, आरोग्यवर्धिनी वटी, कृमिघातिनी वटी, यावन्यादि वटी, पारसीकादि वटी।

चूर्ण—विडङ्ग चूर्ण, कम्पिल्लक चूर्ण, पारसीकादि चूर्ण, पलाश बीज चूर्ण, पेठे के बीज का चूर्ण।

रस—कृमि मुद्गर रस, कृमि कुठार रस, कीटमर्द रस, कृमिकालानल रस, कृमिघ्न रस।

आसव/अरिष्ट/क्वाथ—भद्रमुस्तादि क्वाथ, विडगारिष्ट, विडङ्गासव।

तैल/लेप—विडङ्ग तैल, विडगाद्य तैल, धुस्तूर तैल, रसेन्द्रादि लेप।

पथ्य—तक्र साधित यवागू, कटुरस प्रधान अन्न, शिग्रु, लशुन, उष्णोदक आदि।

अपथ्य—दूध, गुड, घृत, मधुरान्न, पत्रशाक, मास, शीताम्बु, काजी, दिन मे अधिक सोना इत्यादि।

निष्कर्ष—उपरोक्त तथ्यो का विश्लेषण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्र मे बताए मार्गों पर चलने से, दिनचर्या, रात्रिचर्या एव ऋतुचर्या का अनुपालन करने से हम कृमि रोगो से अपना बचाव कर सकते है। इसके अतिरिक्त उपरोक्त जो भी निदान बताये गये है उनका परित्याग भी कृमिनाशक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरक सहिता २ सुश्रुत सहिता

३ वागभट्ट सहिता

४ आयुर्वेदीय निदान–चिकित्सा के सिद्धान्त—डा० रामहर्ष सिंह

५. चिकित्सातत्व दीपिका—प० महावीरप्रसाद पाडेय

६ चिकित्सादर्श सम्पूर्ण—वैद्य राजेश्वर दत्त शास्त्री

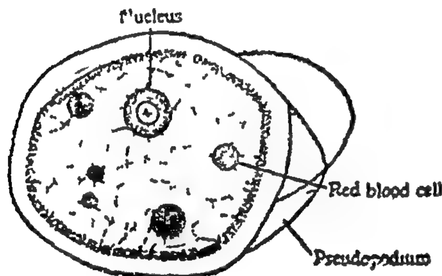
७ काय-चिकित्सा—डा० शिवचरन ध्यानी

आंत्र कृमि

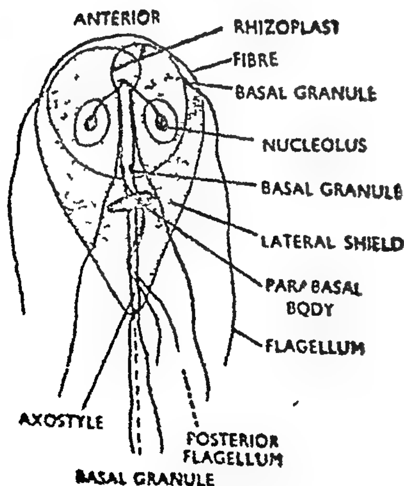
वैद्य ओ० पी० वर्मा डी० एस-सी (ए) विशेष सम्पादक 'धन्वन्तरि'

(१) अमीबता (Amoebiasis)—

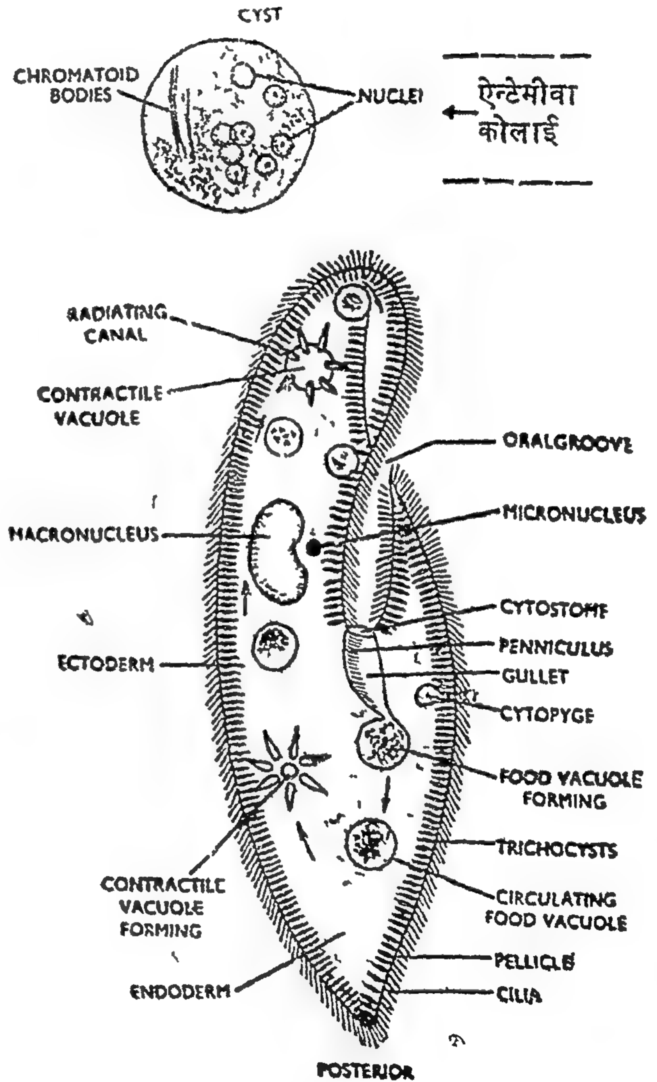
प्रोटोजोआ या [एककोशिका द्वारा उत्पन्न रोग है, जिसमे कि काफी समय तक दस्त लगते रहते हैं। यह प्रोटोजोआ (E Histolitica) द्वारा पैदा होता है। यह आंतो मे पोषित होता है, दस्तो के द्वारा यह शरीर के वाहर निकलकर अपने ऊपर एक आवरण वना लेता है जिससे कि प्रतिकूल वातावरण मे भी अपने को जीवित रखे रहता हे और यह आवरण मरने से उसे वचा लेता है। रोगाणु मल के द्वारा शरीर से वाहर निकल कर सक्रमण मे सहायक होते है। इन जीवाणुओ का खेतो मे मल का खाद के रूप मे पहुच जाने पर, शौचादि के वाद हाथो को अच्छी तरह नही धोने से, नाखूनो के बढने पर उसकी सफाई न करने पर ये जीवाणु भोज्य पदार्थो के माध्यम से मुह द्वारा शरीर मे पहुचकर रोग उत्पन्न कर देते है। मक्खिया भी इसके सक्रमण मे सहायक होती हें। इसके द्वारा इस रोग के जीवाणु एक स्थान से दूसरे



← ऐन्टेमीवा हिस्टोलिका



← जिआर्जिया लम्बेलिया



पैरामीसियम

स्थान पर भी संक्रमण होते हैं। यह रोगाणु जब मल के द्वारा निकलते हैं तो अपने शरीर पर एक खोल चढा लेते हैं जिससे कि यह जीवित रह सके। जब खाद्य पदार्थों के माध्यम से यह शरीर के द्वारा होते हुए आतो मे प्रवेश करते है तो वहा पर यह उस खोल या आवरण को त्याग देते हैं तथा अपने वंश की वृद्धि मे लग जाते हे। आतो मे तो ये विकार उत्पन्न करते ही हैं बाद मे यह यकृत तथा शरीर के अन्य भागों मे भी विकृति उत्पन्न कर देते हैं।

लक्षण—

कोई भी रोग का निदान उसके लक्षणों के आधार पर ही होता है। अनुभवी चिकित्सक रोग के लक्षणो को देखकर ही रोग जिससे रोगी पीडित है उसकी घोषणा कर देते हैं। अत लक्षण ही रोग निदान मे सहायक है। निम्नाकित लक्षण दृष्टिगत होते है—

[१] इस रोग मे रोगी के दस्त चलने शुरू होजाते है।

[२] इसमे रोगी मन्दाग्नि से पीडित हो जाता है।

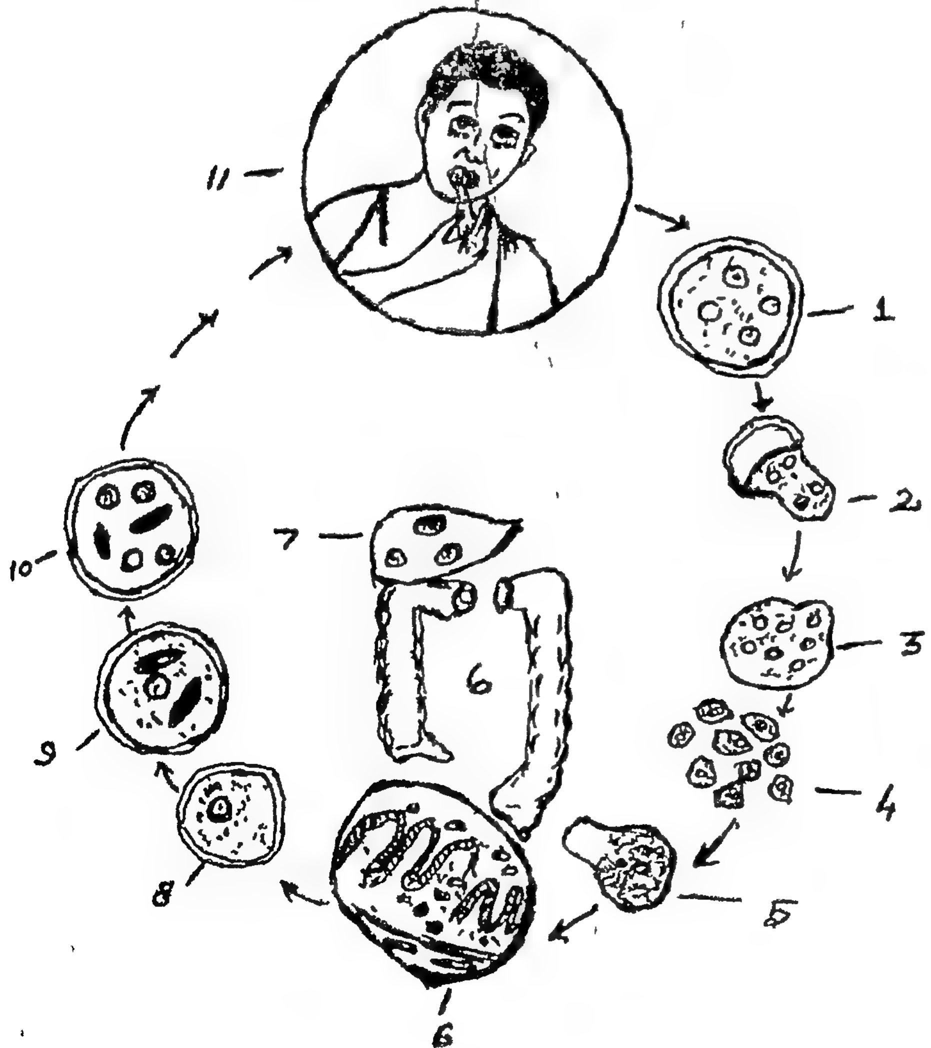
[३] पेट मे दर्द होता रहता है।

[४] इस रोग मे या तो दस्त तीव्र लगते है या चिरकाल तक दस्त लगते ही रहते है।

[५] दस्तो मे एक चिकना पदार्थ जो कि श्लैष्म का ही रूप हे निकलता रहता है।

[६] पेट मे बार बार मरोडे (एठन) रहती है।

चिकित्सा—इस रोग मे चिकित्सा से पूर्व मल की जाच करवा लेनी चाहिए। सूक्ष्मदर्शी द्वारा जाच करने पर इस निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता हे कि रोगी किस



एमिबियैसिस का कालचक्र

१ सिस्ट २ ३ ४ आतो मे सिस्ट से निकले एक कोशिका परजीवी ५ प्रौढ परजीवी ६ परजीवी का आतो और ७ यकृत पर प्रभाव ८ ९ - १० मल द्वारा परजीवी का सिस्ट रूप मे निकास ११ अस्वच्छ खाद्य के प्रयोग से शरीर मे पुनः प्रवेश।

प्रकार के कृमि से पीडित है। बाद मे उसकी चिकित्सा करनी सरल हो जाती है। इसके साथ-साथ नाखूनो की सफाई करना भी नितात आवश्यक है, नही तो इमके द्वारा सक्रमण होने की सभावना रहती है। सामान्य स्वास्थ्य के नियमो का कडाई मे पालन करना भी इस रोग मे श्रेयस्कर है। भोज्य पदार्थो को मक्खियो से बचाने हेतु उसे ढका रखना चाहिए। साग-सब्जियो के प्रयोग मे पूर्व उनको अच्छी तरह धो लेना चाहिये या पोटेशियम परमेगनेट (लाल दवा) के घोल मे धो लेना चाहिये।

कृमिकुठार रस १२५ मि ग्रा, सजीवनी वटी २ गोली, रामबाण रस १२५ मि ग्रा, शख भस्म १२५ मि ग्रा, कृमिमुद्गर रस १२५ मि ग्रा —१ मात्रा

भोजन के बाद—विडङ्गारिष्ट—२ चम्मच समभाग जल—एक मात्रा।

उपर्युक्त मात्राओ को गर्म करके ठडा करें। रोगी को खाने के लिए दही एव चावलो का प्रयोग करें। रोगी को गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नही करना चाहिए। वेल का मुरब्बा भी रोगी को दिया जा सकता है। रोगी के शरीर मे क्योकि पानी की कमी अधिक दस्त लगने मे हो जाती है अत पानी भरपूर दिया जाये।

(२) बच्चो के दस्त—

बच्चो के दस्त लगने का रोग बहुत ही व्यापक है। शायद ही कोई ऐसा बच्चा होगा जोकि इस रोग से पीडित नही हुआ हो। पानी की कमी होकर छोटे बच्चे इस रोग से मृत्यु को भी प्राप्त होते देखे गये है। यह अनेक बीमारियो का लक्षण है। यह कोई स्वतत्र रोग नही है। सामान्यावस्था मे जब दो से अधिक बार पतले पानी युक्त मल का त्याग अगर बालक करता है तो हम यह कहते है कि बालक के दस्त लगने शुरू गये है।

दस्त लगने के पीछे कीटाणुओ की ही करामात है। ये जीवाणु, विषाणु, परजीवी, प्रोटोजुआ या अन्य कारणो से होता है। आत्र शोथ, सालमोनेसिस और हैजा जीवाणुओ से होता है। विषाणुओ के कारण भी कभी-कभी दस्त लगने शुरू हो जाते है। इसके साथ-२ जिआर्डियेसिस और अमीबियेसिस भी बालको मे देखने को मिल जाती है। बडे परजीवी भी छोटे बालको मे दस्तो का कारण हो सकते है। इसके अलावा दात निकलते समय, कान मे पीप पड़ना, जुग्राम आदि के कारण भी बालकों मे दस्त लगने शुरू हो सकते हैं। कई बार बालक के अधिक भोजन कर लेने या गुरु (गरिष्ट) भोजन कर लेने पर बालक के शरीर मे मंदाग्नि उत्पन्न होकर रस नही बन पाता है तथा यह पदार्थ कच्चे रूप मे दस्त रूप मे बाहर निकलता है।

बच्चो को दस्त लगने पर कभी भी लापरवाही नही करनी चाहिए क्योकि इसमे लापरवाही करने पर बच्चे की मृत्यु तक हो सकती है। इसलिए बच्चे के दस्त लगते ही उसका सही निदान एव चिकित्सा करनी अनिवार्य है। अधिक दिनो तक दस्त लगने पर बच्चा कुपोषण का शिकार तो होता ही है बल्कि उसके शरीर मे पानी एव नमक की कमी भी हो जाती है। इसकी कमी होने मे कभी-२ बालको की मृत्यु भी हो जाती है।

सामान्य उपचार—इस रोग मे शुद्ध पानी एव खाना देना अत्यन्त आवश्यक है। इसमे बच्चो की माताओ की भूमिका प्रमुख रहती है। वह अगर ध्यान देकर चलें तो इससे बचा जा सकता है। जिन बच्चो को दस्त लग रहे हो उन बच्चो को अगर माता का दूध पिलाया जाये तो अति उत्तम रहता है। अगर बच्चे को ऊपर या बाहरी दूध पिलाना पडे तो उसको गर्म करके बाद मे ही उपयोग मे लाना चाहिये। अगर दूध भैंस का है तो उसमे बराबर का पानी जोकि शुद्ध हो मिलाकर बालक को पिलाना चाहिये। जैसाकि आप जानते है मक्खिया भी इस रोग के कीटाणुओ के द्वारा सक्रमण करती है। अत. खाद्य पदार्थो को यथासभव ढककर रखना चाहिए। इस सदर्भ मे बच्चो को किस किस कारण से दस्त लग सकते हैं। इसको रोकने का साधारण क्या उपाय है। इससे माताओ को अवगत कराना जरूरी ही नही अपितु अनिवार्य भी है जिससे माताओ द्वारा समय पर बच्चे के बारे मे सही जानकारी मालूम हो सके। बच्चे प्राय. ठेली वालो से चीजें लेकर खाते हैं, यह भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है अत इससे बचना चाहिए।

चिकित्सा—

कृमिकुठार रस ७५ मि ग्रा, विडङ्ग लौह ७५ मि ग्रा, रामबाण रस १२५ मि. ग्राम—१ मात्रा

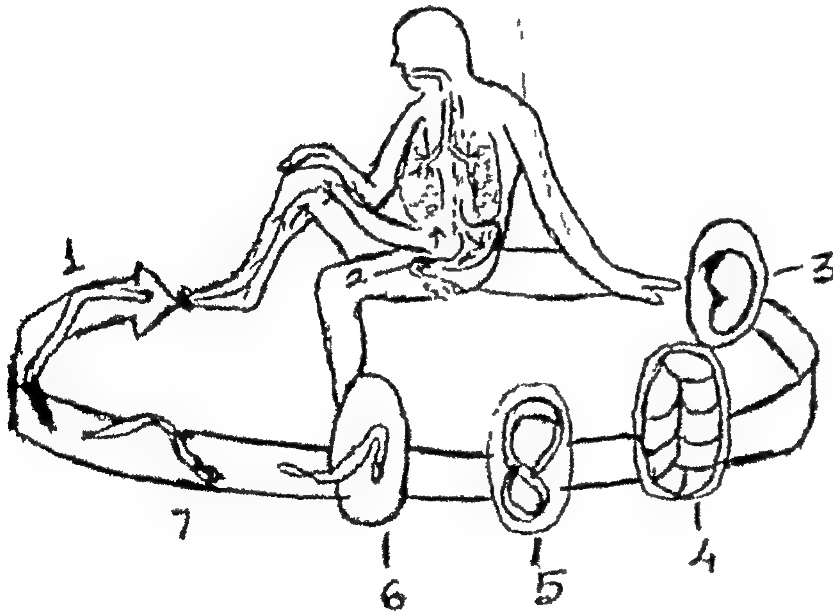
भोजन के बाद—विडङ्गारिष्ट २ चम्मच समभाग

जल में १ मात्रा। ऐसी मात्रायें ६-६ घंटे के अंतर से प्रयोग में लायें। बच्चे को नमक, शक्कर मिलाकर गर्म किया हुआ पानी ही प्रयोग में लाया जाये। इससे पानी की कमी की भी पूर्ति होगी एवं रोग का तीव्र प्रसार भी नहीं होगा।

(३) अंकुश कृमि (Hook Worm)—

अंकुश कृमि प्रायः नंगे पांव घूमने वालों में हो जाता है। इसके नर एवं मादा दोनों कृमि १ से मी. से लम्बे होते हैं एवं बहुत पतले धागे के समान होते हैं। इसका हिस्सा अंकुश की तरह मुड़ा हुआ होता है, अतः इसको अंकुश कृमि के नाम से पुकारा जाता है।

शौच आदि के स्थान में नंगे पैरों से घूमने पर, कभी कभी चाय के बागानों में घूमने पर, बच्चों द्वारा मल इत्यादि के स्थान पर खिलौना गिर जाने पर उस मिट्टी में अप्रत्यक्ष रूप से इसके कृमि मिले होते हैं, जब बालक उसको अपने मुंह में लेता है तो उसके शरीर में ये अंकुश कृमि प्रवेश कर जाते हैं एवं रोग उत्पन्न कर देते हैं।



← अंकुशमुख कृमि का जीवन चक्र

१ सूत्र कृमि की इल्लियों का त्वचा द्वारा शरीर में प्रवेश

२ इल्लियों का छोटी आंत में निवास और रक्त चूसना

३ मल द्वारा अण्डों का त्याग

४ ५ ६ अण्डों का मिट्टी में विकास

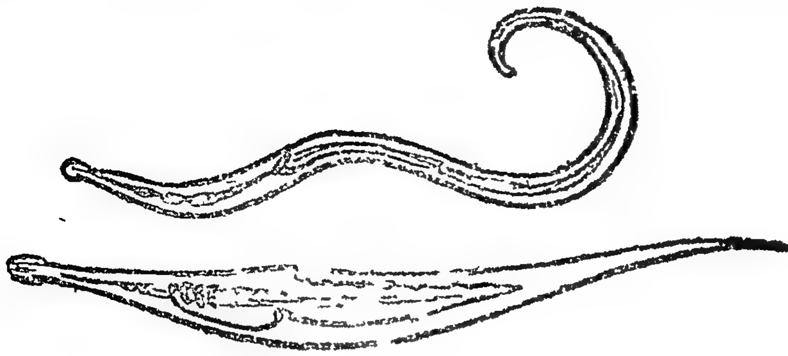
७ नर और मादा (बड़ी) का [illegible] में [illegible]

ये अंकुश कृमि आंतों को ही अपना घर बना लेते हैं, ये उसकी दीवारों को छोड़ते नहीं हैं बल्कि भली प्रकार चिपक जाते हैं। ये इन आंतों से रक्त भी चूसते रहते हैं, जिससे कालान्तर में रोगी रक्ताल्पता से पीड़ित हो जाता है। वह अपने शरीर में कमजोरी महसूस करने लग जाता है। उसका शरीर पीला पड़ जाता है। वह मन्दाग्नि अर्थात भूख नहीं लगने से पीड़ित हो जाता है। रोगी के पेट में दर्द रहने लग जाता है। जब इस कृमि की इल्लियां त्वचा में प्रवेश करती हैं तो रोगी के उस स्थान पर खुजली एवं छाला उत्पन्न कर देती है। इस रोग की रोकथाम हेतु यह आवश्यक है कि नंगे पैरों नहीं घूमा जाये। जूते पहनने की आदत डालनी चाहिए। निरन्तर इस दिशा में प्रयास करना चाहिए अन्यथा बाद में आदत में परिवर्तित हो जाता है। बच्चों को यह आदत छुड़वायें कि वह मुंह तक खिलौने नहीं ले जायें। जिस स्थान पर लोग शौचादि जाते हैं, उस स्थान पर बालकों को खेलने के लिए नहीं जाने दें।

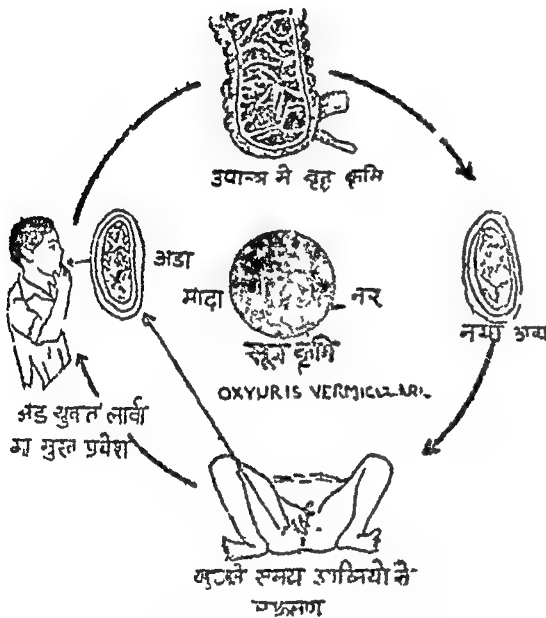
इसकी चिकित्सा के लिए सर्व प्रथम रोगी को गुड़ खिला देना चाहिए जिससे कि यह कृमि उस गुड़ के आस-पास चिपक जायेंगे। इसके उपरान्त कोई भी विरेचन पदार्थ दे देना चाहिये जिससे ये कृमि गुड़ के रूप में मल मार्ग से बाहर निकल जायेंगे। इस प्रकार की क्रिया एक सप्ताह तक करनी चाहिये। इससे आंत में चिपके हुए सारे कृमि निकल जायेंगे।

एण्टरोबियसता (Enter[illegible])—

इस रोग को [illegible] की भाषा में सूत्रिका या सूत्र कृमि के नाम से पुकारते हैं। [illegible]



←सूत्र कृमि



यह कृमि विना किसी भेदभाव के बहुत शीघ्र ही सक्रमित होता है। अत स्वच्छता की तरफ ध्यान देना वहुत अनिवार्य हे अन्यथा इसके कृमि भोजन के द्वारा मिलकर आत्र मे पहुच जाते हे। यह एक सें० मी० लम्वे धागे के समान होते है एव लम्वे होते है। रात्रि मे सोते समय ये कृमि अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर देते है। ये गुदा मार्ग के पास आकर खुजली उत्पन्न कर देते हैं तथा वही पर ये अपना अडा भी दे देते है। इससे रोगी को नीद नही आती है, वह वेचैनी से ग्रस्त हो जाता है। जब ये गुदा के पास खुजली उत्पन्न करते हैं तो गुदा मे अगुली देने पर इसके सूक्ष्म अ डे नाखूनो के साथ चिपककर आ जाते है। यह वहुत शीघ्र अपना प्रभाव दिखा देते है। नाश्ता करते समय या भोजन करते समय यह नाखूनो के मध्यम से आमाशय मे पहुच जाते है। यही इनके सक्रमण का तरीका है। इसके साथ-साथ इसके सक्रमण का कारण सक्रमित कुर्सी पर वैठने, शौचादि के स्थान पर वैठने या शौचादि के स्थान की धूल मे उसके कृमि मिल जाते है। किसी न किसी रूप मे ये कृमि शरीर मे पहुच जाते है। ये वमन, पेट दर्द आदि पैदा कर देते है।

उसकी रोक थाम के लिए यह अनिवार्य है कि इसके फैलने के कारणो से समस्त परिवार को अवगत करा दिया जाये। सामान्य स्वास्थ्य के नियमो की भी जानकारी दी जानी अनिवार्य है। नाखूनो को काटने की आदत, अ गुली का मु ह मे लेना, शौच के वाद हाथो को अच्छी तरह से साफ नही करना भी गदी आदत है और उनसे भी इस रोग को फैलने मे सहायता मिलती है। इस रोग के फैलने मे तौलिया, रुमाल, जाघिया तथा प्रतिदिन के कपडे भी सहायक होते है। अत इनको नित्य धोकर पहनना चाहिये।

इस रोग मे भी रात्रि को सोते समय रोगी को गुड दे देना चाहिए। मीठे के आस-पास सारे कृमि इकट्ठे हो जायेंगे। इसके आधा घटा वाद विरेचक औपधि देने से सुवह मल द्वार से ये वाहर निकल जाते हैं।

(५) पटेरे या ऐस्कारिस—

इस रोग के होने का कारण ऐस्कारिस लम्ब्रीकॉइड्स (Ascaris Lumbricoides) नामक कृमि होता है। यह सभी उम्र के वच्चो के सकता है लेकिन फिर भी छोटी उम्र के वच्चो मे अधिक देखने को मिलता है। इसका कृमि २५ से ३० से० मी० लम्वा होता है। आकार मे यह पेंसिलनुमा होता है।

इस रोग से भूख नही लगना या वहुत अधिक भूख लगना, पेट मे दर्द तथा कभी-कभी आतो मे रुकावट सी महसूस होने लगती है। ये कृमि एक अङ्ग से दूसरे अङ्गो

मे भी कभी कभी पहुच जाते है। कई बार यह पित्त की नलिया एपेनडिक्स मे रुकावट पैदा कर देती है जिसकी वजह से सूजन आ जाती है। कई बार ये यकृत एव फुपफुसो को भी अपना आक्रात स्थान बना लेती है, जिससे कि इनमे शोथ पैदा हो जाती है तथा कई प्रकार के यकृत के रोग एव न्यूमोनिया जैसे रोग प्रगट हो जाते है। आतो मे इनकी अत्यधिक मात्रा होने पर उसमे भोजन से जो रस बनता है उसको ये चूसते रहते हैं जिससे कि बालक कुपोषण का शिकार हो जाता है। बालक के द्वारा नाश्ता, सुबह शाम का भोजन या अन्य कोई भी पदार्थ खाद्य रूप मे जाते ही इनमे सक्रियता आ जाती है तथा ये अपना कार्य शुरु कर देते हैं जिससे बालक मे कुपोषणता के साथ-साथ रक्त की भी कमी हो जाती है क्योंकि सप्तधातुओं का पोषण नही हो पाता है।

इन कृमियो की मादायें अण्डे देकर इस रोग की वृद्धि करती रहती है। यह अण्डे जो देती है वह मल के द्वारा शरीर से बाहर निकलते रहते है। ये अडे दो सप्ताह के अन्दर-२ सक्रमण की अवस्था मे आ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि १५ दिनो तक यह रोग फैलाने मे सक्षम नही होते है। साग-सब्जी, फलो को नही धोने से या गन्दे पानी से धोने पर या गन्दी अगुलियो के स्पर्श से ये कृमि आतो मे मुह के माध्यम से घुस जाते है। ये कृमि धीरे धीरे आतो मे बडे होते जाते है, फिर ये अपना सफर चालू रखते हुए यकृत मे और उसके बाद रक्त मे और रक्त परिभ्रमण के द्वारा फुपफुसो मे पहुचने मे सफलता प्राप्त कर लेते है। ये फिर खासी के साथ गले मे पहुच जाते है और थूक के साथ आमाशय मे निगल लिये जाते हैं। आतो मे यह बहुत शीघ्र ही बडे होकर नर तथा मादा दोनो ही परिपक्व अवस्था मे पहुच जाते है। मादा के अडे देने की तादाद २ लाख से भी अधिक अडे देने की है।

इस प्रकार से हम यह देखते है कि यह रोग बहुत ही शीघ्रता से फैलता है तथा इसीके साथ-२ स्वास्थ्य के लिए भी बडा हानिकारक है। अत इसकी रोकथाम का प्रयत्न करना अनिवार्य है। इस रोग को फैलने से हम रोक सकते है, अगर हम खाने पीने की चीजो को सफाई से प्रयोग मे लावे। इसीके साथ साथ यह भी जरूरी है कि शौच आदि के बाद हाथो को साबुन से धो लेना चाहिए। बच्चो मे भी हमे इस स्वस्थ आदत का विकास करना पडेगा। नाखूनो की भी सफाई करना अनिवार्य है क्योकि नाखूनो मे मैल भरा रहता है जिसमे कि इसके कृमि फसे रह सकते है। इन नाखूनो की सफाई भी अनिवार्य है, उन्हे अधिक नही बढने देना चाहिए। मल मिश्रित मिट्टी के द्वारा भी यह रोग फैलते हुए देखा गया है। अत उन स्थानो मे जाने से बच्चो को रोका जाये। इसके साथ-साथ खाद्य पदार्थो को अच्छी तरह से ढका रहने दे क्योकि मक्खियो के द्वारा भी यह रोग सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान तक फैलाया जाता है।

(६) बाला या नहरुवा (Guinea-Worm)—

बाला या नहरुवा तालाब या बावडी के गन्दे पानी से पीने पर हो जाता है। भारतवर्ष मे ज्यादातर यह रोग ग्रामो मे ही होता है क्योकि वहा के लोग पानी की ओर सफाई का पूरा ध्यान नही रखते है। उन तालावो मे ही वे पानी पीने के लिये जाते है तथा उन्ही तालावो मे गाय, भैंस आती, पानी पीती हैं। कभी-कभी तो पशु उस पानी मे ही गोबर कर देते हैं जिससे जल दूषित हो जाता है। गावो के लोग क्योकि अधिकतर अशिक्षित होते है, अत वे इस बात की ओर ध्यान नही देते है कि पानी सफाई किया हुआ ही पीना चाहिये। यही कारण है कि इन क्षेत्रो मे केवल नहरुवा ही नही बल्कि अन्य कई प्रकार के रोगों से इनको ग्रसित होना पडता है। राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात एव बम्बई मे हर वर्ष हजारो की सख्या मे लोग इस रोग की चपेट मे आ रहे है।

अक्सर नहरुवा पीडित मनुष्य अपने हाथ पैर तालावो मे धोते या साफ करते है जिससे ये कृमियो के अडे पानी मे छोड देते है। यही पर जल मे साइक्लॉप्स नामक (Cyclops) जीव रहता है। यह पानी मे छोड़े हुए नहरुवा के अडो को निगल जाता है। जब एक स्वस्थ मनुष्य इस प्रकार का पानी पीता है तो उसके शरीर मे साइक्लॉप्स और नहरुवा के अडे पहुच जाते है। ये अडे आमाशय मे पहुच जाते है जहा पर कि आमाशय के अम्ल से साइक्लॉप्स तो नष्ट हो जाते है और नहरुवा के अडो पर उनका कोई प्रभाव नही पडता है बल्कि साइक्लॉप्स

के मृत होते ही ये सक्रिय हो जाते है। ये उसके मृत शरीर को छोडकर आतो मे चक्कर लगाने लग जाते हैं। अब यह आतो से बाहर निकलने के लिए आतो मे छिद्र करके शरीर की अन्य मासपेशियो तक पहुच जाते है और धीरे धीरे विकसित होते जाते है। नर नहरुवा हमारे शरीर को किसी प्रकार का नुकसान नही पहुचाता है लेकिन मादा नहरुवा कृमि पैदा करके रोग की उत्पत्ति मे बडी सक्रियता से सहायता करती है। यह एक मे चार फीट लम्बे सफेद धागे के समान होता है जिसे कि हम नारु या वाला के नाम से सम्बोधित करते है। ये मादा नहरुवा करोडो की सख्या मे अडे देती रहती है, जिनको अनुकूल वातावरण यथा तालाब, कुऐ, बावडी के पानी मे हाथ पाव धोने मे भी उनके सम्पर्क मे आते ही उस पानी मे अपने अडे छोड देती है। इस पानी मे साइक्लॉप्स पहले से ही मौजूद रहता है जो इनके द्वारा त्यक्त इनके अडो को निगल लेता है तथा इस प्रकार इनका जीवन चक्र चलता रहता है। इस जीवन चक्र को करीब एक वर्ष का समय लग जाता है।

मादा शरीर मे घूमती रहती है तथा त्वचा तक पहुचने का मार्ग देखती रहती है। वह प्राय पाव या शरीर के अन्य भागो के द्वारा त्वचा तक पहुच जाती है जहा पर प्रथम पित्ती के समान लक्षण होकर एक फफोला (छाला) बन जाता है। इसी छाले के द्वारा यह मादा अपना पिछला भाग बाहर निकालकर अपने द्वारा असख्य अडे पानी मे छोडने मे सफल हो जाती है। यह छाला बडी ही भयकर पीडा करता है। इसके माध्यम मे अन्य जीवाणु भी शरीर मे पहुचने मे सफल हो जाते है। जिससे बाद मे जोडो आदि मे शोथ उत्पन्न होकर दर्द हो जाता है। कई बार मादा कृमि शरीर के अन्दर ही मर जाती है तथा उनके शरीर पर कैलशियम की परत भी जम जाती है। ऐक्सरे करने पर यह साफ दिखलाई देती है जिससे इस रोग का निदान हो सकता है। कभी-कभी मरती हुए मादा अपने शरीर से जहरीला पदार्थ छोड देती है जिससे कि गाठे हो जाती है। कभी-कभी ये गाठें जोडो मे हो जाती है जिसमे उनमे मवाद भी पड़ जाती है, यह एक भयकर स्थिति होती है।

रोक थाम के उपाय—

(१) नहरुवा रोग मे सर्व प्रथम पित्ती निकलती है। दूसरे दिन उस स्थान पर छाला हो जाता है जो बडी शीघ्रता से आसपास दर्द एव शोथ उत्पन्न कर देता है इसके साथ-साथ रोगी को तीव्र बुखार हो जाता है तथा रोगी चलने फिरने मे असमर्थ रहता है। जब बिस्तर पकड लेता है ऐसी स्थिति मे नहरुवा निकलने का प्रयत्न करता है। उसी समय उसको योग्य चिकित्सक से निकलवा लेना चाहिए। चिकित्सक धीरे-धीरे उसको बाहर निकालें अन्यथा यह टूट जायेगी।

(२) पानी को छानकर एव जीवाणु रहित करके प्रयोग मे लाना चाहिए। इसके अतिरिक्त पानी को गर्म करके ही काम मे लाया जाना है।

(३) साइक्लॉप्स को समाप्त करने हेतु पानी मे पोटेशियम परमेगनेट (लाल दवा) को पानी मे डाल देना चाहिए। इसके साथ-साथ नई दवाईयो की भी खोज हुई है जो कि निरापद है। ये दवाईया साइक्लाप्स को तो समाप्त करती ही हैं बल्कि अगर उनसे युक्त पानी पी भी लिया जाये तो कोई नुकसान होने की सभावना नही रहती है। यह दवाईया—Zinc Dimethyl di-theo-carbomate और Abate) है।

(४) जहा यह रोग सार्वजनिक रूप मे फैल रहा हो उसके लिए इसकी सूचना पास के स्वास्थ्य केन्द्र को देनी चाहिये।

सामान्य चिकित्सा—

इसके लिए मोर पखो के बीच का चदा एव गुड मिलाकर रोगी को देना चाहिये। इससे ये बाला नष्ट होते देखे गये है।

आंत्र कृमियो की आयुर्वेदिक चिकित्सा—

उपर्युक्त आत्र कृमियो मे आयुर्वेदिक औषधिया उपयोगी एव श्रेष्ठ पाई गई है। निम्नलिखित तालिका मे शास्त्रीय आयुर्वेदिक औषधियो की सूची दी जा रही है। इसमे चूर्ण, क्वाथ, वटी, भस्म, गुग्गुल, लौह, माडूर आसव अरिष्ट दिये गये है। इसकी मात्रा एव अनुपान के साथ-साथ उपचार भी बताया गया है।

भोजन के बाद रोगी के लिए कृमि नष्ट करने हेतु विडगारिष्ट श्रेष्ठ अरिष्ट माना गया है।

आत्र कृमियो मे शास्त्रीय औषधिया

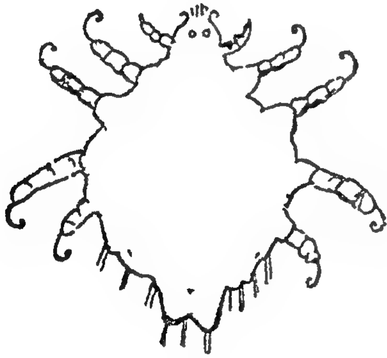
कल्पना	औषधि नाम	ग्रथ	मात्रा एव समय	अनुपान	विशेष
चूर्ण	पचसकार चूर्ण	सि भै मणि,	३ ग्राम तीन वार	उष्ण जल	कृमि निरसारक
,,	शिवाक्षार पाचन चूर्ण	आ नि मा	२ ग्राम, दो वार	,,	श्रेष्ठ कृमिहर
,	पलाशवीज चूर्ण	भै० र०	१ ग्राम, दो वार	,,	,
,,	जन्तुहन्तृ चूर्ण	सि भै मज्जू	१-२ ग्रा , दो वार	,,	,,
क्वाथ	त्रिफलादि क्वाथ	शा० स०	२० ग्राम, दो वार	पिप्पली + विडग प्रक्षेप कर	कृमिहर, शोधक
,,	भद्रमुस्तादि क्वाथ	वृ० मा०	२० ग्राम, दो वार	,,	,,
वटी	कृमिघातिनी वटी	र० रा सु	१ गोली, २ वार	आखुपर्णी क्वाथ + सिताजल	,,
,,	रसोनादि वटी	वै० जी०	२ गोली, २ वार	,,	,,
,,	अश्वकचुकी रस	र रा सु	१२५से२५० मिग्रा २वार	विडग क्वाथ	कृमि निस्सारक
,,	सर्वतोभद्र रस	र रा सु	,,	,,	कृमि नाशक
,,	कृमिमुद्गर रस	यो० र०	१५० मिग्रा , २ वार	भद्रमुस्तादि क्वाथ	,
,,	कीटारि रस	र रा सु	,,	सिता + मुद्गपर्णी रस	,,
,,	कीटमर्द रस	र रा सु	,	मुस्तक क्वाथ + मधु	,,
,,	कृमि कालानल रस	,,	,,	धान्यक + जीरक क्वाथ	,,
,,	कृमि कुठार रस	,,	१२५ से २५० मिग्रा , २ वार दिन मे	आखुपर्णी स्वरस	,,
भस्म	बग भस्म	र० त०	२५० मिग्रा २ वार	मधु	कृमि जन्य ज्वर
,,	तुत्थ भस्म	,,	३०-६० मिग्रा २ वार	पचकोल क्वाथ	कृमिघ्न, विशोधन
,,	मण्डूर भस्म	र० त०	२५० मिग्रा ३ वार	विडग + त्रिफला क्वाथ	कृमि वातशामक
,,	ताम्र भस्म	र० चि०	६० मि ग्रा २ वार	विडग + पचकोल क्वाथ	लेखन, निशोधन
,,	कास्य भस्म	र० त०	१२५ मि ग्रा २ वार	विडग + मुस्तक क्वाथ	उष्ण एव लेखन
,,	पित्तल भस्म	र० त०	३०-६० मिग्रा २ वार	पचकोल क्वाथ	कृमिघ्न एव शोधक
,,	लोह भस्म	र० त०	२५० मि ग्रा., २ वार	त्रिफला क्वाथ	वलवृद्धिकारक
गुग्गुलु	सप्तविंशतिको गुग्गुलु	च० द०	१-२ गोली २ वार	पिप्पली + यवानी + कुटकी क्वाथ	कृमिहर, शोधक
लोह माण्डूर	नवायस लौह	चरक	२५०-५०० मि ग्रा , २ वार	हिंगुपत्री त्रिफला धृत	कृमि नाशक
,,	विडग लौह	र रा स	५०० मि ग्रा , २ वार	इन्द्रायण क्वाथ	,,
,,	ताप्यादि लौह	भै० र०	२५० से ५०० मिग्रा २ वार	गौमूत्र	कृमि जन्य पाडु मे
,,	पुनर्नवादि मडूर	चरक	,,	सुरसादि गण क्वाथ	कृमि वातनुत्
आसवअरिष्ट	कुर्माया सव	भै० र०	१५से२५ मिली भोजनोत्तर	समभागजल	कृमिहर, शोधन
,,	लोहासव	शा० स०	,,	,,	,,
,,	विडङ्गारिष्ट	भै० र०	,,	,,	,,
,,	महाशखद्रावक	,,	१ विन्दू भोजनोत्तर	पान मे	,,

**

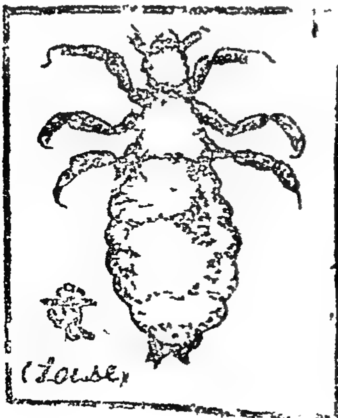
आन्त्र कृमि

डा० राजेन्द्रप्रसाद साहू, नागेश्वर रोड, बीघापुर, उन्नाव [उ०प्र०]

मनुष्य की आतो मे विभिन्न प्रकार के कृमि उत्पन्न हो जाते हे जो शरीर मे विभिन्न प्रकार के रोग, लक्षण, वेदना पैदा करते हे। इनका जीवन चक्र मनुष्य पर ही निर्भर करता हे। ज्वर, विवर्णता, शूल, हृद्रोग, अङ्गो की शिथिलता, भ्रम, भोजन से अरुचि तथा अतिमार का होना आन्त्र कृमि रोग का निर्देश करता हे। यथा—सुश्रुत सहिता उत्तर तन्त्र अध्याय ५४ मे कहा है—



लीख



ज्वरोविवर्णता शूल हृद्रोग सद भ्रम।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सजातक्रमि लक्षणम् ॥
—सु० उ० ५४

आन्त्र कृमियो के भेद—आन्त्र मे पाये जाने वाले कृमि अन्नाद, उदरावेष्ट, हृद्पाद, महागुद, चुरु, दर्भकुसुम तथा सुगन्ध नाम भेद से ये सात प्रकार के होते हैं। जबकि मुख्य रूप मे २० प्रकार के कृमि हैं जिनमे सात प्रकार के मल द्वारा, छ प्रकार के कफ द्वारा, सात प्रकार के रक्त द्वारा उत्पन्न होते हे। इनके अनेक भेदो मे प्राय मिलने वाले ४ प्रकार के कृमियो का वर्णन सक्षिप्तया निम्नवत है—

१ अकुशमुख कृम (Hook worm)
२ गन्डूपद कृमि (Round worm)
३ स्फीत कृमि (Tap worm)
४ सूत्र कृमि (Thread worm)

सामान्य लक्षण—

रोगी के पेट मे थोडा थोडा दर्द रहता, मुह से पानी बहता, जी मिचलाता, उदर मे अफारा, अपच, कभी दस्त भी होता हे। अतिसार, यकृत, तिल्ली का बढ जाना, कभी मूत्र मे रक्त आता जिसमे किसी प्रकार की पीब नही होती। मल त्याग के समय प्राय देखा गया है कि मल मे कृमि निकलते रहते है। रोगी के मल-मूत्र की परीक्षा करने पर कृमियो के अन्डे पाये जाते हैं। बच्चो मे अधिकतर दातो को आपस मे रगडना, सोते समय दातो का आपस मे किटकिटाना तथा सोते सोते उचक कर एकदम जग जाना नाक खुजलाते रहना, गुदा खुजलाना, दिन मे दो-चार बार पतले मल का त्याग, कभी कभी मिट्टी भी खा लेना सामान्य लक्षण हैं।

शरीरस्थ कृमि के स्थान

जूएं, लीखें

रोम जूं समस्त शरीरमें (त्वचाके रोम जड मे)

(आमाशयमे) कफज कृमि

Tape Worm स्फीत कृमि (पुरीषजकृमि)

HOOK WORM कद्दू दाने (पुरीषज कृमि)

THREAD WORM सूत्रकृमि (पुरीषजकृमि)

रक्तज कृमि (नसों मे)

बाह्य कृमि (दाद खाज कोढ)

कृमि के लक्षण

भ्रम, मूर्च्छा, आधा शीशी

पीनस रोग

अरुचि, छर्दि, वमनेच्छा, दाँत पीसना, (नींदमें) नींद में पानी गिरना

हृदय दाह

उदर शूल, कोष्टबद्धता, अफरा

मूत्राशय दाह, अन्त्र के अंतिम भाग में दाह

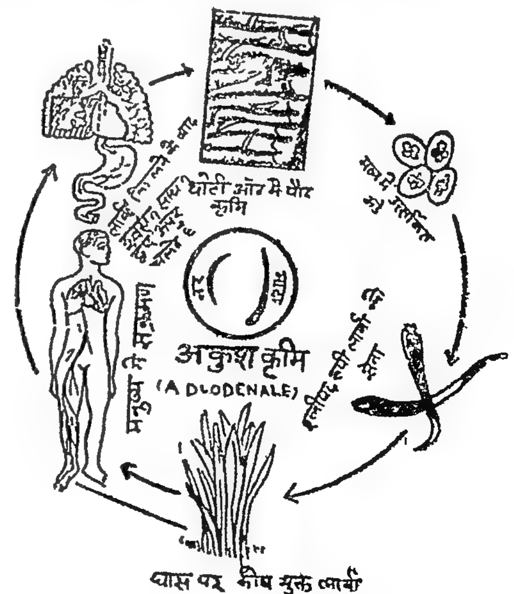
गुदा मे खाज

प्रमेह, वीर्यस्राव, स्वप्नदोष

—आन्त्र कृमियो के प्रथक-प्रथक लक्षण—

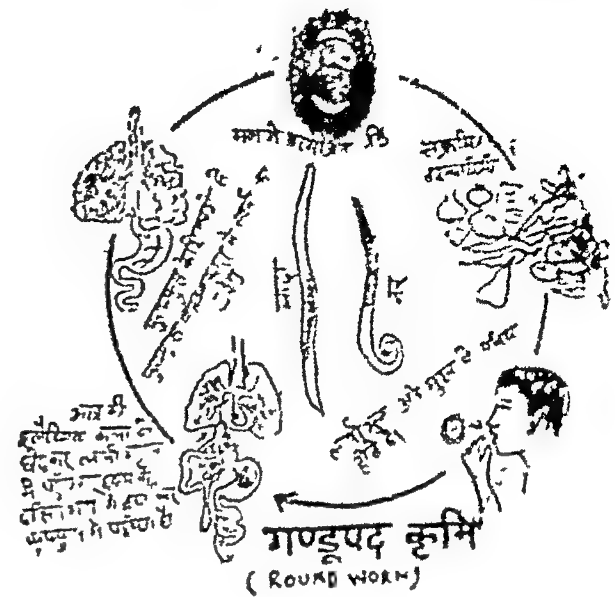
(१) अकुशमुख कृमि—

इसकी लम्बाई एक तिहाई इन्च से आधा इन्च होती है। मादा नर से लम्बी होती है। इस कृमि का जीवन मनुष्य के शरीर मे ही पूर्ण होता है। हुक वर्म से उपसृष्ट व्यक्ति के मल के साथ अन्डे बाहर निकल जाते है। ये अन्डे गीली भूमि पर पडे रहकर दो-तीन दिन मे लार्वा का रूप धारण कर लेते है। इसके पश्चात इनका और भी रूपान्तरण होता है इस अवस्था मे ये ३-४ मास तक जीवित रह सकते है। जब कोई व्यक्ति ऐसे स्थान पर नगे पैर जाता है तो लार्वा त्वचा के अन्दर प्रविष्ट होकर लसिकावाहिनियो या सिराओ के द्वारा रक्त प्रवाह से हृदय के दक्षिण निलय मे पहुच जाते है। वहा से रक्त प्रवाह द्वारा फेफडो से वायु कोषो, कण्ठनाडी मे पहुच जाते है। वहा से श्वास नली द्वारा मुह तक आकर थूक अन्दर निगलने पर अन्न प्रणाली तथा अपने निश्चित स्थान पच्यमानाशय मे आकर ठहरते है। दो सप्ताह के अन्दर इनकी आकार वृद्धि होती है एव लगभग ४ सप्ताह मे पूर्ण पुष्ट हो जाते है। यह आतो मे चिपके रहते है और आतो मे रक्त चूस-चूस कर पीते रहते है। यहा रहते हुए स्त्री कृमि गर्भवती होकर अन्डे देती है जोकि मल द्वारा निकल कर पुन पूर्वोक्त रूपो को धारण करके उपसर्ग वृद्धि मे सहायता करते है। इन कृमियो का मुख अ कुश के समान होता है। इसी अ कुश मुख द्वारा



घास पर कीष युक्त लार्वा

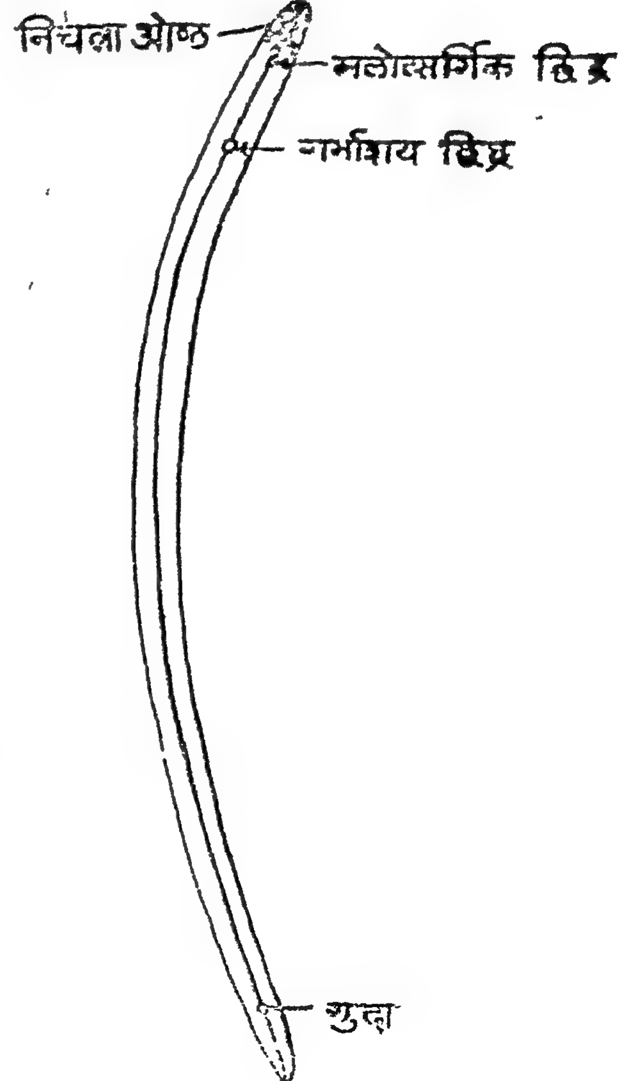
आत की दीवारो मे चिपके रहते है। इनके लाला मे एक विषैला पदार्थ होता है जो रक्त कणो को नष्ट करता है जिससे रक्तक्षय या पाडुता की उत्पत्ति होती है। रक्त मे हीमाग्लोबिन की अत्यधिक कमी हो जाती है जो रक्त परीक्षा (हीमोग्लोबिन की जाच) करने पर मालूम होती है। इसके अलावा चमडे के जिस स्थान मे यह कृमि प्रवेश करते है वहा प्रदाह व खुजलाहट होती है जो १०-१५ दिन के अन्दर खुजलाहट दूर हो जाती है। पश्चात रक्त की कमी दिखाई देती तथा हृदय प्रदेश मे पीडा श्वास कृच्छता, विवर्णता, मुख और शरीर की रूक्षता आदि लक्षण मिलते है।



(२) गण्डूपद कृमि—

राउन्ड वर्म के अन्तर्गत निम्नलिखित कृमि आते है। (१) गोलकृमि (Ascaris Lumbricoides) (२) आक्स्युरिस वर्मिक्युलरिस (३) ट्राइकोकेफेलस डिस्पर (४) ऐनाइलन्टोमस डिओडिनेली।

यह ससार भर मे पाये जाते है। ३० मि० मी० से ४० मि०मी० तक लम्बा होता है। यह कृमि छोटी आतो मे रहते है। रोगी व्यक्ति के मल मे निकले हुए अन्डो से उपसृष्ट खाद्य पदार्थो के सेवन से ये अन्डे स्वस्थ व्यक्ति के आन्त्र मे पहुच जाते है। आमाशय मे अम्ल से उनके ऊपर का आवरण गल जाता है। तब ये स्वतन्त्र होकर यकृत मे होते हुए सिरा द्वारा हृदय मे फिर रक्तप्रवाह से फेफडो मे पुष्ट होते है। वहा से पुन आमाशय मे होते हुए आन्त्र मे प्रविष्ट होते है। वहा इनकी वृद्धि होकर परिपक्वावस्था को प्राप्त होते है। आन्त्र मे यह प्राय कुन्डलितावस्था मे रहते है। इन्हे पूरी तरह बडे होने मे दो से तीन महिने लग जाते है। इनके द्वारा जीवविष, नेत्राभिष्यन्द, श्वासनली शोथ, सम्पूर्ण शरीर मे खुजली, नाक के छेद मे खुजलाहट, तेज भूख, दात कटकटाना, पेट मे दर्द, नीद न आना, प्रतिदिन दुबला होते जाना, स्वप्न देखना, अतिसार, वमन आदि लक्षण मिलते है। कभी आमाशय मे पहुच कर उत्क्लेश, वमन उत्पन्न करते है, वमन के साथ कभी बाहर निकलते है तथा कभी कभी नाक के द्वार से भी बाहर निकल आते है। आतो मे अन्डे देकर नवीन कृमियो को जन्म देते है तथा यह अन्डे मल के साथ



निकलकर दूसरे व्यक्तियो मे उपसर्ग पहुचाते हैं। कभी कुन्डलित होकर आतो मे वद्धगुदोदर या आन्त्रावरोध उत्पन्न करते हे। कभी पित्तवाहिनी मे अवरोध उत्पन्न करके कामला को जन्म देते हे।

(३) स्फीत कृमि—

फीता कृमि के अन्तर्गत निम्नलिखित कृमि आते हे। १ टिनिया सोलियम, टिनियम मडियोकेनेलेटा, वोथिकेफलम लेटिस। इनकी ४ विशेप प्रकार की जातिया है। ड्वाफ, बीफ, पोर्क और फिस। यह फीते की तरह चौडा, चपटा एव सफेद वहुत लम्बा [८-१० फुट का] होता है। यह अपने गोल सिर मे स्थित वडिशो द्वारा आन्त्र मे चिपका रहना है। इसके शरीर मे छोटे-छोटे अनेक पर्व होते हे। प्रत्येक पर्व मे अन्डे होते हैं। परिपक्व होने पर अन्तिम कुछ [४-६] पर्व मल द्वारा वाहर निकलते है। उनका आकार कद्दू के वीज के समान रहता है इसलिए इसे कद्दूदाना भी कहते हे। यह कभी-कभी एक-एक करके और कभी असख्य थैली की शक्ल से निकलते हे। इस कृमि का एक छोटा सा सिर होता हे उसमे हुक होती है, जिसकी सहायता से आतो का रस चूसता है। इस रस के ऊपर इसकी जिन्दगी निर्भर होती है। यह अच्छी तरह सूकर का न पका हुआ दूषित मास खाने से भी शरीर मे पहुच जाते है। कभी कभी पेट मे दर्द, वमन, मन्दाग्नि, भस्मक रोग, पाडु, अपच, रक्त की कमी, मलद्वार मे खुजलाहट, कोरिया, छाती धकधक करते रहना, शिर चकराना आदि लक्षण मिलते हे।

(४) सूत्र कृमि -

ये कृमि ससार भर मे पाये जाते है। नर कृमि की लम्बाई २-४ मि०मी०, मादा की लम्बाई ४-८ मि०मी० तक होती है। ये वीजाकुर श्वेत सूत्र की भाति धागे की तरह या सिरके मे पडे कृमियो की तरह होते हे। प्राय वच्चो मे मिलते हे। इन कृमियो के अन्डे हाथो से या जमीन मे गिरी वस्तुओ को उठाकर खाने से मुख द्वारा आतो मे पहुच जाते हैं। आतो मे पूर्ण विकसित कृमि आत (आन्त्र पुच्छ) मे रहते हे। मादा कृमि गलाशय के इर्दगिर्द की चमडी मे अन्डे देती है। रोगी मनुष्य की गुदा मे खुजली चलती हे। ज्यादा खुजलाने से सूजन हो जाती हे। ये कृमि जब औरत मे होती है तो गुदा मार्ग द्वारा यूरेटर मे होते हुए डिम्बाही मे पहुच जाते है जिससे वातनाडी सस्थान पर बहुत बुरा असर पडता है। मूत्राशय के अन्दर की तरफ खुजली चलती हे। ये कृमि गुदा मार्ग से वाहर निकलते है। कभी कभी प्रवाहिका गुदभ्रन्श, शैय्यामूत्र, प्रतिश्याय, शुष्कता, गर्म मल का त्याग, मुख से लार वहना, उदर मे हल्का दर्द, भूख के समय कोई वस्तु ऊपर चढती मालूम होना आदि लक्षण हैं।

पुरीषज कृमि—

पुरीषज कृमि पक्वाशय मे उत्पन्न होते है। ये नीचे की ओर गति करते है। अधिक वृद्धि करने पर आमाशय की ओर बढने लगते है तो डकार या श्वास मे विष्टा के समान गन्ध आती, ये मोटे, गोल, छोटे, लम्वे होते है। इनमे कुछ काले, पीले, सफेद, नीले रग के होते है। ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सशूल, लेलिह ये पाच नाम है। ये विरुद्ध मार्ग मे पहुचने पर शूल, मल भेद, मलावरोध, कृशता रूक्षता, पाडुता, रोमाच, अग्निमाद्य, गुदाकन्डु उत्पन्न करते है।

प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थो मे पुरीषज कृमियो का वर्णन नही मिलता। मल त्याग करने पर मक्षिका (मक्खी) आदि कीट मल पर अन्डे देते हे तथा अनेक प्रकार के पूतजीवी कीटो की उत्पत्ति होती है। कभी गुदपाक मे उचित शोधन न होने पर व्रण मे कीडे पड जाते है और मल के साथ निकलते हे। इन्हे मैगट (Maggots) कहते है। सम्भवत प्राचीनो ने इन्ही का वर्णन पुरीषज के रूप मे किया है या पूर्वोक्त कृमियो के अधोगामी होने पर उन्ही को पुरीषज भी स्वीकार किया है।

चिकित्सा—

१ कृमिकुठार रस (र०रा०सु०)–१२५-२५० मि ग्रा प्रतिदिन २ वार प्रात साय नागरमोथा क्वाथ मे सेवन करे। यह कृमिरोग नाशक है।

२ कृमि मुद्गर रस (यो०र०)—२५० मि ग्रा प्रतिदिन २ वार शहद के साथ लगातार ३ दिन तक दे, ऊपर से भद्रमुस्तादि क्वाथ पिलायें। ३ दिन के वाद चौथे दिन जुलाव दे। इससे कफज कृमि नष्ट हो जाते है।

३ कीटमर्द रस (र०रा०सु०)—२५० मि. ग्रा प्रतिदिन प्रात साय मुस्तक क्वाथ मधु मिलाकर दे। यह

सर्वश्रेष्ठ आन्त्र कृमिनाशक है।

४ कृमिकालानल रस (र०रा०सु०)—१५० मि ग्रा प्रतिदिन २ बार धान्यक, जीरक क्वाथ मिलाकर दें। यह सर्वश्रेष्ठ आन्त्र कृमिनाशक है।

५ कृमिघातिनी वटी—२५० मि ग्रा विडङ्ग लौह ५०० मि ग्रा ऐसी एक मात्रा प्रात साय मुस्तादि क्वाथ से या गर्म जल से दे। साथ ही विडङ्गारिष्ट १५-२५ मि ली भोजनोपरान्त सेवन करे तथा शुद्ध कम्पिल २ ग्रा रात्रि मे दही से दे। ऐसा एक सप्ताह तक सेवन कराये और इन्द्रायण जड का क्वाथ वनाकर वस्ति यन्त्र से वस्ति दे तो सभी प्रकार के कृमि नष्ट हो।

६ कृमिहारी कैपसूल (निर्मल आयुर्वेद सस्थान)—२-२ कैपसूल प्रात साय, वालक को १-१/२ कैपसूल जल मे दे। यह सभी उदरकृमिनाशक उत्तम कैपसूल है।

७ कृमिघ्न टेवलेट (डावर), उदरकृमि टेवलेट (मोहता)—१-१ दोनो को मिलाकर सोते समय गर्म जल से दे। सभी प्रकार के कृमियो मे लाभ करती है।

८ वायविडङ्ग सूचीवेध्र (वुन्देलखण्ड), इन्द्रायण (जी० ए० मिश्रा)—१-२ मि ली सप्ताह मे दो वार नितम्ब की पेशी मे लगाये।

एलोपैथिक चिकित्सा—

अकुशमुख कृमि—

१ होल लीवर एक्स्ट्रेक्ट १-२ मिली प्रति तीसरे दिन मास मे इन्जेक्शन लगायें। यह हुकवर्म मे लाभदायक है।

२ एन्टीपार (वी डब्लू), वैनपार (पी डी), ई एम सीरप (वायलौजीकल), हेल्मासिट सीरप (ग्लैक्सो), पिपराइन (एलेम्बिक) आदि मे से कोई भी सीरप ५-१० मि ली प्रात साय सेवन कराये।

३ टेट्राकैप—एक कैपसूल खाली पेट १२-१२ घटे पर दे। तीन खुराक से अधिक न दे।

४ एन्टी हुकवर्म ड्रग्स—टेट्राक्लोरइथेलीन, कार्वन टेट्राक्लोर, चीनीपोडियम का तेल, थाइमोल, वीफेनियम, वीटानेफ्थोल, एल्कोपार, डिकैरिस (Decaris) आदि मे से कोई भी आवश्यकतानुसार दें।

राउण्ड वर्म—

१ सैन्टोनिन पाउडर १-३ ग्रेन, कैलोमल के साथ रात्रि को भोजन के वाद तीन दिन लगातार दे। प्रात मैगसल्फ का विरेचन दे।

२ हेट्राजन—स्वस्थ व्यक्ति को ५० मि ग्रा प्रतिदिन सात दिन तक सेवन कराये।

३ पिपराजीन, वीफेनियम, डाइएथिल कार्वामेजीन, डाईथियाजीन, टी सी सी, डीवरमिस (Dewormis), वरमीसोल (Vermisol), यूनीकार्वाजन, वैनोसाइड आदि मे से कोई भी आवश्यकतानुसार दे।

टेप वर्म—

१ रक्त की कमी होने पर आइरन सल्फेट मुह द्वारा दे या हिपैटोग्लोविन सीरप ५-१० मि ली प्रतिदिन, २-३ वार पिलाये।

२ एटाब्रिन अथवा क्विनाक्रिन टेपवर्म के लिए वढिया दवा है। २-२ गोली १०-१० मिनट मे १० गोली थोडा खाने का सोडा मिलाकर खिलाये। दो घण्टे वाद सावुन के पानी का एनीमा दे।

३ डाइक्लोरोफेन (Dichlorofen)—एक वार मे ६ ग्राम वयस्क को तथा वालक को ५०-६० मि ग्रा प्रति किलो ग्राम शरीर भार दे।

४ एमवेलिया (Embelia)—४-१६ ग्राम की एक मात्रा खाली पेट टेपवर्म मे दी जाती है। ३ घण्टे वाद मैगसल्फ का विरेचन दें।

५ मेलफर्न या फिलिक्समास (पाउडर तथा कैपसूल मे प्राप्त) खाली पेट ३-६ मि ली ४५-६० ग्राम दे।

६ मेपाक्रिन, क्लोरोक्वीन, डाईक्लोरफेन, पैलेटिमरिन टैनेट कोई भी फीताकृमि मे आवश्यकतानुसार दे।

सूत्रकृमि (Thread worm)—

१ इनके लिए हेक्सिलरिसिनाल व क्रिस्टोड या पिपराजीन साइट्रेट एन्टीपार के नाम से आती है। शर्वत के रूप मे प्राप्त है। वालको को सरलता से दी जा सकती है। १ चम्मच प्रतिदिन ३ वार सात दिन तक दी जाती है। २ सप्ताह वन्द कर आवश्यकतानुसार प्रयोग करे।

२ हेल्मासिड (Helmacid)—यह पाउडर, सीरप, टेवलेट मे प्राप्त है। १-२ टेवलेट दिन मे दो वार। सीरप १ चम्मच प्रतिदिन ३ वार दें।

३ क्रिस्टल वोयलैट, पिरवीनियम, डाइफेनान, फैनोथियाजीन, मेवेन्डाजेल, वैनपार, वरमिन, पिपसेन्ना मे से कोई भी थ्रेडवर्म मे आवश्यकतानुसार दे।

राजयक्ष्मा

वैद्य दरवारीलाल आयु० भिषक, अशोक भैषज्य-भवन, चौराहा कानपुर रोड,
फतेहगढ जिला फर्रुखाबाद (उ० प्र०)



आयुर्वेद मे राजयक्ष्मा के कई नाम है यथा क्षय रोग, रोगराज, यक्ष्मा, शोष आदि। ऐलोपैथी यानी डाक्टरी मे उसको ट्यूवरकुलोसिस, कन्जम्पशन, थायसिस तथा टी वी कहते हे। यूनानी हिकमत मे इसको तपेदिक या सिल कहते ह।

आयुर्वेदीय मत से रानयक्ष्मा उत्पन्न करने वाले चार कारण—

वेग रोगात्क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषोजायते यक्ष्मा गदो हेतु चतुष्टयात् ॥

अर्थ—(१) मल मूत्रादि के वेगो को रोकने से (२) शरीरान्तर्गत रस रक्तादि वीर्य आदि सप्त धातुओ के क्षय होने से (३) अपनी शक्ति से अधिक साहस के काम करने से और चौथा कारण है विषम भोजन करना। इन चार कारणो से त्रिदोषज राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है।

अनुलोम क्षय तथा प्रतिलोम क्षय के विचार से यह दो प्रकार का होता ह जिसकी व्याख्या निम्नलिखित हैं—

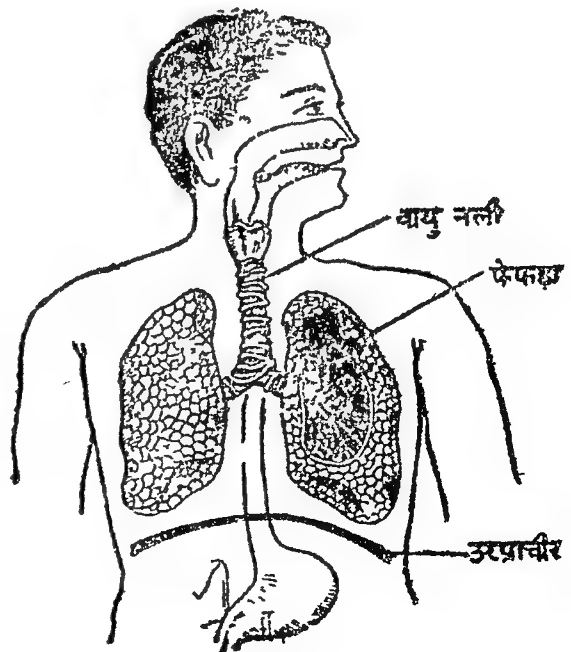
अनुलोम क्षय—जव उपरोक्त कारणो से रस धातु का क्षय हो जाता है तो इस धातु से उत्तरोत्तर वनने वाली धातुये रक्त, मास, मेदा, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र भी क्षय को प्राप्त हो जाती है और परिणामस्वरूप क्षय रोग प्रकट हो जाता है। इसको अनुलोम क्षय कहते है।

प्रतिलोम सय—अत्यन्त मैथुन करने वाले मनुष्य का जव वीर्य क्षीण हो जाता हे तो वीर्य के क्षीण होने से मज्जा क्षीण हो जाती हे, मज्जा सूखने से हड्डिया क्षीण होती है। इस प्रकार प्रतिलोम क्रम से मेदा, मास, रक्त, रस आदि सव धातुये क्षीण होती जाती हे और मनुष्य का शरीर सूख जाता है। इसे प्रतिलोम क्षय कहते हैं।

पूर्व रूप—

जव राज यक्ष्मा किसी को होना होता है तो उसके पूर्वरूप निम्नलिखित है—

श्वास, अगो मे सुन्नता, मु ह से कफ थूकना, तालु सूखना, वमन होना, मन्दाग्नि होना, मद या नशा सा रहना, पीनस, खासी तथा नीद अधिक आना, आखे सफेद हो जाना तथा खाने की अत्यन्त इच्छा होना, मैथुन की अत्यत



इच्छा होना। स्वप्नो मे कौआ, तोता, सेह, नीलकण्ठ, गीघ, वन्दर, गिरगिट पर अपने को सवार देखना, नदियो को पानी से रहित देखना और सूखे हुए वृक्षो को देखना अथवा आधी, धुआ, अग्नि से गिरते हुए और जलते हुए वृक्षो को देखना।

रूप—

तीन लक्षण वाला व छ लक्षण वाला व ११ लक्षण वाला इस प्रकार राज यक्ष्मा के तीन रूप या तीन अवस्थाये आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे वताई गई है जो नीचे लिखी जाती है।

तीन लक्षण वाली प्रथमावस्था—

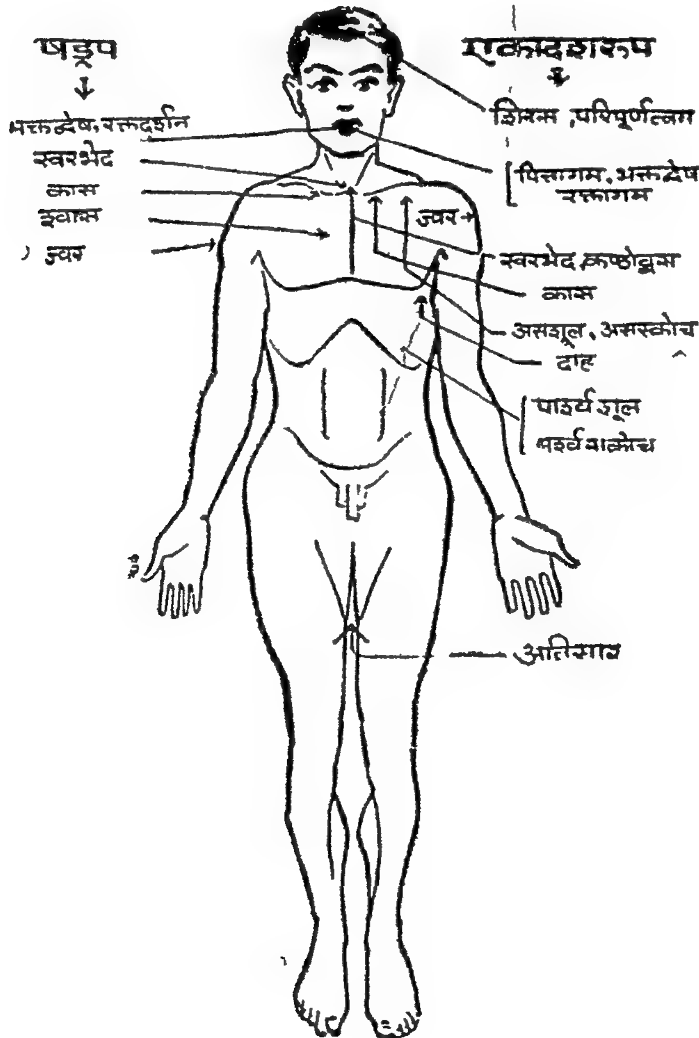
इससे कधो तथा दोनो पखवाडो मे दर्द रहता है, हाथ पैरो का तपते रहना तथा सारे शरीर मे ज्वर रहना ये तीन लक्षण हो तो राज यक्ष्मा की प्रथमावस्था समझो।

छ लक्षण वाली द्वितीयावस्था—

अग्नि मन्द हो जावे, ज्वर रहे, शीत लगे, खून और पीव की वमन हो, शक्ति या वल नष्ट हो जाय, शरीर सूखता जाय। छ लक्षण हो तो राज यक्ष्मा की द्वितीयावस्था समझो।

ग्यारह लक्षण वाली तृतीयावस्था—

यदि राज्यक्ष्मा उग्र हो तो उसमे वात पित्त कफ तीनो दोपो के लक्षण पाये जाते हैं। वायु से स्वर भेद (गला वैठना), शूल रहना, कधो तथा पसवाडो का सिकुड जाना ये तीन लक्षण होते है। पित्त से ज्वर रहना



दाह, अतिसार तथा नाक, मु ह आदि से रक्त निकालना ये चार लक्षण होते हे। कफ के कुपित होने से शिर का भारी रहना, भोजन की इच्छा न होना (अरुचि), खासी आना, कण्ठ का कफ मे भरा रहना जिससे ठीक आवाज न निकलना ये चार रूप होते है। ये सभी ११ रूप यदि किसी रोग मे हो जाय तो समझो कि यह त्रिदोपज राजयक्ष्मा है।

इसके अतिरिक्त राजयक्ष्मा के निम्नोंकित छ लक्षण भी होते है। यथा—

भक्त द्वेषे ज्वरः कासः श्वास शोणित दर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायन्ते षड्रूपे राजयक्ष्मणि॥

अर्थ—भोजन मे अरुचि, ज्वर, खासी, श्वास, खून का मु ह से निकलना, स्वर भेद (गला वैठना) ये छ लक्षण भी राजयक्ष्मा के होते है।

राजयक्ष्मा की साध्यसाध्यता—

पूर्वोक्त ग्यारह लक्षणो से युक्त अथवा खासी अतिसार पसलियो मे दर्द, स्वर भेद, अरुचि तथा ज्वर इन छ लक्षणो से युक्त अथवा ज्वर, खासी तथा खून निकलना इन तीन लक्षणो से युक्त राजयक्ष्मा के रोगियो की चिकित्सा सुयश चाहने वाला वैद्य न करे। क्योकि आयुर्वेदीय मतानुसार ऐसा रोगी असाध्य है। यदि सभी त्रिदोषज ग्यारह लक्षण हो या पूर्वलिखित छ लक्षण हो अथवा पूर्वोक्त तीन लक्षण युक्त राजयक्ष्मा हो और साथ ही मास क्षय हो गया हो तथा वल नष्ट हो तो ऐसी क्षीणता से युक्त रोगी का इलाज न करे। परन्तु यदि मास और वल क्षीण न हुआ हो तो चाहे तीन, छ या ग्यारह लक्षण ही क्यो न हो तो भी रोगी की चिकित्सा करे।

यदि राज यक्ष्मा का रोगी खाना तो अधिक खाये पर वह फिर भी सूखता जाये, अतिसार भी हो तथा जिसके अण्डकोप और पेट फूल गया हो ऐसे राज यक्ष्मा रोगी को भी असाध्य समझ कर चिकित्सा न करे।

जो रोगी जितेन्द्रिय हो, जिसकी अग्नि दीप्त हो, जो कृश (दुवला पतला) न हो तथा रोग नया ही हुआ हो ऐसे रोगी का इलाज करे। परन्तु जिसकी आखे श्वेत हो गई हो अन्न द्वेप करता हो, ऊर्ध्व श्वास से दु खी हो रहा हो तथा बडी कठिनता से जो वहुत अधिक पेशाव करता हो ऐसे रोगी को राजयक्ष्मा मार देता हे।

इसके अतिरिक्त व्यवाय शोप, शोक शोष, व्यायाम शोप, अध्व शोप, व्रण शोप तथा उर क्षत शोष—ये शोप रोग के भेद शास्त्रो मे कहे गये हे। ये धातुओ को क्षय करने वाले होने से क्षय ही कहे जाते हैं। इनके पृथक-२ लक्षण नीचे लिखे जाते हे—

व्यवाय शोप रोगी (अति मैथुन जन्य रोगी) वीर्य के क्षय होने के लक्षणो से युक्त होता हैं। वीर्य क्षय के लक्षण इस प्रकार है—मैथुन मे शक्ति न होना, लिंग तथा अडकोपो मे दर्द होना, देर से वीर्य का निकलना और निकलने पर भी थोडा वीर्य या रक्त निकलना, शरीर का पाडुरग का हो जाना। इस प्रकार वीर्य के क्षय होने से वीर्य से पहली पहली मज्जा आदि धातुये तथा पूर्व क्रम से क्षीण हो जाती हे। इसे व्यवाय शोप कहते है।

शोक शोथ रोगी सदा ध्यानमग्न रहता है, उसके अग ढीले-ढाले हो जाते हे तथा पूर्वलिखित व्यवाय शोषी के समान हो चिन्तित तथा वीर्य क्षय के विकारो से युक्त होता हे।

क्षीण वीर्य पुरुप के लक्षण—शरीर दुर्वल रहना, मुख सूखना, पाडुरग होना, शरीर सन्न रहना, सिर मे चक्कर आना, नपु सक हो जाना, वीर्य स्वय अजान मे ही निकल जाना ये सब शुक्र क्षय के लक्षण ह।

वार्धक्य (जरा, बुढापा) शोप रोगी--कृश हो जाता हे, मन्द वीर्य, मन्द बुद्धि, मन्द वल तथा मन्द इन्द्रियो वाला हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियो की शक्ति मन्द हो जाती हे। शरीर कापता है, अरुचि हो जाती है, टूटी हुए कासी के वरतन के समान स्वर टूट जाता ह। विना कफ का थूक थूकता हे। गौरव तथा अरुचि से पीडित रहता हे। आख, कान, मुख मे पानी निकलता रहता है। मल सूखा हुआ तथा सूखा सा निकलता है।

अध्व शोप के लक्षण—जो रास्ता अधिक चलने से थककर शोप रोग से ग्रसित हो जाय, उसके अग-प्रत्यग ढीले हो जाते ह। भुने हुए कठोर पदार्थ के समान शरीर का वर्ण हो जाता ह। शरीर के अग-प्रत्यङ्ग सोये हुए से रहते हे। क्लोम, गला तथा मुख सूखा हुआ सा रहता है।

व्यायाम शोप के लक्षण—इसके लक्षण भी अध्व शोप के लक्षण के समान ही होते है तथा विना छाती आदि मे क्षत होने पर भी उसके लक्षण आगे कहे जाने वाले

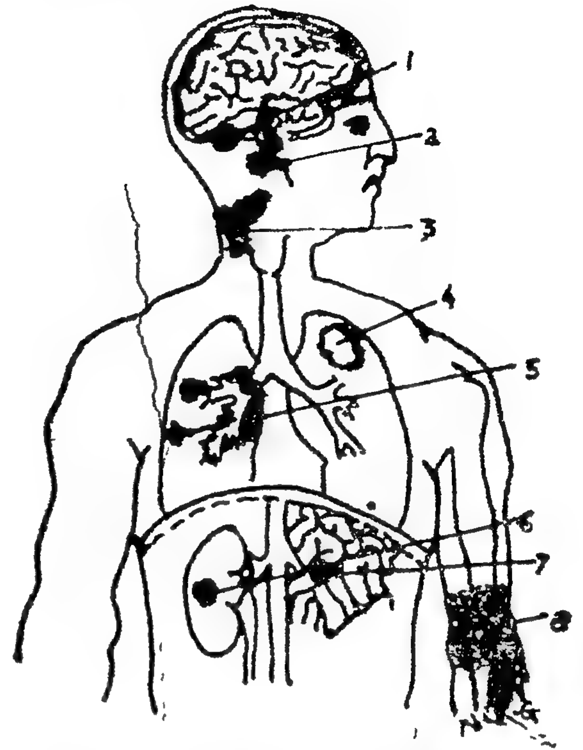
उर क्षत रोग के लक्षणो के समान होते है।

व्रण शोष रोग के लक्षण—कोई क्षत (घाव) या नासूर होने म जब रक्त अधिक मात्रा मे शरीर से निकल जाय तब पीडा से तथा आहार न खाने मे रस, रक्त आदि धातुओ का क्षय होता है जिससे शरीर मे शोष रोग हो जाता हे। ऐसे व्रण रोगी का शोष असाध्यतम होता है।

राजयक्ष्मा पर पाश्चात्य मत

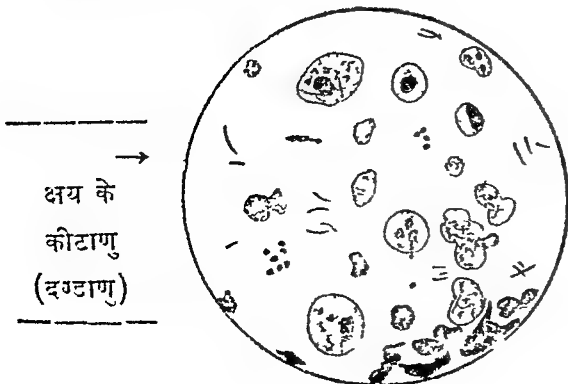
पुराना ब्राकाइटिस (वायु नली भुज प्रदाह, जीर्ण कास), फेफडो मे गुटिका दोष, फेफडो की धमनी मे खून के थक्के अटकना, वार वार प्रतिश्याय (सर्दी-जुकाम) होना, सील भरी और तर जमीन मे रहना, रुई, पाट की धूल आदि का लगातार फेफडो मे प्रवेश करना वहुत ज्यादा धातुओ का क्षय, अधिक शराव पीना, रात्रि मे जागरण करना आदि कारणो से यह वीमारी होती हे।

यक्ष्मा दण्डाणु का उपसर्ग मनुष्य शरीर पर अनेक प्रकार से होता है। यथा—फेफडो की राजयक्ष्मा वाले रोगी का यक्ष्मा दण्डाणु युक्त कफ और थूक इधर-उधर थूकने से सूख जाने पर चूर्ण रूप होकर धूल मे मिल जाता है और धूल के साथ उडकर उसमे रहते हुए यक्ष्मा दडाणु अन्य व्यक्तियो के श्वास मार्ग मे प्रवेश करके रोग पैदा करते हैं। इसी प्रकार यक्ष्मा रोगी का कफ व थूक घास फूस पर पडने से घास मे यक्ष्मा के कीडे प्रविष्ट हो जाते हैं और उस घास को जब गाय खाती हे तो गाय भी रोगाक्रात हो जाती हे। फिर उस गाय का दूध विना पकाये पीने वाले व्यक्तियो के पाचन सस्थान मे यक्ष्मा दण्डाणु पहुच कर रोग को उत्पन्न कर देते है। इसके अतिरिक्त चुभन, खासी, सक्रमित खाद्य-पेय, सक्रमित वस्त्र (त्वचागत व्रणो के मार्ग से) विन्दूत्क्षेप आदि से भी सक्रमण होता है। गर्भिणी को यह रोग होने पर गर्भस्थ शिशु प्राय रोग मुक्त ही रहता है किन्तु जन्म के बाद दुग्ध आदि के द्वारा सक्रमण हो जाता हे, वैसे अपरा द्वारा भी सक्रमण हो सकता है।



क्षय जीवाणु (वेसिलस ट्युबरकुलोसिस) द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग

१—क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ २—कर्ण शोथ या पूय शोथ ३—कण्ठ शालूक शोथ ४—फुफ्फुसीय ५—फुफ्फुसीय लसिका ग्रन्थियो का प्रारम्भिक क्षय ६—वृक्कस्थ यक्ष्मा ७—आत्र-क्षय ८—अस्थ क्षय



क्षय के कीटाणु (दण्डाणु)

यक्ष्मा दण्डाणु आमाशय को छोडकर शरीर के किसी भी अङ्ग मे रोग पैदा कर सकते है। जिन अगो पर रोग का प्रभाव पडता है उसका नाम उस प्रभावित अग का नाम जोडकर रखा जाता है। जैसे फेफडो पर रोग का प्रभाव पडने पर फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा (फेफडो की क्षय) आतो पर रोग का प्रभाव पडने पर आन्त्रिक राजयक्ष्मा (आतो की क्षय), त्वचा पर रोग का प्रभाव होने पर त्वचागत राजयक्ष्मा, हड्डियो पर यक्ष्मा का आक्रमण होने पर अस्थिगत राजयक्ष्मा (हड्डियो की क्षय) आदि।

सभी स्थानो पर लगभग एक ही प्रकार की विकृति उत्पन्न होती है परन्तु अलग अलग स्थानों की यक्ष्मा के लक्षणो मे बहुत अधिक अन्तर होता है। जब शरीर के किसी भी अग मे यक्ष्मा दडाणु पहुच कर स्थित हो जाते है वहा की धातुओ मे प्रतिक्रिया होकर अनेक प्रकार के कणो की उत्पत्ति होती है जो यक्ष्मा दण्डाणु को चारो ओर से घेर कर एक ग्रन्थि (गाठ) बना देते है। ये ग्रन्थिया इतनी सूक्ष्म होती है कि इनको आखो से नही देख सकते केवल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से ही देखी जा सकती है। इनका नाम 'यक्ष्मि' (क्षय की गाठ) है जिसे ऐलोपैथी मे ट्यूबर-किल कहते है। इस प्रकार की अनेक यक्ष्मियो के मिलने से एक धूसर यक्ष्मि बनती है जो सरसो के बराबर आकार मे होती है। इनका आकार क्रमश बढता रहता है तथा यक्ष्मा दडाणु मे उत्पन्न होने वाले विष के प्रभाव से तथा रक्त सचालन मे बाधा पहुचने पर क्षय ग्रन्थि (यक्ष्मि) के भीतर स्थित पदार्थ एक पीले चिपचिपे पदार्थ (जिसे किलाट कहते) मे बदल जाते है। इसे किलाटीभवन कहते है। इससे यक्ष्मि का रग पीला हो जाता है, इसीसे इसे पीत यक्ष्मि कहते है। यह पीत यक्ष्मि काफी बडी होती है। कभी-२ इसका व्यास १-२ मिमी तक हो सकता है। किलाटी भवन के बाद द्रवीभवन और पाक होता है जिससे विवर-गड्ढे (केविटी) बन जाते है या सौत्रिक तन्तुओ की उत्पत्ति होकर और चूने (कैल्शियम) का अन्तर्भरण होकर रोपण हो जाता है।

यक्ष्मि के आस पास के अगो मे रक्ताधिक्य हो जाता है और प्रदाह भी हो सकता है। आसपास की रक्तवाहि-नियो की दीवारे मोटी हो जाती है जिसके कारण उनकी नलिया सकुचित हो जाती है और कभी-२ उनमे रक्त जम जाता है।

राजयक्ष्मा कई प्रकार का होता है जिनका विवरण नीचे लिखा जाता है—

(१) श्यामाकीय राजयक्ष्मा जिसके निम्नलिखित भेद है—

[अ] तीव्र श्यामाकीय राजयक्ष्मा (आशुकारी पिडिका-मय राजयक्ष्मा), आन्त्रिक प्रकार या आन्त्रिक ज्वर सदृश प्रकार (टायफायड टाइप), श्वासमार्गीय प्रकार अथवा फुफ्फुस नलिका प्रदाह प्रकार, मस्तिष्कावरणीय प्रकार या राजयक्ष्मा जन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह।

[ब] अनुतीव्र श्यामाकीय राजयक्ष्मा।

[स] चिरकारी श्यामाकीय राजयक्ष्मा।

(२) फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा जो निम्नाकित दो प्रकार की होती है—

[अ] तीव्र फुफ्फुस प्रदाह राजयक्ष्मा।

[ब] चिरकारी फोफ्फुसीय राजयक्ष्मा।

इन उपरोक्त प्रकारो मे से केवल फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा का वर्णन व चिकित्सा प्रस्तुत लेख मे दी जायेगी—

तीव्र फुफ्फुस प्रदाही राजयक्ष्मा—यह रोग अत्यन्त तेजी से बढता है, लक्षण गभीर होते है और अधिक्तर मारक होता है। इसका प्रभाव बालको और वयस्को पर समान रूप से पडता है। जब यक्ष्मा दण्डाणु बडी सख्या मे फेफडो मे प्रवेश कर जाते है और शरीर मे रोगरोधक क्षमता की अत्यन्त कमी हो जाती है तो इसकी उत्पत्ति होती है। सर्व प्रथम फेफडे के शिखर पर रोग का हमला होता है। ३-४ महीने बाद फेफडे शिखर के नीचे वाले अ श मे और दो तीन महीने बाद और भी नीचे के अ श पर इस तरह १०-१२ महीनो के भीतर समूचा फेफडा ही रोगग्रस्त हो जाता है और इसके बाद क्रमश एक फेफडे से दूसरे फेफडे पर भी रोग जा पहुचता है। फेफडो मे सरसो के आकार की असख्य यक्ष्मिया (क्षय ग्रन्थिया) उत्पन्न होती है तथा रक्ताधिक्य, शोथ एव सघनन होता है। प्रारम्भ मे साधारण प्रतिश्याय या श्वास नलिका प्रदाह होता है जो आगे चलकर फुफ्फुस नलिका प्रदाह का रूप धारण कर लेता है। ज्वर १०२° से १०४° तक रहता है। ज्वर की अपेक्षा नाडी और श्वास की गतिया अधिक तीव्र होती है। श्यावता भी उपस्थित रहती है। लगभग १ से ६ सप्ताह मे मृत्यु हो जाती है। अधिक श्वास कष्ट, श्यावता और अधिक धातुक्षय इसकी विशे-षताये है। तापक्रम मे अधिक चढाव उतार होते है और पसीना आता है। यदि शीघ्र ही मृत्यु न हो तो रोग का समय सामान्य फुफ्फुस प्रदाह की अपेक्षा लम्बा होता है और फेफडो मे विवर बन जाते है। कफ मे यक्ष्मा दडाणु पाये जाते है।

इसमे रोगी के जीवन का कोई भरोसा नही रहता है। किसी भी समय मृत्यु आकर उसको अपना ग्रास बना

सकती है। जो इससे बच जाते है उनको चिरकारी फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा हो जाता है।

चिरकारी फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा -आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे जिस राजयक्ष्मा का वर्णन है वह यही है। इस रोग मे फेफडो मे व्रणो की उत्पत्ति और रोपण दोनो क्रियाये साथ साथ चलती रहती है अर्थात् रोग और शरीर की प्रति कारक क्षमता मे निरन्तर युद्ध चलता रहता है। कभी कोई जीतता है और कभी कोई। इस प्रकार कभी लक्षणो का उपशमन होता है और कभी पुनराक्रमण होता है।

इसकी चार अवस्थाये निम्नलिखित होती है—

प्रथमावस्था मे यक्ष्मा दडाणु के प्रविष्ट होने से फेफडो मे ट्यूबरकल डिपाजिट अर्थात् क्षय ग्रन्थिया हो जाती है। यह यक्ष्मा की पहली अवस्था है। यक्ष्मा दडाणु फेफडो के किसी भी भाग की सूक्ष्म श्वास नलिकाओ के छोरो पर अवस्थित हुआ करते है। विशेषकर फेफडो के ऊपरी पिण्ड और विशेषत दाहिने फेफडे मे यह क्रिया साधारणत होते पाई जाती है।

द्वितीयावस्था—इसमे डिपाजिट वाले स्थान कडे और ठोस होजाते है और इनमे प्रदाह होता है। निमोनिया की दूसरी अवस्था मे फेफडा ठीक इसी तरह ठोस होजाता है। यही थाइसिस की दूसरी अवस्था है जिसको अग्रेजी मे कन्सोलिडेशन स्टेज कहते है।

तृतीयावस्था—कुछ दिनो तक इस तरह रहने पर ठोसपन का भाव चला जाता है और वहा छोटे-छोटे गड्ढे (केविटी) होने लगते है। इन गड्ढो मे फेफडो का क्षय हुआ अश, पीव आदि सचय होता है। यह क्षय की तीसरी अवस्था है। इसमे पीडित भाग गल कर तरल हो जाता है और किसी बडी श्वास नलिका की राह से कफ के साथ निकल जाता है तथा उस स्थान पर विवर बन जाता है। फिर क्रमश अन्य स्थानो पर भी यही क्रिया होती है। रोग प्रसार समीपस्थ भागो पर प्रत्यक्ष रीति से और दूरस्थ भागो में लसीका वाहिनियो व रक्त वाहिनियो तथा श्वास नलिकाओ के द्वारा परोक्ष रीति से होता है।

चतुर्थावस्था—इस अवस्था मे रोगी के मुंह से फेफडो के ये सब क्षय हुए अश, पीव आदि बलगम के साथ-साथ निकला करते हैं। यह चौथी अवस्था है। रोगी खाट मे उठ बैठ नही सकता, फेफडे बहुत निर्बल हो जाते है। जब खासी उठती है तब एकदम बदबूदार भारी कफ बाहर निकल पडता है। शिर पर पसीना आता है, हाफता रहता है। जिस तरफ का फेफडा ज्यादा निर्बल या बिगडा होता है उस ही फेफडे के दबने मे खासी बडी जोर से उठती है जिससे रोगी उस करवट से सो नहीं सकता, मूत्र के साथ धातु अधिक निकलती है, दस्त पतले आते, भूख मारी जाती, कभी-२ खून का दौरा भी पडता, मृत्यु के कुछ दिन पूर्व पावो पर सूजन आजाती है, सुस्ती अधिक रहने लगती है।

रोग यदि अधिक दिनो तक रह जाता है तो फेफडो के अलावा दूसरे-२ अग जैसे फुफ्फुसावरण झिल्ली (प्ल्यूरा) आतो को ढकने वाली झिल्ली (पेरीटोनियम), लसीका ग्रन्थिया, वृक्क (गुर्दा, किडनी), मस्तिष्क, स्वरयन्त्र, आतें, पाकस्थली, यकृत प्लीहा आदि पर बीमारी का आक्रमण होजाता है। इसको मिलियरी ट्यूबरकुलोसिस कहते है।

साध्यासाध्यता की विवेचना के लिए रोग की तीन अवस्थाये मानी गई है—

प्रथमावस्था—यदि विकृति एक ही फेफडे मे हो और दूसरी पसली से ऊपर के भाग मे हो और यदि दोनो फेफडो मे हो या केवल थोडा सा ऊपरी भाग ही आक्रांत हो। प्रारम्भिक अन्तर्भरणी क्रिया चल रही हो और रोगी चलता फिरता हो और उसको ज्वर हो।

द्वितीय अवस्था—यदि एक ही फेफडा आक्रांत हो तथा विकृति चौथी पसली से नीचे न फैली हो और यदि दोनो फेफडे आक्रात हो तो विकृति दूसरी पसलियो से ऊपर के स्थानो मे ही सीमित हो। घनीभवन हो चुका हो और किलाटीभवन की क्रिया प्रारभ हो रही हो तथा रोगी को चलने फिरने व कुछ परिश्रम करने पर भले ही ज्वर आजाता हो किन्तु लिटाकर आराम करने पर ज्वर न हो तो द्वितीयावस्था समझो।

तृतीयावस्था—रोग अधिक बढ गया हो, विवर बन चुके हो, लिटाकर आराम करने पर भी ज्वर रहता हो तो तृतीयावस्था कहेगे।

प्रथमावस्था साध्य, द्वितीयावस्था कष्टसाध्य, तृतीयावस्था अत्यन्त कष्टसाध्य या असाध्य होती है।

रोग का आरम्भ अनेक प्रकार से होता है—

(१) अधिकाश रोगियो मे प्रतिश्याय (जुकाम) होकर

यह रोग उत्पन्न होता है। रोगी जुकाम बिगड जाने की शिकायत करता है। बारम्बार प्रतिश्याय होना और जल्द अच्छा न होना, खासी अधिक आना और खासी के साथ ही श्वास फूलना तथा रक्त आना तथा ज्वर भी हो जाना।

(२) कुछ रोगियो मे फुफ्फुनावरण प्रदाह (प्लुरिसी) होने के बाद रोग उत्पन्न होता है।

(३) गण्डमाला रोग अधिकतर फौपफुसीय राजयक्ष्मा मे परिवर्तित हो जाता है।

(४) कभी कभी ज्वर आ जाना और साधारण उपचार से उसका चला जाना और फिर आ जाना परन्तु भूख कम हो जाना और खासी भी आने लगना और रात को खासी जोर से उठना और ज्वर थोडा बहुत हर समय बना रहना।

(५) रुई, ऊन की धुनाई की मिल आदि मे जहाँ गर्दगुबार अधिक उठती हो, काम करने वालो की नासिका द्वारा गर्दगुबार गले मे पहुचने से सर्व प्रथम खासी हो जाती है, गला दुखने लगता है। ऐसी हालत मे अगर कोई गर्म दवा पहुच जाती है तो खासी खुश्क हो जाती है, गले मे खराश पडने लगती है। खासते खाँसते कफ के साथ खून भी आने लगता है।

(६) अधिक दिनो तक गले मे कष्ट रहना अर्थात् गले में दर्द, बोलने मे कष्ट तथा स्वर भग रहना आदि यक्ष्मा के उत्पन्न होने के परिचायक लक्षण है जो यक्ष्मा दण्डाणु श्वास मार्ग द्वारा शरीर मे प्रविष्ट होते है वे सर्व प्रथम गले में ही निवास करते है। उनके बाद फेफडो मे जाते हैं और रोग उत्पन्न करते है।

(७) बहुत से रोगियो में सर्व प्रथम फेफडो से अचानक रक्तस्राव होता है और उनके बाद यक्ष्मा के अन्य लक्षण भी शीघ्रता से उत्पन्न हो जाते है।

(८) कभी-२ विषम ज्वर राजयक्ष्मा मे परिवर्तित हो जाता है। यदि विषम ज्वर सामान्य चिकित्सा से निश्चित अवधि मे शान्त न हो तो राजयक्ष्मा का सदेह करना चाहिए।

(९) कभी कभी इस रोग का प्रारम्भ अजीर्ण के लक्षणो मे अम्ल वमन, अम्लोद्गार, आध्मान आदि मुख्य, है और रक्त क्षय मे शरीर उत्तरोत्तर कमजोर होते जाना दिल में धडकन, भोजनोपरान्त कुछ ज्वर की ऊष्मा बढ जाना, स्त्रियो मे आर्तव क्षय या अनार्तव होना प्रमुख लक्षण है। नवयुवतियो और बालको मे अधिकतर ऐसा होता है।

(१०) कभी कभी अत्यन्त गुप्त रूप से बढता है। शुरु मे कोई लक्षण उत्पन्न नही होते और जब फेफडो मे काफी बडे विवर (गड्ढे) बन जाते है तब रोगी को रोग का ज्ञान होता है।

(११) प्रमेह का विधिवत इलाज न होने से निर्बलता बढ जाती है। ऐसी हालात मे यदि बार-२ प्रतिश्याय (जुकाम) हो जाता है और साथ ही खाँसी भी हो तथा ज्वर भी रहने लगे, हाथ-पाँव तथा आँखो मे जलन हो, भूख कम होती जाती हो तो समझो कि राजयक्ष्मा का प्रकोप हो गया है।

(१२) किसी किसी को अधिक भोजन करने पर भी शरीर मे वृद्धि नही होती दुर्बलता बढती जाती है, चेहरा पीला पड जाता है, स्वप्नदोष हो जाना है। रात्रि को या दिन को दो एक दस्त भी पतले हो जाते हो तो राजयक्ष्मा ही समझना चाहिए।

(१३) स्त्रियो मे प्रदर रोग होना भी राजयक्ष्मा का कारण बन जाता है, जिससे निर्बलता बढ जाती है और बाद मे ज्वर तथा खाँसी भी हो तो राजयक्ष्मा प्रकट हो जाती है।

(१४) कभी कभी बच्चा पैदा होने के बाद, नहाने धोने व सर्दी लग जाने से प्रतिश्याय (जुकाम) हो जाता है और उसी मे ज्वर भी आने लगता है। अगर उसका ठीक इलाज न हुआ तो आगे चलकर यही राजयक्ष्मा की बीमारी बन जाती। निर्बलता बढ जाती है, ज्वर लगातार रहने लगता है, खाँसी, श्वास दु खी करने लगते है। खाया हुआ भोजन पचता नही और भूख मारी जाती है।

यक्ष्मा के प्रधान लक्षण—

१ वक्ष (छाती) मे पीड़ा प्रारम्भ से ही हो सकती है, किसी किसी को अन्तिम समय तक नही होती है। यह पीडा फेफडो को ढकने वाली झिल्ली मे प्रदाह होने से होती है। यह तीव्र भी हो सकती है और सामान्य भी हो सकती है। अधिकतर वक्ष के निचले भाग मे होती है। किसी किसी को कन्धे के पास होती है।

२ कास—अधिकाश रोगियो मे यह सबसे पहले

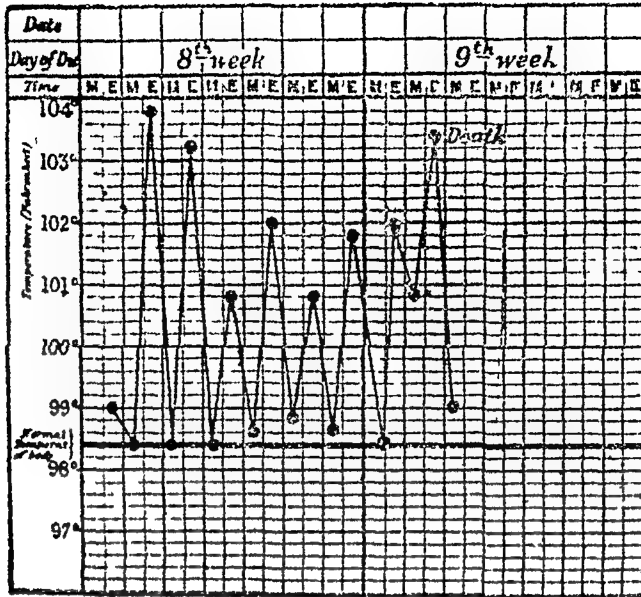
प्रकट होती है और अन्त तक रहती है। शुरू मे सूखी उत्तेजक रहती है उसमे जो बलगम निकलता है उसके साथ फेन रहता है। इसके बाद बीमारी धीरे-धीरे ज्यो ज्यो पुरानी होती जाती है त्यो त्यो यह फेन फिर नही मिलता, पीव की तरह पीला या हरे रग का बलगम (कफ) निकलता है। यह निकला हुआ बलगम पानी मे डालने पर बहुत देर तक अलग ही तैरता रहता है। खाँसी पहले सूखी खुसखुमी रहती है फिर तर यानी ढीली हो जाती है। पर इसके बाद क्रमश रोग बढने के साथ ही साथ जितनी पुरानी होती जाती है यक्ष्मा की खासी प्राय सभी समय आया करती है। परन्तु प्रात काल या सोकर उठने के बाद अधिक सताती है। थोडे मे परिश्रम से यहाँ तक कि हिलने डोलने पर भी खाँसी बढती है। कभी कभी इतने वेग से आती है कि वमन हो जाता है और पोषण के अभाव से शीघ्र ही रोगी अत्यन्त कमजोर हो जाता है। जब रोग पूर्णरूप मे होजाता है तो रात्रि मे खासी अधिक आती है जिससे नीद आना कठिन हो जाता है। स्वरयत्र मे भी उपसर्ग हो जाने पर खासी ठसके के रूप मे बदल जाती है। अपवादस्वरूप कुछ मामले ऐसे भी मिलते है जिनमे एक फेफडे मे विवर बन चुकने पर भी खासी नही होती है। ऐसी दशा मे निदान मे गडबडी होने की सम्भावना रहती है। ज्यो ज्यो किलाटीभवन होता है त्यो त्यो कफ (बलगम) अधिक मात्रा मे और अधिक पूययुक्त निकलता है। विवर बन जाने पर विशेष प्रकार का थक्केदार हरिताभ धूसर वर्ण का कफ निकलता है जो जल मे डालने पर डूब जाता है। इसमे यक्ष्मा दण्डाणु पाये जाते हैं। रोगी के कफ मे एक गहरी विशेष प्रकार की मीठी गन्ध पाई जाती है। किन्तु फेफडो मे सडने की क्रिया होने पर दुर्गन्ध आने लगती है।

३ रक्तष्ठीवन (मुह से रक्त निकलना)—यह लक्षण रोग की सभी अवस्थाओ मे रह सकता है। पहली अवस्था में यह दिखाई देता है कि मनुष्य खूब अच्छा है, घूम फिर रहा है, एकाएक गले मे सुरसुरी होने लगी, कुछ थोडी सी खासी आने लगी। इसके साथ ही बहुत ज्यादा परिमाण में खून निकलने लगा। कभी कभी ऐसा भी होता है कि पहले थोडी-थोडी खाँसी आती है, खाँसी के साथ खून के छींटे रहते है। कुछ दिनो तक ऐसा ही हुआ करता है, इसके बाद कुछ दिनो तक बद हो जाता है और फिर खून निकलने लगता है। कितनी ही बार इस तरह से खून निकलना ही इस बीमारी का प्रधान लक्षण हो जाता है। कुछ मामलो मे रक्तष्ठीवन का कोई स्पष्ट कारण नही मिलता किन्तु अन्य मे अत्यधिक परिश्रम, वक्ष पर आघात आदि कारण मिल सकते हैं। लगभग सभी प्रकार के रक्तष्ठीवन के मामले राजयक्ष्मा से सम्बन्धित हो सकते है। रक्तष्ठीवन के सभी मामलो मे विशेषत नई उम्र वालो मे राजयक्ष्मा का सन्देह करना चाहिये। प्रारम्भ की अवस्थाओ मे होने वाला रक्तष्ठीवन अधिकतर थोडे से स्थान मे किलाटीभवन होने के कारण या श्वास नलिकाओ की श्लैष्मिककला का क्षरण होने के कारण होता है। इसमे (थोडी मात्रा मे यानी १५ मि ली से कम रक्त निकलता है)। यदि अधिक भी निकलता है तो इतना नही निकलता कि उसके कारण प्राण सकट की स्थिति हो सके। कभी-कभी रक्तष्ठीवन किसी विवर की दीवार मे स्थित रक्तवाहिनी का क्षरण होने से या फौपफुसीय धमनी के फटने से होता है। इस दशा मे रक्त अधिक निकलता है जो १ पाइन्ट से अधिक हो सकता है और अधिक रक्तस्राव के कारण तत्काल मृत्यु भी हो सकती है।

रक्तष्ठीवन अचानक होता है। एकाएक रोगी को मालूम पडता है कि उसके मुह मे कुछ गर्म-गर्म सा खारा पदार्थ आ गया है। ज ' वह उसे थूकता है तब पता चलता है कि रक्त है। इसके बाद कई दिनो तक थोडा-२ खून निकलता रहता है। कुछ रोगियो मे खाँसी मे कफ के साथ रक्त निकलता है। कुछ रोगियो मे विवर के भीतर रक्तस्राव होने पर भी रक्तष्ठीवन नही होता।

रक्तष्ठीवन मे निकला हुआ रक्त अधिकतर चमकदार लाल वर्ण का फेनदार और कफ मिश्रित रहता है। किन्तु जब बडी मात्रा मे निकलता है तब उसका रग गहरा हो सकता है। इस रक्तष्ठीवन के रक्त की परीक्षा करने पर यक्ष्मा दण्डाणु अधिकाश मामलो मे मिल जाते हैं।

४ ज्वर—यक्ष्मा का ज्वर दिन रात बना ही रहता है। प्रात काल बुखार कुछ घटता है। ९९–१०० डिग्री रहता है, पर तीसरे पहर १०१।१०२ डिग्री तक बढ़ जाता है। ज्वर आने के पहले कुछ सर्दी सी मालूम होती है, परन्तु मलेरिया की तरह कपकपी नही होती, ज्वर



राजयक्ष्मा रोगी का तापमान चार्ट

भोगने के समय पसीना होता है, बीमारी की पहली अवस्था मे पसीना न रहने पर भी अन्तिम अवस्था मे बहुत ज्यादा पसीना रात मे ही ज्यादा होता है। इसलिए इसे निशाघर्म [रात का पसीना] कहते है। ऐसा देखने मे आता है कि यक्ष्मा का ज्वर कुछ दिनो तक कुछ घण्टा रहता है। इसके बाद एकाएक बढ जाता है। इसका कारण यह होता है कि जब नयी यक्ष्मा ग्रन्थि उत्पन्न होती है, उस समय फेफडो मे रक्त सचय अधिक हो जाता है, फेफडा ठोस हो जाता है, उस समय ज्वर बढ जाता है और जब यह कम होता है तो उस समय ज्वर भी घट जाता है। दो-दो घण्टा बाद थर्मामीटर से परीक्षा करते रहने से रोग के घटने बढने का ज्ञान होता रहता है। रोग की द्वितीयावस्था मे सतत प्रकार का ज्वर अधिकतर तीव्र फुफ्फुस प्रदाह के कारण होता है।

५ दौर्बल्य—इसमे रोगी दिनोदिन दुबला होता जाता है। हृदय मे धडकन होती है, शरीर का वजन कम होता जाता है। शरीर की सब पेशियो और चर्बी का क्षय होता है। इसलिए शरीर सूखता जाता है और चमडा भी सूख जाता है। किसी रोगी को खुसखुसी खासी आये और वह दिन प्रतिदिन दुबला होता जाये तो समझे कि इस पर यक्ष्मा रूपी महाकाल का आक्रमण हो गया है।

यदि किसी रोगी को लगातार खासी आवे शरीर दिनोदिन सूखता जाय, देर तक कामकाज करने से असमर्थ हो जाय, धीमा-२ ज्वर रहने लगे, पाचनशक्ति नष्ट हो जाय तो यक्ष्मा का सन्देह करना चाहिए और ऐसी दशा मे उसके रक्त, फेफडा, कफ आदि की विधिवत् परीक्षा कराकर रोग का निर्णय शीघ्रातिशीघ्र कराकर समुचित चिकित्सा करानी चाहिए। एक्सरे द्वारा फेफडो का चित्र लेने से तथा वक्ष की स्क्रीनिंग कराने से रोग का निदान सुविधापूर्वक तथा निश्चयात्मक हो जाता है।

इस रोग मे उपद्रवस्वरूप स्वरयन्त्र प्रदाह, श्वास नलिकावरोध, फुफ्फुसावरण प्रदाह, वातोल्बणता, श्वास नलिका प्रसार, फुफ्फुस प्रदाह, नासिकाग्रन्थि प्रदाह, अतिसार, उदरावरण प्रदाह, आमाशयप्रदाह, हृदयावरणप्रदाह, वृक्क मूत्राशय अष्ठीला, शुक्र नलिका आदि का राजयक्ष्मा, श्यामाकीय राजयक्ष्मा, कशेरुकीय यक्ष्मा, यकृतविकार आदि रोग हो सकते है।

राजयक्ष्मा में वक्ष परीक्षा—

प्रथम अवस्था मे कुछ अधिक समझ मे नही आता पर खूब ध्यान से अच्छी तरह देखने पर निम्नलिखित लक्षण मिलते है—

स्टेथिस्कोप से सुनने पर स्वाभाविक शब्द वेसीकुलर मरमर कुछ घट जाता है। इनस्पिरेटरी मरमर यानी श्वास लेने के समय यह शब्द तरग की तरह होता है और उसके भीतर एक तरह की कुड कुट आवाज मिलती है। खासने पर कुछ देर तक यह आवाज नही रहती।

आघातन से अर्थात् अगुली से ठोकने पर स्वाभाविक रेजोनैन्स (प्रतिध्वनि) कुछ घटी हुई मिलती है। उसके अलावा रोगी के पार्श्व मे हसली की हड्डी के नीचे तल हत्थी रखकर परीक्षा करने पर श्वास प्रश्वास की गति हाथ मे बहुत कम अनुभव मे आती है।

द्वितीयावस्था मे फेफडा ठोस हो जाता है। स्टेथिस्कोप से सुनने पर वोकल रेजोनैन्स (बोलने की प्रतिध्वनि) बढ जाती है। ब्राकोफोनी (शीशी मे फूकने की तरह की आवाज) वायु नली भुज की प्रतिध्वनि आती है।

आघातन से थोटी ठोस आवाज मिलती है।

इसके अतिरिक्त हसली की हड्डी के ऊपर और नीचे वाले अश कुछ गड्ढे मे होकर नीचे धस जाते है। तल

हृदयी मे श्वास प्रश्वास की गति का शब्द बहुत कम अनुभव मे आता है।

तृतीयावस्था मे ठोस भाव चला जाता है और फेफडे के गड्ढे मे तरल रस इकट्ठा होता है। स्टेथिस्कोप द्वारा सुनने पर ब्राकोफोनी (वायु नली भुज की प्रतिध्वनि) ब्राकियल ब्रीदिंग और नाना प्रकार की घर-घर आवाज मिलती है। फूटे वर्तन की सी आवाज आती है। गह्वर यदि कम गम्भीर हो तो फूटने की सी ध्वनि सुनाई देती है।

चतुर्थावस्था—इस अवस्था मे फुफ्फुस क्षय होता है। स्टेथिस्कोप द्वारा सुनने पर जहाँ गड्ढे होते है वहा बब्लिंग साउन्ड (बुलबुले फूटने की तरह की आवाज—बुदबुद शब्द कैवर्नस ब्रीदिंग और ब्राकोफोनी की आवाजे पाई जाती है। कैवर्न ब्रीदिंग—किसी छेद या किसी खोखली चीज के भीतर से जोर से हवा जाने आने पर जो एक तरह की सो सो आवाज होती है उसी तरह का शब्द।

आघातन द्वारा—फेफडे का जो अंश ठोस रहता है वहा डल साउण्ड और जहा गड्ढा रहता है वहाँ रेजोनैंस (प्रतिध्वनि) मिलती है।

ऊपर कही हुई तीसरी और चौथी अवस्था मे रोगी के बाहरी अंग देखने पर भी कितने विषम लक्षण मिलते हैं। सीने के ऊपर पसलियो की हड्डिया अलग अलग और नीचे की हड्डी सटी सटी दिखाई देती है। फेफडे अच्छी तरह सिकुड और फैल न सकने के कारण सास खीचने और छोडने के समय ऊंचे नीचे नही होते। जहा गड्ढा हो जाता है वह स्थान सिकुडा रहता है, सीना लम्बा, सकरा, चपटा दिखाई देता है। हृत्पिण्ड का घात प्रतिघात सीने की दाहिनी तरफ तक पाया जाता है।

क्षय की प्राचीन परीक्षा पद्धति—जिस प्रकार खो-खो खेलने मे खिलाडी घुटनो को मोडकर पैर पर बैठते है उसी प्रकार रोगी को बिठावे और रोगी अपने दोनो हाथ घुटनो के मध्य (पैरो के मध्य नही) कर हथेलियो को जमीन पर जमा ले। अगुलिया जमीन से चिपकी हुई पर फैली हुई रहे। हथेलिया दोनो पजो के बीच मे रहे तथा हाथ सीधे तने हुये हो। ऐसी स्थिति मे बैठ जाने के बाद रोगी से कहिये कि वह अपने हाथो को, हथेलियो को और अन्य अगुलियो को हिलाये बगैर एक अगुली जमीन से उठाये तथा फिर उसे जमीन पर रखकर दूसरी अगुली उठाये। इसी प्रकार एक हाथ की छोटी अगुली मे यह परीक्षा प्रारम्भ होकर दूसरे हाथ की छोटी अगुली पर समाप्त हो जाती है। इस विधि मे बाया हाथ बायें फेफडे का तथा दाहिना हाथ दायें फेफडे का परिचायक होता है तथा अगुलिया इनमे होने वाली विकृति की परिचायक होती है। इसका क्रम ऊपर से नीचे की ओर एक हाथ मे तथा दूसरे में नीचे से ऊपर की ओर जाता है। जिस तरफ फेफडे मे विकृति होगी उस तरफ के हाथ की उसमे सम्बन्धित अगुली जमीन से उठेगी नही तथा विकृति नही हुई तो सभी अगुलिया जमीन से उठ जायेंगी।

क्षय रोग को पहचानने के लिए तथा रोग की कमीबेशी जानने के लिए सदैव अपने वल की जाच करनी चाहिए। यदि शरीर की तौल दिन प्रतिदिन कम होती जाती हो तो जान लो कि क्षय रोग का प्रारम्भ हो गया है तथा रोग धीरे-२ बढ रहा है। यदि शरीर का वजन बढता है तो समझो कि स्वास्थ्य लाभ हो रहा है।

रोग की साध्य असाध्य अवस्था जानने के लिए रोगी के कफ को किसी पानी भरे वर्तन मे डालिये। यदि कफ पानी मे तैरता रहे तो समझो कि रोग अभी चिकित्सा के योग्य है। अभी कफ के साथ पीव या धातु का आना शुरु नही हुआ। यदि कफ पानी मे डूब जाय तो, रोग का आराम होना कठिन समझो।

फेफडो की खराबी जानने के लिए रोगी से कहे कि वह श्वास को भीतर खीचकर खूब भर ले तथा फिर उस श्वास को धीरे-२ निकाले तथा श्वास निकालते हुए धीरे धीरे एक दो तीन गिनती गिनता जाय। यदि उसका श्वास २५-३० गिनती तक छूटता है तो समझो कि उसका फेफडा ठीक है तथा उसकी चिकित्सा करने से वह ठीक हो सकता है।

आयुर्वेद मतानुसार राजयक्ष्मा की चिकित्सा—

आजकल अधिकाश रोगी प्राय "प्रतिश्यायदथो कास कासात् सजायते क्षय" अर्थात् शुरु मे प्रतिश्याय (जुकाम), प्रतिश्याय से खासी, खासी से क्षय सिद्धात वाले अधिक पाये जाते हैं। इसीलिए प्रतिश्याय तथा खासी की उपेक्षा नही कर उचित प्रभावी उपचार करना चाहिए।

१ जिनको सूखी खासी आती हो, हाथ-पैर के तलवे

गर्म रहते हो या उनमे जलन होती हो, कधो मे भारीपन हो, निर्बलता बढती जाती हो, कभी कभी ज्वर भी बढ जाता हो, भूख कम लगती हो तो ऐसी हालत मे अभ्रक भस्म, शृङ्ग भस्म, नागिलोय, प्रवाल भस्म मुक्ताशुक्ति पिष्टी, मण्डूर भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म १ १ रत्ती, बसन्त मालती रस स्वर्णयुक्त १/२ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशे लेकर मिलाले। यह एक मात्रा हुई ऐसी १-१ मात्रा प्रात, दोपहर, साय उत्तम गोघृत १ माशा, असली मधु १।। माशा मे मिलाकर चटावे अथवा आगे लिखे हुए कासारि शर्बत की १ चम्मच मे मिलाकर चटावें।

भोजन के बाद दिन मे २ बार द्राक्षासव १।-१। तोले समान भाग पानी मिलाकर पिलाये। रात को गाय के दूध का पीपल डालकर बनाया हुआ क्षीर पाक पिलाये।

२ जिनको उपरोक्त बातो के साथ ज्वर सदैव थोडा थोडा बना रहता हो, शाम के समय बढ जाता हो, खासी अधिक आती हो तथा अधिक खासने पर थोडा कफ निकलता हो तब उन्हे मृगाक रस १/२ रत्ती, प्रवाल भस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, मण्डूर भस्म १-१ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १।। माशा मिला १ मात्रा बना ऐसी १-१ मात्रा प्रात दोपहर साय १-१ चम्मच कासारि शर्बत मे चटाये (निर्माण विधि आगे देखें)। ऊपर मे अमृतारिष्ट १-१ तोला मिलाकर पिलाये।

दिन मे दो बार ६ बजे व ३ बजे १-१ तोला च्यवनप्राश चटा कर ऊपर से द्राक्षारिष्ट १।-१। तोला समान भाग पानी मिलाकर पिलाये।

भोजनोपरात दिन मे दो बार द्राक्षासव १।-१। तोले बराबर पानी मिलाकर पिलावे। रात को बसत कुसुमाकर रस १ रत्ती मधु मे चटाकर ऊपर मे पीपल डालकर बनाया हुआ क्षीर पाक पिलाये। शरीर मे चन्दनादि तेल की मालिश कराये।

३ जिनको उपरोक्त बातो के अतिरिक्त साथ मे निर्बलता अधिक हो, श्वास जल्दी जल्दी चलती हो, कफ के साथ खून भी आता हो, भूख कम हो, पाचन शक्ति निर्बल हो उनकी चिकित्सा मे बडी सावधानी की जरूरत है। उन्हे दवाये जो ऊपर न० २ मृगाक आदि लिखी हे वही दी जायेंगी। खून रोकने के लिए द्राक्षासव के स्थान पर उशीरासव पानी मिलाकर पिलाये। दिन मे दो बार बोलबद्ध रस २-२ गोली या बोल पर्पटी ४ ४ रत्ती दूब के रस तथा मधु मे मिला चटाये एव ऊपर मे बबूल की कोपल, अनार के पत्ते, आमला, धनिया उनसे ६-६ ग्राम लेकर १२५ मिली० (दो छटाक) पानी मे रात को भिगो दें। प्रात मल छानकर मिश्री १२ ग्राम मिला दो मात्रा बना एक एक मात्रा पिलाये।

रक्त रोकने के लिए निम्नाङ्कित रक्तरोधक मिश्रण चमत्कारी लाभ करता हे। शरीर के किसी भी अङ्ग से रक्तस्राव हो रहा हो ६ मात्रा मे ही रक्तस्राव रोक देता है चाहे कफ के साथ रक्त आवे, चाहे बवासीर मे रक्त आये, चाहे रक्तप्रदर मे रक्तस्राव हो, चाहे नाक मे रक्तस्राव हो सभी प्रकार के रक्तस्राव की प्रभावशाली दवा है—

घटक व निर्माण विधि—प्रवाल पिष्टी, मुक्ताशुक्ति पिष्टी, स्वर्ण माक्षिक भस्म, दम्मुल अखबैन, लाल फिटकरी की खील, सत गिलोय, अकीक भस्म तथा स्वर्ण गेरू सभी समान मात्रा मे लेकर मिलाले। मात्रा ३/४ ग्राम [६ रत्ती] दिन मे दो बार शर्बत अनार मे चटावें।

कासारि शर्बत निर्माण विधि—गुलबनफ्सा, गावजवा, उन्नाब, खतमी, लहसोरे, मुलहठी, गिलोय, सोमकल्प, मुनक्का १२-१२ ग्राम, अडूसे के पत्ते व जड की छाल व फूल मिलाकर ५० ग्राम, कालीमिर्च ३ ग्राम लेकर जौकुट कर १० गुने पानी मे शाम को भिगोदे। प्रात काल उसको अग्नि पर चढाकर गर्म करे। जब गर्म करते करते दो तीन भाग पानी जल जाय और एक भाग शेष रह जाय तब उतार कर मलकर छान ले और उस छने हुए पानी मे समान भाग मिश्री मिलाकर चूल्हे पर चढाकर गर्म करे। जब शर्बत की चाशनी ठीक बन जाय तब उतारकर कपडे से छानकर शीशी मे मजबूत डाट लगाकर रख ले। बस खासी जुकाम की दवा बनकर तैयार हो गई। तैयार होने पर हर पौड वाली शीशी मे ४-४ बू द गृह निर्मित अमृत द्रव (अमृत धारा) मिला दे। इससे इसके गुण बढ जाते है तथा कभी उसमे भुकडी नही लगती हे। शर्बत पकाते समय जितनी मिश्री काढे मे डाली जाती है उसका डेढ गुना जब रह जाय तब पकाना बन्द करके बर्तन को

आग पर से उतार ले तो शर्बत ठीक बनता है। न गाढा बनता है कि जम जाय और न पतला बनता है कि उसमे कालान्तर मे किण्व क्रिया होकर बिगड जाय।

रात्रि मे स्वेद अधिक आता हो तो प्रवाल भस्म मधु से कुछ दिन चटायें।

रीढ के क्षय पर प्रवाल पचामृत २०० मि ग्राम पिप्पली चूर्ण २०० मि ग्रा मिला मधु से प्रात साय चटाए और भोजनोपरात द्राक्षासव पिलाये।

क्षय रोगी के पीने वाले पानी मे थोडा कपूर डाल दे और वही पानी पीने को दे। इससे क्षय कीटाणु मर जाते है। फेफडो के घाव भर जाते और ज्वर की तेजी कम हो जाती है।

फेफडे की क्षय पर लहसुन का प्रभाव चमत्कारी रूप से पडता है। इसका निम्नलिखित विधि से इजेक्शन बना मास मे ७२ घटे बाद लगाये। विधि—रसोन स्वरस ३ व द्राष्प जल (डिस्टिल्ड वाटर) २ मि लि मिला ले। बस इजेक्शन के लिये दवा तैयार हो गई। इजेक्शन के अतिरिक्त रसोन कल्क से सिद्ध किये हुए तेल की मालिश करे और लहसुन की कलियो को गौघृत मे तलकर खाये और ऊपर से गरम गौ दुग्ध पिये। लहसुन से सिद्ध दूध पिलाने मे क्षय मे कफ की वृद्धि को रोकता, श्वास, कास मे लाभदायक, गडमाला अपची मे भी हितकारी है। लहसुन क्षय कीटाणुओ को नष्ट करता है।

वर्द्धमान पिप्पली योग क्षय रोग की सफल चमत्कारिक दवा है।

यक्ष्मा रोगी को काली बकरी का धारोष्ण दूध अत्यधिक लाभकारी है। दूध को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये निम्नांकित विधि काम मे लानी चाहिए—

जिस बकरी का दूध लिया जाय उसे निम्नलिखित दवाओ का मोटा चूर्ण ६० ग्राम, जौ का आटा २५० ग्राम, घी ३० ग्राम, मिश्री या शकर दाना ३० ग्राम मिला रोटी बना आग पर सेककर खिलाये और सेधानमक का ढेला उसके पास रख दे, उसको भी वह चाटती रहे।

असगन्ध, शतावर, मूसली सफेद, समुद्र शोष, ताल मखाना, मुलहठी, खरैटी के बीज, अष्टवर्ग की आठो दवाये सभी समान भाग लेकर चूर्ण कर ले। ज्वर की तीव्रता अधिक हो तो इसके बदले महासुदर्शन चूर्ण का प्रयोग करे।

बकरी का दूध दुहते समय दोहनी के ऊपर एक सफेद वस्त्र का धुला हुआ छन्ना बाध दे और उस छन्ने पर पिसी हुई मिश्री उचित मात्रा मे रखकर ऊपर से दूध को दुहे और दुहने के बाद तत्काल ही जब तक फेन शात न होने पाये, पिये। इसी दूध का घृत, मक्खन बनाकर खिलाये, अतीव गुणकारी है। यह दूध भोजन भी है और दवा भी है।

क्षय रोगी को दूध मे चूने का पानी मिलाकर पिलाने से कैल्शियम की कमी दूर होती है, शक्ति मिलती है, खासी को शान्त करता है, रक्तस्राव को रोकता है। यह बच्चों के लिये भी महान गुणकारी है। बच्चो को वमन, अतिसार, बालशोष आदि पर बहुत लाभ पहुचाता है। अनेको फार्मेसिया इसमे शकर मिला शर्बत बना बालामृत के रूप मे बेचकर हजारो रुपया पैदा कर रही है। चूने का पानी और द्राक्षासव बराबर-बराबर मात्रा मे मिलाकर २-३ तोला की मात्रा मे दिन मे २-३ बार पिलाने से उर क्षत, क्षय, कास, रक्तष्ठीवन तथा वमन मे आता हुआ तथा मल मूत्रादि के साथ आता हुआ रक्त तथा हर प्रकार का अन्दरूनी व बाहरी रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

हाथ पाव के तलवे व आखो मे जलन होने पर मुक्ता पिष्टी छोटी इलायची के चूर्ण के साथ दे। वमन मे एलादि चूर्ण व जहर मोहरा खताई पिष्टी मिलाकर दे। यदि दस्त साफ न आता हो तो हर्र का मुरब्बा या गुलकन्द सत ईसबगोल आदि सौम्य रेचक दवाये दे या मुनक्का व अजीर दूध से दे। पचसकार व मधुयष्यादि चूर्ण उचित मात्रा मे दे।

यक्ष्मा रोगी अपने आस-पास ६-१० बकरी रक्खे। उन्ही के बीच बैठे उठे और सोये और उन्ही का दूध पीये तो नष्ट होने मे बडी मदद मिलती है। इसी प्रकार अरूसे (बासा) के जगल मे निवास करने से और अरूसे का किसी भी रूप मे प्रयोग करने से राजयक्ष्मा मे लाभ पहुचता है। शास्त्र कहता है कि—

वासायां विद्यमानायां, आशायां जीवतस्य च।
रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति ॥

अर्थात् जब तक वासा विद्यमान है तब तक ससार

के जीवित प्राणियों मे आशा का संचार है। दासा (अस्थमा) के रहते हुए रक्तपित्त रोगी कास (खासी) रोगी, एव क्षय रोगी इतना कष्ट क्यो पाते हैं ?

क्षय रोग मे हवन–यज्ञ चिकित्सा भी परम लाभकारी प्रमाणित हुई है। उसके लिये निम्नाकित प्रकार से हवन सामग्री बना नित्य प्रात साय उससे हवन करे और फेफडो मे हवन के धुये को जाने दे तथा छाती पर भी हवन का धुआ लगने दे—

हवन सामग्री–ब्राह्मी, शतावरी, असगध, शालपर्णी, अस्ना, गुलाब के फूल, चन्दन सफेद, रास्ना, देवदारु, अगर, तगर, जटामासी, गोखरु, पिस्ता, बादाम, मुनक्का छुहारे, जायफल, जावित्री, लौंग, हर्र, बहेडा, आमला, १-१ भाग, गूग्ल दूना कपूर, केशर थोडी-२ मिष्ठान्न यथावश्यक घी शकर भी आवश्यकतानुसार मिला ले। बस हवन सामग्री तैयार होगई। इसी से हवन कर या गुरुकुल कागडी फार्मेसी हरिद्वार की बनी सामग्री प्रयोग करे।

आजकल रुदन्ती नामक बूटी की खोज ने एक चमत्कार पैदा कर दिया है। रुदन्तीचूर्ण मे स्वर्णबसन्त मालती, प्रवाल भस्म, सितोपलादि चूर्ण आदि मिलाकर निर्मल आयुर्वेद सस्थान ने रुदनो कप्सूल तैयार किये है जो राजयक्ष्मा मे अतीव लाभकारी प्रमाणित हो रहे है। इनसे फेफडो के जख्म बहुत जल्द भरते है जिससे कफ, खासी ज्वर भी शीघ्र ही ठीक होकर रोगी स्वस्थ हो जाता है।

राजयक्ष्मा म स्वर्ण के इजेक्शन, काक जघा के इजेक्शन व बसन्त मालती के इजेक्शन भी अतीव लाभकारी प्रमाणित हुए है।

उपरोक्त दवाओ के अतिरिक्त राजमृगाक, महामृगाक, हेमगर्भ पाटली रस व काचनाभ्र रस, स्वर्ण भस्म व मोती भस्म व एलादि घृत, छागलाद्य घृत, द्राक्षादि घृत, बब्बूलारिष्ट, पिप्परयासव दशमूलारिष्ट, तालीशादि चूर्ण, अशोकारिष्ट, क्षय केसरी रस, यक्ष्मान्तक लोह आदि भी विशेष प्रभावकारी दवाये हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान मे निम्नलिखित दवाये इस रोग के लिये रामबाण है जिनका आजकल धडाधड प्रयोग हो रहा है। उनका सक्षिप्त वर्णन पाठको के ज्ञानवर्द्धन मे सहायक होगा—

स्ट्रेप्टोमाइसीन के इजेक्शन इस रोग के यक्ष्मा दण्डाणु को खत्म करने के लिए प्रधान औषधि के रूप मे प्रयोग किये जाते हैं। इसके ३० इजेक्शन का पूरा कोर्स है आवश्यकतानुसार अधिक भी लगाये जा सकते है। यह सफेद चूर्ण के रूप मे एयर टाइट शीशियो मे आता है, जिसमे वाष्प जल मिलाकर इजेक्शन योग्य बनाकर मासपेशी मे लगाते है।

आइसोनियाजिड—क्षयरोग की नई सफल दवा है। मात्रा १॥ से ४॥ ग्रेन (२ से ५ मि ग्राम) प्रति किलो शारीरिक भार अनुसार प्रतिदिन दो मात्राओ मे बाट कर खिलाये। एक टिकिया ३/४ ग्रेन (५० मि० ग्रा०) की होती है। प्राय वयस्क रोगी को ३०० मि ग्रा (४ टिकिया प्रतिदिन) दो मात्रा मे बाटकर दी जाती है। यह दवा क्षय कीटाणुओं को पैदा होने और बढने से रोकती और उन्हे नष्ट कर देती है। खिलाने मे आतो मे शीघ्र घुलकर सीरम मे मिल २४ घटो मे बदन से निकल जाती है। मासपेशियो की सैलो के अन्दर जाकर अपना प्रभाव प्रकट करती है जिससे क्षय रोगी की भूख बढ जाती है। २, ३ सप्ताह मे खासी और बलगम मे कमी होजाती है और ज्वर भी कम हो जाता है। कफ मे क्षय कीटाणुओ की सख्या भी कम हो जाती है, वजन बढने लगता है, फेफडो के घाव भरने लगते है और गढो की लम्बाइ चौडाई भी कम होने लगती है। जब क्षय रोगी के फेफडो की रचना पनीर जैसी हो जाय तो यह दवा बहुत लाभ पहुचाती है। अकेली यह दवा प्रयोग करने से कुछ समय बाद प्रभावहीन होजाती है अत इसके साथ स्ट्रेप्टोमाइसिन एक ग्राम प्रतिदिन इजेक्शन के रूप मे प्रयोग करना गुणकारी है। स्ट्रेप्टोमाइसीन के बजाय इसके साथ पी ए एस ५ ग्राम २४ घटो मे ४ मात्राओ मे बाटकर खिलाई जा सकती है। इस विधि से प्रतिदिन इजेक्शन लगाने की जरूरत नही रहती है। आइसोनियाजिड को स्ट्रेप्टोमाइसीन या पी ए एस के साथ दो माह तक प्रयोग कराये। यदि इससे अधिक समय तक चिकित्सा की आवश्यकता हो तो ६ सप्ताह बाद दोबारा चिकित्सा आरम्भ करे। इसके विषैले प्रभाव बहुत कम है। फिर भी अधिक समय तक निरतर प्रयोग कराने से कब्ज, सिर दर्द, अनिद्रा, चक्कर आना,

मितली, मूत्र में अल्व्यूमिन आना आदि कुलक्षण उत्पन्न हो सकते ह।

पेराएमीनो सेलेसिलिक एसिड—पी ए एस हलका पीला बलमी पावडर होता ह। मात्रा २ से ४ ग्राम प्रति ३ या ४ घंटे बाद सप्ताह मे ६ दिन दे। इसका एक मिश्रण सोडियम एमीनो सेलीसिलास हे जिसे पी ए एम सोडियम कहते है। यह सफेद कलम या पाउडर के रूप मे होता हे। गन्धहीन स्वाद मीठा नमकीन। इसके १०० ग्राम को शक्ति पी ए एस के ७२ ५ ग्राम के बराबर ह मात्रा १० से १५ ग्राम प्रतिदिन ४ या ५ खुराको मे बाट कर खिलाये। यक्ष्मा दण्डाणुओ का नाश करता है। फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा मे जब बलगम अधिक निकले तब उसमे लाभ होता ह। रोग की तेजी कम हो जाती हे। भूख बढ जाती हे। ३ से १५ दिन मे ज्वर कम हो जाता रात का पसीना बन्द हो जाता ह। खासी कम हो जाती, कफ मे यक्ष्मा दण्डाणु की सख्या कम होजाती हे। यह आतो की क्षय मे विशेष लाभप्रद ह। जिन रोगियो मे स्ट्रेप्टोमाइसीन से रोगरोधक क्षमता उत्पन्न हो जाती ह उन्हे इससे लाभ होता ह। ६ दिनो के बाद १ दिन दवा न खाये। ३-४ मास तक सेवन करे। कभी-कभी सोडा बाई कार्ब लेते रहे। इसके अधिक प्रयोग करने से आतो मे व्रण उत्पन्न हो जाते हे, सिर चकराना, मितली व कै दस्त आदि उत्पन्न होजाते ह। ऐसी दशा मे मात्रा कम कर दे परन्तु १ ग्राम प्रतिदिन से कम न करे। इसके सेवन काल मे विटामिन बी व सोडा बाई कार्ब पानी मे मिला कर देने से अधिक लाभ होता हे। पी ए एस के साथ प्रोकेन का प्रयोग सख्त मना हे। इसे खाली पेट न दे। दूध या पानी से दे। हृदय का कष्ट हो तो सोडियम पी ए एम न दे, कैलसियम पी ए एस दे।

कार्बालिक एसिड तीव्र कीटाणुनाशक और दुर्गन्ध निवारक है। क्षय के रोगियो के कमरे और थूकदान, वस्त्रो, हाथो तथा घावो को इसके लोशन से धोया जाता ह। २॥ भाग को १०० भाग पानी मे मिला लोशन तैयार करे।

रक्तस्राव रोकने के लिए कैल्यिम ग्लूकोनेट का इजेक्शन अतीव गुणकारी ह।

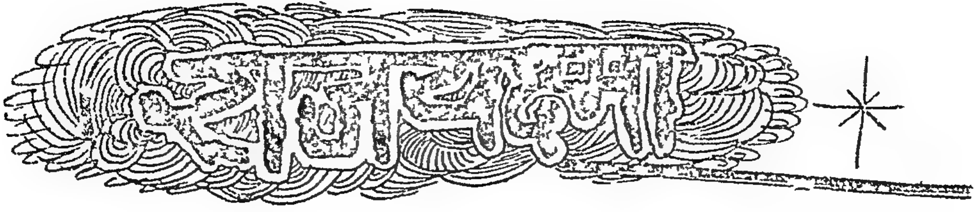
इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी दवाये ह जिनका प्रयोग आवश्यक्तानुसार किया जा सकता ह। उनमे से कुछ मुख्य दवाये ये है। माल्टोमीन, ओस्टोमाल्ट, रक्तो फास्फो माल्ट, जुबीमाल्ट, प्रोजेम्ट प्रोलाईओ ओरल, प्रोमोलन, यूनी प्रोटीन पावडर, न्यूट्रोटोन, ऐसेन्स आफ चिकेन, हाइड्रा प्रोटीन इजेक्शन व ओरल, डीकोमाल्ट, हेपाविट्रन, विन्टोनविद ओलियोमाल्ट, काडलिवर आयल।

पथ्यापथ्य—जब ज्वर बढता रहे उस समय रोगी को केवल जलीय पदार्थ जैसे दूध, साबूदाना, मूग की दाल का पानी, गुरुकुल की चाय के सिवाय और कुछ भी खाने को नही देना चाहिए। जब ज्वर कम रहे तो गेहूँ की रोटी, पुराने चावल का भात, खीर, मास का शोरवा, मछली का शोरबा, अडा, डबल रोटी, बिस्कुट, मूग की दाल, गेहू का दलिया, आलू, बैगन, लौकी, परवल, भमूडे, करेला, आमला, अगूर, मुनक्का, बादाम, पिस्ता, पपीता आदि लें। मनको प्रसन्न रक्खे। ब्रह्मचर्य से रहना उत्तम ह। फलो मे मीठा अनार, जामुन, मीठा आम, फालसा, केला, छुहारे, खजूर, नारियल आदि दे। खुले हवादार स्थान मे रक्खे। पहाडी स्थान, समुद्र तट, मरु भूमि रहने के लिये सर्वोत्तम हैं। प्रात साय घूमे।

अपथ्य – उडद, कुलथी, खटाई, लालमिर्च, बरफ, ठडे खट्टे फल आदि।

एक लडका जिसकी उम्र करीब २२ साल, दिनोदिन कमजोर होता जाय, भूख कम होगई खा लेने पर ठीक से नही पचे, शाम को तापाश बढ जाय, काम करने की इच्छा न हो, सुस्ती कमजोरी मालूम हो। मैंने उसको चिकित्सा क्रम न० १ मे वर्णित वसन्त मालती, प्रवाल भस्म आदि का योग सेवन कराया, जिससे उसके सभी कष्ट दूर हो गये।

एक व्यक्ति जिसके कफ मे खून आता था, निर्बलता अधिक थी, क्षय रोग अधिक बढ चुका था। उसने डाक्टरी इलाज अधिक कराया। कानपुर, आगरा, लखनऊ मे ऐलोपैथी चिकित्सा हुई, मगर उसे लाभ न हुआ, उसे मृगाक रस का सेवन कराया गया जिससे वह बहुत जल्द चमत्कारी रूपसे निरोग होगया, केवल १॥ ग्राम मृगाक रस ने यह कमाल दिखाया कि सब दङ्ग रह गये और आयुर्वेद की प्रशसा करने लगे। रक्तस्राव आदि सभी कुलक्षण मिट गये और रोगी हृष्ट-पुष्ट हो गया। ★



कवि० वैदेही शरण सिंह आयुर्वेदाचार्य, वसन्तपुरी पो० पीरपैंती (भागलपुर) विहार

वेद एव आयुर्वेद मे एक कथा वर्णित है। क्षय रोग प्रथम चन्द्रमा को हुआ था जिसका साराश यह है— राजा दक्ष प्रजापति की २८ कन्याओ का विवाह चन्द्रमा के साथ हुआ था उन कन्याओ मे एक कन्या का नाम रोहिणी था। चन्द्रमा जी रोहिणी से अधिक प्यार करते थे अन्य के साथ भी प्रेम था लेकिन कम। २७ कन्याओ ने दुखी होकर अपना दुख राजा दक्ष को सुनाया। राजा दक्ष क्रोध से आग ववूला हो गये। उनकी आह, कन्याओ की आह तथा विपयासक्त रहने के कारण वीर्य क्षय होने से चन्द्रमा दिनोदिन निस्तेज तथा क्षय रोग से क्षय होने लगे। तव चन्द्रमा ने राजा दक्ष की २७ कन्याओ से क्षमा याचना मागी। तव राजा दक्ष ने प्रसन्न होकर वैद्य अश्वनी कुमार से चिकित्सा कराई एव चन्द्रमा रोगमुक्त हो गए। इसके पीछे भाव जो भी हो लेकिन यहा अधिक विपयासक्त रहने से वीर्य क्षय होना जिससे क्षय रोग से आक्रान्त हुए यही भावार्थ होता है।

पूर्व के जमाने मे राजरोग गरीव रोग मे परिवर्तित हो गया है। पहले राजा लोग अधिक विपयासक्त रहते थे लेकिन आज यह गरीवो मे अधिक पाया जाता है क्योकि अधिक परिश्रम करना तथा शरीर मे आवश्यक तत्वो की पूर्ति का न होना समझा जाय। अन्तत यही कहा जा सकता है कि जो अधिक कमजोर है उसे यह रोग अधिक सताता है, होता है।

इस रोग को यूनानी भापा मे तपैदिक, आम भाषा मे टी० बी० या क्षय कहते है जवकि डाक्टरी भापा मे थाइसिस (Phthisis) वोला जाता है। इसे शोप रोग भी कहा जाता है क्योकि रस, रक्त आदि का शोषण होता है। यह रोग राजाओ को होता था इसलिये राजरोग नाम से भी अभिहित किया जाता है। वाग्भटानुसार इस रोग को राजयक्ष्मा कहा है।

निदान—

निदान पर मैं कुछ कहना चाहता हूं। इसकी यहा जरूरत नही थी लेकिन कितने ही दिग्भ्रमित हो जाते है इसलिये इस पर कहना अनुचित नही होगा। निदान शब्द से दो अर्थ वोध होते है। प्रथम तो यह कि रोग का आदि कारण। द्वितीय यह कि रोगी परीक्षा तथा रोग परीक्षा के आधार पर रोग का निर्णय।

आयुर्वेद के तीन स्तम्भ चरक, सुश्रुत वाग्भट आदि पूर्वजों ने अपने ग्रन्थो मे रोग के आदि कारणो का वर्णन किया है। उन लोगो ने स्वीकार किया है कि क्षय रोग का आदि कारण प्रतिश्याय, जुकाम एव कास (खासी), श्वास (दमा) रोगी के शरीर मे घर कर जाती है। अन्त मे यही क्षय को जन्म दे जाती है। चरक ने साफ कहा है—

प्रतिश्यायात् भवेत्कास कासात्सजायते क्षय.।
क्षयरोगस्य हेतुत्वे शोषश्चात्युपपद्यते ॥

माधव निदान के रचियता ने रोग का निर्णय (निदान) साफ शव्दो मे लिख दिया है—वेग रोधात् क्षयाच्चैव सहसाद्विपमाशनात। त्रिदोपो जायते यक्ष्मा पदोहेतु चतुष्टयात्'—अथवा कहने का अभिप्राय यह है कि मलमूत्रादि वेगो को रोकने, अतिशय प्रसग करने से, धातु (वीर्य) क्षीणता, शक्ति सामर्थ्य से अधिक कार्य करने से, पौष्टिक भोजन नही करने से वातादि दोप प्रकुपित (दूपित) होकर राजयक्ष्मा हो जाता है। फिर चरक ने इन्ही चार कारणो से उत्पन्न क्षय को चार प्रकार का माना है। प्रथम वेगावरोध जन्य क्षय। द्वितीय—'क्षीयते-ऽनेनेतिक्षय अर्थात् शरीर की धातुओ का किसी प्रकार से

क्षय होना–क्षयज क्षय। तृतीय–अपनी शक्ति,सामर्थ्यसे अधिक कार्य करने से उर क्षत हो जाता है। इसे उर क्षत क्षय कहा है। चतुर्थ–विषम भोजन करने से विषमाशनजन्य क्षय कहा हैं।

अब रोगी परीक्षा की ओर दृष्टिपात करना जरूरी है। चरक एव सुश्रुत आदि ने रोगी परीक्षा के सम्बन्ध मे कुछ सूत्र दिया है जो दर्शनीय है, पठनीय है, सोचनीय है। चरक ने अपनी सहिता मे लिखा है—

कासो सत्तापो वैसर्प ज्वरा पार्श्व शिरोरुजा।
शोणित श्लेष्मणोरर्द्दि श्वास. कोष्ठामयो रुचि ॥

फिर सुश्रुत ने लिखा—

भक्तद्वेषो ज्वर श्वास· कास शोणित दर्शनम्।
स्वरभेदे जायते षड्रूपे राजयक्ष्मणि ॥

कहने का अभिप्राय यह है कि भोजन से द्वेष (भोजन से द्वेष का अर्थ है अरुचि होना), ज्वर, श्वास, कास, कफ के साथ रक्त आना स्वर भग आदि लक्षण राजयक्ष्मा के होते है। सुश्रुत ने वात, पित्त एव कफ होने पर ग्यारह लक्षण प्रकट होते है–वायु से पीडा, शूल तथा स्वरभेद होता है, पित्त से पीडा ज्वर दाह आदि होता है तथा कफाधिक्य से जल, अरुचि, खासी, स्वर भग होता है। राजयक्ष्मा त्रिदोपज व्याधि है। कोई-कोई विद्वान (आयुर्वेदज्ञो) का कहना है कि उरस्तोय (प्ल्यूरिसी) ही सर्व प्रथम होता है बाद मे राजयक्ष्मा मे परिवर्तित हो जाता है। लेकिन कुछ विद्वान इस से सर्वथा भिन्न है। जो भी हो यह क्षय रोग मे अधिक सम्बन्ध रखता है। राजयक्ष्मा का बुनियादी रूप कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होनी चाहिए लेकिन प्राय देखा जा रहा है कि जिसे प्ल्यूरिसी होता है उसे राजयक्ष्मा रूप मे परिवर्तित हो जाता है।

वैद्य समाज मे राजयक्ष्मा होने का कारण शरीरस्थ दोषो मे विषमता आने से ही होता है। जबकि आधुनिक चिकित्सा शास्त्री यह मानने के लिए कतई तैयार नही है। वे दलील देते है कि यह कीटाणुओ से होता है और यह रोग कीटाणुओं से फैलता भी है। हमारे शरीर मे दो प्रकारके कीटाणु होते है एक श्वेत कीटाणु तथा दूसरे रक्त कीटाणु। एक का काम बाहरी कीडो से लडकर रोग के आक्रमण से बचाना, दूसरे कीटाणुओ का काम है शरीर का भली भाति पोषण करना। इसलिए हम लोगो को ऐसा मौका ही नही देना चाहिए कि बाहरी कीटाणु हमारे कीटाणुओ को पटक (हरा) कर दिग्विजयी हो। इसलिए पौष्टिक भोजन करना वाछनीय है। कीटाणुओ को रोग का कारण नही समझना चाहिए बल्कि दोषो के कारणो पर ध्यान देना आवश्यक है। यह सत्यपत्र है।

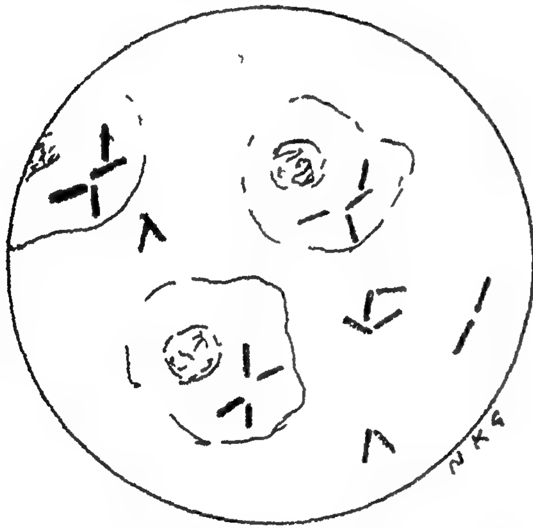
ऐलोपैथी वाले क्षय का प्रधान लक्षण खासी, ज्वर एव कमजोरी आदि। आधुनिक चिकित्सा विज्ञानवेत्ता दस प्रकार के क्षय मानते है—इस रोग का सर्व प्रधान कारण ट्यूबरकिल बेसिलाई नामक कीडा है जो फुफ्फुस मे पाया जाता है। निदान करने पर यह कीडा थूक खखार मे पाये जाते हैं। डाक्टरो का कहना है कि ये कीडा जल्द नही मरते, खाने-पीने वाली सामग्री के साथ अन्दर जाकर रोग को फैलाते है। घनी बस्ती, गन्दे स्थान, गीली जगह तथा मिल के धुआ मे यह रोग होने की सभावना बनी रहती है। डाक्टरी मतानुसार दस प्रकार के जो भेद माने है वह ये है—

[१] सर्वांगिक क्षय (General T B)
[२] फुफ्फुस क्षय (Lung T B)
[३] आन्त्रिक क्षय (Intestinal T B)
[४] लसीका गाठो का क्षय (Glandular T B)
[५] सधि क्षय (Joint T B)
[६] अस्थि क्षय (Bone T B)
[७] फुफ्फुसावरण क्षय (Plueral T B)
[८] मस्तिष्कावरण क्षय (Cerebrospinal T B)
[९] क्षय पैदा करने वाले विष फोडे (Tuber cular Ulcers)
[१०] उदर वेष्टन कला के क्षय (Peritonial T B)

ये डाक्टरी भेद अङ्ग विशेष को लेकर नामकरण किये है। जिस अङ्ग मे कीटाणु पहुचकर अङ्ग को विक्षिप्त कर डालते है उस अङ्ग का क्षय नाम रख दिया जाता है। यह कोई वैज्ञानिक आधार नही है बेबुनियादी बाते है। जबकि आयुर्वेदिक मतानुसार यक्ष्मा रोग शरीर के प्रत्येक अङ्ग मे हो सकता है लेकिन विशेष रूप से फुफ्फुस, हड्डी, कठ, आत, कठमाला पर पाया जाता है—निज एव आगन्तुक। निज यक्ष्मा उसे कहते है जो प्रारम्भ से रसादि

सप्त धातुओ का क्षय होने के कारण हो जाता है। आगन्तुक जो बाहर से आ जाता है किसी व्याधि या कीडो द्वारा। जैसे मन्थर ज्वरादि कारणो से या यक्ष्मा के रोगी के थूक आदि के ससर्ग से या पशुओ के दुग्धपान से। कहने का अभिप्राय यह है कि आयुर्वेद मे कीटाणुओ का महत्व कम है, दोषो के कारणो पर ध्यान अधिक है।

डाक्टरी मतानुसार यक्ष्मा का कारण—डाक्टरी मतानुसार जीवाणु द्वारा यक्ष्मा रोग होता है। यह सर्व विदित है जो श्वास द्वारा मनुष्यो के शरीर मे प्रवेश कर यक्ष्मा को जन्म दे डालता है। क्षय के रोगियो के थूक खखार कीडो को पशुपक्षियो तथा मक्खियो द्वारा फलाया जाता है। यक्ष्मा रोग की चार सीढिया है—



प्रथम, द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ सीढिया। प्रथम से तृतीय सीढियो तक के रोग एव रोगी का इलाज आसानी से किया जा सकता है। लेकिन जब चतुर्थ सीढी पर पहुच जाता है तो यह साध्य असाध्य मे बदल जाता है और इसका कोई इलाज नही हो सकता है। हा एक ही अवस्था मे इसका इलाज सभव है वह वन्दर का फेफड़ा भी दूसरा लगाया जाय तब अन्यथा कोई उपाय नही है जो काफी खर्चीला होता है।

लक्षण—

यक्ष्मा के रोगी की नाडी—'नाडी नाग गतिश्चैव रोग राजे प्रकीर्तिता' यानि यक्ष्मा के रोगी की नाडी हस्त की चाल समान मस्त वाली होती है। शारीरिक क्षीणता के कारण रोगी का स्पन्दन बढ जाता है। ज्वर मे इसकी गति तीव्र हो जाती है। मूत्र के द्वारा जब निदान किया जाता है तो रोगी के मूत्र का रग काला पाया जाता है। ज्वर के समय कभी-कभी पेशाब होता है। ऐलोपैथी मतानुसार रोगी के मूत्र की जाच की जाती है तो उसकी मूत्र मे फास्फेट तथा चिकनाई आने लगती है। मल की जाँच करने पर रोगी का मल काला एव पतला होता है, आतो की खराबी से ढीला तथा साफ दुर्गन्धयुक्त होता है। जिह्वा का रग काला हो जाता है, कभी कभी जख्म भी हो जाता है, जीभ पर मल जमा हो जाता है। जब असाध्यावस्था मे पहुचता है तो जीभ के नीचे की नसे काली हो जाती है। मुह से खासी के साथ पतला कफ निकलना है बाद मे गाढा हो जाता है जो काफी दुर्गन्ध करता है। उस कफ का रग हरा, पीला एव सफेद गाढा हो जाता है।

स्पर्श निदान—

क्षय के रुग्ण की त्वचा रूक्ष, ज्वर होने पर गर्म तथा कफाधिक्य होने पर शीतल मालूम पडती है।

रुग्ण की आकृति देखने से कृश तथा दुर्बल मालूम पडती है। आखे निस्तेज मालूम पडती है। देखने मात्र से दयनीयता का भाव स्पष्ट दिखलाई पडता है। बोल चाल मे दीनता के भाव स्पष्ट परिलक्षित होते है। स्वर भग भी पाया जाता है खासी कफयुक्त होने से बोलने मे घर्घराहट रहता है। बहुत से रुग्णो के नाखून टेढे-मेढे पड जाते है आखे बैठ जाती है। आचार्य सुश्रुत एव चरक ने लक्षण लिखते समय लिखा है। चरकाचार्य—

> अश पार्श्वाभितापश्च सताप करपादयो।
> ज्वर सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मण.॥

यक्ष्मा के रुग्ण को कन्धे तथा पार्श्व मे पीडा, हाथ पैरो मे दाह और सपूर्ण शरीर मे ज्वर की उपस्थिति—यह राजयक्ष्मा के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त कास, ज्वर, रक्तपित्त राजयक्ष्मा का रूप है—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है—

> स्वर भेदोऽनिलाच्छूल सकोचास पार्श्वयो.।
> ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागम'॥
> शिरस परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
> कास कण्ठस्य चोद्ध्वमो विज्ञेय कफ कोपत॥

अर्थात् वात के कारण स्वरभेद, कन्धे पार्श्व मे शूल एव सकोच, पित्त के कारण ज्वर, दाह, अतिसार तथा रक्तष्ठीवन, कफ के कारण सिर मे भारीपन, भोजन मे अरुचि, कास तथा कठ मे पीडा या (घसका) इन लक्षणो की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक विज्ञान मे राजयक्ष्मा के लक्षणो के वर्णन की दृष्टि से दो भाग किए है—प्रथम फुफ्फुसीय लक्षण द्वितीय सार्वदैहिक।

फुफ्फुसीय लक्षणो मे रोगी को कास अधिक होता है। वाद मे चलकर यह कास हमेशा वना रहता है। रुग्ण हमेशा खासता रहता है।

ष्ठीवन (Sputum) यह प्रथमावस्था मे नही होता द्वितीय एव तृतीय अवस्था मे परिलक्षित होता है—जब इसकी मात्रा बढती है। बच्चे इसी ष्ठीवन को निकाल नही पाते वे खा जाते है। इसी ष्ठीवन (Sputum) की परीक्षा की जाती है। कभी-२ यह दुर्गन्धयुक्त भी होजाता है।

रक्तष्ठीवन—

यह एक ऐसा लक्षण है जिसे देखकर रोगी समझ जाता है कि राजयक्ष्मा का रोगी हो गया है। इसे शोणित दर्शन भी कहते है।

उर शूल—पार्श्व मे शूल होता है। यह एक फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा का विशिष्ट लक्षण है। यह कोई जरूरी नही कि उर शूल होने पर यक्ष्मा हो ही जाता है लेकिन ९५% यही आशा की जाती है कि इसे यक्ष्मा रोग ने ग्रसित कर लिया है।

श्वास कृच्छता—यक्ष्मा के रोगी को प्राय यह देखा जाता है कि श्वास कृच्छता अधिक होता है।

सार्वदैहिक लक्षण—

रोगी को सायङ्काल थकावट का अनुभव होना, सिर दर्द का होना पाया जाता है।

रात्रि स्वेद—रोगी को रात्रि मे स्वेद जरूर होता है। सध्या होने पर ज्वर होना, वह ज्वर स्वेद देकर उतरना। और निरम हो जाता है।

भार मे काफी कमी हो जाती है। वजन दिनोदिन घटता जाता है।

भूख का न लगना—रोगी को भूख नही लगती, पेट ठीक नही रहना, जी मे घबराहट महसूस होना। रोगी को रक्तभार (Low blood pressure) हो जाता है।

इन्ही उपर्युक्त लक्षणो को देखकर कहा जा सकता है कि रोगी को यक्ष्मा हो गया है।

डाक्टरी चिकित्सा वाले इसकी भी अवस्थाये मानते है। प्रथम अवस्था मे गण्ड ग्रन्थियो मे प्रदाह होना, दूसरी अवस्था मे यह ग्रन्थिया सूजकर कडी हो जाती है। फेफडो के अन्दर फूटकर प्रवेश करती है। वगैर प्रथमावस्था के ही ग्रन्थि के समान बनने लगते है। जिसे Caseation कहते है।

चतुर्थ अवस्था मे रोगी के मुह से फेफडे के ये सब अङ्ग निकलते है। पीव वगैरह निकलकर साफ होने लगते है। घाव भरना प्रारभ हो जाता है।

चिकित्सा—

१ प्रात साय गधी का दूध १००-१०० ग्राम की मात्रा मे पिलावे। क्षय रोग समूल नष्ट हो जाता है।

२ काली गाय के मूत्र को प्रथम दिन १० ग्राम, ३ दिन के वाद इसकी मात्रा १५ ग्राम करे। फिर ३ दिन के वाद २० ग्राम, फिर ३ दिन के वाद २५ ग्राम, फिर ३ दिन के वाद ३० ग्राम, फिर ३ दिन के वाद ३५ ग्राम-इसी प्रकार से ५० ग्राम तक पिलावे। इससे क्षय रोग दूर हो जाता है।

३ वकरी का दूध, वकरी का मास एव वकरी के पास सोने से क्षय रोग का नाश होता है।

४ शास्त्र मे वर्णित है—

कपि मास तथा पीत क्षय रोग हर परम्।
दशमूल वला रास्ना कषाय क्षय नाशन ॥

अर्थात् वन्दर का मास धूप मे सुखाकर पीसकर सूखे मास का चूर्ण ६ माशे की मात्रा मे वकरी के दूध से खाय तो क्षय रोग का नाश होगा।

५ परेवा (कबूतर) का मास पीसकर धूप मे सुखा कर ६ माशे घी एव शहद के साथ खावे तो कठिन से कठिन क्षय रोग का नाश होता है।

६ नीम के पत्ते को छाया सुखावे। ६ माशे लेकर उसमे ३ कालीमिर्च पीस दे और रोज सुवह पीवे तो क्षय रोग का नाश होता है।

७ १ तोला तुलसी पत्र के स्वरस मे ६ माशा

अडूसा के पत्र स्वरस एव ६ माशा मधु मिलाकर पिलावे। इससे क्षय रोग का नाश होता है।

८ आक की कली प्रथम दिन एक, द्वितीय दिन २, तृतीय दिन ३, चतुर्थ दिन ४ एव इसी तरह १५-२० दिन तक संख्या बढाकर निगलते जाये तो क्षय रोग ठीक हो जाता है।

क्षय रोगो पर वैद्यो के अनुभूत सिद्ध प्रयोग—

१. आचार्य चन्द्रसेन का अनुभूत योग—सङ्ग जराहत, जहर मोहरा, सफेद कत्था, कीकर की गोद, कतीरा, सफेद खशखश, तुख्म खत्मी, गुलख गेरू प्रत्येक ६-६ माशे, अफीम १ माशा इन सबको कूट पीसकर १-१ रत्ती की गोलिया बना दे। तेज ज्वर होने पर कपूर मिला दे। रोगी को एक एक गोली प्रात साय दे। क्षय रोग का नाश होगा।

२ श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती— आक का दूध ५० ग्राम, कलमी शोरा एव नौसादर पपडिया प्रत्येक १०-१० ग्राम, पहले शोरा एव नौसादर को पीस ले। फिर दोनो को तवे पर डालकर नीचे अग्नि जलावे। थोडा थोडा मदार का दूध डालते रहे। जब शोरा दूध शुष्क हो जाय और दवा बिलकुल राख हो जाय, चिकनाहट बिलकुल नही रहे तो पीसकर सुरक्षित रखे। दो चावल के बराबर दवा प्रात साय बताशे मे डालकर खिलावे या ग्लूकोज मे मिलाकर पिलावें। यह क्षय की रामबाण दवा है।

३ सहस्र मुखी फकीर का नुस्खा—पीपल योग—पीपल का पञ्चाग (जड, छाल, डाल, पात, फूल, फल) बराबर-२ भाग मे लेकर खूब कुचल डाले और जितनी तोल मे हो उसके १६ गुने पानी मे किसी कढाही मे एक दिन भिगोकर रखें। इसके बाद दोनो हाथो से मसलकर मन्द-मन्द अग्नि पर पकावे। जब चौथाई पानी शेष रह जाय तो उतार कर खूब मले। फिर मोटे कपडे से छान ले। फिर छने हुए जल को मन्द मन्द अग्नि पर पकावे। जब पकते पकते अफीम की तरह गाढा हो जाय तो इसमे असली कृष्णाभ्रक भस्म (सहस्र पुटी) ६ माशे, असली नीम गिलोय का सत्व ६ माशे, इन तीनो को खरल मे खूब खरल करे। २-२ रत्ती की गोलिया बना ले। २ से ४ गोली प्रात साय बकरी के दूध के साथ दिया करे। यदि रोगी को गर्मी अनुभव हो तो मात्रा कम कर दे। यह क्षय के लिए अमृत तुल्य है।

४ एक वैद्य का नुस्खा—सोठ का चुर्ण ५० ग्राम, इन्द्र जौ का चूर्ण ५० ग्राम, सूखे धनिया (बीज) का चूर्ण १० ग्राम—इन सबको मिला ले। ३ ग्राम दवा खा कर चावलो के धोवन को ऊपर से पीवे।

५ आचार्य चतुरसेन शास्त्री—सेलखडी, जहर मोहरा, सफेद कत्था कतीरा, बबूल का गोद, निशास्ता, पोस्त-दाना, खत्मी के बीज, गेरू। प्रत्येक साढे तीन ग्राम, अफीम १ ग्राम कूट छानकर गोलिया बनायें। प्रतिदिन ३ गोलिया पानी के साथ दीजिए। किसी भी तरह के क्षय रोग मे काम करेगा।

६ आयुर्वेद शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान स्वर्गीय त्र्यम्बक शास्त्री (बनारस वाले) राजयक्ष्मा की श्रेष्ठ दवा हीरक भस्म का प्रयोग करते थे। उनका कहना था कि क्षय की प्रथमावस्था मे मृगशृङ्ग भस्म, प्रवाल भस्म, कपर्दक भस्म देने से लाभ करता है। लेकिन अन्य अवस्थाओ मे हीरक भस्म बहुत सुन्दर कार्य करता है।

वैद्यराज श्री रामप्रसाद जी अग्रवाल—शतपुटित अभ्रक भस्म, शुद्ध शिलाजीत, नाग भस्म, शतपुटित स्वर्ण पर्पटी, वङ्ग भस्म, चौसठ प्रहरी पीपल, गुरुची सत्व प्रत्येक १-१ तोला, बृहत् बालचिन्तामणि रस ६ माशा, बसन्त कुसुमाकर रस ६ माशे। उपर्युक्त सभी औषधियो को घोटकर १२० मात्राए बनावे। दिन मे ३ बार रोगानुसार अनुपान करे।

कफज कास के साथ क्षय मे—वासावलेह के साथ शुष्क श्वास एव क्षय मे, च्यवनप्राश के साथ आन्त्रिक क्षय मे, भुना जीरा एव बनफसा के साथ, शुक्रमेह के साथ क्षय मे द्राक्षासव या च्यवनप्राश के साथ दे।

श्री लक्ष्मीप्रसाद मडल—सफेद फूल वाले वासा की जड का छिलका १२ किलो लेकर कुचलकर ६० किलो पानी मे डालकर उबाले। पानी चौथाई रहने पर मल कर छान ले। १२ किलो खाड डालकर मन्द अग्नि पर पकावे। जब गाढा हो जाय (तार छोडने लगे) तो निम्न लिखितअ औषधिया डाले—तेजपत्र, मीठा कूठ, कबीला, दालचीनी, सोठ, कालीमिर्च, पिप्पली, छोटी इलायची, कायफल, सफेद जीरा, काला जीरा, पीपलामूल, चव्य,

हरीतकी का छिलका, तालीस पत्र, सूखा धनिया, कुटकी, प्रत्येक ५०-५० ग्राम बारीक पीसकर चासनी मे मिला दे। १ किलो विशुद्ध शहद मिला दे। दिन मे तीन बार ६ ग्राम से १२ ग्राम तक बकरी के दूध मे सेवन करे। क्षय रोग मे अत्यन्त प्रभावकारी दवा तैयार है।

शास्त्रीय योग—

कषाय—दशमूलादि क्वाथ, अश्वगन्धादि क्वाथ, त्र्योदशाङ्गादि क्वाथ।

अवलेह—वासावलेह, च्यवनप्राश, अमृतधारा आदि

चूर्ण—सितोपलादि चूर्ण, तालीसादि चूर्ण, लवङ्गादि चूर्ण, एलादि चूर्ण, जातिफलादि चूर्ण, द्राक्षादि चूर्ण, मृगाङ्क चूर्ण।

आसव-अरिष्ट—द्राक्षासव,द्राक्षारिष्ट, पिप्पल्याद्यरिष्ट, खजूरासव आदि।

लौह—यक्ष्मान्तक लौह, शिलाजित्वादि लौह, यक्ष्मारि लौह।

घृत—जीवन्त्याद्य घृत, पिप्पली घृत, नागबला घृत, द्राक्षा घृत, शतावरी घृत, पञ्चमूल घृत आदि।

गुटिका (वटी)—एलादि वटी, खदिरादि वटी, लवगादि वटी, शिवा गुटिका, व्योषादि वटी आदि।

तैल—चन्दनादि तैल, अश्वगन्धादि तैल एव नारायण तैल।

रस चिकित्सा मे—मृगाङ्क रस, क्षय केशरी रस, चन्द्रामृत रस, श्रृङ्गाराभ्र रस, प्रवाल पञ्चामृत रस, स्वर्ण वसन्त मालती, पञ्चामृत रस (नाना रोग), महा मृगाङ्क रस, वसन्त कुसुमाकर रस, राज मृगाक रस, त्रैलोक्य चिन्तामणि रस, मुक्ता पञ्चामृत रस, वसन्त मालती रस, सर्वाङ्ग सुन्दर रस, कुमुदेश्वर रस, त्रिभुवन कीर्ति रस, हेमगर्भ पोटली रस, लक्ष्मीविलास रस आदि।

आयुर्वेदिक शास्त्रीय मिश्रित पेटेण्ट योग—

[१] कुमुदेश्वर रस, स्वर्ण वसन्त मालती रस, अभ्रक भस्म प्रत्येक १-१ रत्ती, काली मिर्च, भुनी पिप्पली चूर्ण थोडा थोडा मिलाकर शहद के साथ सुबह-दोपहर-शाम सेवन करे।

[२] स्वर्ण वसन्त मालती, प्रवाल भस्म, गिलोय सत्व, रुदन्ती फल चूर्ण प्रत्येक १-१ रत्ती सुबह-दोपहर-शाम को शहद से चटावें।

[३] स्वर्ण माक्षिक भस्म प्रवाल भस्म स्वर्ण वसन्त मालती भस्म प्रत्येक १-१ रत्ती च्यवनप्राश १ तोला के साथ शहद मिलाकर दिन मे तीन बार दे।

[४] स्वर्ण वसन्त मालती प्रवाल पञ्चामृत रस १-१ रत्ती सितोपलादि चूर्ण ४ माशा, लौह भस्म २ रत्ती—यह १ मात्रा है। सुबह शाम मधु से १ मास तक दें।

[५] अभ्रक भस्म श्रृङ्ग भस्म १-१ रत्तीशिलाजित्वादि लौह त्रिभुवन कीर्ति रस २-२ रत्ती मुक्ता भस्म १/२ रत्ती—यह एक मात्रा हुई। शहद के साथ सुबह शाम दें।

[६] प्रवाल पञ्चामृत अभ्रक भस्म श्रृङ्ग भस्म तीनो १/२-१/२ रत्ती+रस सिंदूर १/४ रत्ती शहद से दिन मे दो बार दे।

[७] सितोपलादि चूर्ण १ माशा स्वर्ण वसन्त मालती १ रत्ती रुदन्ती फल चूर्ण १ माशा—इसे मधु के साथ एक दो माह दे।

[८] लघु मालती वसन्त २ रत्ती पीपल चूर्ण विजय पर्पटी १-१ रत्ती शहद से दिन मे दो बार दे।

[९] स्वर्ण वसन्त मालती १/४ रत्ती+रुदन्ती फल चूर्ण ६ रत्ती+गिलोय सत्व+शिलाजित्वादि लौह+अभ्रक भस्म १-१ रत्ती मिलाकर दिन मे तीन बार वासा स्वरस के साथ दे।

[१०] प्रवाल भस्म २ रत्ती+स्वर्ण वसन्त मालती १/२ रत्ती+सितोपलादि चूर्ण १ माशा+रुदन्ती फल चूर्ण १ माशा, यह एक मात्रा हुई। दिन मे दो बार मधु के साथ दे।

[११] वैक्रान्त भस्म १ रत्ती स्वर्ण भस्म १ चावल भर मधु के साथ दिन मे दो बार दे।

[१२] मुक्ता भस्म २ रत्ती च्यवनप्राश १ तोला के साथ दिन मे दो बार दे।

[१३] स्वर्ण भस्म १ रत्ती च्यवनप्राश १ तोला+मधु के साथ सेवन कराये।

[१४] कैपिना कम्पाउण्ड (हिमालय ड्रग) ३ गोली+ताप्यादि लौह+सोना गेरू ३-३ रत्ती+स्वर्ण वसत मालती १ रत्ती+बीकाडेक्स २ गोली सबको मिलाकर इसकी ४ मात्राए होगी। दिन मे ६-६ घण्टे पर देवे।

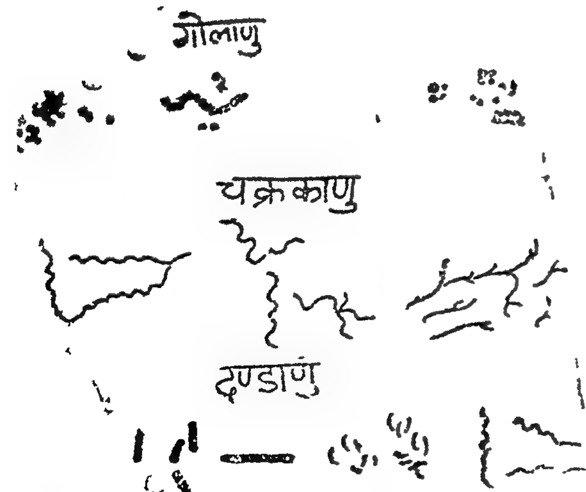
—शेषाश पृष्ठ २४७ पर देखे।

वृक्क-यक्ष्मा

डा० जगदीशकुमार अरोरा बी०एस्-सी० (एजी०)
एफ.आर.ए.एस. (लंदन), ए.एफ.आर.एस. (लंदन),
मेम्बर–दी इण्डियन कालेज ऑफ एलर्जी एण्ड इम्यूनोलोजी,
दी रेस्पना, आर्थराइटिस एण्ड कैंसर लंग फाउ-
ण्डेशन ऑफ इण्डिया,
दी सोसायटी ऑफ बायलोजीकल कैमिस्ट, इण्डिया,
दी इण्डियन सेरो–बायलोजीकल सोसायटी,
पटेल नगर, हापुड़-२४५१०१ (उ०प्र०)

★★☆

यह रोग ट्यूबर कुलासिस या यक्ष्मा दण्डाणुओ के प्रकोप से ही होता है। यह प्रकोप प्राय फेफड़े मे ही आरम्भ होता है। फेफड़े के अतिरिक्त यह रोग वृक्क, ग्रन्थियो, आन्त्रो, हड्डियो, फुपफुसावरण तथा जोड़ो इत्यादि मे प्राय होता है। मस्तिष्कावरण और हृदयावरण मे यक्ष्मा भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। उसकी विकृति हर अङ्ग मे प्राय एक सी होती है। अङ्ग की विशेष बनावट के कारण इसमे थोड़ा बहुत अन्तर पड़ता है।



रोग फैलाने वाले जीवाणुओं के तीन वर्ग (सबसे नीचे विभिन्न प्रकार के दण्डाणु दिखाये हैं। इसी वर्ग मे यक्ष्मा के हेतुभूत जीवाणु भी आते है।)

यक्ष्मा का विशिष्ट कारण –

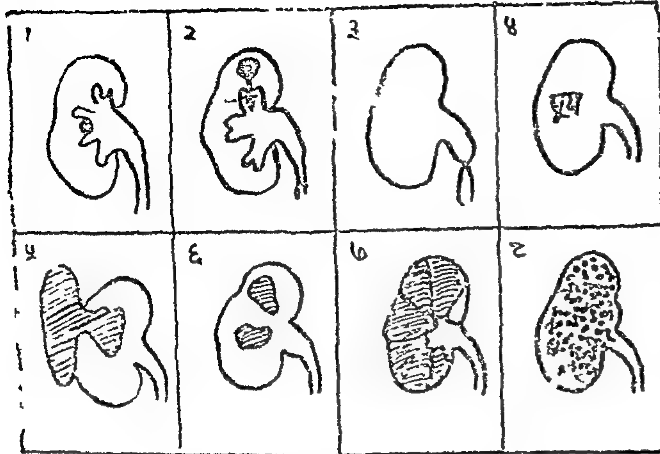
यक्ष्मा का मुख्य कारण तो यक्ष्मा दण्डाणु से सक्रमण ही है। ये माइक्रो बेक्टीरियम वर्ग के दण्डाणु है। इन्हे बेसिलस ट्यूबरकुलोसिस या यक्ष्मा दण्डाणु भी कहते है। सार्वदैहिक स्यानाकीय (General miliary) यक्ष्मा मे अन्य अङ्गो के साथ वृक्को मे भी यक्ष्मिकाए बनती हैं। परन्तु उस विकृति का परिणाम इस रोग के लक्षणो पर न होने से रोगी को जीवितावस्था मे इस विकृति की ओर ध्यान आकर्षित नही होता और मरणोत्तर परीक्षा मे उसका पता लगता है। वैसे ही फुपफुस क्षय मे भी मृत्यु के पहले वृक्को के अन्दर यक्ष्मा के विकेन्द्र (फोकस) उत्पन्न होते है परन्तु उस समय भी उससे कोई लक्षण प्रकट नही होते और विकृति का पता मरणोत्तर परीक्षा मे ही लगता है।



वृक्कक्षय–चित्र मे वृक्क की बहिर्वस्तु (कार्टेक्स-पिरामिड) मे कोटरयुक्त व्रणो की प्रारम्भिक अवस्था प्रदर्शित की है।

प्राथमिक स्वरूप का विकार—इसमे भी शरीर के भीतर कही न कही यक्ष्मा का विकेन्द्र रहता है। परन्तु वह शान्त या सुप्त होता है और वहा से वृक्क उपसृष्ट होकर रोग बढाता है जिससे इसमे वृक्क विकृति के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अत वृक्क यक्ष्मा मे केवल इसका ही विचार किया जाता है।

यह रोग प्राय ३०-५० वर्ष की अवस्था के लोगो मे दिखाई देता है और अपेक्षाकृत स्त्रियो मे अधिक हुआ करता है।



वृक्क क्षय के विभिन्न प्रकार

१ वृक्क का क्षयज व्रण २ कोटरयुक्त क्षयज व्रण
३ क्षयज वृक्क-जलामयता (हाइड्रोनेफ्रोसिस)
४ वृक्क-पूयमयता (पायोनेफ्रोसिस)
५ क्षयज वृक्क विद्रधि ६ क्षयज वृक्काश्मरी
७ क्षयज गलित या किलाटी भवनीकृत वृक्क (केजियस किडनी)
८ सम्पूर्ण वृक्क की विस्तीर्ण क्षयग्रस्तता

शरीर मे प्राय अस्थि, सन्धि, लसग्रन्थिया इत्यादि मे यक्ष्मा का विकेन्द्र रहता है और वहा से यक्ष्मा दण्डाणु वृक्क मे पहुच जाते है। प्रथम एक ओर का वृक्क पीडित होता है और पश्चात् दूसरी ओर का। यक्ष्मा दण्डाणु मुख्यतया रक्त के द्वारा वृक्क मे पहुच जाते है। जब श्रोणिगुहा मे विकेन्द्र होता है तब गवीनी की लसीका वाहिनियो द्वारा भी यह पहुच सकते है।

शारीरिक विकृति—

प्रथम एक ओर का वृक्क उपसृष्ट होता है और उसके बाद दूसरा वृक्क। परन्तु अधिकतर यह देखा गया है कि यह एक ही वृक्क मे होता है। प्रथम वृक्क वाह्य भाग मे या एकाध स्तूप (पिरामिड) मे यक्ष्मा का Tubercle उत्पन्न होता है और इसका प्रसार वृक्क की बहिर्वस्तु (cortex) मे होता है और उसके बीच मे किलाटी भवन (Caseation) शुरू होता है। इसकी वृद्धि चारो ओर होती है और पैल्विस (गवीनी मुख), वस्ति, शुक्रवाहिनी, पौरुष ग्रन्थि, वृषण आदि तक प्रसारित हो सकता है। इस व्याधि का प्रकोप प्राय युवाओ मे विशेषत देखा गया है। इसमे गवीनी (Ureter) की श्लैष्मिकला मे यक्ष्मिकाएं उत्पन्न होकर वह कठिन स्थूल (Dilated) होती है। कभी-कभी उसमे उपसकोच (Obliteration) होकर निम्न अगो मे उसका सबन्ध विच्छेद होकर मूत्रगत लक्षण नष्ट हो जाते है—इसको Auto-nephrectomy कह सकते हैं। अत मूत्रगत लक्षण वन्द होने का तात्पर्य यह नही है कि रोग ठीक हो गया। यह रोग वृक्क मे ही वन्द हो जाता है इसलिए अधिकतर यह देखा गया है कि मूत्र मे उसका कल्चर करने पर भी यह नही मिल पाते। यह ठीक है कि मूत्रल सस्थान के क्षय मे तथा सार्वदैहिक क्षय मे मूत्र मे यक्ष्मा दडाणु उत्सर्जित होते है परन्तु मूत्र मे पूय के अभाव मे इनको प्राप्त करना बहुत कठिन काम है। वृक्कक्षय मे मूत्र की प्रतिक्रिया (pH) अम्ल होती है।

लक्षण—

धीरे धीरे स्वास्थ्य का गिरना, मन्द ज्वर इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण इसमे मिलते है। इसमे मूत्र जलन के साथ आता है तथा मूत्र मे रक्त आता है क्योकि वृक्क मे रक्त का सचार सबमे अधिक है और यह तीव्र गति से होता है। अत यह सम्भव है कि जीवाणु वृक्क मे ज्यादा देर तक न रह सके और मूत्र के साथ ही आगे बढकर मूत्र के साथ निकल कर बाहर आ जाये और कभी कभी रक्त भी साथ निकल आये।

मूत्र की वारम्वारता—यह सबसे महत्व का और प्रथम लक्षण होता है। यह वारम्वारता प्रारम्भ मे दिन मे और पश्चात् (रक्तमेह) रात्रि मे बढती है। वारम्वारता के साथ मूत्र करने के समय पीडा भी होती है। आगे चलकर जब गवीनी मे विकृति होकर तग हो जाती है तब रक्त के कारण उसमे शूल उत्पन्न होने लगता है और मूत्र करने की अविलम्बता भी बढती है। मूत्र मे शुक्लि (एल्व्यूमिन) तथा रक्त मिलते है। शोणितमेह (स्थूल या सूक्ष्म) वृक्क यक्ष्मा का प्रधान लक्षण है। यक्ष्मा की विकृति से Calyx की रक्तवाहिनियो का नाश होने से रक्तमेह उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—

प्रारम्भ मे यह रोग औषधि साध्य है परन्तु रोग की जटिल अवस्था मे शस्त्रकर्म ही उपयोगी होता है। औषधि से भी रोगी ठीक किया जा सकता है।

(क) औषधि चिकित्सा—सन् १९४४ मे अमेरिका के डाक्टर वेकसमेन ने स्ट्रेप्टोमाइसीन नामक प्रतिजीवी औषधि का आविष्कार किया। इस आविष्कार ने यक्ष्मा की उपचार प्रणाली मे नई क्रान्ति कर दी जिसकी आज भी वही उपयोगिता है जो उस समय थी। इसके दो वर्ष बाद अर्थात् १९४६ मे स्वीडन के डा० लेहमेन ने यक्ष्मा के उपचार के लिए पैरा एमाइनो सैलिसिलिक एसिड नामक रासायनिक औषधि खोज निकाली, जिसकी आज भी चिकित्सा में वही उपयोगिता है। सबसे महत्वपूर्ण खोज १९५१ मे 'रोश' कम्पनी स्विटजरलैंड द्वारा प्रभावी औषधि Isoniazid की हुई है। इसके बाद अन्य कई नई औषधियो का आविष्कार हुआ है जिनमे यह प्रमुख है—

१ थायासेटाजोन [Thiacetazone]
२. पाइरेजिनामाइड [Pyrazinamide]
३ साइक्लोसिरीन [Cycloserine]
४ इथिओनामाइड [Ethionamide]
५ ईथमबटोल [Ethambutol]
६ केप्रिओमाइसिन [Capreomycin]
७ केनामाइसिन [Kanamycin]
८ रिफेम्पसिन [Rifampcin]

अब तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कालान्तर मे अल्प लाभदायक औषधिया छोड दी जायेगी तथा स्थायी लाभप्रद औषधिया यक्ष्मा का समूल नाश कर देगी और वृक्कोच्छेदन की आवश्यकता नही पडेगी।

(ख) शस्त्रकर्म—निम्न तीन शस्त्रकर्म किये जाते हे—

(१) आंशिक वृक्कोच्छेदन—जब वृक्क के केवल एक ही भाग मे उपसर्ग रहता हे तथा दूसरा हिस्सा स्वस्थ तथा कार्यक्षम होता हे तब यह शस्त्रकर्म किया जाता हे।

(२) वृक्कोच्छेदन- वृक्क की विकृति आंशिक हो या पूर्ण हो प्राय इसी का प्रयोग किया जाताता हे। इसमे एक ओर का सम्पूर्ण वृक्क निकाल दिया जाता हे।

(३) गवीनी वृक्कोच्छेदन—प्राय मूत्र द्वारा यक्ष्मा दण्डाणुओ का उत्सर्जन होने के कारण गवीनी मे भी उसका उपसर्ग पहुच जाता है। इसलिए शस्त्रकर्म के समय यदि गवीनी मे विकृति मालूम हो जाय तो उस समय वृक्क के साथ उसको भी काटकर निकाला जाता है।

 राजयक्ष्मा   — पृष्ठ २४४ का शेषांश —

प्रमुख पेटेण्ट आयुर्वेदिक योग—

आयुर्वेदिक सूचिकाभरण—

ए बी एम —१ बसन्त मालती सूचीवेध
बुन्देलखण्ड —१ स्पेशल क्षय सूचीवेध
२. मृगाङ्क रस सूचीवेध
जी ए मिश्रा —१ यक्ष्मारि सूचीवेध

ऐलोपैथिक दवाओ मे—

माइकोबुटॉल [Myco butal], आइसोनेक्स [Isonex Fort], पी ए एस [P A S], कोवाडेक्स [Cobadex], स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट सूचीवेध, फाइटेबिन [Phytabin 272], टीवाफेन [Tebafan], कैपिना [Capina]।

टॉनिक [Tonic]—शार्कोफेरान, डेप्लेक्स या फेराडॉल, मिनाडाल। ताकत के लिए व्यवहृत होता है।

होमियोपैथिक एवं बायोकैमिक—

फेरमफास १२x+काली क्योर ३x+मैगनेशिया फास ३x+नेट्रमफास ३x+नेट्रममूर ३x मिलाकर दे।

होमियोपैथिक—ट्यूबरकुलैर, हिपर, एमानकार्ब, आर्स आयोड, ड्रासेरा चायना, क्रियोजोट, ड्रिलियम, स्पान्जिया, स्टैनम, बैसिलिनम, एलियम सैट, कार्बोवेजि, मायोसाटिस, सालिडेगा आदि।

यौगिक एव प्राकृतिक चिकित्सा—

शास्त्रो मे वर्णित है कि सूर्य की रश्मियो से क्षय के कीटाणुओ का विनाश होता है। प्राकृतिक चिकित्सा मे सूर्य की किरणो का स्नान गर्म पानी स्नान, मिट्टी लेप, सुबह मे टहलना, उष्ण पान करना, नासिका से पानी पीना, वाष्प से शरीर का पसीना निकालना, शुद्ध एव स्वच्छ वायु का सेवन, सुन्दर भोजन जैसे अनार, अगूर, पपीता, मौसम्मी आदि का सेवन करना हे। यौगिक चिकित्सा मे अर्द्ध उत्तान पादासन, अर्द्ध पवन मुक्तासन, अर्द्ध ताडासन, अर्द्ध त्रिकोणासन, अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन, उज्जायी आदि यौगिक आसन करना क्षय मे लाभकर हे।

❀ क्षय की आयुर्वेदिक चिकित्सा ❀

श्री वैद्य पं० अनोखेलाल शर्मा 'प्याज वाले', बेगम बाग, अलीगढ

प्रथम मास—क्षय रोगी को निम्नलिखित औषधियो की मात्रा सुबह-शाम मधु के साथ देनी चाहिए। उसके उपरान्त रोगी को दूध पीने की सलाह देनी चाहिए—

स्वर्ण बसत मालती रस १२ मि ग्रा, प्रवाल पचामृत रस १२५ मि ग्रा, सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम, लौह भस्म १२५ मि ग्रा — एक मात्रा। उपरोक्त औषधि रोगी को एक माह तक देनी चाहिए।

द्वितीय मास —चन्द्रप्रभा वटी १२५ मि ग्रा, चन्द्रामृत रस १५० मि ग्रा, स्वर्णभूपति रस १२५ मि ग्रा, लक्ष्मी विलास रस १२५ मि ग्रा, हरताल भस्म ७५ मि ग्रा। एक मात्रा—उपर्युक्त औषधिया सुबह शाम मधु के साथ ही देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त च्यवनप्राश अवलेह (अष्टवर्गयुक्त) तथा वासकासव रोगी को देना चाहिए। इससे रोगी की कास मे कमी होकर शरीर मे ताकत आयेगी। क्योंकि हरताल भस्म गर्म होती है, इसलिए दूध की मात्रा बढा देनी चाहिए। अगर रोगी कमजोर हो तथा गर्म प्रकृति वाला हो तो इसके साथ-२ प्रवाल पिष्टी, मुक्ता शुक्ति पिष्टी या गिलोय सत्व का प्रयोग करना चाहिए।

तृतीय मास—अभ्रक भस्म १२५ मि ग्रा, शिलाजत्वादि लौह २५० मि ग्रा, त्रिभुवनकीर्ति रस २५० मि ग्रा, शृङ्ग भस्म १२५ मि ग्रा, सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम—एक मात्रा। यह औषधि निरन्तर तब तक रोगी को देते रहे जब तक कि वह पूर्ण रूप से स्वस्थ नही हो जाये।

विशिष्ट औषधि—

रुदन्ती फल क्षय रोग मे बहुत लाभकारी पाया गया है। यह फल, चूर्ण तथा टिकिया के रूप मे उपलब्ध है। अगर रुदन्ती फल के साथ-२ स्वर्ण वसन्त मालती का भी प्रयोग कराया जाये तो शीघ्र लाभ होता है।

रुदनो कैपसूल (आयुर्वेदिक औषधि)—रुदनो कैपसूल भी क्षय एव पुरानी खासी मे अत्यन्त गुणकारी एव लाभकारी प्रमाणित हुए है। इन कैपसूलो को ६-६ घटे उपरात दिन मे चार बार देना चाहिये।

दोनो औषधिया "निर्मल आयुर्वेद सस्थान, अलीगढ" (उ० प्र०) मे उपलब्ध है। रुदन्ती फल चूर्ण रूप मे भी उपलब्ध है।

अन्य आयुर्वेदिक औषधियां—

निम्नलिखित औषधिया क्षय मे लाभकारी है—

[१] आनन्द भैरव रस, [२] जातिफलादि चूर्ण, [३] महा द्राक्षारिष्ट, [४] बलादि घृत, [५] जीवन्ती घृत, [६] दशमूलारिष्ट [७] शिवा गुटिका, [८] आरोग्य वर्द्धिनी वटी [९] नृपति वल्लभ रस, [१०] वैक्रान्त भस्म [११] शृङ्गाभ्र रस [१२] हेम गर्भ पोटली रस, [१३] मकरध्वज, [१४] पिप्पली चूर्ण, [१५] चतुर्मुख रस, [१६] लोहासव, [१७] स्वर्ण भस्म, [१८] अश्वगधारिष्ट, [१९] मृत सजीवनी सुरा, [२०] प्रवाल पिष्टी, [२१] कामदुधा रस, [२२] टङ्कण भस्म, [२३] स्फटिका भस्म [२४] मुक्ता शुक्ति, [२५] अभ्रक भस्म, [२६] मुक्ता पिष्टी, [२७] वासावलेह, [२८] त्रैलोक्य चिन्तामणी [२८] ब्राह्मी वटी, [२९] स्मृतिसागर रस, [३१] महालक्ष्मी विलास रस, [३२] सौभाग्य वटी, [३३] चित्रक हरीतकी, [३४] मुलहठी चूर्ण, [३५] लवगादि वटी, [३६] एलादि वटी, [३७] व्योषादि वटी, [३८] छोटी पीपल चूर्ण, [३९] कास मर्दन वटी, [४०] महाज्वराकुश रस [४१] गोदन्ती भस्म आदि।

शर्करामधुसयुक्त नवनीत लिहन्क्षयी।
क्षीराशी लभते पुष्टिमतुलां राजयक्ष्मिक'॥

शक्कर, मधु मिलाकर मक्खन के साथ सेवन करे। विषम मात्रा मे मधु तथा घी का सेवन करने से भी राजयक्ष्मा मे लाभ होता है। ★

उरस्तोय तथा फुफ्फुसावरण प्रदाह

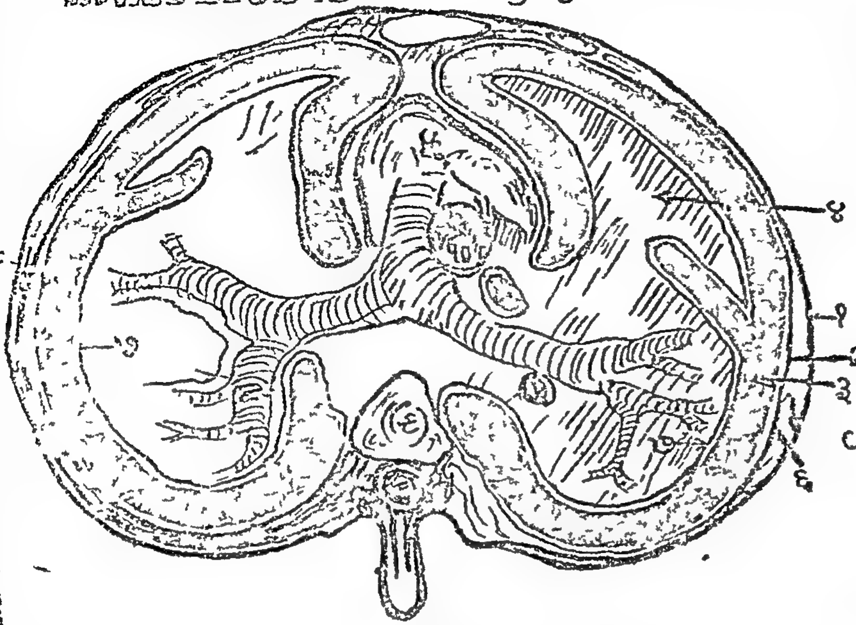
वैद्य अम्बा लाल जोशी आयु० केशरी

श्री वैद्य अम्बालाल जी जोशी आयुर्वेद केशरी आयुर्वेद जगत के जाने माने विद्वान है। सन् १६८२ मे आप 'धन्वन्तरि' के 'ज्वर चिकित्सांक' का सफल सम्पादन कर चुके हैं। सापेक्ष निदानांक के दो भागो का भी आपने लेखन-सम्पादन किया है। 'धन्वन्तरि' का कोई भी बृहद् विशेषाक ऐसा नहीं है जिसमें आपकी लेखनी के दर्शन नहीं हो, आप अत्यन्त ही सौम्य स्वभाव के, तथा आयुर्वेद की सेवा के लिये तत्पर है। आपकी विद्वता तथा स्वाध्याय शीलता आपके लेखो मे पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। आपने कई आयुर्वेदीय ग्रन्थो की रचना की है जिनमे 'वाल्मीकि रामायण मे आयुर्वेद' प्रमुख है। 'धन्वन्तरि' एवं मुझ पर आपकी सदैव कृपा बनी रही है। इस वर्ष भी 'औषधि प्रतिक्रिया एवं निवारण अङ्क' का सम्पादन भी आप ही कर रहे हैं। भगवान धन्वन्तरि आपको शत वर्षायु बनायें यही प्रार्थना है। —दाऊदयाल गर्ग।



यो तो सभी फुफ्फुस व्याधिया दु साध्य एव कष्टप्रद हैं परन्तु राजयक्ष्मा, उरुस्तोय, उर क्षत तथा वक्ष शोथ विशेष रूप से कृच्छ साध्य कही जाती है। उरुस्तोय जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है—वक्ष मे पानी भर जाने को कहते हैं। इसी प्रकार दूसरी व्याधि फुफ्फुसावरण प्रदाह भी दोनो फुफ्फुसो के ऊपरी आवरण मे दाह तथा शोथ होजाने से होता है। यो सामान्यत सभी फुफ्फुस रोगो के सामान्य कारण एक से ही है परन्तु इनके विशेष कारण भी होते है।

आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थो मे उरस्तोय तथा फुफ्फुसावरण प्रदाह का प्रथकत उल्लेख नही प्राप्त होता है। माना जा सकता है कि इन दोनो ही रोगो को आचार्यों ने राजयक्ष्मा या क्षय यक्ष्मा या क्षय रोग के अन्तर्गत ही माना हो। ऐसा भी सभव है उस समय इस रोग का प्रचलन न हो। माधव निदान के परिशिष्ट भाग मे तथा भैषज्य रत्नावली मे इसका नामोल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार ने इसके कारणो मे जीर्ण विषम ज्वर, प्रवाहिका, जीर्ण अतिसार, प्लीहावृद्धि, पाडु रोग, शोथ, अर्बुद, हृदय रोग, उदर रोग, यकृदवृद्धि, वृक्क रोग आदि की वृद्ध अवस्था मे उपद्रव रूप मे उरस्तोय रोग हो सकता है। बाह्य आघात तथा अन्य आगन्तुक कारणो से, कीटाणुओ के विसर्पण से, फुफ्फुसावरण मे तोय तथा दाह



१ बाह्य त्वचा २ ६ फुफ्फुसावरण बाह्य स्तर
३ फुफ्फुसावरण कोष Pleural Cavity ४ फुफ्फुस इत्यादि
५ हृदय ७ फुफ्फुसावरण अन्त- ८ सौषुम्न नाड़ी ९ कशेरुका
१०.

की वृद्धि होकर ये रोग उत्पन्न हो जाते है। फिरङ्ग रोग भी उपरोक्त दोनो रोगो को उत्पन्न कर सकता है। श्वसनक ज्वर तथा राजयक्ष्मा की अग्रिम अवस्था मे ये रोग पैदा होजाते है।

भैषज्य रत्नावली मे शीत लगने से तथा फुफ्फुसो पर चोट लगने से ज्वर, मौक्तिक ज्वर, सन्निपातिक ज्वर, राजयक्ष्मा तथा अन्य विविध प्रकार के फुफ्फुस रोगो, यकृद् रोग द्वारा उत्पन्न पाण्डु रोग एव शोथ के कारण तथा अन्य ऐसे ही कारणो से इन रोगो की उत्पत्ति मानी गई है। सर्व प्रथम फुफ्फुसावरण शोथ व प्रदाह होता है तथा तदन्तर वहा तरल एकत्रित होकर उरस्तोय वन जाता है। कभी-२ शोथ या प्रदाह स्वत ही या औषधि द्वारा धीरे-२ कम होता जाता हे और रोगी स्वस्थ हो जाता है और रोग आगे नही वढ पाता। परन्तु कभी-२ रोग उग्ररूप धारण करता जाता हे और फुफ्फुसावरण मे पीत रग, श्वेत रङ्ग का, लाल रङ्ग का अथवा लालिमा लिये श्वेत रङ्ग का तरल (जैसा भी अवसर हो) भर जाता है। ऐसा होने पर तीव्र ज्वर के रूप मे इसकी प्रतिक्रिया व्यक्त होती है।

इस रोग के पूर्वरूप मे फुफ्फुसावरण शोथ या प्रदाह होता है तदनन्तर फुफ्फुस के पार्श्व भाग की आवरणकला के एक भाग मे या इससे अधिक भाग मे तरल पदार्थ भर जाता है। रोग की उग्रता तथा मन्दता इस तरल की सग्रहीत मात्रा पर निर्भर रहती है। अधिक तरल होने पर रोग तीव्र तथा कम तरल होने पर रोग मन्द है ऐसा मानना चाहिए। दोनो पार्श्वों मे तरल भर जाने पर रोगी को मृत्यु भय रहता है। यूनानी मत इस रोग मे सुस्पष्ट नही है।

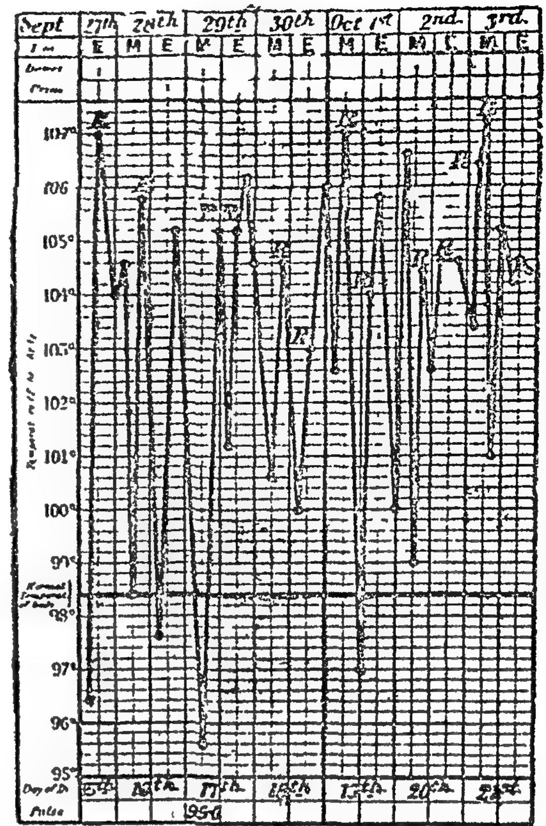
फुफ्फुस शारीर—

मानव मे दो फुफ्फुस हैं। उनका काम श्वास प्रश्वास क्रिया को सम्पन्न करना है। वे श्वास द्वारा वायु को ग्रहण कर प्रश्वास द्वारा वायु छोडते हैं। दोनो फुफ्फुस एक श्लैष्मिक झिल्ली से आवृत रहते है। यह आवरण फुफ्फुसो की रक्षा करता है। इस आवरण की झिल्ली द्वारा दोनो फुफ्फुस दोनो ओर से सुरक्षित रहते हैं। दाहिना फुफ्फुस कुछ चौडा और भारी तथा वाया फुफ्फुस कुछ लम्वा होता है। यह दाहिने से कुछ हल्का होता है। फुफ्फुस स्निग्ध सरस तथा मृदु होते है। फुफ्फुसो मे अन्तर्वायु कोष होते हैं जिनमे वायु भरी रहती है। फुफ्फुस का सकोच प्रसारण कार्य प्लूरा के दो पर्तो वाले थैले मे जिसे 'प्लूरा' रहते हैं निर्वाध और सुगमतया जीवन भर चालू रहता है।

फुफ्फुस के इस आवरण पर जो फुफ्फुस की सतह पर चिपका रहता है या उसकी झिल्ली पर वाह्याघात, चोट या झटका लगने से, शीत, सर्दी, ऋतु परिवर्तन आदि उपरिलिखित कारणो से यह झिल्ली क्षुब्ध होजाती है। फलस्वरूप इसमे प्रदाह, शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसमे अतिशय वेदना तथा चुभन हो जाती है जिसे फुफ्फुस प्रदाह कहते हैं। रोग आगे वढने पर इसमे तरल

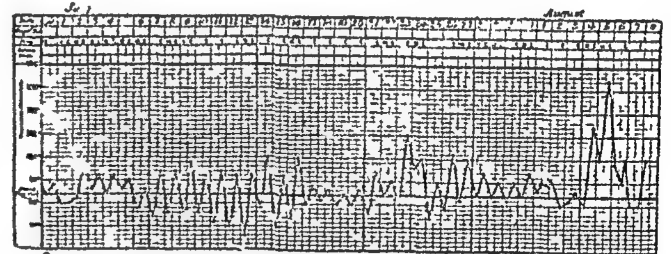
पदार्थ का सग्रह होकर उरस्तोय का रूप धारण करता है।

रोग परीक्षण—उरुस्तोय मे ज्वर प्रधान लक्षण है। रोगी श्वसन क्रिया मे विशेष कष्ट का अनुभव करता है। पार्श्व भाग मे जहा तरल एकत्रित हे वह भाग ऊपर उठा हुआ होता है। पार्श्व पीडा, शुष्क कास, तृष्णा, मन्दाग्नि, निर्बलता, श्वसन कष्ट आदि लक्षण प्रकट रहते हैं। रोगी की नाडी सूक्ष्म, तीक्ष्ण तथा शीघ्रगामिनी होती है। उर परीक्षण यन्त्र (Stethescope) से शब्द श्रवण करने पर अ शास्थि (Scapula) के निम्न कोण पर एक या आधा इन्च स्थल पर शुष्क (रूक्ष) प्लूरिसी मे घर्षण (Friction) शब्द सुनाई देता है। तरल भर जाना प्रारम्भ होने के बाद उस स्थान पर कोई शब्द सुनाई नही देता। फुफ्फुस के सकोच प्रसारण की गति भी कुछ मन्द पड पाती है क्योकि वह फुफ्फुसावरण मे सग्रहीत तरल से दब जाता है। अधिक तरल सग्रहीत हो जाने पर फुफ्फुस की सकुचन आकुञ्चन शक्ति सर्वथा जाती रहती है। फुफ्फुस प्रदाह मे (शुष्क उरस्तोय मे) रोगी को काम करते ही वक्षशूल का अनुभव होता है अत वह काम करना बन्द कर देता है अथवा काम को रोकने का प्रयत्न करता है।



तीव्र उर पूय (Acute Pyaemia) जन्य ज्वर

एलोपैथी-मत—इस रोग का निदान तथा इसके लक्षणो के स्पष्ट व विशद अध्ययन के लिए आधुनिक मत का अवलोकन करना आवश्यक है। इस मत से फुफ्फुसो का शोथयुक्त होना प्रधान लक्षण हे जो प्राय यक्ष्मा के जीवाणुओ द्वारा सक्रमित होता है। यह युवा आयु वालो को अधिक होता हे। इसके कीटाणु प्रथम नीचे के भाग मे जमा होते है। वहा शोथ तथा प्रदाह उत्पन्न करते हैं। इसके दो प्रकार है-(१) शुष्क प्लूरिसी (Dry pluerisy) तथा (२) तरल प्लूरिसी Wet Pluerisy)। शुष्क प्लूरिसी आरम्भिक अवस्था हे तथा कुछ काल तक रोग प्रभाव रहने से इसमे तरल भरना आरम्भ हो जाता हे। जब तरल अल्प मात्रा मे तथा जमने लायक हो तो वह जमकर तन्तुमय फुफ्फुसावरण प्रदाह हो जाता है। इसका समावेश शुष्क प्लूरिसी मे किया जाता है। इसमे बाहरी दीवार के भीतरी भाग मे सब जगह या कभी-२ एक दो या इसके अधिक स्थानो पर शोथ हो जाता है। ऐसा होने पर नसे तथा वाहिनिया



जीर्ण उर स्नोयजन्य ज्वर (Chronic Pyaemia) मे रोगी का एक माह का तापमान चार्ट

फट जाती हैं। लचीली धातु की मात्रा कम होकर उसमे जमने की शक्ति अधिक होती है। अत वह कर अपनी सतह की ओर ठहर कर जम जाती हे। उसमे लाल कणिकाये, श्वेतकणिकाये और आवरण के कटे लच्छे फस जाते है। यह तन्तुमय अवस्था है। इसके ऊपर की सतह चिकनी चमकदार रूखी होकर खरखरी हो जाती है।

तरल प्रकार मे लसीका की मात्रा अधिक तथा तुन्तुओ की मात्रा कम होती है। यह दोनो ही अवस्थाओ

मे होना सभव है यानि प्रारम्भिक अवस्था मे तथा तदन्तर भी इसमे द्रव की मात्रा अधिक होनी है। इसका उपचार करते समय दो ही विधिया उपयोगी होती है—

(१) द्रव का यन्त्रो द्वारा निष्कासन तथा (२) द्रव का औपधियो द्वारा शोपण। महर्षि सुश्रुत द्वारा निर्देशित विधि से त्रिकूर्चक शस्त्र से यह क्रिया सभव है परन्तु यह क्रिया लघु हस्तशल्य चिकित्सक द्वारा ही की जानी चाहिये। सम्पूर्ण द्रव एक वार मे ही सहसा न निकालना चाहिए। रोगी का जी घवराने लगे तो द्रव निष्कासन वन्द कर देना चाहिए। एक दो दिन वीच मे देकर फिर द्रव निष्कासन का प्रयास किया जाना चाहिए।

तरल शोपण के लिये अनेक आयुर्वेदीय योग हैं—चिकित्सा व्यवहार मे अनेक चिकित्सक ऐसे होगे जिन्होने मेरी तरह इस चिकित्सा मे सफलता प्राप्त की होगी।

चिकित्सा सूत्र—

आयुर्वेदीय चिकित्सा करते समय निम्न वातो पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) द्रव शोपक औपधियो का प्रयोग

(२) कफ नाशक औपधियो का उपयोग

(३) मूत्रल औपधियो का व्यवहार

(४) वलवर्धक औपधियो का सहयोग

शुष्क फुपफुसावरण प्रदाह मे निम्नलिखित आयुर्वेदीय औपधिया लाभप्रद पाई गई है—

शृङ्गाराभ्र रस—अभ्रक भस्म ८ भाग, कर्पूर, जावित्री, खस, गजपीपल, तमालपत्र, लौग, जटामासी, तालीस पत्र, दालचीनी, नागकेशर, कूठ और धाय के फूल सभी चौथाई चौथाई भाग। हरड, वहेडा, आवला, सौठ, काली मिरच, पीपल ये सभी १/८-१/८ भाग, छोटी इलायची दाने जायफल, शुद्ध गन्धक ये सभी आधा-आधा भाग, पारद चौथाई भाग।

विधि—प्रथम पारद गन्धक की कज्जली करे फिर इसमे अभ्रक भस्म मिलाकर घोटे। तदनन्तर सभी काष्ठ औपधियो का चूर्ण मिलाकर खरल करे। मात्रा—१-१रत्ती

शृङ्ग भस्म—अर्क एव स्नूही दुग्ध मे भस्म की हुई। मात्रा २-४ रत्ती।

अभ्रक भस्म (सहस्रपुटी)—मात्रा आधी रत्ती से १ रत्ती आवश्यकतानुसार। इन औपधियो का प्रयोग या तो अकेले मे ही किया जाय या आवश्यकतानुसार मिश्रण कर किया जाय। अनुपान—वासापत्र स्वरस।

पुनर्नवाष्टक—पुनर्नवामूल, निम्ब की अन्तर्छाल, पटोलपत्र, शुण्ठी, दारुहरिद्रा तथा हरीतकी समभाग (वगसेन) मात्रा १०-२० ग्राम।

पुनर्नवा सुरा सार (लिक्विड एक्स्ट्रेक्ट आफ पुनर्नवा)—मात्रा—१ चम्मच पानी मिलाकर।

पुनर्नवा स्वरस—मात्रा १०ग्राम।

सहयोगी द्रव्य—वज्रक्षार अथवा यवक्षार। कासाधिक्य होने पर तालीसादि चूर्ण (चरक)

पीडा शान्ति के लिये—(१) राजिका-अलसी प्रलेप (२) दशाङ्ग लेप (३) वालुका प्रलेप (४) मुर्गी के अंडे की जर्दी का लेप (५) ब्राण्डी—को लगाना (६) नीलगिरी के तैल की हल्की मालिश। अन्य वेदना शामक औपधियो मे समीर गज केशरी रस तथा वेदनान्तक रस। क्वथित जल का प्रसेक।

अत्यधिक दर्द होने पर पैथीडीन का इन्जेक्शन लगाना उपयुक्त है। आरोग्य वर्धनी वटो (रस रत्न समुच्चय) रुदन्ती मिश्रण (धन्वन्तरि)

विशेष इस रोग की चिकित्सा करते समय रोगी को हृदय वलप्रद औपधिया देनी चाहिये।

उरस्तोय की चिकित्सा मे निम्न औपधिया अनुभूत तथा उपयोगी पाई गई हैं—

पचसूत रस—पारद ४० ग्राम, हिंगुल (शुद्ध) १० ग्राम, सोमल २० ग्राम, शुद्ध गन्धक ४० ग्राम, रस सिन्दूर ६० ग्राम, रस कपूर ८० ग्राम—सवको यथा विधि कज्जली कर मिला ले। छोटी दुद्धी के रस की ३ भावना देवे। फिर सुखाकर चूर्ण आतशी शीशी मे भरकर कपड मिट्टी कर सूखने पर मन्द मध्यम तथा तेज आच देवे—६ घटे वाद शीशी पर डाट लगा दे। २७ घटे तक तीव्राग्नि देने के वाद गले पर लगी औषधि को खुरच कर निकाल ले। मात्रा १/४ रत्ती—अर्द्रक स्वरस, तुलसी स्वरस तथा मधु अथवा वहेडा, मुलहठी, वासा पत्र के क्वाथ मे मिश्री मिलाकर।

सुधानिधि रस (भैपज्य रत्नावली) मात्रा—१-२ रत्ती मधु के साथ लाभ करता है।

प्रयोग—षडगुण वलि जारित मकरध्वज, महालक्ष्मी

त्रिलाम रस (स्वर्ण युक्त), मृगशृङ्ग भस्म, कफकेतु रस प्रत्येक १०-१० ग्राम। सबको खरल कर सूक्ष्म मिश्रण बनालें। सर्व प्रथम मकरध्वज को खरलकर चन्द्रिका रहित करलें। फिर एक-एक कर सभी औषधियो को मिलाकर स्वयं अदरक रस मे डालकर मधुसह पिलावे। मात्रा १ रत्ती दिन मे ३-४ बार आवश्यकतानुसार।

प्रयोग—शुद्ध अष्ट संस्कारित पारद तथा शुद्ध गंधक आवलासार मिलाकर निश्चन्द्र कज्जली करें। फिर शतपुटी अभ्रक, नाग भस्म, सोमनाथी ताम्र भस्म (अमृतीकरण की हुई) रस सिंदूर, लोह भस्म (शतपुटी) समान भाग (सब) लेकर मर्दन करे।

भावना—स्नुही दुग्ध, जम्बीर स्वरस, वासा पत्र स्वरस, चित्रक क्वाथ, करवीर पत्र स्वरस, दन्ती मूल क्वाथ, कृष्ण मिरची क्वाथ, तुचिला क्वाथ इन सभी औषधियो की ४-४ भावना देकर फिर उसकी टिकिया बनाकर सुखा कर शराव सम्पुट करे। फिर बालुका यत्र मे ३ पहर अग्नि दें। शीतल होने पर खरल कर त्रिकटु, षड्षण, वच, शुद्ध वत्सनाभ तथा रजनी चूर्ण ४-४ माशा मिलाकर अद्रक के स्वरस मे वटी बनालें। मात्रा—१-१ रत्ती। अनुपान—अद्रक स्वरस तथा मधुसह।

प्रयोग—सहस्रपुटी अभ्रक, चन्द्रोदय, मुक्ताभस्म, स्वर्ण भस्म, वृहद शृङ्गाराभ्र रस, शृङ्ग भस्म समान मात्रा मे मिश्रण कर रखलें। मात्रा २ रत्ती। अनुपान तुलसीपत्र स्वरस तथा मधु।

क्वाथ—बादाम पेटिका ५० ग्राम, कालीजीरी १२ ग्राम, रजनी चूर्ण २५ ग्राम, वासापत्र (श्याम) ५० ग्राम। मात्रा—१०-२० ग्राम—यह क्वाथ स्वय मे या सहपान के रूप मे लाभ करता है—अनुभूत है।

पिप्पलीमूल चूर्ण—उत्तम प्रकार की पिप्पली मूल की गाठ को चूर्ण बनाकर १ ग्राम की मात्रा से प्रारम्भ कर नित्य १ ग्राम बढाते जावे। इस प्रकार १० ग्राम तक बढाकर फिर उतारे—इस प्रकार आवश्यकता पडने पर दुबारा या तिबारा वर्धमान कल्प करा दे।

अनुपान—दुग्ध।

रस माणिक्य—मात्रा—१-२ रत्ती मधुसह। यह औषधि भी अन्य औषधियो के साथ मिश्रित कर दी जा सकती है। शूल शामक औषधियो मे वात विध्वसन रस देय है।

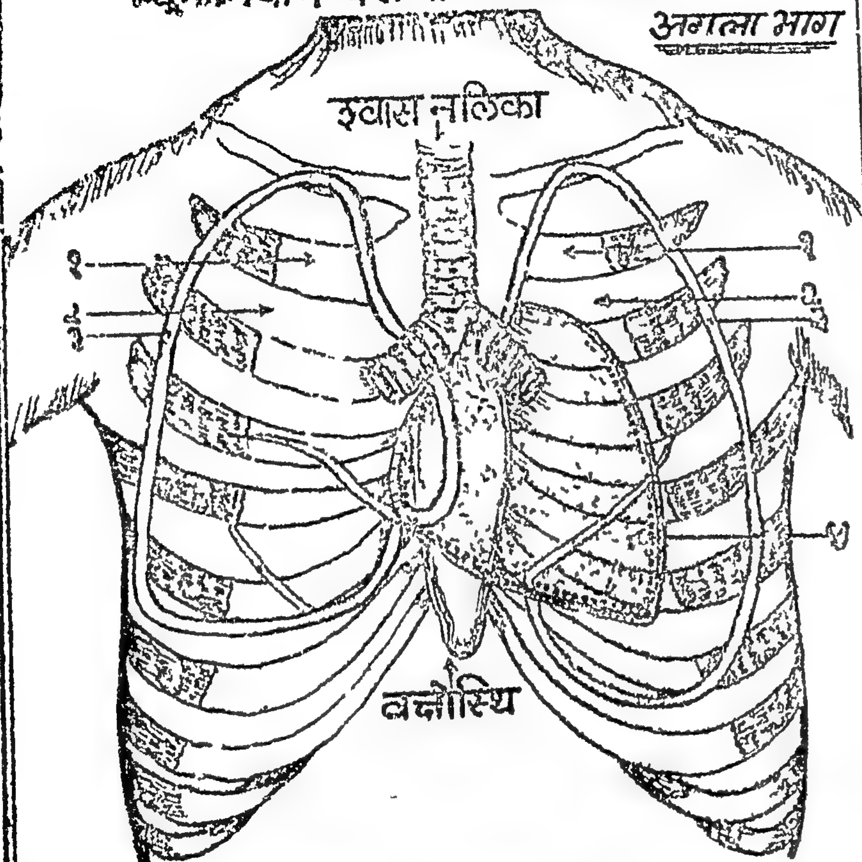
विहार—इस रोग के प्रकट होते ही रोगी को शैयागत रखना चाहिए। पूर्ण विश्राम की इस रोग मे आवश्यकता है। रोगी को स्वच्छ वायु वाले कमरे मे रखना चाहिए। छाती पर गर्म वस्त्र लपेटे रखना लाभदायक है। आवश्यकता होने पर प्रलेप, तैल मर्दन, पुल्टिस, सेक करना उत्तम है।

पथ्य—द्रव पदार्थों का प्रयोग उचित सेवनीय है। दूध साबूदाना, अगूर स्वरस, पौष्टिक तथा सुपाच्य भोजन, मूत्रल खाद्य, मलावरोध को दूर करने वाले खाद्य देने उत्तम है। पीने के लिये हर समय गर्म पानी दिया जाना चाहिए। थोडा लाभ हो जाने पर दलिया, मूग की दाल, थूली, खिचडी आदि दी जा सकती है।

अपथ्य—शीतल जल, शीतल वायु, कफ वर्धक पदार्थ गरिष्ट भोजन, खटाई का आग्रहपूर्वक त्याग करना चाहिए। इस रोग से मुक्त होजाने के बाद भी एक वर्ष तक पथ्य पालन करना आवश्यक है। श्रम, मैथुन से बचना चाहिए। दिवास्वप्न (दिन मे सोना) शीतल जल से स्नान, क्रोध, विवाद, लडाई-झगडा, जोर से बोलना, जोर से गायन, मुख वाद्य (बासुरी-बैंड बाजा आदि) का सर्वथा त्याग करे।

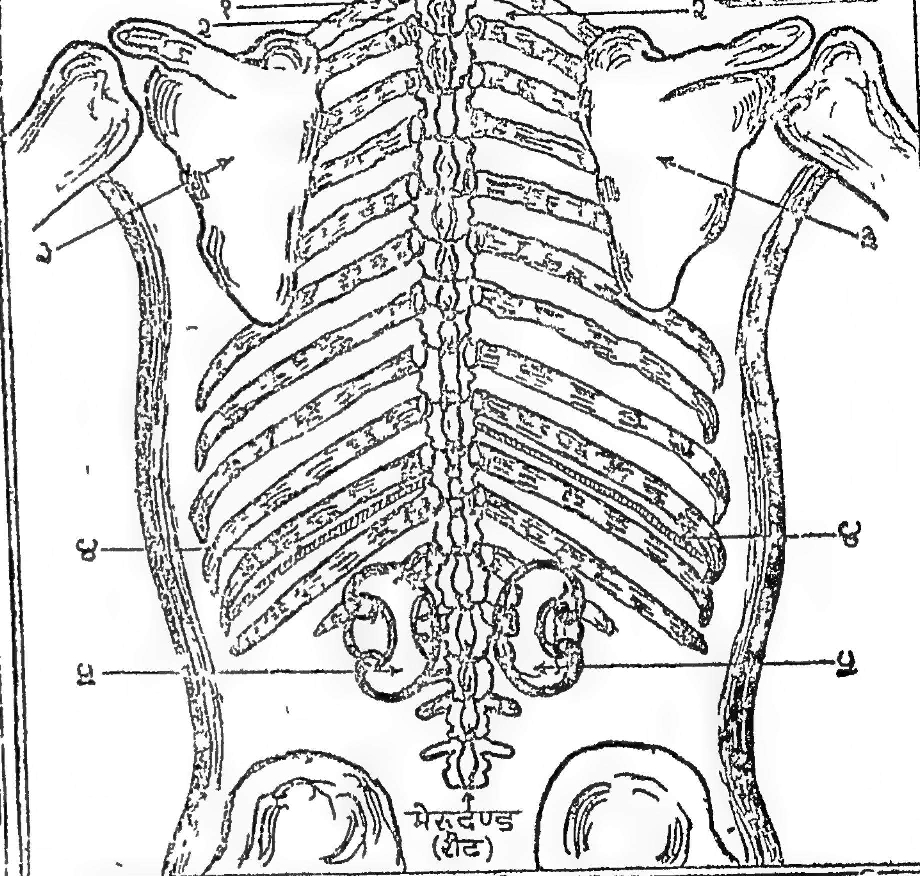
विशेष—उरस्तोय अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे औषधि चिकित्स्य है परन्तु रोग की उग्रावस्था मे जब पूय अधिक बढ गया हो यन्त्र साध्य है। क्षय जन्य उरस्तोय मे क्षय रोग की चिकित्सा की जानी चाहिये। कैन्सरजन्य उरस्तोय मे कैन्सर की चिकित्सा करनी चाहिए। इसी प्रकार से रोग के मूल कारण का अवलोकन कर रोगी की चिकित्सा करना उपयुक्त है।

o—*—o





१—पर्शुका
२—पर्शुकान्तरीय अवकाश
३—फुफ्फुसावरण कला
४—हृदय



१—पर्शुका
२—पर्शुकान्तरीय अवकाश
३—स्कन्धास्थि (Scapula)
४—पर्शुकान्तरीय मासपेशिका
५—वृक्क

श्वसनकज्वर न्यूमोनियां

डा० बी० एन० गिरि ए एस बी एस, एस सी डी ग्राम पो. डगरा, जिला गया (बिहार)



जिस विशेष स्थान पर जहा भी शोथ, प्रदाह उत्पन्न होता है वहा के अनुसार वैसे ही विशेष विभिन्न नाम दिये गये हैं—

(१) खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह (Lober Pneumonia)— फुफ्फुस के एक खण्ड मे जिसमे तीनो स्तर की वायु प्रणालिया सम्मलित अथवा भरी है अर्थात सम्पूर्ण फेफड़े के एक खण्ड मे जो प्रदाह उत्पन्न होता हे उसे खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह कहते है। इसे ही श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) कहते है और जब दोनो ओर के खण्डो मे होता है तब उसे डबल न्यूमोनिया कहा जाता है। यह प्रथम प्रकार सबसे भयानक और साघातिक होता है।

(२) फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाह (Broncho-pneumonia)—फेफड़े मे जो सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मतम वायु प्रणालिया हैं। इनमे उत्पन्न शोथ को ब्रॉको न्यूमोनिया कहते है।

(३) तीव्र खासी (Acute Bronchitis)—कण्ठ के नीचे जो स्थूल वायु मार्ग है, इसमे उत्पन्न प्रदाह मे तीव्र खासी उत्पन्न होती है।

(४) फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy)—उरस्तोय, राजयक्ष्मा, इन दोनो का वर्णन पृथक-पृथक किया गया हैं। यहा पर विषयान्तर के कारण वर्णन करना सम्भव नही है।

यह व्याधि विशेषकर शिशिर एव वसन्त ऋतु मे होती है। आयुर्वेदीय सहिताओ मे लिखा हे कि कफ का सचय शिशिर मे होकर वसन्त ऋतु मे कुपित होता हे। जिसके कारण मे कफजन्य व्याधिया उत्पन्न होती है। एक वर्ष से कम आयु के बच्चे तथा एक वर्ष से १० वर्ष के बालको मे और ५० वर्ष के मध्य आयु वालो को यह रोग अर्थात खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह (श्वसनक ज्वर) विशेष कर होता पाया गया है। इससे स्पष्ट होता हे कि दुर्बल अधेड़ अवस्था के तथा अति कोमल स्वभाव के बच्चो को विशेष होता है। यदि यह रोग एक बार किसी को हुआ हे और असावधान रहता हो, आहार विहार भी ठीक न हो तो उस व्यक्ति को जीवन पर्यन्त बारम्बार यह रोग होने का भय बना रहता है।

आयुर्वेद मे लोबर न्यूमोनिया का स्वतत्र वर्णन प्राप्त नही हे। यह एक सक्रामक व्याधि हे। जब फुफ्फुस के एक खण्ड मे होता है तब उसे प्रचलित नाम न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर) कहते है और जब दोनो खण्डो मे होता हे तब उसे डबल न्यूमोनिया कहते हे। इस व्याधि के उत्पन्न होने के साथ तीव्र ज्वर होता है और निश्चित समय तक अपनी भयानकता एव तेजी दिखाकर अन्त मे अकस्मात ज्वर उतर जाता हे, इसके साथ ही श्वास, खासी, पसलियो मे असहनीय वेदना, शूल के समान दर्द, अण्ट-सण्ट बकना, प्रलाप, अनिद्रा आदि लक्षण दिखाई पडते हे।

कारण—

इस व्याधि को उत्पन्न करने वाले एक विशेष प्रकार के अतिसूक्ष्म जीवाणु होते है जिन्हे न्यूमोकोक्कस (Pneumo-cocus) कहते है। स्वस्थावस्था मे भी यह जीवाणु कण्ठ, मुह मे उपस्थित रहते है और जब अपनी अनुकूल परिस्थिति पाते है तब रोग उत्पन्न कर देते हैं।

ये जीवाणु वात श्लैष्मिक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, प्लेग आदि भी उत्पन्न करते हे। विशेष कर रोगी के फुफ्फुस से श्लेष्मा द्वारा निकल कर जब दूसरे स्वस्थ व्यक्ति के अन्दर प्रवेश करते हैं तब फुफ्फुस मे पहुच कर रोग उत्पन्न कर देते है। इसके अतिरिक्त निम्न कारण भी होते है जो इस प्रकार से है—

(२) उष्ण और नमी वाले जलवायु के स्थान से एकाएक ठडे एव सूखे स्थान मे आजाना, अत्यधिक मेहनत करना, विषम ज्वर, वृक्क शोथ, यकृत शोथ आदि से दुर्बल होने के उपरान्त, शराब आदि नशीली

वस्तुओं का अति सेवन, अनियमित आहार विहार, स्नान, भोजन कसरत आदि करना, कफ कारक पदार्थों का विशेप सेवन, अकस्मात वर्षा मे भीगना आदि भी रोग उत्पति मे कारण होते है।

सापेक्ष निदान—

शारीरिक विकृति और प्रत्यक्ष रोग लक्षणो एव छाती परीक्षा से रोग की पहिचान सरल होती है। परन्तु बच्चो मे प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह से इसका भेद करना अथवा पहचान करना अत्यधिक कठिन होता है। क्योकि वृहद फुफ्फुस प्रदाह को तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह से पृथक करना अत्यन्त ही कठिन होता है फिर भी पहिचान की दो पद्धितिया इसमे अपनाई जाती है—

प्रथम यह कि मूत्र मे आने वाली क्लोराइड की मात्रा बहुत ही कम होजाती हे। जबकि दूसरे प्रकार के प्रदाह मे कम नही होती। दूसरा यह कि फुफ्फुसीय प्रदाह मे सूचिका डालने पर तरल पदार्थ नहीं निकलता हे, किन्तु फुफ्फुसावरण (उरस्तोय) प्रदाह मे सूचिका डालने पर तरल पदार्थ निकलता है।

शारीरिक विकृति—

इस व्याधि को उत्पन्न करने वाले एक विशेप प्रकार के जीवाणु जब नाक, मुह के मार्ग से फेफडो मे प्रवेश कर व्याधि उत्पन्न करते है तब इस रोग की चार अवस्थाये होती हैं—

(१) प्रथमावस्था—उपर्युक्त विवेचन मे वायु कोष्ठको का वर्णन किया गया है, उनके सेलो मे शोथ उत्पन्न होता है और उस शोथ के स्थान का रक्त उनमे से रक्त का जलीयास रिस-रिस कर उन्ही वायु कोष्ठको मे संग्रह हो जाता है। इस स्थिति मे फेफडे का शोथ युक्त आक्रात भाग रक्त के समान लाल तथा भारी हो जाता है एवं फुफ्फुसावरण मे भी शोथ हो जाता है क्योकि उन सेलो मे रक्त एवं पानी भर जाता है। यही कारण है कि वायु का प्रवेश अत्यधिक कम हो जाता है जिसके कारण श्वास की आवाज कम सुनाई पडती है। सेलो मे शोथ और स्राव से वे चिपकी अवस्था मे रहती, जब एकाएक वायु का प्रवेश होता हे तब चरचराहट के शब्द के साथ खुलती है। इसलिये करकराहट की आवाज सुनाई पड़ती है। प्रथमावस्था के पूरा होने मे दो तीन दिन का समय लग जाता है।

(२) द्वितीय अवस्था—इस अवस्था का प्रारम्भ उस समय होता है जब फुफ्फुस का आक्रान्त भाग ठोस रूप मे हो जाता है क्योकि वायु कोष्ठकों मे रक्त एव पानी जम जाता है जिसके कारण ठोसपन आ जाता है। जमे हुए इस रक्त एव पानी मे कुछ मैलें भी होती है तथा रक्त के लाल एव श्वेत कण भी होते है जिसे Red hepatization अवस्था कहा जाता है। इसमे फेफडे का आक्रान्त भाग यकृत के समान ठोस हो जाता है। इस कारण इसमे न वायु आती और न जाती है। छाती पर स्टेथिस्कोप यन्त्र के द्वारा श्रवण करने पर केवल वायु मार्ग के आने जाने का ही शब्द सुनाई पडता है।

(३) तृतीय अवस्था—इस तृतीय अवस्था को ग्रे-हेपाटाईजेशन (Grey hepatization) कहते हैं। इस अवस्था के पहुचते ही वायु कोष्ठको के अन्दर के रक्तकण एव रक्तजल अथवा रक्तवारि विलीन हो जाती है और इनके स्थान पर पीले रङ्ग के पूय (pus) जैसा पदार्थ भर जाता है। परन्तु फेफडे का वह भाग ठोस ही रहता है, साथ ही रोग अपनी चरम सीमा पर पहुच जाता है। तीव्र ज्वर, निद्रा का नही आना, अर्ध सुप्त अवस्था मे रोगी प्रलाप करता, अण्ट-शण्ट बकता है। कारण रोग विष का प्रभाव अधिक रहता है जिसे टाक्सीमिया की अवस्था भी कहते है। दिल की धड़कन बढी हुई, नाडी तेज, फेफडे मे रक्त का प्रवेश नही हो पाता है जिससे मृत्यु सम्भव हो जाती है। कारण फुफ्फुस कफ से आच्छादित रहता है। इससे श्वास की गति तीव्र होजाती है। यह तीनो अवस्थाये तीन से सात दिन के अन्दर रहती हैं।

(४) चतुर्थावस्था—इस चतुर्थ अवस्था को रिजोलूशन (Resoslution) अवस्था कहते हैं। यह अवस्था दोनो ओर को उन्मुख रहती है। रोगी आरोग्यता की ओर बढता अथवा मृत्यु के मुह मे पहुच जाता है। यदि शोथ वाला स्थान खंड गलकर पूय से भर उठे तो समझना चाहिए कि रोगी असाध्यावस्था मे पहुच गया है और मृत्यु निश्चित रूप से हो जायगी। किन्तु वायु कोष्ठको के अन्दर जो पदार्थ से भरे हुए थे वह इस अवस्था मे विलीन होने लगे स्राव का अधिकाश भाग क्रमश. रक्त मे मिश्रित होने लगे एव उसका भाग कफ के

रूप मे दस्त के साथ निकलना रहता है तो आरोग्यता का लक्षण है। इसीसे इस अवस्था मे कठोरपन लिए हुये मिश्रित करकराहट सुनाई पड़ती है। जो धीरे-२ कम होती जाती है। श्वास प्रणाली से जो श्वास आती थी और सुनाई पडती थी वह कोष्टक मे से आने-जाने लगती है अर्थात् फेफडा अपनी स्वस्थावस्था मे होजाते है।

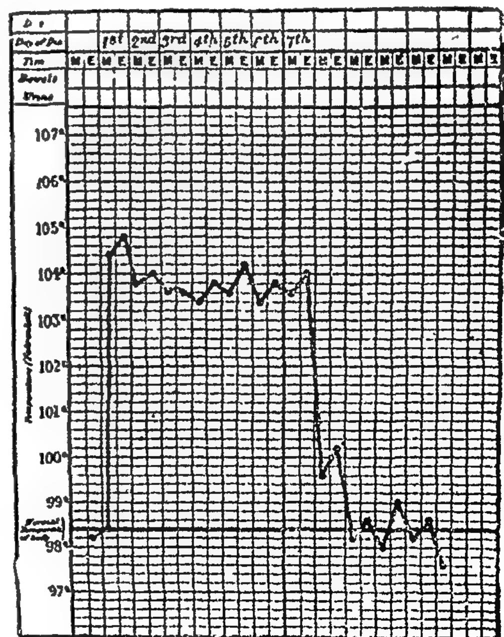
अतएव उपर्युक्त यह चारो अवस्थाये वैज्ञानिक परीक्षाओ से ज्ञात हुई हैं। कोई भी चिकित्सक रोगी को प्रत्यक्ष देखकर नही बता सकता कि किस समय से कौन सी अवस्था आरम्भ हुई है। कारण यह है कि ये चारो अवस्थाये इस प्रकार एक के बाद एक परिवर्तित होती जाती है कि पता लगा पाना अत्यन्त ही कठिन ह। लगभग आठ प्रतिशत रोगी को दोनो ओर के फेफड़े का यह रोग आक्रान्त करता है और जिन्हे दोनो ओर होता है उन्हे बचाना भी अति कठिन होता है। विशेषत फेफडे की ओर का निचला खड ही प्रदाहित होता है अथवा एक तरफ का सम्पूर्ण फेफडा अथवा उसके पृथक-पृथक भाग मे ही शोथ उत्पन्न होता है। क्योकि खड मे ही रोग का आक्रमण होता है इसलिए अक्सर फुफ्फुसावरण मे भी थोडा प्रदाह हो सकता है।

लक्षण—

इसमे अकस्मात ठड लगकर ज्वर आता और छाती के एक भाग अथवा दोनो भाग मे तीव्र वेदना एव शूल की तरह टीस अनुभव होती है। सूखी खासी आती और कफ नही निकलता तथा गले मे घुर-घुराहट मालूम पडती है। खासने के समय रोगी अपनी छाती को कसकर दबा लेता है। किसी-२ रोगी को खासने से रक्त मिश्रित कफ भी निकलता है। परन्तु रक्त उसी अवस्था मे आता है जब खडीय न्यूमोनियां, वात श्लैष्मिक ज्वर, प्लेग आदि उपस्थित रहतें हैं। रोगी का श्वास फूलने लगता है, श्वास लेने मे अत्यधिक तकलीफ होती एव श्वास लेने मे जोर लगाने पर नथुने फूलने लगते और चेहरे पर लाली दौड जाती है। यदि कफ निकलता भी है तो अत्यल्प मात्रा मे जो गाढा एव चिपचिपा तथा चिकनाहट अधिक रहती है।

यह खासी का वेग एव दर्द अधिक दिनो तक नही रहता। दो तीन दिन के वाद खासी सूखी न रहकर गीली हो जाती है एव कफ आने लगता है। खासी की तकलीफ अथवा कष्ट उपर्युक्त लक्षण के समान ही रह जाये तो लक्षण अच्छे नही समझे जाते है। जब टाक्सीमिया के लक्षण बदल जाते है तब ज्वर का तापमान अधिक वृद्धि कर जाता है और निद्रा नही आती। निद्रा नही आने के कारण रोग का विष प्रभाव और भी अधिक बढ जाता है। ऐसी अवस्था मे रोगी प्रलाप करने लगता है। इसके बाद प्रलाप मे कमी होती और वेहोशी आने लगती है।

इस अवस्था मे श्वास की गति अत्यधिक तीव्र होजाती है जो प्रति मिनट मे ४० से ६० तक हो जाती है। इसी प्रकार नाडी की गति मे भी तेजी हो जाती है जो प्रति मिनट १२० से १३० से भी ऊपर हो जाती है। पहले नाडी भरी हुई एव तीव्र हो जाती पश्चात् कमजोर पड जाती है। यदि नाडी की गति इतनी तेज न हो जाय कि गिना नही जा सके तो समझना चाहिए कि अनिष्ट होने की अवस्था पहुच चुकी है। हृदय दुर्बल एव अति कमजोर पड जाता तथा अन्त मे नाडी लुप्त होने लगती है। सन्यासावस्था (Coma) के लक्षण मे हृदय की गति बन्द होने वाली होती है। यदि रोगी की अवस्था मे सुधार के लक्षण होते हैं तब तो ज्वर एक सप्ताह तक तीव्र ही बना रहता हे और बाद मे अवधि समाप्ति के साथ-२ एकाएक पसीना आकर ज्वर उतर



जाता है। इसमे ज्वर कभी भी धीरे-धीरे नही उतरता है। रोगी को एक दो दिन ही तीव्र ज्वर होकर सम्पूर्ण लक्षण दिखाई पडें और फिर ज्वर उतर जाय प्रलाप आदि के लक्षण मे वृद्धि होती जाय तो समझना चाहिए कि शीतावस्था अथवा अन्तिम अवस्था किसी भी समय आ सकती है। जव तक फेफडे की अवस्था मे सुधार न हो जाय तव तक अधिक ज्वर का वना रहना रोगी के लिए शुभ लक्षण समझा जाता है। किसी भी हालत मे हार्टफेल (अथवा हृदय गति वन्द) होने की सम्भावना बनी रहती है। मूत्र मे क्लोराइडस (Chlorides) वहुत कम हो जाते हैं।

आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार श्वसनक ज्वर को कफ ज्वर के अन्तर्गत माना जा सकता है, क्योकि कफ-जन्य व्याधिया कफ के प्रकुपित होने से विशेषकर वसन्त ऋतु मे उत्पन्न होती हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी यह न्यूमोनिया वसन्त ऋतु मे ही विशेषकर होता है तथा आयुर्वेदिक ग्रन्थो के अवलोकन से भी पता चलता है कि कफ ज्वर विशेष कर वसन्त ऋतु मे ही होता है। इसके साथ ही न्यूमोनिया और श्लैष्मिक ज्वर के लक्षणो मे भी समानता पाई जाती है। कफ के लक्षणो का वर्णन करते हुए आचार्य चरक सहिताकार लिखते है—

युगपदेव केवले शरीरे ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा-भुक्त मात्रे पूर्न रात्रे वसन्त काले वा विशेषण, गुरु गात्र-त्वम, अनन्नाभिलाष श्लेष्म प्रसेको, मुखस्य च माधुर्य, हृल्लासो, हृदयोपलेप, स्तिमितत्वं, छर्दि, मृद्वग्निता, निद्राधिक्यं, स्तम्भ तन्द्रा श्वासः कास' प्रतिश्याय., शैत्यं श्वैत्यं च नख नयन, बदन मूत्र पुरीषत्व चामत्यर्थ शीत पीड़काश्च भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभि प्रायता, निदानोक्त नामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति श्लेष्म ज्वर लिङ्गानि भवन्ति। —च० चि० अ० १

समस्त शरीर मे ज्वर का वढना,खाने के पूर्व, दिन के प्रथम भाग एव रात्रि के प्रथम भाग,वसन्त ऋतु मे विशेषत यह ज्वर उत्पन्न होता है। शरीर का भारी होने का आभास, भोजन मे अरुचि, कफ का थूकना मुह का स्वाद मीठा होना, मिचली, हृदय प्रदेश अर्थात् सम्पूर्ण छाती का कफ आच्छादित (लिप्त) रहना, अगो मे ऐसा अनुभव होना जैसे गीले वस्त्र मे शरीर को ढक दिया गया हो। जठराग्नि का मृदु होना निद्रा आना, स्तब्धता, तन्द्रा, प्रलाप, छाती मे शूल होना, श्वास खासी, प्रतिश्याय, ठड लगना इत्यादि लक्षण होते है। इसके अतिरिक्त शीत का अनुभव होना, नख, नेत्र, मुह अर्थात जिह्वा पर सफेदी जमना, मूत्र, पुरीष एव त्वचा का श्वेत होना बताया गया है।

पाश्चात्य चिकित्सा के अनुसार इस रोग के कई भेद होते हैं—

(१) साधारण—इसमे एक ओर का निचला भाग अर्थात् निचला खण्ड प्रभावित होता है अथवा दोनो फुफ्फुस का निचला खण्ड ही प्रभावित होता है।

(२) उत्क्रामक—इसमे प्रथम थोडा सा स्थान प्रभावित होता और थोडे दिनो के वाद रोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक क्रमश हटता जाता है और जहा से हटता है वह स्थान ठीक होता जाता है।

(३) केन्द्रिक—जो प्रदाह फुफ्फुस के मध्य से आरम्भ होकर वाहर की ओर फैलता है, यह केन्द्रिक भेद अत्यधिक विलम्ब से दिखलाई पडता है। इसलिए निदान मे भी कठिनाई होती है।

(४) वृहद् फुफ्फुस प्रदाह—इसमे सभी सेलो एव वायु प्रणालियो मे शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह भेद भी अत्यन्त ही भयानक और साघातिक होता है क्योंकि सम्पूर्ण खड मे शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसमे लक्षण भी तीव्र होते हैं, स्थान ठोस होता एव शब्द स्पर्श तथा श्रवण शब्द दोनो से रहित होता, श्वास की आवाज कुछ भी सुनाई नही पडती तथा इसके लक्षण आर्द्र फुफ्फुस प्रदाह जैसे होते और ज्वर आदि के लक्षण अत्यधिक तीव्र होते है तथा कभी-कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह भी साथ-२ हो जाता है। स्टेथिस्कोप लगाने पर (पृष्ठ २५४ के चित्र देखे) इस प्रकार लक्षण मिलते हैं—

(क) आक्रात भाग देखने मे आगे की ओर उभरा हुआ रहता एवं फेफडा जितना फूलता पिचकता है उसकी तुलना मे वायु कम खिचती है।

(ख) छूने पर रोगग्रस्त स्थान ठोस दिखाई देता और फुफ्फुसावरण प्रभावित होने के कारण घिसने जैसा शब्द सुनाई पडता है। वृहद फुफ्फुस के प्रदाह मे यदि शोथ

हो जाता है जिससे वायु प्रणालिया भी सूज कर उनके रध्र बन्द हो जाय तो सुनने से कुछ भी सुनाई नही पडता ।

(ग) ठोक कर देखने से पूर्व कुछ समय तक के लिए उस स्थान पर गुज का शब्द सुनाई पडता है। परन्तु शीघ्र ही ठोसपन आ जाता है। जितना ठोसपन उसमे आयेगा उतना ही ठोस शब्द सुनाई देगा। यह फेफडे के खण्ड पर निर्भर करता है। दूसरी एव तीसरी अवस्था तक ठीक वैसे ही ठोस आवाज आती है, जिस प्रकार काठ को ठोकने पर शब्द सुनाई देता है।

(घ) प्रथम अवस्था के आरम्भ मे कुछ ही घण्टो के लिये श्वास का शब्द उलझनपूर्ण अस्पष्ट सुनाई पडता है।

इसके बाद उसमे कठोरपन आने लगता है और श्वास के अन्तिम भाग मे करकराहट की आवाज सुनाई पड़ती है। किन्तु द्वितीय अवस्था मे करकरापन की आवाज एकदम बन्द हो जाती है। यदि घर्षण का शब्द सुनाई पडे तब समझना चाहिये कि साथ-२ फुफ्फुसावरण मे भी प्रदाह उत्पन्न हो गया है।

उपद्रव —

तीव्र ज्वर, हृदय की धडकन का बन्द होना, निद्रा नही आना, प्रलाप, बक-झक करना, कम्पन, बेहोशी आदि लक्षण भयानक होते हैं। कभी-कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह फुफ्फुस का फोडा (व्रण) जीर्ण खासी आदि उपद्रव रोग-मुक्ति के पश्चात भी बना रह जाया करता है।

उपर्युक्त खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह का वर्णन किया गया है। अब इसके आगे फुफ्फुस प्रणाली का प्रदाह जिसे ब्रॉको-न्यूमोनिया कहा जाता है, का वर्णन किया जायेगा।

(२)

फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाह (Broncho-Pneumonia)

इसमे कई प्रकार के जीवाणुओ द्वारा फेफडे के वायु मार्ग और सूक्ष्म प्रणालियो मे एव उनसे सम्बन्धित वायु कोष्ठको मे शोथ उत्पन्न हो जाता है। फुफ्फुस प्रणाली का शोथ दो प्रकार का होता है जो अधिकाश पाच वर्ष से कम आयु वाले बच्चो एव दुर्बल तथा अत्यधिक कमजोर युवको वृद्धो को होता है। इसके दो भेद होते है। प्रथम मुख्य प्रकार एव दूसरा गौण प्रकार का होता है।

[१] प्रथम मुख्य प्रकार—इसे उत्पन्न होने का मुख्य कारण न्यूमोकोक्कस नाम के जीवाणु होते है। रोगी के पास रहने वालो को अथवा रोगी के श्लेष्म आदि के ससर्ग से और कफ आदि पर बैठने वाली मक्खियो के कारण मे इस रोग का प्रसार होता है।

[२] गौण प्रकार—रोमान्तिका, वात श्लैष्मिक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर आदि के उत्पन्न करने वाले जीवाणु पहले से ही रोगी के कण्ठ, टेटुआ, वायु प्रणालियो आदि मे उपस्थित रहता है और अनुकूल समय पाकर यह जीवाणु शोथ उत्पन्न करता है। इसलिए कमजोर, दुर्बल स्वस्थ व्यक्तियो को रोगग्रस्त व्यक्ति से बचाकर रखे।

शारीरिक विकृति—

अति सूक्ष्म प्रणालियो मे जब शोथ उत्पन्न होजाता है तब उनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है अथवा सकीर्ण हो जाता है, इसलिए जब वायु इस मार्ग से जाती है तब बॉसुरी बजने अथवा सीटी बजने जैसा शब्द सुनाई पडता है। उन प्रणालियो से सटे हुए वायु कोष्ठक मे भी शोथ उत्पन्न हो जाता है। अतएव जब बहुत से ऐसे कोष्ठक एक ही स्थान पर हो एव साथ ही प्रणालिया भी हो तो सभी मिलकर खण्डीय फुफ्फुस का प्रदाह अथवा लोअर न्यूमोनियाँ जैसी दिखलाई पडती हैं।

लक्षण—

(१) मुख्य प्रकार मे लोअर न्यूमोनिया (खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह) के समान ही जाडा लगकर एका-एक ज्वर आता है और छाती मे तीव्र वेदना, खासी, श्वास फूलने आदि लक्षण उत्पन्न होते है। इसमे ज्वर दिन-प्रति दिन वृद्धि पर होता एव दो तीन दिन मे १०२ से १०३ डिग्री तक तापमान बढ जाता है। परन्तु कोई निश्चित भी नही कि प्रारम्भ मे ही तीव्र ज्वर हो जाय। कुछ दिनो तक तापमान रहकर क्रमश ज्वर कम होने लगता है और उतर जाता है। छाती की परीक्षा करने पर फेफडे मे कई स्थान जो बहुत छोटे रहते हैं ठोस जैसा शब्द उत्पन्न होता है। किन्तु बहुत ही ध्यान से परीक्षा करने पर ही इसका पता चल पाता है। शब्द स्पर्श एव शब्द श्रवण स्वस्थ व्यक्ति जैसे जान पडते हैं, इसमे खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह जैसी आवाज नही होती।

रोगी की श्वास की आवाज कडी हो जाती और साथ मे सीटी की आवाज सुनाई पडने लगती है, साथ-२ हल्की करकराहट की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है।

(२) गौण प्रकार—रोगी को पहले से ही रोमान्तिका अथवा तीव्र खासी उपस्थित रहती है, ऐसे ही समय गुप्त रूप से इस रोग का आक्रमण हो जाता है। ज्वर धीरे-धीरे १०२ से १०३ तक पहुच जाता, खासी के साथ ही श्वास रोग के समान श्वास गति तीव्र हो जाती है। वलगम (कफ) कभी निकलता कभी शुष्क होने से कफ नही निकलता है तव रोगी को विशेष कष्ट होता है। यदि कफ तरल स्थिति मे रहा तव तो ठीक है अन्यथा कफ सूखकर रोगी को भयानक मरणान्तक पीडा होती है। छाती परीक्षा करने पर दोनो ओर श्वास के साथ सीटी वजने जैसी आवाज एव हल्की करकराहट मुख्य भेद के अनुसार ही सुनाई पडती है। रोगी की अवस्था यदि साध्य है तव तो १० से १५ दिनो के अन्दर ज्वर, सर्दी रहकर क्रमश उतरने लगता है। किन्तु असाध्यावस्था मे खाँसी, श्वास की अत्यधिक वृद्धि के कारण छाती का दर्द उत्पन्न होकर रोगी को कष्ट वढने के साथ ही वेहोशी होकर रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। परन्तु खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह के समान उतना भयानक असर नही दिखाई देता है। इसमे टी० वी० (यक्ष्मा) जैसे भयानक उपद्रव होकर अन्त मे रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

उपद्रव—

इसमे प्रधानत तीन प्रकार के उपद्रव होते हैं—

(१) राजयक्ष्मा—सवसे अधिक भयानक एव मारक होता है। इस अवस्था मे राज यक्ष्मा का भय विशेष रूप से रहता है। जव इस रोग के पूर्व मे रोमान्तिका आदि के कारण खासी अधिक दिनो तक रहती है क्योकि जीर्ण खाँसी के वर्तमान रहने से फुफ्फुस का शोथ हमेशा वना रहता है। इस प्रकार अन्त मे वायु कोष्ठको का विस्तृत हो जाना स्वाभाविक ही है।

(२) फुफ्फुसावरण प्रदाह—कभी-कभी यह पूर्व मे शुष्क रहता बाद मे तरल हो जाता है। तरल होने के कारण इसमे पूय भी उत्पन्न हो सकता है।

(३) कभी-कभी ऐसा भी देखने मे आया है कि फुफ्फुस विद्रधि उत्पन्न होकर सडन (Gangren) की उत्पत्ति हो जाती है। तव यह अवस्था एव उपद्रव भी अति भयानक होता है।

साध्यासाध्यता—पूर्व मे उल्लेख किया गया है कि गौण प्रकार का ब्रॉको न्यूमोनिया अधिक दिनो तक रह जाता है। मुख्य प्रकार का अवस्थाकाल एक सप्ताह से लेकर लगभग १२ दिनो तक का है। किन्तु गौण प्रकार का ब्रॉको न्यूमोनिया ३ से ४ सप्ताह मे कभी-कभी दो तीन महीनो तक रहता है। गौण अपेक्षाकृत भयानक भी होता है। विशेषकर रोमान्तिका, आन्त्रिक ज्वर आदि उपस्थित रहने पर अण्ट-सण्ट वकना तीव्र नाडी गति, श्वास, शरीर का नीला पडना आदि लक्षण वर्तमान रहने पर। यदि रोगी वृद्ध है तो तन्द्रा वेहोशी (Coma) आदि के लक्षण असाध्यता एव मृत्यु सूचक हैं।

(३)

तीव्र खाँसी (Bronchitis)

यह व्याधि अधिकाश ठड मे वायु प्रणालियो के शोथ के परिणाम स्वरूप वृद्धो, वालको, दुर्वल एव कमजोर युवको को होती है। प्रथम प्रतिश्याय क्रमश बढकर तीव्र खासी का हो जाना, कभी-कभी वात श्लैष्मिक ज्वर, रोमान्तिका मे शोथ, नीचे उतर कर वायु कोष्ठको मे चली जाती है। इससे उन स्थानो की श्लैष्मिक कला मे शोथ उत्पन्न होकर श्वास मार्ग सकीर्ण होजाता है। परिणामस्वरूप श्वास प्रश्वास के समय कूजन शब्द होता है।

लक्षण—

इसमे कोई न कोई रोग पहले से उपस्थित रहता है और धीरे-धीरे खासी आरम्भ हो जाती है। कभी अकस्मात नाक की श्लैष्मिक कला मे शोथ हो जाता और कुछ ही घण्टो के वाद तीव्र खासी हो जाती है। टेंटुए मे भी शोथ हो जाने के कारण खासी के साथ-साथ छाती की पसलियो मे एव पीछे की ओर तीव्र दर्द होता और अनुभव होता है कि फट रहा है। ज्वर १०० से १०१ तक हो जाता है। पहले खासी सूखी एव कष्टदायक आती है, परन्तु २५ से ३० घण्टो के वाद गीली खांसी होजाती है। कफ आने लगता एव गाढ़ा और थोडा चिकना होता है। पश्चात क्रमश चिकनापन दूर होकर पतला हो जाता है। इसलिये रोगी को कफ पतलापन के साथ ही कष्ट भी कम हो जाता है।

उपद्रव—फुफ्फुस प्रणालियो का शोथ, वायु प्रणाली का वढ जाना, वायुकोष्ठको का भी उसी प्रकार वढ़ना

अत्यधिक दुर्बलता आने से तथा फेफडो मे पूय उत्पन्न हो जाने के कारण राजयक्ष्मा का होना आदि है, क्योकि अधिकाश जीर्ण खासी के परिणामस्वरूप ऐसा होता है।

चिकित्सा—

उपर्युक्त तीनो की क्रमानुसार चिकित्सा इस प्रकार है। रोगी को पूर्णरूप से आराम देने के साथ-साथ हल्का सुपाच्य भोजन आदि देना तथा सदैव औटाया हुआ जल जिसमे लौग, छोटी इलायची देकर औटाया गया हो, वही जल पीने के लिए देना अति आवश्यक है। साथ ही फलो का रस यथेष्ट मात्रा मे दे। कफ निस्सारक तथा स्वेदजनन औषधिया प्रयोग करे।

दर्द एव सूजन को दूर करने के लिए छाती एव पसलियो पर लिनिमेन्ट टर्पेण्टाइन, लिनिमेन्ट कैम्फर, पेन बाम अथवा पुराने घृत मे कपूर मिलाकर थोडा गर्म करके मालिश करनी चाहिए।

१—एन्टीफ्लेविन अथवा एन्टीफ्लोजिस्टिन प्लास्टर गर्म करके छाती एव पसलियो पर बाधना चाहिए। इससे पसलियो का दर्द एव सूजन दूर होती है।

२—श्वास चिन्तामणि रस २५० मि ग्रा, कफ केतु रस २५० मि ग्रा, शृङ्गाराभ्र रस २५० मि ग्रा, चन्द्रामृत रस १ ग्राम, सितोपलादि चूर्ण ५ ग्राम सभी को घोटे और १० मात्रा बनाये, अदरख स्वरस एव मधु के साथ ३-३ घटे पर दे। इससे सभी उपसर्ग शान्त होजाते है।

३—स्वर्ण चन्द्रोदय २५० मि ग्रा, शृङ्ग भस्म ५०० मि ग्रा, वृहद कस्तूरी भैरवरस, शृङ्गाराभ्र रस दोनो २५०-२५० मि ग्रा सभी को घोटकर ६ मात्रा बनाये और शहद के साथ प्रति ४-४ घण्टे पर दे।

४—त्रिभुवन कीर्तिरस २५० मि ग्रा, चन्द्रामृत रस १ ग्राम, शृङ्ग भस्म ५०० मि ग्रा घोटकर चार मात्रा बनाये और ४-४ घन्टे पर मधु के साथ दे।

५-प्रवाल पिष्टी ५०० मि ग्रा, शृङ्ग भस्म ५०० मि ग्रा, ताल सिन्दूर १२५ मि ग्रा, शृङ्गाराभ्र रस ५०० मि ग्रा, सितोपलादि चूर्ण २ ग्राम, इसे घोटकर १० मात्रा बनाये। शहद अथवा वासा एव गुलबनपसा क्वाथ के साथ ३-३ घटे पर देना चाहिए।

६— लौह भस्म ५०० मि ग्रा, वसन्त मालती रस २५० मि गा, इसे मिलाकर ४ मात्रा बनाये। प्रात साय शक्ति लाने के के लिए दे। द्राक्षारिष्ट १५ मि लि के साथ अथवा फलो के रस के साथ दे।

७—रस सिन्दूर १०० मि ग्रा, वृ० कस्तूरी भैरव रस २५० मि ग्रा, कफकेतु रस २५० मि ग्रा, मृगश्रृङ्गभस्म ५०० मि.ग्रा, सौभाग्य वटी (सन्निपात) २५० मि ग्रा, सभी को घोट पीसकर ४ मात्रा बनाये और शहद के साथ प्रति ४-४ घण्टे पर दे। तत्काल लाभ मिलता है।

आधुनिक चिकित्सा—

८—पेन्सिलिन एव स्ट्रेप्टोमाइसिन ग्रुप मे—डाइक्रिस्टिसिन, क्रिस फोर, स्ट्रेप्स्टो पेन्सिलिन, ओम्नोमाइसिन विस्टापेन इनमे से किसी एक को २४ घटे मे एक बार दे। बच्चो के लिए पीडियट्रिक आता है अथवा सोडियम पेन्सिलिन ५ लाख की सुई सुबह शाम दे।

९—औक्सीटेटरा एव टेट्रासाइक्लिन ग्रुप मे—टेरामाइसिन, रेस्टेक्लीन, सुबामाइसिन, एरीथ्रोसिन, एक्रोमाइसिन, औरियोमाइसिन इनमे से किसी एक का कैप्सूल, इञ्जेक्शन, सीरप का व्यवहार ४-४ घण्टे पर करे।

१०—एम्पीसिलिन ग्रुप मे—एम्पीसीलिन, सीन्थोसीलिन, एपसीन एलवर सीलिन, एम.जे सीलिन, कैम्पीसीलिन, रोसलिन (Roscillln) ब्रोडीसिलिन इत्यादि मे से कोई एक का ड्राप्स, सीरप, इजेक्शन, कैप्सूल शरीर भार के अनुसार प्रति ४-४ घण्टे पर दे।

११-सेप्ट्रान ग्रुप—सेप्ट्रान, बैक्ट्रिम, एक्सपोजोल, टपरोम, ओरोप्रीम इत्यादि मे से किसी एक का टेबलेट दिन मे तीन चार बार तक दे।

१२—सल्फा ग्रुप—सल्फाडायजीन, एलकोसिन, ओरिसूल, मैड्रीबोन, ट्रीसल्फानिमाइड, सल्फाथियाजोल, सल्फा मेराजोन इन में से किसी एक की गोली दिन रात मे ३-४ बार तक दे अथवा इस प्रकार से दें—एलकोसिन ६ गोली, विटामिन सी ५०० मि ग्रा की २ गोली, होस्टाकोर्टिन ५ टेबलेट सभी को मिलाकर ८ मात्रा बनाये और ४-४ घटे पर दे।

१३—ए सी टी एच —डेकाड्रेन, होस्टा कार्टिन, वाइसोलोन, डेक्सोना, बेटनेसोल इत्यादि।

१४—कफ निस्सारक औषधिया—बेनाड्रील, ग्लाइकोडिन, सोवेन्टोल, एफेड्रक्स, कोरेक्स, पिरीटोन किसी एक को दे।

न्यूमोनियां-श्वसनक ज्वर

डा० जहानसिह चौहान आयु० वृह०, ठठिया (फर्रुखाबाद) उ० प्र०

—•+★—

इस 'सक्रामक रोग चिकित्सा' के लिये श्री डा० जहानसिंह चौहान के कई लेख प्राप्त हुए हैं जोकि चिकित्सको के लिए आवश्यक ज्ञान से ओतप्रोत हैं। एक पुस्तक का भी आपने लेखन किया है। नाम है—आयुर्वेद की पेटेण्ट औषधियां। धन्वन्तरि' को आपका पर्याप्त सहयोग मिलता रहा है तथा भविष्य मे भी आपसे पर्याप्त अपेक्षायें हैं। भगवान 'धन्वन्तरि' आपको दीर्घायु प्रदान क रें।

—दाऊदयाल गर्ग

इमे फुफ्फुस पाक, फुफ्फुस प्रदाह, कर्कोटक सन्निपात फुफ्फुस सन्निपात, रक्तष्ठीवी सन्निपात, श्वसनक ज्वर तथा न्यूमोनिया आदि से सम्बंधित करके जाना जाता है। यह सन्निपात का ही एक रूप है। न्यूमोनिया प्राय न्यूमोकोकस वेक्टीरिया के सक्रमण से होने वाला तीव्र स्वरूप का ज्वर है। इस रोग मे तीव्र पार्श्वशूल, कास आदि लक्षणो के साथ फुफ्फुस के एक या अनेक खण्डो मे घनता आ जाती है।

इस रोग मे तीव्र ज्वर के साथ फुफ्फुसो मे पाक होता है। शोथ विशेष रूप से फुफ्फुसो के खण्डो एव वायुकोषो मे होता है। इसमे थूक के साथ लाक्षारस के समान रङ्ग का रक्त निकलता है। वक्षस्थल (छाती) मे वेदना होती है। रोगी काम और श्वास से पीडित होता है। श्वसन यन्त्र के आक्रान्त होने से इसकी सज्ञा श्वसनक ज्वर हुई। सामान्य रूप से २ प्रकार का प्रदाह होता है। (१) फुफ्फुस खण्ड प्रदाह (२) श्वास प्रणाली का प्रदाह।

इनमे से फुफ्फुस खण्ड प्रदाह विशेष घातक होता है। नाडी वेग के साथ चलती है। फुफ्फुसो की स्टेथिस्कोप मे परीक्षा करने पर वुद-वुद की ध्वनि सुनाई देती है। फेफडो पर अगुलि ताडन करने पर पत्थर पर आघात करने के समान ठोस (घन) शब्द सुनाई देता है। इसमे फुफ्फुस के वायुकोषो मे अवरोध हो जाता है। सुविधा की दृष्टि से इसके दोनो रूपो का वर्णन किया रहा है—

फुफ्फुस खण्ड प्रदाह (Lobar Pneumonia)

इसमे रोगी के फुफ्फुस के एक या अधिक खण्ड सघन हो जाते है जिसके कारण उस क्षेत्र मे वायु का आना जाना रुक जाता है। वहा पर आक्सीजन के पहुचने के कारण रक्त की शुद्धि की क्रिया समाप्त हो जाती है। यह किसी भी अवस्था वाले व्यक्ति को हो सकता है। यह विशेष रूप से शीतकाल मे देखने को मिलता है। यह रोग प्रथम फुफ्फुस के किसी एक खण्ड मे प्रारम्भ होता है विशेष रूप से नीचे का खण्ड आक्रान्त होता है। इसके पश्चात् यहा से दूसरे खण्डो मे अथवा दूसरे फुफ्फुस मे प्रवेश कर जाता है। इस रोग मे फुफ्फुस के एलविओलाई तथा लालकण एव श्वेत कणो का स्राव होने लगता है और वह मर जाते है। फुफ्फुस का वह भाग ठोस हो जाता है जो आगे चलकर गलने लगता है।

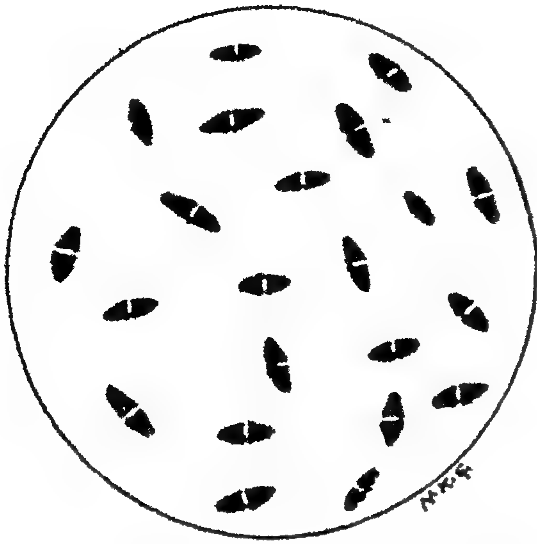
कारण—

यह रोग सहसा शीत लगने, वर्षा मे भीगने, शीतल वायु का स्पर्श, धूलयुक्त दूषित वायु मे निवास, अति परिश्रम, वक्षस्थल पर गहरा आघात, अनियमित आहार-विहार, सुरा आदि मादक पदार्थो का अधिक सेवन, आच्छादक वस्त्रो का अभाव, शोक से युक्त दुर्बल, गरीब मनुष्यो को शीतकाल मे वस्त्रो के अभाव के कारण इस रोग की उत्पत्ति होती है। वर्षा, शिशिर तथा वसन्त ऋतु मे विशेष रूप से होता है।

इस रोग की उत्पत्ति मे चार प्रकार के जीवाणु सम्मिलित होते हैं—(१) न्यूमोकोकस (२) बैसिलस न्यूमोनिया (३) स्टेफिलोकोकस (४) स्ट्रेप्टोकोकस।

इस रोग के स्थान और लक्षण भेद से ८ प्रकार होते है।

१ डवल न्यूमोनिया



श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) के जीवाणु न्यूमोकोक्कस

२ स्थान परिवर्तन करने वाला (Wendering Pneumonia)

३. फुफ्फुसो के मध्य भाग को दूषित करने वाला

४ घातक प्रलापादि युक्त (सेरीब्रल न्यूमोनिया)

५ लोबुलर न्यूमोनिया

६ फुफ्फुसावरण दाहमह (Pleuritic Pnemonia)

७ फिरग रोग सह (Syphilitic)

८ आन्त्रिक ज्वरसह (Typhoid Pneumonia)

सक्रमण— इस रोग के जीवाणु ४ प्रकार से फुफ्फुसो मे जाकर रोग पैदा करते हैं—

१. गृहीत श्वास मे वायु द्वारा श्वासनली के मध्य से

२. प्रवाहित रक्त मे

३ लसीका द्वारा

४ फुफ्फुसो के समीपस्थ अवयवो के रोगाक्रान्त होने से

रोगग्रसित न्यूमोनिया के रोगी के थूक से जीवाणु बाहर निकलते है जो सूख कर धूल कणों तथा वायु मे मिल जाते हैं। तत्पश्चात यहा से जीवाणु धूल तथा वायु मे उडते हुए किसी स्वस्थ व्यक्ति के श्वास द्वारा फेफडो में प्रवेश कर वहा रोग पैदा कर देते हैं। यह रोग कफ और सक्रमित दूषित वस्त्रो के सम्पर्क से भी पैदा होजाता है। सक्रमण का प्रधान माध्यम वायु है।

सम्प्राप्ति—

इस रोग के जीवाणु गले या मुख से फुफ्फुसो मे पहुच कर फुफ्फुस प्रदाह उत्पन्न कर देते है जिससे फुफ्फुसो का वह स्थान ठोस हो जाता है। फलस्वरूप श्वास लेने मे कठिनाई हो जाती है। ज्वर का वेग बढ जाता है। विप प्रभाव के अधिक होने से हृदय, मस्तिष्क तथा नाडी सस्थान प्रभावित हो जाते हैं। विष का प्रभाव अधिक तीव्र होने से रोग असाध्य हो जाता है। ३ से ७ दिन के अन्तर्गत यदि फुफ्फुस शोथ शान्त हो जाता है तो वह मुलायम होकर रोग साध्य हो जाता है।

न्यूमोनियाणु द्वारा फुफ्फुस प्रदाह होने पर सामान्य रूप से ४ प्रकार की सम्प्राप्ति की अवस्थाये प्रतीत होती हैं—

(१) रक्ताधिक्य (Hyperaemia) (२) रक्तघनी भवन (Red Hepatization) (३) अति सघनी भवन (Gray Hepatization) (४) प्रकृति भाव (Resolution)

[१] रक्ताधिक्य—इस अवस्था मे वायुकोषो की रक्त प्रणालिया रक्त परिपूर्ण होकर फैल जाती है। फुफ्फुस अत्यधिक भारी हो जाता है। इस समय रोगी को शीत, कम्प, बेचैनी के साथ खासी आने लगती है। श्वास-प्रश्वास ५०-६० वार तथा नाडी की चाल १२०-१३० तक पहुच जाती है। रोगी का तापक्रम १०३-१०४ फा० तक हो जाता है।

(२) रक्तघनी भवन—फुफ्फुस का आक्रान्त भाग ५ से २४ घण्टे के मध्य ठोस हो जाता है। फुफ्फुस खण्ड के सभी सूक्ष्म छिद्र लसीका स्राव से भर जाते है। इस अवस्था मे फुफ्फुस लाल पत्थर के समान हो जाता है। यह स्थिति ३ से १० दिन तक रहती है।

(३) अति सघनी भवन—इस अवस्था मे मृदुता आ जाती है। यह पूय सचयावस्था होती है। फुफ्फुस का रग काला हो जाता है। रक्ताणुओ मे से रक्तरजक द्रव्य नष्ट हो जाते है। पूयाधिक्य होने पर रोग असाध्य हो जाता है।

(४) प्रकृति भाव—रोग के उपशमन होने पर यह अवस्था प्रारम्भ होती है। इस समय दूषित मल कफ के साथ बाहर निकलने लगता है और स्राव का कुछ

अश शनै शनै रक्त मे लीन होता रहता है। इस प्रकार से प्राकृत स्थिति आ जाती है।

पूर्वरूप—

इस रोग के पूर्व मे—श्वास, कास, पार्श्वशूल, कप, फुफ्फुसावरण मे जल सचय, क्षुधानाश, कृशता, बेचैनी तथा नाडी की गति तीव्र होती हे।

रोग लक्षण—

इसमे शीत के साथ ज्वर प्रारम्भ होता है। प्रारभ से ही ज्वर तीव्र स्थिति मे रहता है। अरुचि, तृष्णा, पार्श्वशूल, कास, श्वासवृद्धि, रक्त मिश्रित चिकना, दुर्गंध युक्त कफ का निकलना, पसीना का अधिक आना, दुर्बलता, प्रलाप एव गले मे खरखराहट होती है। रोगी की जिह्वा कठोर, शुष्क तथा मैली होती है। नाडी की गति १०१-१०३° तक हो जाती है। रोगी का तापक्रम १०३-१०४ डि० फा० तक हो जाता हे। प्राय तीसरे दिन के पश्चात् ओष्ठ के आसपास छोटी-छोटी फुन्सिया निकलती है। पार्श्वशूल की अधिकता के कारण कास दवी हुई सी अर्थात पूर्णरूप से न खाँस सकने की स्थिति होती है। रोगी विकृत पार्श्व पर ही शयन करता है। विकृत पार्श्व का श्वसन के समय सकोच एव प्रसार कम होता है। श्रवण यन्त्र से सुनने पर बुद-बुद ध्वनि आदि अस्वाभाविक ध्वनिया सुनाई देती है। कभी कभी तीव्र अतिसार, आध्यमान, शूल, ऐठन आदि उदर सम्बन्धी लक्षण पैदा हो जाते हैं। एक्स-रे परीक्षा मे रोग के प्रारम्भिक दिनो मे ही फुफ्फुस की घनता का ज्ञान आसानी से हो जाता है।

ताप के समाप्त होने पर कभी कभी फुफ्फुसावरण मे दाह, फुफ्फुस विद्रधि, जीर्ण कास आदि रोग अवशेष रह जाते है। साथ ही फुफ्फुस वर्षों तक निर्बल बना रह जाता है जिसके पपिणामस्वरूप जरा सा शीत अथवा वर्षा का थोडा सा आघात होने पर यह रोग पुन आक्रमण कर देता है।

प्रायोगिक परीक्षा—

१ रक्त परीक्षण—श्वेत कणो की सख्या रक्त मे १५००० से ५०००० तक मिलती है।

२ कफ परीक्षा—जीवाणु तथा पूय कोषाओ की उपस्थिति अधिक रूप में मिलती है। क्लोराइड की मात्रा भी अधिक रहती है।

३ मूत्र परीक्षा—मूत्र अल्प, शुक्ल की उपस्थिति तथा क्लोराइड की मात्रा सामान्य से कम मिलती है। आपेक्षिक गुरुता तथा अम्लता अधिक होती है।

रोग निदान—शीत सह ज्वर का इतिहास तीव्र ज्वर, नाडी एव श्वास के अनुपात में परिवर्तन मण्डूर वर्ण का लसदार अल्प मात्रा मे दुर्गन्ध युक्त श्लेष्मा, पार्श्वशूल, ओष्ठ की श्यावता तथा विस्फोट की उपस्थिति, मूत्र मे क्लोराइड की अल्पता, श्वेत कणो की अधिकता (रक्त परीक्षण मे) आदि से रोग का अनुमान हो जाता है। कफ परीक्षा मे इसके जीवाणुओ की उपस्थिति रोग निदान मे सहायक होती है।

उपद्रव—फुफ्फुस विद्रधि, चिरकालीन फुफ्फुसपाक, चिरकालीन फुफ्फुसावरण शोथ आदि उपद्रव होते हैं। इसके अतिरिक्त पूययुक्त फुफ्फुसावरण शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, मध्यकर्ण शोथ, आध्यमान, कामला तथा उदरावरण शोथ आदि उपद्रवो की आशका रहती है।

सापेक्ष निदान—इन्फ्लूएन्जा, आन्त्रिक ज्वर, शुष्क तथा सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ, मलेरिया, ग्रन्थिक ज्वर आदि रोगो से इसका विभेद करना चाहिए। निमोनियाँ बालको मे २ वर्ष की आयु तक अधिक होता है।

सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त—

रोगी को स्वच्छ, उष्ण हवादार कमरे मे अनुकूल शय्या पर पूर्ण आराम के साथ शान्त भाव से रखना चाहिए। इसके सिरहाने पीठ के नीचे २-३ तकिया रखने चाहिए। भोज्य पदार्थ तरल, पौष्टिक तथा कुछ गर्म रूप मे दें। रोगी को अग्निबल के अनुसार सेब, सन्तरा, अगूर, अनार, यव पेया, यवागू, दूध, ओवल्टीन, हार्लिक्स आदि का विधान करे। वाताधिक, दुर्बल तथा वृद्ध रोगियो को मास लाभकारी रहता है। बलवान रोगियो मे लघन की व्यवस्था के साथ पहले कफ, फिर पित्त और अन्त मे वात को शान्त करने की योजना बनानी चाहिए। प्रारम्भ मे कफ को शान्त कर लेने पर पित्त तथा वात आसानी से शान्त हो जाते हैं।

रोगी को तीव्र विरेचन न दे। कोष्ठ शुद्धि के लिए सनाय+बहेडे का फाट+काला नमक मिलाकर दे। अश्वकचुकी का प्रयोग किया जा सकता है। रोगी का

शरीर गर्म कपडे से ढका रखे। ज्वर के आक्रमण के समय रोगी को मर्यादित जाड़े से बचाने के लिए गर्म पानी की बोतलें पार्श्व एव पैर आदि के आसपास रखनी चाहिए। शय्या के निकट धूम्र रहित अंगीठी से शान्ति मिलती है। रोगी को उबला हुआ पानी दिन मे कई बार पिलाते रहें। पार्श्वशूल, श्वासकष्ट, बेचैनी आदि के कष्ट होने पर पैर के तलवो में घी की मालिश अथवा निद्रा लाने वाली औपधियो का प्रयोग करना चाहिए। पार्श्वशूल की शान्ति के लिए तीसी की पुल्टिस या एण्टीफ्लोजिस्टीन की पुल्टिस दिन में तीन बार लगायें। विकृत पार्श्व को नमक की पोटली मे सेकने पर यथेष्ठ लाभ मिलता है। कफ निकालने का पूर्ण यत्न करें। इसके लिए तालीसादि चूर्ण मधु मे मिलाकर बार-बार चटाये। ज्वर आक्रमण के २-३ दिन पश्चात रेचन औपधियो का प्रयोग भूलकर भी न करें। दारुण मोक्ष की अवस्था मे हृद्य औपधिया, मुक्ता, जवाहर मोहरा, प्रभाकर वटी, विश्वेश्वर रस आदि का आवश्यक मात्रा में प्रयोग करें।

प्रलाप की अधिकता मे—वातोल्वण सन्निपात की चिकित्सा करें।

रक्तष्ठीवन होने पर रक्तपित्तहर चिकित्सा की व्यवस्था करे।

इस रोग मे निद्रा लाने के लिए विशेप यत्न करना चाहिए। इससे विष प्रभाव शीघ्र दूर होता है। यदि कोष्ठ वायु से भरा हो तो गरम जल मे तारपीन का तेल मिलाकर सेकना चाहिये।

तन्द्रा, निद्रा और सिर मे भारीपन होने पर तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करें। हृदय तथा मस्तिष्क दुर्वल होने पर ऐसा नस्य न दें।

औषधि चिकित्सा—

रोगी को सर्व प्रथम अभ्रक भस्म, मृगश्रृङ्ग भस्म, गोदन्तीहरताल भस्म, सितोपलादि चूर्ण—इन सबको यथा मात्रा मे मिलाकर वासावलेह अनुपान से दे। इससे निमोनिया मे श्वास, कास, पार्श्वशूल तथा कफ विकार आदि कष्टो का निवारण होता है। इसकी व्यवस्था न होने पर रससिन्दूर २४० मि ग्रा, मल्ल भस्म ६० मि.-ग्राम, मृगश्रृङ्ग भस्म २४० मि ग्रा, गोदन्ती भस्म ४८० मि ग्रा को अद्रक स्वरस के साथ प्रात साय दिन मे २ बार दे। अचिन्त्यशक्ति रस इस रोग मे वडा लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसकी सरसो वरावर गोली दिन मे २-३ बार दी जा सकती है। इस रोग मे प्रारम्भ से ही श्वास कष्ट होता है। अत इसके निराकरण के निमित्त श्वास कास चिन्तामणि, महालक्ष्मी विलास रस, वृ० वातचिन्तामणि, शृगाराभ्र १२० १२० मि.ग्रा। २ मात्रा। ऐसी १ मात्रा दिन मे २-३ बार वासापत्र स्वरस के साथ दी जाती है। इस रोग मे वृहवात चिन्तामणि, चतुर्भुज रस, श्रृङ्ग भस्म, त्रैलोक्य तापहर, त्रिभुवन कीर्तिरस का आवश्यकतानुसार प्रयोग लाभकारी है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

(१) शुष्क कास तथा पार्श्वशूल के शमनार्थ—श्रृङ्ग भस्म १४० मि ग्रा, रस सिन्दूर १२० मि ग्रा, चन्द्रामृत ४८० मि ग्रा, मधुयष्टी चूर्ण ३ ग्रास। ऐसी १ मात्रा दिन मे ३ बार पान रस तथा मधु के साथ दे। साथ ही विपगर्भ तेल, नारायण तेल दोनो मिलाकर गर्म कर पार्श्व पर मालिस करे। तत्पश्चात धतूरे के पत्ते पर तेल लगाकर उसे गरम कर वाधे। सैंधवादि तैल की मालिश तत्पश्चात आक के पत्ते को गर्म कर वाधने से सचित कफ पिघलकर निकल जाता है।

(२) यदि फुफ्फुस मे कफ अधिक वढ रहा हो तो पञ्चसूतरस ६० मि ग्रा, मधुयष्ठी, वासा और विभीतकी के पत्तो के क्वाथ के साथ दे। इसे तुलसी और अदरक के रस मे भी दिया जा सकता है। इसे प्रथम दिन ४ घटे पर तत्पश्चात ६-६ घटे पर दे। इसके प्रयोग से हृदय को वल मिलता है।

(३) हृदय की दुर्वलता मे—महालक्ष्मी विलास रस २४० मि ग्रा, मृगश्रृग भस्म ४८० मि ग्रा, अभ्रक भस्म शतपुटी २४० मि ग्रा इन सवको मिलाकर ४ मात्राये वनाले। १-१ मात्रा ३-३ घटे पर पान के रस के साथ दे।

(४) प्रलाप की स्थिति मे—इस कार्य के लिये 'सचेतनी गुटिका' पर्याप्त लाभकारी है अथवा कस्तूरी भैरव १२० मि ग्रा कालारि रस १२० मि ग्रा अदरख रस के साथ कई वार दे।

(५) तीव्र ज्वर की स्थिति मे—शीतभजी रस १ गोली त्रिभुवन कीर्तिरस २ गोली अदरख स्वरस के साथ दे।

कभी-कभी रोगी का ज्वर एकाएक उतर जाता है, पसीना आकर नाडी क्षीण होने लगती है, ऐसी स्थिति मे 'अभ्रक युक्त लक्ष्मी विलास' प्राण रक्षा करता है। यदि मूर्च्छा के साथ ब्लेडप्रेशर भी गिरने लगे तो तत्काल सचेतनी गुटिका का प्रयोग करे।

(६) बेचैनी, नाडी क्षीणता की स्थिति मे—वृहत कस्तूरी भैरव ६० मि ग्रा, सिद्ध मकरध्वज ६० मि ग्रा, चिन्तामणि चतुर्मुख १२० मि ग्रा। ऐसी १ मात्रा पान के रस तथा मधु के साथ दिन मे ३-४ बार दे।

(७) श्वास कष्ट एव हृदय बेचैनी की स्थिति मे—श्वास कास चिन्तामणि, श्रृङ्गभस्म, नागार्जुनाभ्र १२०-१२० मि ग्रा। ऐसी १ मात्रा प्रति ४ घन्टे पर अदरख स्वरस तथा मधु के साथ दे।

(८) ज्वर मुक्ति के बाद शारीरिक शक्ति के ह्रास मे—अभ्रक भस्म ६० मि ग्रा, लौह भस्म १२० मि ग्रा, श्रृङ्ग भस्म १२० मि ग्रा, वसन्त मालती ६० मि ग्रा, सितोपलादि २ ग्राम। ऐसी १-१ मात्रा प्रात साय मधु के साथ दें। साथ ही प्रात साय च्यवनप्राश १० ग्राम गर्म दूध के साथ तथा द्राक्षासव २० मिलि० भोजनोपरान्त प्रतिदिन ३-४ सप्ताह तक देते रहे। इससे शारीरिक बल की वृद्धि होती है तथा पाचन शक्ति की वृद्धि होकर श्वसन अग पुष्ट होते हैं। पुनरावर्तन की सम्भावना समाप्त होजाती है।

फुफ्फुस खण्ड प्रदाह नाशक अनुभूत चिकित्साक्रम—

सामान्य—(१) रस सिन्दूर, श्रृङ्ग भस्म, श्रृङ्गाराभ्र १२०-१२० मि ग्रा, शुद्ध नृसार २४ मि ग्रा। १×३ प्रात. दोपहर, शाम अदरख रस मधु तथा पान रस से।

(२) अष्ट दशाग क्वाथ ५० एम एल. प्रात १ बार

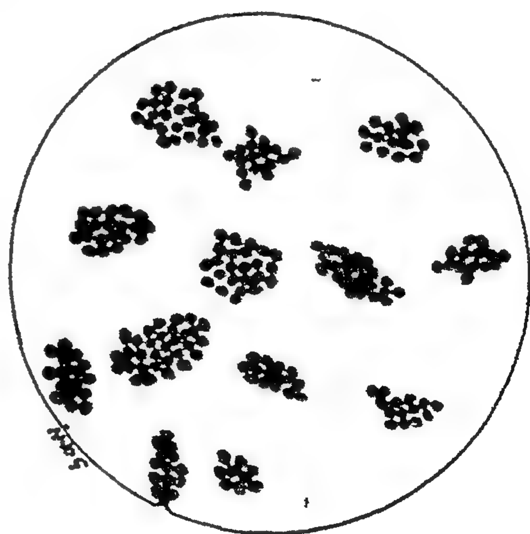
श्वासकृच्छता की स्थिति मे—(१) चन्द्रामृत १ ५ ग्राम, यवक्षार १ ग्राम, तालीशादि चूर्ण १ ग्राम—१२ ग्राम शर्बत लिसोडा एव १२ ग्राम शर्बत वासा मे मिला कर रखले। बराबर चटाते रहे।

(२) श्वास कास चिन्तामणि, मयूर पिच्छ भस्म, सैंधा नमक, पिप्पली चूर्ण १२०-१२० मि ग्रा, अपामार्ग क्षार १६० मि ग्रा, काकड़ासिगी चूर्ण १५० मि ग्रा १×४ वासा रस एव मधु से दिन मे ४ बार।

दारुण मोक्षावस्था मे—विश्वेश्वर रस १२० मि ग्रा, वृहत कस्तूरी भैरव १२० मि ग्रा, सौभाग्यवटी १८० मि ग्रा १×६ एलादि चूर्ण मधु के साथ।

आधुनिक चिकित्सा—

न्यूमोकोकस जन्य—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे एण्टीबायोटिक तथा सल्फा औषधियां विशेष लाभकारी सिद्ध हुई है। इसके लिये बेन्जाइल पेनिसिलिन १ मेगा यूनिट प्रति ६ घटे पर मासपेशीगत दी जाती है। जो रोगी पेनसिलीन सहन नही कर पाते हैं उन्हे ब्राड स्पेक्ट्रम एण्टीबायोटिक, टेट्रासाइक्लीन ५०० मि ग्रा प्रति ६ घण्टे पर मुख द्वारा देते है। अथवा १०० मि ग्रा प्रति ६-८ घण्टे पर मासपेशीगत देते है। अथवा एम्पिसिलिन २५०, ५०० मि ग्रा अथवा एमोक्सीसिलिन (Amoxycillin) अथवा सेफालेक्सिन २५०-५०० मि० ग्राम प्रति ८ घटे पर देते है। रोग की तीव्रावस्था मे—क्लोक्सासिलिन (Cloxacillin) अथवा मेथीसिलिन १ ग्राम तत्काल शिरामार्ग से, तत्पश्चात ०·५ ग्राम प्रति ६ घन्टे पर।



स्टेफिलोकोकस

स्टेफिलोकोकल जन्य लोबर न्यूमोनियां मे—बेन्जाइल पेनिसिलिन अथवा एम्पिसिलिन + फ्लूक्लोक्सासिलिन दें। जो रोगी पेनिसिलिन के प्रति सेन्सिटिव हों उन्हे माइनोसाइक्लिन अथवा लिनकोमाइसिन दे। जेन्टामाइसिन + सरबेनीसिलिन (Cerbenicillin) शिरामार्ग से दे। बेनजाइल पेनसिलिन और मेट्रोनिडाजाल दे सकते हैं।

रोग की गम्भीरावस्था मे—सेफामाइसिन (Cepha-

mycin) अथवा सेफोक्सिटिन (Cefoxitin) दे। गम्भीर रोगियो मे बेन्जिल पेनिमिलिन अधिक उपयुक्त रहता हे। सेप्ट्रान, ट्राइमैक्सोल आदि पूर्ण मात्रा मे दी जा सकती हैं। इसके साथ क्लोक्सासिलिन मुख अथवा पेशी द्वारा दे सकते हैं। बच्चो के लिये–सयुक्त पेन्टिड सल्फा उत्तम औषधि है। प्रलाप की अवस्था मे–डायजीपाम (Diazepam) ५-१० मि ग्रा. दे।

कास दूर करने के लिए–कोडीन फास्फेट १५-३० मि ग्रा, फोलकोडिन (Pholcodin) २-४ मि ली मुख द्वारा।

डिलीरियम की स्थिति मे–पेरेल्डिहाइड ६ से ८ मिलि मासपेशीगत अथवा फीनोथायजीन योग दें।

रक्तदाव के गिरने तथा पेरीफेरल सरक्यूलेटरी फेल्योर मे—ग्लूकोज सैलाइन इन्फ्यूजन कोरामीन तथा स्टेराइडस (हाइड्रोकार्टीसोन) के साथ देना प्रारम्भ करे।

पार्श्वशूल (प्लूरल पेन)—कोडीन फास्फेट १५-३० मि ग्रा मुख द्वारा देना चाहिये। तीव्र स्वरूप के दर्द मे–पेथीडीन हाइड्रोक्लोराइड १०० मि ग्रा मासपेशीगत दे।

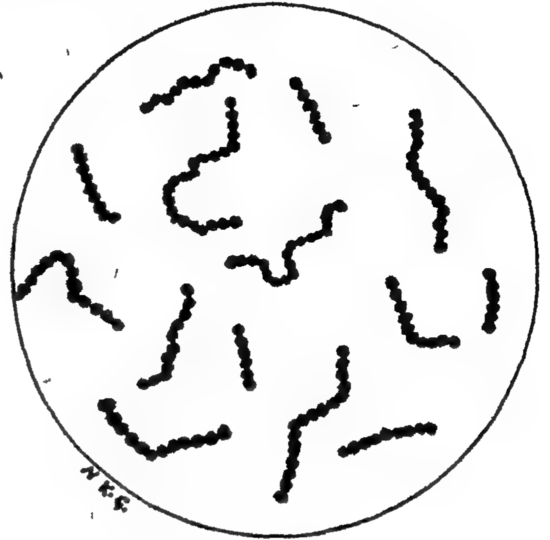
नोट—चिकित्साकाल मे रोगी को पूर्ण आराम देना चाहिए। साथ ही साइनोसिस की स्थिति मे आक्सीजन नेजल कैथीटर अथवा मास्क द्वारा दिया जाता हे।

श्वासप्रणालिका प्रदाह (Broncho-pneumonia)

पर्याय–खडिकीय श्वसनक ज्वर, कैटरल न्यूमोनिया।

परिचय–फुफ्फुसो से सम्बद्ध वायु कोषो मे जाती हुई सूक्ष्म श्वासनलिकाओ मे दाह-शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह रोग पूर्व वर्णित श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) के अन्तर्गत ही आता है। चिकित्सा की दृष्टि से यह दोनो लगभग समान है। निदान की दृष्टि से कुछ मौलिक भेद हैं। इसमें हीनपित्त–मध्यवात-कफोल्वण सन्निपात कर्कटक तथा कफोल्वण सन्निपात के मिले-जुले लक्षण मिलते हैं। इसमे विकृति श्वास शोथ से प्रारम्भ होकर वायुकोपो मे प्रसारित होती है। इसमें फुफ्फुस के अन्तर्गत पेचीटाइप कन्सोलीडेसन के लक्षण मिलते है। विशेष रूप से लोअर-लोव मे विकृति मिलती है। यह न्यूमोनिया विशेष रूप से बच्चो व वृद्धो मे हो जाता है। एलवियोलाई के आक्रात होने से इसे 'ओवुलर' याब्रॉको-न्यूमोनिया कहते हैं। इसका एक भेद और है जिसे सेन्ट्रल न्यूमोनिया कहते हैं।

कारण—यह एक तीव्र सक्रामक रोग है। लोवर न्यूमोनिया के समान इसमे कोई विशिष्ट जीवाणु नही मिलता है। इनमे प्राय हीमोलिटिकस स्ट्रेप्टोकोकस (Streptococcus) का सक्रमण मिलता है।



स्ट्रेप्टोकोकस

यह उपद्रवस्वरूप होता है। रोमान्तिका, काली खासी, कठरोहिणी (डिफ्थीरिया) या वातश्लेष्म ज्वर आदि विषसर्गी रोगो के अन्त मे यह उपद्रव रूप मे होता है। अन्न आदि कोई पदार्थ जब श्वास नलिका मे चला जाता है तब भी इसकी उत्पत्ति हो सकती है।

यह रोग ५ वर्ष से छोटे बच्चो मे, क्षीण मनुष्य तथा वृद्धो को अस्थिक्षय, शरीर क्षय कारक रोगो के अन्त मे प्राय हो जाता है। सामान्य कास रोग मे (अन्त समय) क्षय रोग तथा तेज वायु के श्वसनपथ मे चले जाने पर इस रोग की उत्पत्ति होती है। स्तनपायी शिशुओ मे इस रोग को डब्बा कहते हैं। शिशुओ मे इसकी उत्पत्ति माता के अपथ्य सेवन से होती है।

सम्प्राप्ति—इस रोग मे सूक्ष्म श्वास प्रणालियो मे शोथ होने के कारण उनका मार्ग सकुचित हो जाता है। तत्पश्चात दोनो फुफ्फुस के वायुकोष दूषित हो जाते हैं। श्वास नलिकाओ तथा वायुकोपो मे शोथ होने के कारण वे लसीका स्राव (कफ) से भर जाते हैं। सूक्ष्म श्वास नलिकाओ के अवरुद्ध होने पर उनसे सम्बद्ध वायुकोष भी शोथ दाह से पीडित हो जाते हैं।

श्वासकष्ट एव शोथ से युक्त बच्चो को उत्फुल्लिका

(डब्बा) होता है जिससे बच्चे के वक्ष, कटि प्रदेश आध्मान तथा वायु से फूला प्रतीत होता है। इसको प्रचलित भाषा मे हब्बा-डब्बा कहते है।

लक्षण —

इसमे जाडा लगकर बुखार आता है साथ ही शिरशूल, श्वास, काम आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। तत्पश्चात कुछ दिनो मे ज्वर का वेग १०२ से १०३ डिग्री फा तक हो जाता है। ज्वर चार-पाच अथवा सात दिन तक तीक्ष्ण वेग से रहकर क्रमश उतर जाता है। किसी-किसी रोगी मे सहसा भी उतर जाता हैं। श्वास प्रश्वास मे नासिका भी फूल जाती है। नाडी गति १०० से ११० हो जाती है। पहले सूखी थोडे समय रहने वाली और वेदनायुक्त खासी आती है। तत्पश्चात शीघ्र ही श्लेष्मा तथा रक्त मिला हुआ कफ आता है, क्षुधा समाप्त हो जाती है, कोष्ठ शिथिल हो जाता है। जब फुफ्फुसगामी श्वासनलिकाओ मे तथा वायुकोषो मे शोथ की अतिवृद्धि होती है, तब वायुकोष ठोस हो जाते हैं। बच्चो के कठ मे घरघराहट होती है। श्वास की गति तीव्र होती है प्राय रोगी को प्रतिश्याय होता है। ज्वर एकाएक बढता है और शनैः शनै उतरता है। बीच-बीच मे कुछ बढ भी जाता हे। रोगी की शक्ति काफी क्षीण हो जाती है। रोगी धीरे-धीरे स्वस्थ हो जाता है। यदि श्वास-कास बढ जाते हैं (शक्ति ह्रास होने पर) तो रोगी का जीवन खतरे मे हो जाता है। यह रोग लोवर न्यूमोनियां की भाति भयानक नही हे। इसमे मृत्यु भी कम होती है। इसमे रोगी के शरीर से पसीना अधिक निकलता है, मूत्र अल्प तथा गहरे वर्ण वाला होता है।

उपद्रव—फुफ्फुस विद्रधि (Lung abscess) इन्पाईमा, ब्रोन्कीएक्टीसिस (Bronchiectasis), पेरीफेरल सरक्यूलेटरी फेल्योर।

विभेदक निदान —

लोवर न्यूमोनिया तथा ब्रॉको न्यूमोन्यिा मे इसका अन्तर निम्न प्रकार से है—

	लोवर न्यूमोनिया	ब्राल्को न्यूमोनिया
१	रोग सहसा कम्प लगकर प्रारम्भ होता है।	रोग शनै शनै आरम्भ होता हैं।
२	इसका जीवाणु मुख्य रूप से डिप्लोकोकस न्युमोनाई है।	इसका जीवाणु स्ट्रेप्टो हीमोलिटिकस है।
३	इसमे दाहिना लोअर लोब आक्रात होता है।	दोनो फुफ्फुस (लोब) आक्रान्त होते है।
४.	यह नव जवानो मे अधिक होता है।	इससे बालक तथा वृद्ध आक्रान्त होते हैं।,
५	विषमयता (Toxalmia) कम रहती है।	विषयमता अधिक रहती है।
६	ओष्ठो पर छोटे-छोटे दाने निकलते हैं।	नही।
७	तापक्रम-उच्चतम, बराबर रहने वाला।	तापक्रम अपेक्षाकृत कम। घटता बढ़ता है।
८.	नाडी तथा श्वास का अनुपात २ १ का होता है।	अधिक अन्तर नही रहता है।
९.	इसका कोर्स ७-१० दिन का होता है।	सामान्य रूप से अधिक रहता है।
१०	उपद्रव-बहुत कम।	उपद्रव की उपस्थिति प्राय- निश्चित सी रहती है।
११	इसका भविष्य (Prognosis) अच्छा रहता है।	ऐसा नही।
१२	खासी बनी रहती है पर विशेष कष्टदायक नही।	इसमे अति कष्टदायक खासी है आती।
१३.	कफ छिछड़ेदार, अल्प कष्ट से निकलता, ईंट के रग जैसा लाल अथवा हल्का लाल निकलता है।	पूयमिश्रित कफ निकलता है।
१४	इसमे ज्वर नियमित रहता है।	अनियमित ज्वर रहता है।
१५	ज्वर अधिक, सतत प्रकार का, दारुण मोक्ष।	वृद्धो मे (१००-१०१),अर्ध विसर्गी, अदारुण मोक्ष।
१६	पार्श्वशूल, चिपचिपा, मण्डूरवर्णी ष्ठीवन।	पार्श्वशूल प्राय बहुत कम।

रोग के प्रकार—

ब्रॉंको न्यूमोनिया ३ प्रकार का होता है—(१) प्रधान या प्राथमिक (२) औपद्रविक (Secondary) (३) पूययुक्त।

१. प्रधान या प्राथमिक—यह प्राय १ से २ वर्ष के बच्चो को होता है। इसकी रोगावधि ७ दिन की होती है।

२ औपद्रविक (Secondary)—ब्राको न्यूमोनिया का यह प्रकार अधिक देखने को मिलता है। सामान्य रूप से बच्चो मे इसका आक्रमण रोमान्तिका, कुक्कुरकास आदि मे मधुमेह, चिरकालिक वृक्कशोथ, हृदयरोग आदि मे उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होता है। इसकी रोगावधि ३ मास तक है।

(३) पूय युक्त—उपरोक्त दोनो प्रकार पूय मे वर्णित हो सकते है। असाध्यता के कारण इसकी अवधि कम है।

साध्यासाध्यता—प्रथम प्रकार प्रायः साध्य होता है तृतीय प्राय असाध्य तथा द्वितीय चिकित्सा साध्य है।

चिकित्सा—

रोगी को प्रथम द्राक्षासव १० मिली० की मात्रा मे पिलावें। साथ ही पीपल का चूर्ण कटकारी क्वाथ मे मिलाकर प्रात समय दे और द्राक्षादि लेह २ घटे के अतर से बराबर चटाते रहे। इससे कफ पतला होकर निकल जाता है। वायु की अधिकता मे चन्द्रामृत रस का उपयोग करना चाहिये। यह भै० र० का योग है। अथवा स्वर्ण वङ्ग १२० मि० ग्रा०+वासा स्वरस २० मिली०+मधु ३ ग्राम। इनको मिलाकर प्रति ३ घटे पर दें। रोगी को फलो का रस देने को बाद द्राक्षारिष्ट अवश्य दे। रोगी के प्रारम्भ मे ज्वर की अधिकता होने पर ज्वरार्यभ्र १२० मिली ग्राम+तुलसी स्वरस १० मि० ली०+मधु ६ ग्राम के साथ प्रति ३ घटे पर दें। स्थानीय चिकित्सा के लिये वक्षस्थल के चार तरफ उत्तेजक मर्दन, उपनाह, पुल्टिस, लेप, नारायण तेल, तेल+कर्पूर की मालिश करे। तत्पश्चात वक्षस्थल को रुई से ढक दें। लिनीमेन्ट टरपेन्टाइन अथवा लि० केम्फर की मालिश की जा सकती है।

रोगी के बल की रक्षा के लिये रस सिन्दूर, कस्तूरी अथवा द्राक्षासव का प्रयोग करे।

आधुनिक चिकित्सा—

टेट्रासाइक्लीनं, क्लोरटैट्रासाइक्लीन, औक्सीटेट्रासाइक्लीन. क्लोरम्फेनिकाल-इनमे से किसी का प्रयोग २-४ ग्राम प्रति दिन मे विभक्त कर ४ बार ६-६ घटे पर दिया दिया जा सकता है। प्रति ६ घण्टे पर स्ट्रेप्टोमाइसिन ०५ ग्राम मासपेशीगत देना चाहिए। पैरासिटामोल अथवा एस्प्रीन २ ग्रेन+मकरध्वज ६० मि ग्रा. मिलाकर दी जा सकती है। यदि पुनरावर्तन की सम्भावना हो तो क्वनीन सल्फ ५ ग्रेन की मात्रा मे दिन मे ३ बार दे।

स्थानीय चिकित्सा के लिये—वक्ष स्थल पर पुल्टिस, ग्लासेक अथवा लिनीमेट टरपेन्टाइन या लि० कैम्फर की मालिश करनी चाहिये। इस रोग की चिकित्सा खण्डीय-श्वसनक ज्वर (लोवर न्यूमोनिया) के ही तुल्य करे।

ब्रॉंको न्यूमोनियानाशक सल्फाड्रग चिकित्सा क्रम—

इस रोग मे २-३ सल्फाड्रग सम्मलित रूप मे देने से जीवाणु के सक्षम होने की सम्भावना कम हो जाती है।

एल्कोसिन १ टेवलेट, सल्फामेजाथीन १ टेवलेट, विटामिन सी १०० मि ग्रा, निकोटिनिक एमिड ५० मि ग्रा सोडावाई कार्ब १० ग्रेन ऐसी १ मात्रा प्रति ४ घटे पर गरम पानी के साथ दे। इस योग के २ घटे पश्चात् निम्न योग का प्रयोग करते रहे—पोटाम साइट्रास १० ग्रेन, पोटास एसीटास १५ ग्रेन, सोडा वेन्जोयस ५ ग्रेन, टिं० हायोसाइमास १० बूद, टिं० कार्ड १० बूद सीरप टोलू विट वसाका १ ड्राम, एक्वा क्लोरोफार्म १ औस—१ मात्रा। इसके ३ दिन बाद निम्न योग का प्रयोग करें।—सोडा वाई कार्व १० ग्रेन, सोडा क्लोराइड ५ ग्रेन, स्प्रिट क्लोरोफार्म ५ बूद, एक्वा एनसी १ औस—१ मात्रा। इसे गुनगुने जल के साथ दिन मे २-३ बार दे।

पार्श्वशूल के निवारण हेतु उपरोक्त चिकित्साक्रम के साथ-साथ कोडीन फास १।८ ग्रेन, सिवाल्जिन १ टेवलेट विटामिन वी ६२५ मि ग्रा, विटामिन सी १०० मि ग्रा ईस्ट १ टेवलेट ऐसी १ मात्रा दिन मे २ बार दे। इसके अतिरिक्त हेप्पाल्जिन, न्योगाइक्नरजिन, इरगापाइन आदि दे सकते है। ★★

-✲★✲-

प्रतिश्याय

श्री पी० एस० अशुमान एच०पी०ए०, रीडर--काय चिकित्सा विभाग
शेठ जी० प्र० सरकारी आयुर्वेद कालेज, भावनगर (गुजरात)



श्री पी० एस० अशुमान गुजरात राज्य मे आयुर्वेद के नक्षत्र हैं। आयुर्वेद जगत का हर सम्बन्धित व्यक्ति आपके नाम से परिचित है। इस समय आप शेठ जी० प्र० सरकारी आयुर्वेद कालेज, भावनगर (गुजरात) के काय चिकित्सा विभाग मे रीडर पद को संभाले हुए हैं।

आपकी आयुर्वेद अनुसधान मे गहन रुचि है। यही कारण है कि आप कालेज में भी अपने विभाग के अधीनस्थ साथियो को भी इसमे संलग्न रखते हैं। आपके शोध पत्रो मे नवीनता होती है।

'संक्रामक रोग चिकित्सा' हेतु आपने प्रतिश्याय पर सागोपाग वर्णनयुक्त लेख भेजा है। इसको यहा पर ज्यो का त्यो दिया जा रहा है। लेख साधारण गृहस्थ मे लेकर प्राध्यापको तक उपयोगी है।

—वैद्य ओ० पी० वर्मा (विशेष सम्पादक)।

परिचय—

प्रतिश्याय प्रत्येक देश एव काल मे प्रचलित एव परिचित रोग है। वैदिक साहित्य से लेकर आज के चिकित्सा साहित्य तक मे सर्वत्र इसका उल्लेख मिलता है। प्रतिश्याय के लिये नजला जुकाम, सरदी जैसे शब्दो का भी प्रयोग होता है। वस्तुत इस शब्द का भावार्थ नाक बहने से है। जब दोष नाक द्वारा बाहर निकलते हुए विविध लक्षणो को प्रकट करते है तब उसे प्रतिश्याय सज्ञा दी जाती है। प्रतिश्याय को विविध जीवाणु विशेषत: वायरस जन्य रोग माना जाता है। नवीनतम खोजो के अनुसार ८० प्रकार के वायरस जब तब प्रतिश्याय को करते है। शरीर इनके सामने रोग प्रतिकारक शक्ति उत्पन्न कर लेता है। इसीसे ऐसी मान्यता भी पाई जाती है कि प्रतिश्याय ८० तक हो सकता है। तब तक या तो रोग प्रतिकारक शक्ति उत्पन्न हो चुकती है या फिर प्रतिश्याय दुष्ट या जीर्ण पीनस मे बदल चुकता है। इसके लिए Acute Rhinitis, Coryza एव Common cold जैसे शब्दो का प्रयोग किया जाता है। इनका भावार्थ है नासा प्रदाह, नासास्राव या सरदी आदि।

प्रतिश्याय शब्द प्रति+श्याय (शैङ् गतौ) अर्थात् वायु प्रति गमन का भावार्थ प्रकट करने वाला माना जाता है। माहत प्रति श्यायते कहकर इसी बात को स्पष्ट किया गया है। इसमे प्राणमूल स्थित श्लेष्मा तथा (रक्त पित्तादि अन्य दोष) वायु के प्रति गमन करते है। इसमे निम्नलिखित बातें प्रमुख हैं—

(१) यह एक प्रकार का नासा प्रदाह या स्रावयुक्त अवस्था है जिसमे शिर शूल, गौरव, नासास्राव, ज्वर, कास आदि हो सकते हैं।

(२) इसमे नासास्राव के साथ शिर शूल, गौरव, ज्वर, कास, कफोत्क्लेश, क्लम, इन्द्रियासमर्थता, यक्ष्मा आदि सलग्न हो सकते है। [च० चि० ८/४६]

(३) नासामूल स्थित, कफ, रक्त, पित्त, वायु से आध्यमानित सिर मे निकलकर वायु के साथ गमन करता है। [च० चि० ८/४६]

(४) इसकी उपेक्षा से कास, श्वास, क्षय आदि हो सकते है।

(५) प्रतिश्याय के दुष्ट होने से आख, शिर, कान, गले के रोग भी हो सकते है।

सम्प्राप्ति—

इसकी सम्प्राप्ति की दृष्टि से निम्नलिखित घटनायें प्रमुख है—

१ विविध निदान सेवन से प्रकुपित वायु प्रतिश्याय करती है। एक या अनेक दोषो द्वारा नासामूल मे स्थित होने पर दोष प्रकोप पूर्वक प्रतिश्याय करते हैं।

२ ऊर्ध्व कफाशय (शिरस्थ विवर साइनस आदि) को दूषित कर स्रोतो के प्रतिगमन पूर्वक प्रतिश्याय को करती है। [काश्यम]

३ दोष नासा मे स्थान संश्रित हो घट्ट वन प्रतिश्याय करते है । [चरक]

४ आमविष कफ के साथ मिलकर प्रतिश्याय करते हैं । [च० चि० १५]

५ प्राणावृत्त उदान प्रतिश्याय करता है ।
[च० चि० २८/२०४]

६ शिर मे गये दोष एक एक या सब रक्तादि को प्रकुपित कर प्रतिश्याय को करते हैं । [सु० उ० २४/४]

७ क्रुद्ध वातोल्वण दोष नासा मे स्थान सश्रित हो प्रतिश्याय को करते हैं और बढकर क्षय तक कर सकते है । [अ० उ० १९/२]

कारण—

(१) आहार का मिथ्या प्रयोग—इसके अन्तर्गत १ मधुर, गुरु, शीत, रूक्ष (क) प्रधान अन्नादि का सेवन, २ अजीर्णाशन, अहिताशन, मन्दाग्नि मे विषमाशन, भोजनान्तर प्रभूत जल पान तथा दुग्धादि का सेवन कर सो जाना विशेषकर दिवास्वप्न, ३ शीताम्बु का अतिपान, जलदोष (पानी बदलना) आदि प्रमुख कारण हैं ।

(२) मिथ्या विहार—इसमे १ मुख्यतया निद्रा सम्बन्धी प्रजागरण, अतिस्वप्न, अयोग्य ढङ्ग से सोना, मुह ढक कर सोना, अति ऊचा या नीचा तकिया लगाकर सोना आदि प्रमुख कारण हैं ।

२ ऊचे बोलने या अतिभाषण से भी होता है ।

३ ब्रह्मचर्य नाश या अति मैथुन, अति स्त्री सेवन, रमण करने से भी इसका होना माना गया है ।

४ पानी मे रमण करना या लम्बे समय तक जलक्रीडा करने से भी हो सकता है ।

५ अधारणीय वेगो के धारण करने पर यथा—मूत्र पुरीष वेग धारण, छर्दि या अश्रु वेग धारण ।

६ ऋतुदोष के कारण ऋतुसन्धि काल मे आहार योजना ठीक न रखने पर या ऋतु वैषम्य होने पर अथवा शीत अति प्रताप एव वसन्त कोप से भी प्रतिश्याय हो सकता है ।

७ वाष्प गृह निवास (एयर कण्डीशन्ड घर)

८ दूषित वायु के सेवन से अथवा रजयुक्त, वाष्पयुक्त, अश्याय (ओस) युक्त, धूमयुक्त या शीत वायु के सेवन से भी प्रतिश्याय हो सकता है ।

९ शीताम्बु के निरन्तर सम्पर्क मे रहने से या नित्य गुरु भोजन करने से उत्पन्न अजीर्ण होने पर भी शीत जल से स्नान करने अथवा श्लेष्मयुक्त कोष्ठ होने पर शीतजल स्नान करने पर भी प्रतिश्याय हो सकता है ।

१० क्रोध, शोक, चिन्ता, दिवास्वप्न एव अतिस्वप्न तथा अतिरुदन आदि से भी प्रतिश्याय होजाता है।

११ कुछ रोग भी ऐसे है जिनमे प्रतिश्याय प्राय मिल सकता है । यथा—अजीर्ण, शिरोभिताप, वातश्लेष्मक ज्वर, श्लेष्मार्श, तमक श्वास, वातज उदावर्त मे यह लक्षण रूप हो सकता है । क्षय पूर्वरूप एव उपद्रव के रूप मे उरोघात मे लक्षण, उपद्रव रूप मे मिल सकता है ।

पूर्वरूप—शिर का भारी होना, छीके आना, अङ्गमर्द, शरीर के रोम खडे होना (रोमहर्ष) एव अन्य सामान्य ज्वरारोचक आदि लक्षणो का स्वल्प प्रमाण मे होना प्रतिश्याय के पूर्वरूप माने गये है। [सु०उ० २४/५]

सामान्य लक्षण—

शिर शूल, शिरोगौरव, नासास्राव, ज्वर, कास, कफोत्क्लेश, स्वरभेद, क्लम, इन्द्रियो की असामर्थ्यता आदि इसके सामान्य लक्षण कहे गये है।[च०चि० ८/४९]

विशिष्ट लक्षण—

प्रतिश्याय मे मिलने वाले विशिष्ट लक्षणो का सग्रह यहा प्रस्तुत कर रहे है—

(१) नासागत लक्षण—नासागत रचना या वेदना सम्बन्धी लक्षणो मे निम्नलिखित लक्षण हो सकते हैं—

१ वातज मे घ्राणर्ति एव घ्राण तोद

२ घ्राणोपरोध, नासारोध या बारबार नाक बन्द होना या खुलना क्रमश वातज एव दुष्ट प्रतिश्याय मे मिलते है ।

३ गुरुस्रोता (शोथ) या नाक मे कण्डू होना कफ मे

४ घ्राण पिडिका, घ्राणपाक, नासाग्रपाकादि पित्त मे

(२) नासास्राव गत लक्षण—नासा मे से निकलने वाले स्राव मे दोषानुबन्धता देखी जा सकती है । यथा—

१ जलाभस्राव या शिशिर कफस्राव वातज मे

२ घन प्रसेक कफज मे तथा श्वेत, स्निग्ध शीत प्रसेक

३ ऊष्ण, पीत, ताम्र, प्रसेक पित्त मे

४ रक्त इव स्राव, पूयवत कृष्ण रक्त स्राव,रक्तज मे

५. पक्वापक्व, सन्निपात में, पिच्छिल, विभिन्न वर्णी दुष्ट प्रतिश्याय में

(३) गन्ध शक्ति सम्बन्धी—रक्तज, दुष्ट एवं पक्व प्रतिश्यायों में गन्धशक्ति नाश (आंशिक एवं कुछ समय के लिये) कहा गया है।

(४) छींक सम्बन्धी—वातज में अतिशय छींकें आती हैं।

(५) मुखगत लक्षण—१. ओष्ठ, तालु, कण्ठशोष लक्षण वातज में कहा है।

२. मुख शोष पित्तज में

३. मधुरास्यता, तालु कंडु, गल कंडु, ओष्ठ कंडु कफज में कहे गये हैं। मुख शोष भी कफज में पढ़ा है।

४. मुख एवं श्वास दुर्गन्धता—रक्तज एवं दुष्ट प्रतिश्याय में मुख दुर्गन्धता तथा उच्छ्वास दुर्गन्धता कहे गये हैं। पित्तज में सहसा सधूम एवं गरम श्वास निकलता है।

(६) नेत्रगत लक्षण—वातज में भ्रू पर चींटियां चलती प्रतीत होती हैं। कफज में नेत्र श्वेत हो जाते हैं। रक्तज में नेत्र रक्ताभ या ताम्र वर्ण के हो सकते हैं।

(७) स्वर सम्बन्धी लक्षण—स्वर सम्बन्धी लक्षणों में स्वर भेद एवं स्वरोपघात वातज में मिलते हैं।

(८) शिरोगत वेदनायें—शिरोगत वेदनाओं में १. वातज में मूर्धारोग [शिरःशूल] विशेषतया तीव्ररुजा, शङ्ख, दन्त में व्यथा तथा शङ्ख निस्तोद वातज में मिलते हैं। २. कफज में गौरव, शिरःकण्डु मिल सकता है। ३. सन्निपात में तीव्र विविध रुजायें मिलती हैं। अतिदुःख लक्षण भी पढ़ा गया है।

(९) अन्य लक्षण—इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लक्षण मिलते हैं। यथा—

१. श्वास, कास, वमन, अरुचि जैसे लक्षण कफज में मिलते हैं तथा कर्ण, अक्षि, नासा कंडू रक्तज में

२. तृषा, भ्रम, ज्वर जैसे लक्षण पित्तज एवं दुष्ट प्रतिश्याय में मिल सकते हैं।

३. सर्वाङ्ग गौरव, कंडू कफज में मिलते हैं।

४. त्वचा, पांडु पित्तज में

५. पुरोपघात उर सुप्तता रक्तज एवं दुष्ट प्रतिश्याय में

६. कृमिज शिरोरोग के लक्षणों के साथ छींकें, क्लेद, स्निग्ध, सूक्ष्म, कृमि, रक्तज दुष्ट प्रतिश्याय में मिल सकते हैं।

७. कुष्ठ, रक्तज में, कफ-दोषज सन्निपात में मिलते हैं।

प्रतिश्याय की अवस्थायें—

[क] नवीनावस्था—इसे आमाव था भी कहा जाता है। इसमें दोषानुसार लक्षण स्पष्ट हो सकते हैं यथा अरुचि, मुख वैरस्य, नासास्राव, रुजा, अरति, शिरोगौरव क्षवथु, ज्वर आदि लक्षण विशेष रूप से मिलते हैं।

[ख] पक्वावस्था—इसमें दोषों के पकने पर अङ्ग लाघव, क्षवथु शमन, श्लेष्मा अविक्लन्नता एवं पीन एवं रस गन्ध अज्ञानता जैसे लक्षण व्यक्त हो जाते हैं। लक्षण अल्प एवं कम हो जाते हैं। शिर नासा में लघुता होती है। कफ पीताभ गाढ़ा हो जाता है।

[ग] जीर्ण एवं दुष्ट अवस्था—इस अवस्था में नासारोध, नाक बन्द होना कभी खुलना, नाक में व्रण होना, नासास्राव या मल पूयवत, कृष्ण, रूक्ष, पिच्छिल होना, मुख में दुर्गन्धता एवं श्वासोच्छ्वास दुर्गन्धी होना, किसी कारण बिना पुनः पुनः प्रकुपित होना, नासा एवं मुखशोषयुक्त होना, नासापाक एवं कृमि उत्पन्न होना आदि मिल सकते हैं।

[घ] उपद्रवावस्था—(१) उपेक्षा करने पर विविध नासा रोग, बाधिर्य, अन्धत्वादि नेत्र विकार, कर्ण शिरो रोग, सर्वेन्द्रिय उपहता आदि उपद्रव हो जाते हैं।

(२) इसके साथ ही—अग्निमांद्य, शोथ तथा (३) कास, श्वास, उर-पार्श्व वेदना, शोष, मद आदि होना। (४) तृषा एवं ज्वर होना। (५) पूय [नासागत] रक्तपित्त, स्वरभेद होना (६) खालित्य होना लोम या केश का वर्ण हरित (अर्जुन लोमता) कपि एवं श्वेत वर्ण का होना हो सकता है। (७) गले एवं दांत के रोग हो सकते हैं।

चिकित्सा—

प्रतिश्याय की चिकित्सा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) नवीन या आम [अपक्व] प्रतिश्याय की चिकित्सा (२) पक्व प्रतिश्याय की चिकित्सा (३) दुष्ट एवं जीर्ण प्रतिश्याय की चिकित्सा। इसके अतिरिक्त [१] सामान्य चिकित्सा [२] विशिष्ट दोष

एव अवस्थानुसार चिकित्सा के रूप मे भी प्रविभाग किये जा सकते हैं। इसके साथ साथ (१) अनागतवाधा प्रति षेधीय चिकित्सा (२) आगतव्याधि चिकित्सा अथवा व्याधि चिकित्सा एव ऊर्जस्कर रसायन चिकित्सा तथा औपध एव शस्त्रकर्मीय चिकित्सा आदि अनेक प्रविभागो मे रखा जा सकता है।

सक्षेप मे इस चिकित्सा को निम्नानुसार रखा जा सकता है—

[क] निदान परिवर्जन—प्रतिश्याय उत्पादक हेतु या दोप कोपक कारणो का त्याग। यथा अति जलपान, शीत-गुरु-पदार्थ एव भावो का सेवनादि।

[ख] हेतु विपरीत सेवन लघु उष्ण, पदार्थ सेवन, उष्ण, निर्वात, वाष्परहित आवास मे रहना, शिर ढक कर रखना तथा गर्म वस्त्र पहने।

[ग] आम या नवीनावस्था मे दोपो के पाचनार्थ निम्न उपाय करे—

(१) १-३ दिन आवश्यकतानुसार उपवास या लघन

(२) पाचनकारक मे सिद्ध कोष्ण जल का सेवन करे, यथा पचमूल, दशमूल, शुण्ठी सिद्ध जल।

(३) लङ्घन के वाद सिद्ध यवागू दें। फिर वाद मे लघु उष्ण या अम्ल एव उष्ण आहार दें।

(४) स्थानिक दोप पाचनार्थ उष्ण पोटली स्वेद, अभ्यङ्ग, लेप, परिषेक, अवगाह आदि सेवन।

(५) दोपोत्क्लेशनार्थ धूम्रपान।

(६) पाचन औपधि प्रयोग—यथा-हरीतकी या शुण्ठी को गुड के साथ या दूध मे गुड डालकर पाचन एव उत्क्लेशन करे।

[घ] पक्व प्रतिश्याय के लक्षण उत्पन्न होने पर निम्नोपचार करे—

(१) स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, धूम्र, गण्डूष आदि उपक्रमो द्वारा शोधन करायें।

(२) दोपानुसार सशोधन—वमन, विरेचनादि,

(३) शिरोगत दोप निकालने के लिए शिरोविरेचन, अवपीडन नस्यादि।

(४) १ घृत प्रधान कल्प—हरीतकी एव शुण्ठी प्रधान कल्प, व्योषादि कल्प।

२ रूक्षान्न सेवन

(५) वमन, अङ्गमर्द, ज्वर, गौरव, अरोचक, अरति, अतिसार आदि का अनुवध होने पर लङ्घन, दीपन, पाचन एव लक्षणानुसारी चिकित्सा कल्पो द्वारा करायें।

[ङ] जीर्ण एव दुष्ट प्रतिश्याय—दोप जीर्ण होने या प्रतिश्याय दुष्ट रूप होने पर निम्न चिकित्सा करे—

१ दोषानुसार सशोधन एव शमन चिकित्सा

२ उपद्रव कम होने पर नवीन प्रतिश्यायवत उपचार

३. त्रिदोषघ्न एव कृमिघ्न चिकित्सा—रस चिकित्सा

४ यक्ष्मानाशक उपचार-वर्धमान पिप्पली, च्यवन-प्राशादि

उपयोगी द्रव्य एवं कल्प—

प्रतिश्याय मे उपयोगी द्रव्य एव कल्प निम्न है—

१ सुरसादि गण, पिप्पल्यादि गण के द्रव्य

२ त्रिकटु, भारङ्गीमूल, कण्टकारी, अकरकरा, पीपरामूल मूलक, कुलत्थ आदि द्रव्य।

३ नागगुटी, नवजीवन रस, त्रिभुवन कीर्ति रस, व्योपादि गुटिका, लवङ्गादि वटी, एलादि वटी, खदिरादि वटी, चतुपष्टी पीपर, वर्धमान पिप्पली, पीपर चूर्ण, महालक्ष्मी विलास, नारदीय लक्ष्मी विलास, लक्ष्मी विलास, अभ्रक भस्म, शृङ्ग भस्म, यशद भस्म, मण्डूर भस्म, रसमाणिक्य। नृसार, सर्जिक्षार, यवक्षार, टकण क्षार, अर्क लवण, कण्टकारी लवण, कण्टकारी अवलेह, वासावलेह, चित्रक-हरीतकी अवलेह, च्यवनप्राश, हरिद्राखण्ड, द्राक्षासव, कनकासव, वासकासव, दशमूलारिष्ट, कटफल नस्य, षडविन्दु तैल।

—पृष्ठ २७८ का शेषाश—

nephritis) के कारण होती है।

प्रारम्भ मे जव जोडो मे तीव्र दर्द, बुखार होता है तो इसे रियूमेटिक ज्वर (Rheumatic Fever) के नाम से पुकारा जाता है। इस अवस्था को हम साधारण समझकर छोड देते है कि रोग अपने आप ठीक हो जायेगा यह उचित नही हे। क्योकि इसकी क्रिया मन्द गति से २ से ४ माह तक चलती रहती है जिसके दौरान हृदय पर असर पडता है। इसीलिए ऐसे रोग से ग्रसित रोगियो को कई सप्ताह तक आराम करने देने की सलाह दे। जव भी जोडो मे दर्द हो तो तुरन्त चिकित्सा व्यवस्था करनी उचित है।

प्रतिश्याय (जुकाम)

वैद्य दरबारी लाल आयुर्भिषक्

प्रतिश्याय की चिकित्सा—

सर्व प्रथम निदान परिवर्जनम् के अनुसार आदि कारण को दूर करना चाहिए। सर्दी से बचना चाहिए निर्वात स्थान मे रहे। ठडे पानी का प्रयोग न करके कुछ गरम पानी का प्रयोग करना चाहिए। चाय दवा के रूप मे पीनी चाहिए। इसके लिए गुरुकुल कागडी हरिद्वार की चाय का सेवन अच्छा रहता है। सिर को नगा न रखें, मफलर आदि बाधे रहे। तीन दिन उपवास करने से प्रतिश्याय बिना दवा के ठीक हो जाता हे। उपवास काल मे गुरुकुल कागडी हरिद्वार की चाय प्रयोग करते रहे।

निम्न लिखित दवायें प्रतिश्याय मे लाभप्रद प्रमाणित हुई हैं—

(१) कालीमिर्च का चूर्ण गुड तथा दही मिलाकर खिलाने से प्रतिश्याय खासी सहित ठीक हो जाता हे।

(२) व्योषादि वटी के चूसने तथा खाने से प्रतिश्याय, पीनस, श्वास, कास, स्वर भङ्ग नष्ट होता है। रुचि बढती है। इन्हे निम्न प्रकार बनायें—

सोठ, मिर्चकाली, पीपल छोटी, चित्रक, तालीश पत्र तिन्तडीक, अम्लवेत, चव्य, जीरा, इनमे से प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण १-१ भाग लें। इलायची का चूर्ण, दालचीनी, तेजपात इनमे से प्रत्येक का चूर्ण चौथाई-२ भाग ले। इस सारे चूर्ण मे दुगना पुराना गुड मिला गोली बना लें।

(३) कटफलादि चूर्ण व क्वाथ—कायफल की छाल। पुष्करमूल, काकडासिंगी, सोठ, मिर्चकाली, पीपल छोटी, अजवाइन, काला जीरा, इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करें या काढा करे और इस चूर्ण या काढे मे अदरख का रस डालकर पिलावे तो प्रतिश्याय, स्वरभेद, तमक श्वास सन्निपात, कफ, वातरोग, वास, हलीमक नष्ट होते हैं।

(४) षड् बिन्दु तेल की ६-६ बूद दोनो नथुनो से सूघने से यानी नस्य लेने मे प्रतिश्याय, अर्धावभेदक, शिर शूल, सूर्यावर्त नष्ट होता है। नस्य लेने मे यह सावधानी रक्खे कि तेल मुह मे न आवे बल्कि सीधा दिमाग की तरफ चढ जावे। इसके लिये रोगी को चारपाई पर इस प्रकार लिटाये कि उसका शिर चारपाई के सिरहाने से बाहर निकला हुआ इतना नीचे झुका रहे कि नाक मे डाला हुआ तेल मस्तिष्क मे पहुचे, मुंह मे न जाये। एक एक नथुने मे ६-६ बूद तेल डाल कर रोगी से कहे कि वह नाक मे पडा हुआ तेल ऊपर को सुडक ले। तभी तेल से पूरा लाभ मिलेगा। यदि तेल मस्तिष्क मे न जाकर मुह मे आजायेगा तो गले मे जलन करेगा और लाभ भी पूरा नही मिलेगा।

(५) प्रात-साय एक बादाम की मीग व एक काली मिर्च चबाकर खाने मे एक ही दिन मे सारा जुकाम नष्ट हो जायेगा। यदि प्रतिश्याय बार–२ हो जाया करता हो तो अधिक दिन सेवन करे। यदि ज्वर आने का भय हो तो आनन्द भैरव रस या मृत्युञ्जय रस १ रत्ती के साथ खाये। उसमे ज्वर-प्रतिश्याय शरीर का दर्द सभी दूर होगा।

(६) गुल बनफशा, गावजवा, उन्नाब, लहसोरे, खतमी मुलेठी, अरूसे की जड की छाल, मुनक्का ३-३ माशे, काली मिर्च १ माशे लेकर पाव भर पानी मे काढा करे। जब चौथाई पानी बाकी रहे तो उतार कर मलकर छान ले और १ तोला शहद मिलाकर प्रात काल पीले और इसी प्रकार शाम को बनाकर पिये। यदि तन्द्रा वेग अधिक हो तो सोम कल्प भी ३ माशा मिलालें या इफेड्रीन हाईड्रोक्लोराइड की १ गोली खाकर ऊपर से काढा पिये। यदि दस्त मे कब्जी हो और दस्त साफ न आता हो तो सनाय ३ माशा व अन्जीर ३ माशा और मिलाले। इससे प्रतिश्याय, कास-श्वास, ज्वर आदि शीघ्र दूर होते हैं। यदि रोज काढा बनाने के झझट से मुक्ति चाहे तो इसका शर्बत बना कर रखले। इस शर्बत मे से १-१ तोला शर्बत गुनगुना पानी मिलाकर प्रातः साय सेवन करने से पूरा

पूरा लाभ होना है। इसी शर्वत में १-२ रत्ती प्रवाल भस्म मिलाकर चाटने से प्रतिश्याय तथा खासी शीघ्र दूर होती है। शर्वत की विधि यह है—गुल बनफशा आदि उपरोक्त दवायें पाव भर लेकर दस गुने पानी में डालकर काढा करे। जब चौथाई पानी शेष रहे तब उतार कर मल कर छान ले और उसमें एक सेर मिश्री मिलाकर फिर आग पर चढाकर गरम करे। जब पानी जलकर कुल १।। सेर रह जावे तब उतार ले और छान कर बोतल मे भर कर रखले। हर बोतल मे ६-६ बूंद अमृत द्रव मिला हिलाकर रखले।

अमृत द्रव निर्माण विधि—पिपरमेंट, सत अजवाइन कपूर तीनो चीजे बराबर लेकर शीशी मे भर कर डाट लगा दे। थोडी देर में सभी चीजें गल कर अमृत द्रव बन जायेगा।

कभी-कभी गरम चीजों के प्रयोग करने से प्रतिश्याय मे शुष्कता बढ जाती है और नाक बन्द हो जाती है। नाक से सास लेने मे बहुत कठिनाई होती है। ऐसी दशा मे वृहत सितोपलादि चूर्ण, प्रवाल पिष्टी मिलाकर उपरोक्त शर्वत मे मिलाकर चाटने से शीघ्र नाक खुल जाती है और सास लेने की कठिनाई खतम हो जाती है। यदि कफ खुश्क हो गया हो तो वह भी तर होकर निकलने लगता है। नाक बन्द होने की दशा में नौसादर चूना भीगा हुआ एक शीशी मे मिलाकर सूघने से भी नाक फौरन खुल जाती है तथा शिर शूल व प्रतिश्याय भी नष्ट हो जाता है। नाक बन्द होने की दशा मे मुलैठी, विहीदाना, गावजवा, गुलबनफशा, रेशमखनमी, मुनक्का, लहसोरे का हिम पिलाये, शीघ्र लाभ करता है।

(७) प्रतिश्याय मे चित्रक हरीतकी बहुत गुणकारी दवा है जिसके बनाने का विधान यह है—चीते की जड, दशमूल के दशो द्रव, गिलोय आमला इनमे से प्रत्येक द्रव्य १००-१०० पल लेकर मिलित ४०० पल यानी २० सेर लें। इन सबको ३ द्रोण यानी ३८ सेर ६ छटाक २ तोला पानी मे डालकर पकावे। जब चौथाई भाग पक कर शेष रह जाये तो गुड १०० पल यानी ५ सेर घोल कर छान ले और फिर बडी हर्र की बकली का चूर्ण १ आढक यानी ३ सेर १६ तोला डाले। सबको पकाकर अवलेह बना ले। फिर उतार कर शीतल होने पर आधा पस्थ यानी ३२ तोला शहद उसमे मिला दे। सौठ, मिर्च काली, पीपर छोटी का चूर्ण मिलित ६ पल यानी २४ तोला और दालचीनी, इलायची, तेजपात इनका मिलित चूर्ण ६ पल डाल दे। फिर यवक्षार आधा पल मिलावे। सब को मिलाकर रखले। इस रसायन के सेवन से श्वास, शोष रोग, कब्ज, वमन, कफज प्रतिश्याय, क्षीण रोग, उर क्षत, हिचकी रोग, कफ रोग, सिर दर्द, मन्दाग्नि ये सभी रोग नष्ट हो जाते है। जिनको बार-२ प्रतिश्याय हो जाता है और हर समय बना ही रहता है उनके लिये यह अमृत का काम करती है। नये पुराने सभी प्रतिश्यायो को नष्ट करती है। बहुत अच्छी दवा है।

(८) अदरख ६ माशा, तुलसी पत्र २ तोला, काली मिर्च १५ नग, पानी ४० तोला मे पकावे। जब चौथाई पानी शेष रहे तब उतार ले और मलकर छान लें और १ तोले मिश्री मिला प्रात पिये और इसी प्रकार बना सायकाल पिये तो प्रतिश्याय, खासी, ज्वर, सर्दी ठीक होते है।

(९) सिर भारी, सुस्ती, सर्दी अधिक लगने पर—सौठ ६ माशे, कालीमिर्च १।। माशे, दालचीनी ३ माशा, लौग १ माशे, जल ४० तोला मे काढा बनावे। चौथाई पानी शेष रहने पर उतार मल छानकर मिश्री १ तोला मिला पीने से शीघ्र लाभ होता है।

(१०) सुस्ती, शिर भारी, शरीर जकडना, खासी, श्वास पर कटेरी की जड, चिरायता, सौठ, अडूसे की जड ६-६ माशा, पीपल छोटी ३ माशा का काढा शहद मिलाकर प्रयोग करे।

(११) यदि प्रतिश्याय मे मलावरोध (कब्ज) हो तो छोटी कटेरी की जड, अडूसे की जड, सनाय, मुनक्का, अमलतास के गूदे का काढा दे। अथवा पचसकार चूर्ण का प्रयोग करे।

(१२) मिश्री २ तोला, काली मिर्च १५ दाने पावभर पानी मे औटावे। जब चौथाई पानी शेष रहे तव उतार छानकर गुनगुना पीले। इसी प्रकार प्रात साय दो तीन दिन पीने से प्रतिश्याय, खाँसी, हरारत आदि ठीक हो जाती हैं। इसी प्रकार मिश्री १ तो मुलहठी ६ माशे काली मिर्च १० दाने पाव भर पानी मे १/४ शेष औटाकर पीने से प्रतिश्याय खासी मे बहुत फायदा होता है।

—शेषाश पृष्ठ २७७ पर देखें।

पीनस

डा० राजेन्द्रप्रसाद साहू बी०एस-सी०, बी०ए०एम-एस०, आयुर्वेदाचार्य, आयु०रत्न, आयु०गुरु०, डी०एस०सी०ए०
संरक्षक-अखिल भारतीय आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रचारक मण्डल, लखनऊ।
नागेश्वर रोड, बीघापुर, उन्नाव (उ०प्र०)

—✿✚✿—

नाम पर्याय— संस्कृत—नासादौर्गन्ध्य, पूतिनस्य। हिन्दी-पीनस, अपीनस, नाक से दुर्गन्ध आना। उर्दू—नाक से बू आना, फीनस। अरबी - बखरुल् अन्फ। अंग्रेजी—ओजीना (Ozaena)।

परिचय—यह स्वतन्त्र रूप से और दूसरे रोगो के साथ तथा उपसर्गस्वरूप सक्रमण से भी हो जाता है। प्राय प्रसेक एव प्रतिश्याय की अनियमितता उसके बिगडने और बन्द हो जाने के कारण हो जाता है।

लक्षण—

इस रोग का प्रमुख लक्षण नासामार्ग का अवरुद्ध हो जाना है। नाक कभी सूख जाती तो कभी गीली हो जाती है। यह नासावरोध, श्वास द्वारा कफ के शोषण के फलस्वरूप होता है। नासावरोध के कारण नाक मे जलन होने लगती है तथा श्वास लेने मे तकलीफ होने लगती है। कभी कभी नाक से छिछडे निकलते तथा रक्तमिश्रित दुर्गन्धित स्राव भी हो जाता है। मुह से श्वास लेना, श्वासोच्छवास से दुर्गन्ध आना, घ्राणशक्ति का विकारग्रस्त होकर गन्ध ज्ञान समाप्त हो जाता, जिह्वा दूषित हो जाती है। मुह स्वादरहित हो जाना है। सिर मे दर्द भी हो जाया करता है। रोग की तीव्रता के साथ ही नाक मे कीडे पडने लगते हैं, मवाद बहने लगता है, फलस्वरूप रोगी मानसिक रूप से अव्यवस्थित हो जाता है। नासानाह, विशोषण (खुरण्ट बनना), गन्धज्ञान, रसज्ञान का पूर्णतया अभाव, प्रक्लेद (नासा का गाढे स्राव से भरा रहना), मुख तथा नासिका से दुर्गन्ध आना, कभी कभी यह दुर्गन्ध इतनी अधिक होती है कि रोगी किसी के पास बैठ नही पाता।

१ वातज—नासावरोध, उसमे थोडा पतला गर्म स्राव गिरे। मुह से घो घो शब्द, कनपटी दुखे, ओष्ठ, गला, तालू सूखे।

२. पित्तज—नाक मे दाह, पीलापन लिए गर्म, पानी जैसा स्राव, शरीर कृश, गर्म, मन्द होना।

३. कफज—आंखो के ऊपर सूजन, मस्तक भारी, गला, तालू, ओष्ठ मे खुजली हो, शरीर सफेद हो जाय तथा नाक से गाढा सफेद कफ बहुत गिरे।

४ सन्निपातज—जिसकी नाक मे वात, पित्त, कफ तीनो के पीछे कहे गये सभी लक्षण मिले। यह पीनस बारम्बार हो, यत्न करने से दूर न हो और न पके।

५ दुष्ट पीनस—नासावरोध, नाक कभी खुल जाय कभी रुक जाय, सुगन्ध, दुर्गन्ध का ज्ञान न रहे, नाक झरे, नाक अच्छी तरह श्वास न आवे।

६ रुधिर की पीनस—पित्त के लक्षण, नासामार्ग से रक्तस्राव, आंखें लाल हो।

७ असाध्य पीनस— सभी पीनस चिकित्सा न करने, आलस्य से असाध्य हो जाती है।

८ कच्ची पीनस—शरीर कृश, सिर भारी, भोजन मे अरुचि, बहुत थूके, नाक झरे तो कच्ची पीनस समझे।

९ पकी पीनस—नासामार्ग साफ, नाक का कफ गाढा निकले, वाणी साफ बोले, स्वर अच्छा, भूख लगे तो पकी पीनस समझें।

इन ९ भेदो मे पीनस के मुख्यत २ भेद अधिकतर देखने को मिलते हैं—

१ आम पीनस—सिर मे भारीपन, भूख न लगना, स्वर क्षीणता, नाक से पतला स्राव होता हो।

२ परिपक्व पीनस—स्वर, वर्ण ठीक रहता है। लेकिन नासागुहा गाढे कफ से भरी रहती है।

कारण—

पीनस रोग के लक्षणो एव प्रतिश्याय के लक्षणो मे काफी समानता है। दोनो रोगो की उत्पत्ति के कारण भी वेगावरोध, ऋतुओ की विषमता अजीर्ण, धुआ, रात्रि जागरण, अत्यधिक शीतल द्रव्यो का सेवन है। इन्ही लक्षणो को प्रारम्भिक अवस्था मे शमन न करने पर यही

रोग पीनस का रूप धारण कर लेता है। हिकमत मे ३ कारण लिखे है——

१ नाक मे मस्से होने या घाव के पुराने होजाने से

२ छाती, फेफडे या आमाशय मे सडे हुए परमाणु ऊपर चढते है और तालु व गले मे इकट्ठे होकर छेदो द्वारा नाक मे पहुचते हैं जिससे दुर्गन्ध आने लगती है।

३ दिमाग मे जब दुर्गन्धित रतूवत हो जाती है तो वह नाक मे उतर कर वदवू पैदा करती है। इसे ही पूतिनासा वोलते हैं। गले तथा तालु की जड मे जब पित्त और कफ विगड़कर वायु को दूषित करते है तो मु ह और नाक से सटी हुई वदवू आने लगती है।

इसके अतिरिक्त पीनस के प्रमुख और विशेष कारण यह भी हो सकते है—

१ ऐसी परिस्थितिया जिसमे नासा, श्लैष्मकला को सूखा रहना पडता हो। यही अवस्था काफी समय तक रहने के बाद पीनस का रूप धारण कर लेती है।

२, नासा विवरगत उपसर्गजन्य सक्रमण ठीक प्रकार चिकित्सा न करने पर पीनस रोग हो जाता है।

३ नासा के किसी शल्यकर्म के पश्चात सक्रमण।

४. फिरङ्गजन्य सक्रमण से यह रोग हो जाता है।

चिकित्सा——

१ मल्ल सिन्दूर १२५ मि० ग्रा०, अभ्रक भस्म, लौह भस्म ३०-३० मि ग्रा० आर्द्रक स्वरस से प्रात साय।

२ रस सिंदूर १२५ मि०ग्रा० सितोपलादि चूर्ण २ ग्राम, प्रवाल भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म १२५-१२५ मि० ग्रा० प्रात साय वासावलेह के साथ दे।

३ समीरपन्नग रस ७५ मि० ग्रा० प्रात साय आर्द्रक स्वरस से।

४ नाक मे षड्विन्दु तेल १-२ वू द ३ वार डालें।

५ महालक्ष्मी विलास रस (नारदीय) १२५ मि० ग्रा०, हरताल भस्म २५० मि०ग्रा०, सिंगरफ भस्म ४० मि०ग्रा० प्रात साय अद्रक स्वरस से दे। ★

—पृष्ठ २७५ का शेषांश—

(१३) वार-वार होने वाले जुकाम, नजला पर मृगाक रस आधी-आधी रत्ती मधु से प्रात साय दे या रस सिन्दूर, मृगशृङ्ग भस्म, अभ्रक भस्म, लोह भस्म, प्रवाल भस्म ३-३ माशा मिला ले। ३-३ रत्तीदवा शहद मे प्रात साय चाटे। खुश्की हो तो मे चाटे।

(१४) वहते प्रतिश्याय और कफज कास पर कनक वटी जो गुप्तसिद्ध प्रयोगाक चतुर्थ भाग के पृष्ठ ४७६ पर प्रकाशित हुई है बहुत लाभकारी है जिसका योग इस प्रकार है——

शुद्ध कनक (धतूरे) के बीज, सौठ, खुरासानी अजवाइन बराबर लेकर छान शहद मिलाकर २-२ रत्ती की गोलिया बनाकर १-२ गोली दिन मे ३-४ बार गरम जल से या चाय से ले।

इनके अतिरिक्त जाडो मे लक्ष्मी विलास, नारदीय महालक्ष्मी विलास, कफ चिन्तामणि, कफकेतु रस, रससिन्दूर, मकरध्वज, त्रिकुटा आदि लाभ करते हैं। गरमियो मे सितोपलादि चूर्ण, लवगादि चूर्ण,तालीशादि, प्रवाल भस्म आदि प्रयोग करे। च्यवनप्राश का प्रयोग कुछ दिन लगातार करने से प्रतिश्याय, कास, श्वास मे आशातीत लाभ होता है।

(१५) प्रतिश्याय, कास श्वास मे बादाम का प्रयोग अतीव गुणकारी है। इसका प्रयोग जाडो मे हलुआ मे और गर्मियो मे शर्वत के रूप मे करे। विधान यह है—

वादाम का हलुआ बनाने का विधान—बादाम की मीग ५ नग, पोस्त ६ माशे शाम को पानी मे भिगो दे। प्रात काल वादाम की मीग के छिलके उतार कर मीग व पोस्त व ५ कालीमिर्च को सिल पर बारीक पीस पाव भर दूध मे मिलाले। फिर कढाई मे १ तोले घी गरम करे। उसीमे उस दूध को मिलाकर इतना गरम करे कि गाढा हलुआ की शकल का बन जावे। फिर उसमे १ तोला मिश्री मिलाकर सेवन करे।

वादाम का शर्वत बनाने का विधान—छिलका उतारी हुई वादाम की मीग ५ नग, पोस्त ६ माशे, कालीमिर्च ५ लेकर सिल पर वारीक पीस पाव भर पानी मे घोल १ तोले मिश्री मिलालें, बस शर्वत तैयार है। इसे प्रात - काल बनाकर पीये।

पथ्यापथ्य – गेहू, जौ, कुलथी, मू ग, मैंथी, बैगन, परवल, सहिजना, मूली, लहसुन, गरम जल, त्रिकुटा, कटु, लवण, स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थ, हलका भोजन, ये सभी दोषानुसार सेवन करना चाहिए। परन्तु स्नान, क्रोध, मलमूत्र, अधोवायु के वेग को रोकना, शोक करना, द्रव पदार्थ पीना, पृथ्वी पर सोना, ये सभी अपथ्य है। इनको छोड देवे। ★



डा० ओ० पी० वर्मा एम० ए०, डी० एस-सी० ए०

वालको मे होने वाला एक सक्रामक रोग है। इस रोग मे निगलते समय गले मे पीडा, तीव्र ज्वर, गले मे कष्टकारक गाँठे, सूजन, टॉन्सिल की सूजन एव पीव पड जाना आदि लक्षण है। यह बीमारी साधारण होते हुए भी कई बार भयङ्कर हो सकती है। इसका एक मात्र कारण यह है कि हम साधारण रोग समझकर यह धारणा बना लेते है कि बीमारी शीघ्र ही अपने आप ठीक हो जायेगी। यही हमारी भूल है। क्योकि फिर यह कई उपद्रव होकर जीर्ण हो जाती है। फिर इसकी चिकित्सा कष्ट साध्य होती है। इस रोग के कारण वालको मे हृदय रोग (Rheumatic heart disease) और वृक्क मे शोथ (Acute nephritis) जैसे भयङ्कर रोग हो सकते है। यह एक जीवाणु स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलिटिकस (Streptococcus Hemolyticus) से उत्पन्न होता है। इन जीवाणुओ का निवास स्थान प्राय गला, नाक और कभी कभी त्वचा मे होता है। जिन्हे छीकते, खासते या स्पर्श करने पर ये स्वस्थ व्यक्ति मे प्रवेश करके रोग की उत्पत्ति करते है। २ से ५ दिन के अन्दर अन्दर शरीर मे उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होकर स्ट्रेप थ्रोट से पीडित हो जाते है। कभी कभी तो यह देखा गया है कि इस रोग के जीवाणु वाहक रोग फैलाने मे महत्वपूर्ण भूमिका ही नही निभाते है बल्कि रोग को सार्वजनिक सक्रमण की अवस्था मे पहुचा देते है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

सुवह शाम निम्नलिखित औपधियो की व्यवस्था करनी चाहिए—

गौदन्ती भस्म, लक्ष्मी विलास रस १००-१०० ग्राम, हरताल भस्म ५० मि० ग्राम, त्रिभुवन कीर्ति रस ७५ मि० ग्रा० एक मात्रा है। सभी औपधियो को मिलाकर एक मात्रा बनाले। ऐसी मात्राओ का प्रयोग सुवह एव शाम दोनो समय शहद के साथ करे।

भोजन के वाद—वासकासव २ ढक्कन एक मात्रा है, समभाग जल मे। भोजन के आधे घटे वाद दोनो समय औपधि का प्रयोग करे।

रात्रि को - सितोपलादि चूर्ण १/२ ग्राम + च्यवनप्रास २० ग्राम एक मात्रा। रात्रि को एक समय दोनो औपधियो को मिलाकर प्रयोग मे लायें।

एलोपैथिक चिकित्सा—

साधारण अवस्था मे रोगी को पेनिसिलिन के टीके या गोलिया लगातार १० दिन तक खाना इस रोग के जीवाणुओ को नष्ट करने मे पर्याप्त रहती है। लेकिन कुछ दुर्भाग्यपूर्ण मामलो मे दो या तीन सप्ताह वाद ही इन लोगो मे पुन बुखार आना, जोडो मे दर्द, उदर की त्वचा पर गोल लाल चकत्ते बनना, कोहनी की त्वचा पर मटर के दाने की तरह दाने उभरना हृदय रोग और तन्त्रिका तन्त्र मे शोथ के कारण हाथ-पाव का मुडना (Chorea) आदि क्रियाये उत्पन्न हो जाती है। जोडो का दर्द तो इन वालको के इतना तीव्र होता है कि दर्द के कारण हाथ-पाव हिलाना भी दूभर हो जाता है। जोड लाल होकर सूज जाते हैं और एक के वाद एक कई जोडो मे ऐसी व्याधि उत्पन्न होती है। जब रोग हृदय पर प्रभाव करता है तो वालक के सीने मे अधिक धडकन, श्वास लेने मे कठिनाई, विशेपकर चलते या खेलते समय निरन्तर खासी, उदर के ऊपरी भाग मे दर्द होना, मुँह या पाव का सूजनयुक्त होना प्रारम्भ हो जाता है। ऐसी अवस्था असाध्य कही गयी है। इसकी चिकित्सा करना सम्भव नही होता है। हृदय की अगर शल्य चिकित्सा की जाये तो भी सफल चिकित्सा सम्भव नही होती है।

इसी प्रकार स्ट्रेप थ्रोट के दो तीन सप्ताह के वाद कई वालको मे आखो पर सूजन आना, वमन होना, मूत्र की मात्रा का कम होना, बुखार, मूत्र मे रक्त का जाना, काफी के रग का मूत्र जाना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। यह अवस्था वृक्क मे उत्पन्न नेफराइटिस (Acute

—शेषाश पृष्ठ २७३ पर देखे।

कासरोग



वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु० बृह०

विभिन्न प्रकारो की कास चिकित्सा तभी सफलतापूर्वक की जा सकती है, जबकि उसका सही निदान किया जाये। कास चिकित्सा करते समय रोगी के विभिन्न लक्षणो की तरफ भी ध्यान देना नितान्त आवश्यक है।

(१) वातिक कास चिकित्सा—लक्ष्मीविलास रस २५० मि० ग्रा०, चन्द्रामृत रस १२५ मि० ग्रा०, एक मात्रा। सुबह शाम शहद के साथ प्रयोग लानी चाहिए।

(२) पित्तज कास चिकित्सा—सितोपलादि चूर्ण ५०० मि० ग्रा०, शृङ्ग भस्म १२५ मि० ग्रा०, प्रवाल पिष्टी १२५ मि० ग्रा०, एक मात्रा। दिन मे दो से तीन बार तक प्रयुक्त कराये। तब तक औषधि देते रहे जब तक कि कास पूर्णरूपेण ठीक नही हो जाये।

(३) श्लेष्मज कास चिकित्सा—शृङ्गाभ्र १२५ मि० ग्रा०, अभ्रक भस्म १२५ मि० ग्रा०, चन्द्रामृत रस १२५ मि० ग्रा०, एक मात्रा। दिन मे तीन बार शहद के साथ प्रयुक्त कराये।

भोजन के बाद वासकासव २-२ ढक्कन समभाग जल के साथ प्रयुक्त करना चाहिए।

(४) वात पित्तज कास चिकित्सा—कास कर्तरी वटी २ गोली, गोदन्ती भस्म १२५ मि० ग्रा०, सितोपलादि चूर्ण ५०० मि० ग्रा० एक मात्रा। शहद के साथ दिन मे दो वार प्रयुक्त कराये।

भोजन के बाद—च्यवनप्राश १० ग्रा०। १ मात्रा। भोजन के आधा घण्टा बाद १० ग्राम की मात्रा का प्रयोग दोनो समय करना चाहिये।

(५) पित्त-कफज कास चिकित्सा—लवगादि वटी २ गोली, गोदन्ती भस्म १२५ मि० ग्रा०, वासादि वटी २ गोली। एक मात्रा। सुबह-शाम शहद से दे।

भोजन के बाद—द्राक्षादिलेह ५ ग्राम, एक मात्रा। भोजन के आधा घण्टा बाद दोनो समय दे।

(६) त्रिदोषज कास चिकित्सा—सितोपलादि चूर्ण ५०० मि० ग्रा०, लोकनाथ रस १२५ मि० ग्रा०, रसमाणिक्य ७५ मि० ग्रा०। एक मात्रा। सुबह-शाम दोनो समय शहद के साथ प्रयुक्त करे।

भोजन के बाद—व्याघ्री हरीतकी १० ग्राम। एक मात्रा। भोजन के आधा घण्टा बाद व्याघ्री हरीतकी की १० ग्राम की मात्रा सुबह-शाम दोनो समय प्रयोग मे लाने से कफ मुह के द्वारा बाहर निकल जायेगा। बार-बार खासी नही आयेगी एव तीनो दोष शमन होगे।

(७) प्रतिश्यायजन्य कास चिकित्सा—प्रतिश्यायजन्य कास जुकाम के कारण उत्पन्न हो जाती है। इस कास की प्रारम्भ मे ही तुरन्त चिकित्सा व्यवस्था करनी उचित रहती है। अगर इस कास की तुरन्त चिकित्सा नही की जाती है तो यह जीर्ण प्रतिश्यायजन्य कास के साथ अन्य रोगो मे परिवर्तित हो सकती है।

सुबह-शाम शहद के साथ—त्रिभुवनकीर्ति रस १२५ मि० ग्रा०, लक्ष्मीविलास रस १२५ मि० ग्रा०, चन्द्रामृत रस १२५ मि० ग्रा०। एक मात्रा।

खरखरी एव कफ निकालने हेतु—व्योषादि वटी ३ गोली। जब भी खरखरी चने एव खासी चलने लगे तो व्योषादि वटी की गोलियो को मुह मे चूसते रहने से खरखरी एव खासी नहीं आती ह।

(८) निशाकास चिकित्सा—च्यवनप्राश १० ग्राम। एक मात्रा। रात्रि को दे। उसके बाद खदिरादि वटी की दो-तीन गोली मुह मे चूसनी चाहिये।

(९) क्षतज कास चिकित्सा—हरताल भस्म ७५ मि० ग्रा०, अभ्रक भस्म ७५ मि० ग्रा०, महामृगाक १२५ मि० ग्रा०, प्रवाल पचामृत १२५ मि०ग्रा०। एक मात्रा। दिन मे दो बार शहद के साथ दे।

इसमे हरताल भस्म उष्णवीर्य औषधि है। अत सावधानी से प्रयोग मे लानी चाहिये। इसके साथ साथ इसकी मात्रा का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है।

(१०) क्षयज कास चिकित्सा—क्षयज कास सक्रामक कास होती है, अत इस कास की रोकथाम की तुरन्त

व्यवस्था करनी अनिवार्य होती है।

सुबह-शाम शहद के साथ—स्वर्ण वसन्त मालती रस ७५ मि० ग्रा०, सितोपलादि चूर्ण ५०० मि० ग्रा०, चन्द्रामृत रस १२५ मि ग्रा, शृङ्गाराभ्र १२५ मि ग्रा०, अभ्रक भस्म ७५ मि० ग्रा०। एक मात्रा। सुबह-शाम दोनो समय शहद के साथ प्रयुक्त कराये।

भोजन के बाद—द्राक्षारिष्ट ४ ढक्कन–१ मात्रा।

द्राक्षासव के ४ ढक्कन समभाग जल के साथ भोजन के बाद आधा घण्टे के अन्तर से प्रयुक्त करे।

च्यवनप्राश का सेवन भी उत्तम है।

लाक्षणिक चिकित्सा—

कास के साथ अन्य लक्षण होने पर मुख्य औषधि के साथ लाक्षणिक चिकित्सा की औषधि मिलाकर प्रयुक्त करावे—

(१) ज्वर मे- गोदन्ती भस्म १२५ मि० ग्रा०। एक मात्रा। सुबह-शाम मुख्य औषधि के साथ दें।

(२) कमजोरी मे—लोह भस्म १२५ मि० ग्रा०, स्वर्ण वसन्त मालती ७५ मि० ग्रा०। एक मात्रा।

(३) मदाग्नि, अजीर्ण मे—हिग्वाष्टक चूर्ण १ ग्रा० एक मात्रा। आवश्यकतानुसार प्रयुक्त करे।

(४) अतिसार मे—कर्पूर रस २ गोली–१ मात्रा।

(५) मलावरोध एव आन्त्र की शिकायत मे-आरोग्यवर्धिनी वटी २ गोली, टकण भस्म १२५ मि० ग्रा०। एक मात्रा। भोजन के आधा घटा बाद दोनो समय दूध के साथ प्रयोग मे लाये। इसके कब्ज के साथ साथ आव भी शरीर के बाहर निकल जायेगा।

प्रमुख शास्त्रीय औषधियाँ—

१ महामृगाङ्क रस [भै र]—१२५ मि ग्रा, वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

२ चन्द्रामृत रस [भै र]—१२५ मि ग्रा, वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

३ लक्ष्मीविलास रस [भै र]—१२५ मि ग्रा, वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

४ शृङ्गाराभ्र रस [भै र]—१२५ मि ग्रा, वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

५ श्वास कास चिन्तामणि [भै र]—१२५ मि ग्रा, वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

६ समीर पन्नग रस [भै र]—१२५ मि ग्रा, वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

७ लोकनाथ रस [भै र]—१२५ मि ग्रा, वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

८ ताल सिंदूर [र त सा]—१२५ मि ग्रा., वात कफज मे दिन मे २-३ बार।

९ लवङ्गादि वटी [र त सा]—१२५ मि ग्रा, कफपित्तात्मक मे दिन मे २-३ बार।

१० तालीसादि चूर्ण [भै र]—५०० मि ग्रा., वात कफज मे १ से २ बार।

११ सितोपलादि चूर्ण [चरक]—५०० मि ग्रा, पित्तज एव सर्व कास मे १ से २ बार।

१२ मरिचादि वटी [भै र]—५०० मि ग्रा, वात कफज मे १ से २ बार।

१३ कास कर्तरी वटी [भै र]—५०० मि ग्रा, समस्त कास मे १ से २ बार।

१४ कासादि वटी [भै र]—५०० मि ग्रा, समस्त कास मे १ से २ बार।

१५ समशर्कर लौह [भै र]—५०० मि ग्रा, कफज पित्तज मे २-३ बार।

१६ ताप्यादि लौह [भै र]—५०० मि ग्रा, कफज पित्तज मे २-३ बार।

१७ अभ्रक भस्म [र त]—१२५ मि ग्रा, फेफडो की दुर्बलजन्य कास मे १ से २ बार।

१८ गोदन्ती भस्म [र त]—५०० मि ग्रा, पैत्तिक एव ज्वर मे १ से २ बार।

१९ मरिचादि वटी [शा स]—कफज कास मे २ से ४ गोली।

२० व्योषादि वटी [शा स]—कफज कास मे २ से ४ गोली।

२१ हरीतकादि वटी [च द]—कफज कास मे २ से ४ गोली।

२२ खदिरादि वटी [यो र]—कफज कास मे २ से ४ गोली।

२३ लवङ्गादि चूर्ण [भै र]—२-३ ग्राम, वातकफज मे दिन मे २ बार।

२४ वासकारिष्ट [भै र]—१५-२५ मि लि,

वात कफज मे भोजन के बाद ।

२५ व्याघ्री हरीतकी [भै र]—५ से १० ग्रा वात कफज मे भोजन के बाद ।

२६ अगस्त्य हरीतकी [चरक]—५ से १० ग्रा, जीर्ण कास मे ।

२७. च्यवनप्राश [चरक]—५ ग्राम सर्वकासमे २ वार ।

२८ वासावलेह [भै र]—५ ग्रा. कफज मे २ वार ।

२९ द्राक्षादिलेह [चरक]—५ ग्रा पित्तज कास मे २ वार ।

३० कण्टकार्यावलेह [शा स]—५ ग्राम, वात कफज मे २ वार ।

३१ विभीतकावलेह [वै जी]—५ ग्राम, वात कफज मे २ वार ।

३२ भारग्यादि लेह [च द] - ५ ग्राम, वात कफज मे २ वार ।

३३ आर्द्रकावलेह [वै जी] - ५ ग्राम, वात कफज मे २ वार ।

३४ पिप्पल्यादि लेह [चरक]—५ ग्राम, कफज कास मे २ वार ।

३५ वासकारिष्ट [भै र]—१५ से २० मि ग्रा क्षयज कफज मे भोजन के बाद ।

३६ चित्तचन्दिरासव [सि भे मणि]—१५ से २० मि ग्रा, क्षयज कफज मे भोजन के बाद ।

३७ कनकासव [भै र]—१५ से २० मि ग्रा,

३८ द्राक्षारिष्ट [शा स]—१५ से २० मि ग्रा, क्षयज कफज मे भोजन के बाद ।

३९ बब्बूलारिष्ट [शा स]—१५ से २० मि लि, क्षयज कफज मे भोजन के बाद ।

४० पिप्पल्यारिष्ट [भै र]—१५ से २० मि लि, क्षयज कफज मे भोजन के बाद ।

४१ दशमूल पट्फल घृत [भै. र]—५ ग्राम, वात कफज मे १ से २ वार ।

४२ कासमर्यादि घृत [चरक]—५ ग्राम, वातकफज मे १ से २ वार ।

४३ कण्टकारी घृत [चरक]—५ ग्राम, वातकफज मे १ से २ वार ।

४४ पिप्पल्यादि घृत [चरक]—५ ग्रा, वातकफज मे १ से २ वार ।

४५ यवक्षार [र त]—३०० मि ग्रा, वात कफज मे २ से ३ वार ।

४६ अपामार्ग क्षार—[र त]—३०० मि ग्रा, वातकफज मे २ से ३ वार ।

४७ शुद्ध नवसादर [र त]—२५० मि ग्रा, कफ को पतला करने मे ।

एलोपैथिक औषधियां—

इञ्जेक्शन

१ विस्ट्रापेन—मासान्तर्गत दिन मे एक बार ।

२ कैपसूल—टेरामाईसीन २५० मि ग्रा, टेरामाईसीन एस एफ २५० मि ग्रा, लेडरमाईसीन १५० मि ग्रा, गुवामाईसीन २५० मि ग्रा, एलसाईक्लीन २५० मि ग्रा, रेस्टेक्लीन २५० मि ग्रा, होस्टासाईक्लीन २५० मि ग्रा, आदि । २५० मि ग्रा की मात्रा के चार कैपसूल ६-६ घण्टे से दे । ५०० मि ग्रा के कैपसूल १२-१२ घण्टे के अन्तर से दिन मे दो बार ।

३ पेय— निम्न मे से किसी एक को प्रयुक्त करावे—

१ ग्लायकोडीन सीरप, २ सिरोलीन कफ सीरप, ३ केडीस्टीन एक्सपेक्टोरेन्ट, ४ बेनाड्रेल एक्सपेक्टोरेन्ट, ५ एवील एक्सपेक्टोरेन्ट, ६ रेक्सीनेक्स सीरप ।

मात्रा-बडो के लिए सीरप एव एक्सपेक्टोरेन्ट ३-३ ढक्कन दिन मे तीन बार समभाग जल से प्रयोग मे ले ।

बच्चो के लिए

१ टीक्सीलिक्स चिल्ड्रेन कफ लिंक्टस, २ कोरेक्स सीरप, ३ एक्रोमाईसीन ड्राप्स आदि । १-२ ढक्कन दिन मे तीन वार प्रयोग मे लावे । ड्राप्स निम्न प्रकार दे—

१ ६ माह तक ८ से १० बूद ५ से ६ वार तक ।

२ ६ से १२ माह तक १५ से १८ बूंद ५ से ६ वार ।

३ १ से ३ वर्ष तक २५ से ३० बूद ५ से ६ वार ।

टेबलेट – निम्न मे से कोई १ गोली का प्रयोग करे ।

१ डायोनिण्डन, २ कोडिन सल्फेट, ३ पेन्टेड सल्फा, ४ सल्फेनो, ५ सेप्ट्रान, ६ क्वार्टर्न ५०० । १ से ५ तक क्रमाक की औपधियो की गोलियो को १ गोली दिन ३ बार तक प्रयोग मे लाये । क्रमाक ६ की गोली १२-१२ घण्टे से दिन मे दो बार प्रयुक्त करे ।

कुकुर-कास

डा० प्रकाशचन्द्र गगराडे बी एस-सी, डी एच बी, विद्यारत्न. १०/३२ नार्थ टी० टी० नगर, भोपाल (म०प्र०)

यह एक सक्रामक रोग होने के कारण इससे ग्रस्त बालक को अन्त बालको के सम्पर्क मे नही जाने देना चाहिए नही तो इस बीमारी को फैलने का मौका मिल सकता है। साधारणतया यह रोग ७ वर्ष से कम की आयु के बच्चो को होता है किन्तु कभी-२ इसका आक्रमण बडो को भी हो सकता है। इसका कारणभूत जीवाणु हीमोफीलस पर्टु सिस (Haemophylus Pertussis) है। इसे बेसिलस पर्टु सिस भी कहते है।

लक्षण—

कुकुर खासी का प्रारम्भ प्राय सामान्य सर्दी जुकाम से होता है। श्वसन मार्ग मे प्रदाह मे नाक से पानी बहता है। सामान्यत ऐसी अवस्था एक सप्ताह तक रहती है। कभी-कभी दो तीन दिन पश्चात् ही खासी के कठिन दौरे आना प्रारम्भ हो जाते है। इस समय शरीर मे सुस्ती छाई रहती है, हल्का ज्वर भी रहता है। धीरे-२ खासी बढकर एक विशेष प्रकार की सुनाई देने लगती है, मानो कोई कुत्ता खास रहा हो। इस विशेष प्रकार की ध्वनि के कारण ही लोग इसे 'कुकुर-कास' के नाम से पुकारते है। यह ध्वनि सास अन्दर लेते समय उत्पन्न होती है। जब इस खासी का दौरा पडता है उस समय बच्चे की हालत बडी दयनीय होजाती है। बच्चा खासी को रोकने की कोशिश करता है, किन्तु दौरा नही रुकता और सारा शरीर अकड सा जाता है। देखने वाले को लगता है मानो श्वास रुक जायेगा। इसी अवस्था मे बडी तकलीफ के साथ सास लेने पर 'हूप' की आवाज उत्पन्न होती है। बच्चे का चेहरा लाल हो सकता है। आख और नाक मे पानी तथा मुह से थूक मिला हुआ कफ निकलता है। कफ या वमन हो जाने के पश्चात् ही दौरा समाप्त हो जाता है और बच्चा राहत पाता है।

इस प्रकार के दौरे प्रारम्भ मे २-४ बार प्रतिदिन आते है और कुछ दिनो के बाद प्रति घण्टे आधे घण्टे मे आ सकते है। रात्रिकाल मे इनकी सख्या अधिक होती है। दौरा आने के पूर्व ही बच्चे को इसका आभास हो जाता है। खासी के दौरे के अन्त मे वमन होना या कफ निकलकर राहत पाना कुकुर खासी का एक निश्चित लक्षण है। भोजन एव उत्तेजना से खासी आती है और दौरा प्रारम्भ हो जाता है। दो दौरो के मध्य बच्चा अपने को स्वस्थ समझता है। दौरे के डर के मारे बच्चा खाना कम खाता है। अत भोजन व निद्रा की कमी के कारण बच्चे मे कमजोरी आ जाती है। इस रोग का सामान्यत व्याधिकाल ३ से ४ सप्ताह माना गया है। उसके पूर्व इसे खत्म करना एक कठिन कार्य है।

निदान व भविष्य—इस खासी का स्वर विशेष प्रकार का होने के कारण आसानी से निदान किया जा सकता है। आसपास की बस्ती मे अन्य बच्चो का इस रोग से ग्रसित मिलना भी इसके निदान मे सहायक होता है। कफ या वमन पदार्थ मे एच० पर्टु सिस जीवाणु का मिलना भी इसका निदान सुगम करता है। यह बच्चो को जितनी कम आयु मे होता है उतनी ही घातकता अधिक रहती है। कभी कभी श्वासावरोध के कारण मृत्यु भी हो सकती है। कुकुर खासी के पश्चात् कई उपसर्ग उत्पन्न हो सकते हैं। उनमे ब्राको न्यूमोनिया, हर्निया, गुदाभ्रश, स्वरभग, उदरामय, मुह से खून आना आदि प्रधान हैं।

चिकित्सा—

१ अडूसे के पत्तो के १ तोला रस मे छ माशा शहद मिलाकर सुबह शाम चटाने से प्राय हर प्रकार की खासी मे बहुत लाभ होता है।

२ केले के पत्तो को सुखाकर (छाया मे) मिट्टी के बर्तन मे कडो मे जलाकर भस्म बनाये। एक रत्ती की मात्रा मे शहद या मलाई मे मिलाकर ३-४ बार चटावे।

३ मुलहठी घन सत्व का प्रयोग करे।

४ कासहारी पेय–हर प्रकार की हर खासी को दूर करने वाली, एक अनुभूत एव प्रशसित अद्वितीय औषधि है। यह महत्वपूर्ण आयुर्वेदिक द्रव्यो से निर्मित होती है।

—शेषाश पृष्ठ २८४ पर देखे।

कुक्कुर कास की सरल चिकित्सा

श्री वेदमित्र आर्य ए० एम० बी० एस०



कुक्कुर कास रुक्ष काम (वातज) के अन्तर्गत आती है अत इसमे वात की प्रधानता रहती है। चरक चिकित्सा अध्याय १८ मे वातिक कास की चिकित्सा का सूत्र निम्न प्रकार बतलाया है—

रूक्षस्यानिलजं कास स्नैहरुपाचरेत् ।
सर्पिर्भिर्वस्तिभि पेयायूष क्षीररसादिभिः ॥
वातघ्नसिद्धैः स्नेहर्धू पूमर्लेहैश्च युक्तिता ।
अभ्यङ्ग परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धियम् ॥

अर्थात् रूक्ष वातज कास मे स्नेहो से उपचार करना चाहिए। रोगी को घृत सेवन करायें, वस्ति दे। पेया यूष क्षीर, मासरस आहार रूप मे दे सकते हैं। वातघ्न औषधियो से सिद्ध स्नेह, औषधि, धूम, लेह आदि तथा अभ्यग, परिषेक, स्निग्ध स्वेदो का प्रयोग कराना चाहिये।

रोगी बालको को ६ सप्ताह तक अन्य बालको से अलग रखे तथा खुले हुए हवादार कमरे में रखने से लाभ होता है। कमरे मे अधिक शीतलता या अधिक उष्णता नही होनी चाहिए। यदि इसके साथ ही ज्वर भी हो तो शय्या पर पूर्ण विश्राम कराना चाहिए। छाती को ढके रहना चाहिए।

औषधि—

निम्न औषधियो मे से किसी एक को चुनकर बालक की अवस्थानुसार प्रयोग करावें—

१ तालीसादी चूर्ण १ माशा, अर्क मूलत्वक आधी रत्ती, घृत तथा मधु मिलाकर प्रात साय सेवन कराने से लाभ होता है।

२ काकडासिगी १ तोला, नागरमोथा १ तोला, अतीस १ तोला, कपडछन चूर्ण कर ४ रत्ती मधु से प्रात साय दे।

३ अडूसा २ तोला, द्राक्षा २ तोला, हरड २ तोला पीपल २ तोला, सभी का कपडछन चूर्ण करके ४ रत्ती प्रात साय मधु मे दे।

४ शुण्ठी, मरिच, सैन्धव, गुड प्रत्येक २-२ रत्ती जल २ तोला, आधा तोला जल शेष रहने पर क्वाथ को छानकर मधु मिलाकर पिलाये। अत्यन्त उपयोगी है।

५ वासा के पीले ताजे पत्र साफ कर भवके मे ऊपर तक भर लेवे। मदाग्नि द्वारा वाष्प को परिस्रुत करले। फिर इस परिस्रुत अर्क के बराबर शुद्ध मधु मिलाकर रखले। इसे ६ माशा बालक की आयु अनुसार प्रयोग करे। आश्चर्यजनक लाभ प्रतीत होगा।

६ छोटी कटेली का क्वाथ कर शहद मिलाकर पिलाने से तीव्र आवेग नष्ट होता है।

७ कटकारी घृत, अमृतप्राश लेह, श्लेष्मातक अवलेह इनमे से किसी एक का प्रयोग कराना भी लाभप्रद होता है।

८ कस्तूरी—१/८ रत्ती मधु या दुग्ध के साथ देने से अति लाभ होता है।

९ बालरोगातक रस १ वटी प्रात साय मधु से देना लाभप्रद है।

१० सन्यासी प्रयोग—

यह एक साधारण सा योग है किंतु मैने अपने चिकित्सालय मे अनेको बालको पर प्रयोग करके आशातीत लाभ उठाया है। आशा है पाठक गण भी प्रयोग कर लाभ उठाये—

मकई का दाने रहित भुट्टा (छूछ) के बीच मे एक छिद्र करले। एक ओर गीला आटा लगाकर बन्द कर दे दूसरी ओर पिसा हुआ शुद्ध सेंधव चूर्ण को दूसरे छिद्र से से भर दे। इस ओर भी आटा लगाकर बन्द कर दे। तदन्तर अग्नि मे जला ले। जब पूरा जल जाये तब खरल मे रखकर पीस ले। १-२ रत्ती की मात्रा मे मधु से तीन बार चाटने को दे।



कर्णमूलिक शोथ

पर्याय—हप्पु, औपसर्गिक कर्णमूलिक शोथ (Mumps), कनफेड

व्याख्या—यह एक औपसर्गिक रोग हे जिसमे कर्णमूलिक लालाग्रन्थियो का शोथ होता हे, ज्वरादि सार्वदैहिक सौम्य लक्षण होते हे और पुरुषो मे वृषणो मे शोथ उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है।

हेतु—यह रोग शहरो मे तथा घनी वस्तियो मे बसन्त और शरद ऋतु मे होता है। ५-२५ उम्र के बालक और नौजवान इससे अधिक, शिशु और बूढे कम पीडित होते हे। स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक होता हे। इसका उपसर्ग अधिकतर पाठशाला, छात्रालय, जेल इत्यादि स्थानो मे शुरू होता हे और प्राय वही मर्यादित रहता हे। इसका कारण एक विषाणु हे।

सक्रमण—रोग प्रकट होने से पहले कुछ दिन रोग के कारणभूत विषाणु रोगी की लाला मे उपस्थित रहते है जो खासते छीकते समय हवा मे लाला कणो के साथ उडकर समीपस्थ मनुष्य पर आक्रमण करते है। क्वचित् लाला दूषित पदार्थो से भी इनका सवहन हो सकता हे।

प्रतिषेध—रोग के प्रारम्भ से रोगी को हवादार कमरे मे गले की सूजन पूर्णतया बैठ जाने के बाद एक सप्ताह तक पृथक् रखना चाहिये। रोगी के साथ सम्बन्ध मे आये हुए लोगो को अगर वे पहले इससे पीडित न हुए हो तो चार सप्ताह तक अलग रखना चाहिए। उपसर्गनाशक द्रव्य से मुख की सफाई रखनी चाहिए।

चिकित्सा—

(१) धत्तूरमूल २ तोला, सेधा नमक ४ रत्ती को जल के साथ पीस किंचित गरमकर दिन मे ३-४ वार शोथ पर लगावें। शोथ नष्ट होता हे।

(२) मैनसिल, कूठ, हल्दी, हरताल देवदारु सब समभाग लेकर जल के साथ पीस किंचित गरम कर शोथ पर ३-४ बार लगावें।

(३) गरम जल मे तारपीन का तेल डाल मोटा कपडा या तौलिया भिगोकर पानी निचोडकर सुहाता-२ वाष्प स्वेद करना लाभकारी होता है।

(४) वेलाडोना प्लास्टर या वी आई फ्लोजिस्टीन प्लास्टर कनपेडू पर चिपका दे।

(५) एक्रोमाइसीन, टेरामाइसीन, डाइक्रिस्टीसिन ओम्नेसिलीन के इन्जेक्शन या कैपसूल दे।

(६) दर्द के लिए नोवाल्जिन, सिवाल्जिन, कोडोपायरिन, इरगापाइरीन इत्यादि गोलिया देनी चाहिये।

—पृष्ठ २८२ का शेषांश—

५ श्वासहारी कैपसूल अल्प मात्रा मे शहद मे चटाने से लाभ होता है।

६ सितोपलादि चूर्ण ४ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती प्रात साय शहद से या कासहारी शर्बत से चटाये।

७ मक्के के भुट्टे की पूछ को जलाकर नमक और यवानी सत्व १/१६ भाग मिलाकर उचित मात्रा मे दिन मे २-३ बार मधु से चटाने से बहुत लाभ होता है।

८ कुक्कर कासहर मिश्रण—प्रवाल पिष्टी और श्रृङ्ग भस्म १०-१० तोले, गौदन्ती भस्म, बशलोचन और गिलोय सत्व ५-५ तोले, छोटी इलायची के बीज २॥ तोले लेवे। पहले बशलोचन और छोटी इलायची के दानो को अच्छी तरह खरल कर एकजीव कर ले। फिर शेष औषधियो को मिलाकर खरल कर ले। १ से २ रत्ती दिन मे ३-४ बार शर्बत बनफशा या मधु के साथ देवे।

९ इफीड्रेक्स (Ephedrex), क्लोरोमाइसेटीन, पामीटेड विथ विटामिन बी कम्पलेक्स, जेफ्रोल सीरप, सीरप पर्टुसिस, सिन्थोमाइसेटीन सीरप, हुपको-इत्यादि दे।

१० पर्टुसिस मिक्स वैक्सीन, हूपिंग कफ वैक्सीन का उपयोग बहुत लाभकारी है। पहले चौथाई सी सी, दूसरे दिन आधी सी सी मास मे तथा बाद मे एक सी सी हर तीसरे दिन देवे।

'रक्त परिभ्रमण संस्थान की संक्रामक व्याधियाँ

डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र एम० डी० (आयु०)



श्री डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र 'धन्वन्तरि' के 'शिशु उदर रोग चिकित्साक' का सफल सम्पादन कर चुके हैं। आपका सहयोग 'धन्वन्तरि' के प्रत्येक विशाल विशेषाक मे प्राप्त हुआ है। इस प्रस्तुत ग्रन्थ मे आपके तीन लेख हैं। आप आयुर्वेद जगत के नवोदित विद्वान लेखक हैं तथा भविष्य मे भी आयुर्वेद जगत को आपसे काफी अपेक्षायें हैं। अभी अभी आपकी लिखी रावण प्रणीत 'कुमार तन्त्रम्' टीका सहित श्री निर्मल आयुर्वेद सस्थान से प्रकाशित की गई है जोकि बाल रोगो पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। आशा है कि इस छोटे से लेख से पाठक लाभान्वित होगे। —डा० दाऊदयाल गर्ग।

शरीर के विभिन्न सस्थानों मे मस्तिष्क एव केन्द्रीय नाडी तत्र के पश्चात सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव विस्तृत सस्थान 'रक्त परिभ्रमण सस्थान' ही है। इनके अन्तर्गत विभिन्न रोगो का सक्रमण होता है, जिन्हे पूर्णरूप से एक लेख की परिधि मे बाधना कठिन ही है। अत इस आलेख मे हम परिचय मात्र ही दे रहे है।

रक्त परिभ्रमण संस्थान के विभिन्न प्रमुख अवयव—

जैसाकि चित्र स० २ मे दिखाया गया है। हृदय के विभिन्न कोष्ठ एव आवरण, महाधमनी, धमनी, केशिकायें तथा शिरा एव महाशिरा ही प्रमुख अवयव है। इन अवयवो के अनुसार सक्रामक व्याधियो का वर्णन निम्नवत है—

१. विषाणुजन्य—रोमान्तिका, शीतला या खसरा।

२ कुन्तलाणु—उपदश या फिरङ्ग रोग (Spirochaeta pallida, Treponema pallidum)

३ मालागोलाणु—स्ट्रेप्टोकोकस

४ पूयोत्पादक—स्तवक गोलाणु (Staphylococcus), प्रसूत ज्वर, फुफ्फुस गोलाणु, अस्थिमज्जा शोथ

५ ग्राम निगेटिव जीवाणु—Ps aerogenosa, Klebsellae, Escherichia, Salmonella, Shigella आदि

६ फफुद (Fungus)—कैंडीडा, हिस्टोप्लाज्मा आदि

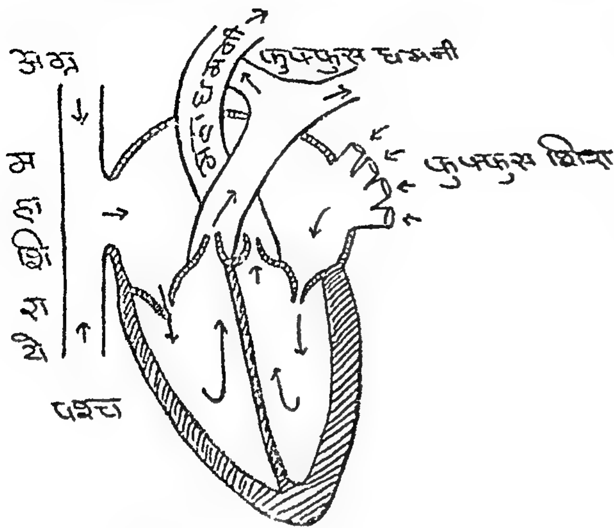
७ अन्य—सुजाक आदि

८ रोहिणी (डिफ्थीरिया)

९ परजीवीजन्य—लीशमैन डोनोमनी बाडीज, टोक्सोप्लाज्मोसिस

लगभग इतने प्रकार के सक्रमण रक्त परिभ्रमण सस्थान को कही न कही से प्रभावी करते है। अब हम यह जानने का यत्न करेगे कि इनसे होने वाली कौन-

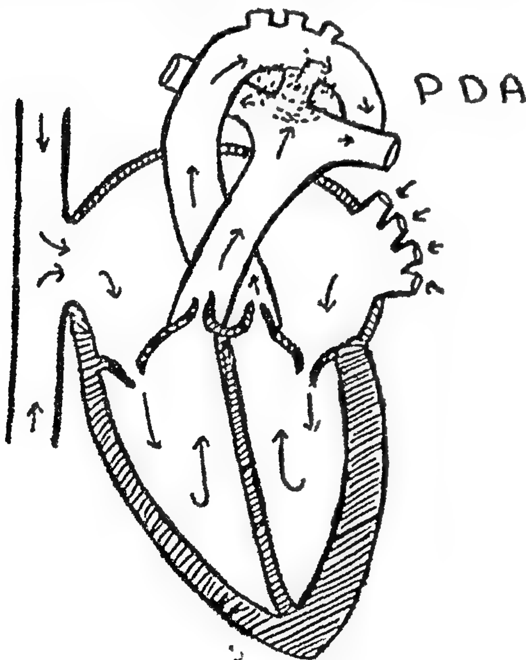




२ रक्त परिभ्रमण सस्थान

कौन सी व्याधिया है—

१ सहज हृदय रोग—यदि गर्भिणी को प्रथम ३ माह मे रोमान्तिका या खसरा हो जाता है तो उसके परिणामस्वरूप गर्भ के हृदय मे Patent ductus arteriosus नामक व्याधि होने की अधिक सम्भावना रहती



चित्र सं० ३

है। प्रमुख रूप मे प्रथम सप्ताह मे खसरा होने पर ५०% गर्भ मे यह सभावना व्याप्त हो जाती है। इस व्याधि मे फुफ्फुस धमनी तथा महाधमनी को गर्भकाल मे जोडने वाली सन्धि (Shunt), जो गर्भकाल मे कार्यरत रहती है। जन्म के बाद बन्द हो जानी चाहिए, बन्द नही होती और रक्त परिभ्रमण का सामान्य चक्र नही चल पाता।

(चित्र सख्या ३)

२ हृदय एव महाधमनी का फिरङ्ग रोग (उपदंश)—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ जन-जीवन मे शिक्षा की वृद्धि, रोग का सही निदान शीघ्र सभव होने एव उपयुक्त चिकित्सा के होने से इसकी प्रतिशतता काफी छट गयी है। इसके कारणस्वरूप जीवाणुओ की गणना पहले ही की जा चुकी है। ३५ से ५५ वर्ष के मध्य होने वाली पुरुष वर्ग मे अधिकता मे होती है। (३ १)

लक्षण के आधार पर इसे ५ वर्गों मे बाट सकते है—

[क] उपद्रवरहित उपदशजन्य महाधमनी शोथ

[ख] हृदय की धमनी मुख सकोच

[ग] उपदशजन्य महाधमनी कार्याक्षमता

[घ] महाधमनी अर्बुद (Aneurysm of Aorta]

[ङ] गोदार्बुद हृदयस्थ (Gummatous myocarditis)

३ आमवातजन्य हृदयविकार—हृदय से सक्रमणजन्य होने वाली व्याधियो मे सर्वाधिक घातक, तीव्रस्वरूप हृदय शोथ, आमवातज ज्वर एव हृदय के कपाटो मे विकार हो जाया करते हैं। प्राय यह व्याधि ४० वर्ष की पूर्व की वय मे हुआ करती है। इस अवस्था मे ही पुरुष वर्ग (३ २) अधिक प्रभावी होता है।

Group A Beta haemolytic Streptococcus भी इस बीमारी का एक प्रमुख कारण माना जाता है। इस तरह का सक्रमण प्राय बच्चो मे सामान्य होता है। क्योकि ठटक लगना, भीडभाड के स्थानो पर जाना, कुपोषण सामान्य कारण बनते हैं।

क तीव्रस्वरूप हृदयशोथ

ख जीर्णस्वरूप हृदयशोथ

इसके अन्तर्गत विभिन्न हृदय कपाट विकारो का समावेश होता है।

अ द्विदल कपाट कार्याक्षमता—प्राय यह आमवातिक हृदयावरण शोथ के बाद ही होता है। अन्य कारणो मे उपदश भी है।

आ द्विदल कपाट सकोच—यह भी प्राय आमवात हृदयावरण शोथ के बाद होता है। अन्य कारणो से या सहज भी हो सकता है।

इ महाधमनी कार्यक्षमता—प्राय यौवनकाल मे आमवातजन्य, मध्यकाल मे फिरङ्गजन्य व्याधि होती है।

ई महाधमनी मुख सकोच (Aortic Stenosis)—प्राय आमवातिक हृदयावरण शोथ के बाद ही यह अवस्था आती है।

४ हृद अंत शोथ (Endocarditis)—जिस व्याधि मे हृदय की अत कला का प्रफलन (Proliferation) या निर्यास युक्त शोथ हो जाता है। इनका प्रभाव कपाटो की अत कला पर, हृदय कोष्ठो की अंत कला आदि किसी पर भी पड़ सकता है।

नैदानकीय वर्गीकरण—

(क) आमवात जन्य हृदय अत शोथ

(ख) जीवाणु जन्य हृदअत शोथ

(अ) तीव्र स्वरूप

(ब) जीर्ण स्वरूप

(ग) विशिष्ट मशकाकार हृद् अत शोथ (Atypical Verrucous Endocarditis)

(घ) यक्ष्मा जन्य हृदअत शोथ

(ङ) जीवाणु रहित घनात्मक हृद् अत शोथ (Non-bacterial thrombotic Endocarditis)

(च) फिरङ्ग रोग जन्य

(छ) अन्य कारण जन्य

तीव्र स्वरूप जीवाणु जन्य हृद् अत शोथ का कारण पूयोत्पादक जीवाणु बनते है। जो प्राय प्रसूत ज्वर मे, फुफ्फुस पाक अस्थिमज्जा शोथ सक्रमण स्तवकगोलाणुज विद्रधि या पीडिका की अवस्था मे ही पैदा होता है।

जीर्ण स्वरूप हृद् अत:शोथ के कारणो की लिस्ट बडी लम्बी है—

[१] माला गोलाणु

[२] स्तवक गोलाणु

[३] ग्राम निगेटिव जीवाणु

[४] फुफूदी

[५] अन्य (R burnetti, Bacteroides, Gonococcus, Pneumococcus)

[६] मिश्रित सक्रमण

विशिष्ट मशकाकार हृद अत शोथ को Systemic lupus erythematosus जन्य माना जाता है। अन्य दोनो भेदो मे राजयक्ष्मा एव उपदश भी कारण होता है।

५ हृतमामपेशी शोथ—इसके कारणो मे सक्रामकता के विचार से रोहिणी जीवाणु, विषाणु का विशेष उल्लेख है। माला गोलाणु, फुफ्फुस गोलाणु एव चेचक विषाणु विशिष्ट है।

६ हृदय पर परजीवी, फुफूद आदि का प्रभाव—एल डी बाडीज नामक कृमि हृदय मे याअन्य स्थानो पर वृद्धि को प्राप्त कर विभिन्न प्रकार के तीव्र स्वरूप या जीर्ण स्वरूप की व्याधि पैदा करता है। हृदमामपेशी पर ट्रिकीनियोसिस एव हायडेटिड सिस्ट का प्रभाव पडता है। टोक्सो-प्लाज्मोसिस होती है।

उसी प्रकार हृदयमामपेशी शोथ कारक सक्रमण होता है।

७ हृदयावरण शोथ—इसके भी बहुत से कारण है जिनमे प्रमुख फुफ्फुसगोलाणु तथा आमवात जन्य है।

इस प्रकार हम देखते है कि रक्त परिभ्रमण सस्थान मे हृदय की बहुत सी व्याधिया सक्रमण से ही होती है। जिनका मात्र दर्शन ही इस लेख मे कराया जा सका है।

—डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र एम डी [आयुर्वेद बालरोग]
(काशी हिन्दू वि० वि० वाराणसी),
विभागाध्यक्ष—प्रसूति तन्त्र, स्त्रीरोग एव कौमारभृत्य,
बुन्देलखण्ड राजकीय आयु० महाविद्यालय,
झासी—३



❁ जल संत्रास ❁

श्री वैद्य छगनलाल समदर्शी आ० रत्न

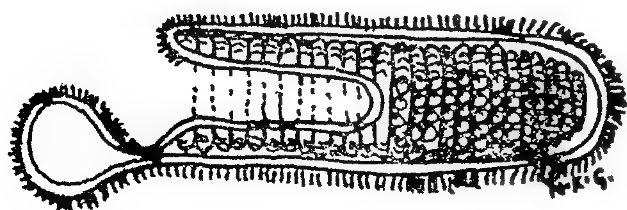
जल सत्रास और हाइड्रोफोबिया दोनो का योगार्थ एक है। रेबीज शब्द यद्यपि हाइड्रोफोबिया का पर्याय करके प्रयुक्त होता है तथापि वास्तव मे यह पर्याय नही है। रेबीज का मतलब कुत्तो का उन्माद है। इसको सस्कृत मे अलर्क कहते है। कुत्ते मे इस रोग से उन्माद अधिक होता है और पेशियो के आक्षेप कम होते है।

पर्याय नाम—जलसत्रास, अलर्क विष रोग, कुत्ते की हडक (Hydrofobia, Rabies)

व्याख्या—कुत्ता तथा तज्जातीय पशुओ का यह एक तीव्र औपसर्गिक रोग है। उसीसे पीडित पशुओ के काटने से मनुष्यो मे सक्रमण होता है।

हेतु—इस रोग का कारण एक सूक्ष्मदर्शकातीत विषाणु है। (देखे चित्र) यह विषाणु रोगी के मस्तिष्क मे और लालाग्रन्थियो मे होता है। अतएव इसका उत्सर्ग लालास्राव मे होता है। यह रोग अधिकतर कुत्ता, गीदड भेडिया, लोमडी, बिल्ली, सियार, बकरी, सूअर आदि प्राणियो मे होता है। इससे मृत प्राणियो के मस्तिष्क मे एक विशेष प्रकार के पिण्ड मिलते है जो नेगरी पिण्ड (Negri Body) कहलाते है।

यह रोग पागल कुत्ता, गीदड, भेडिया विशेषतया कुत्ते के काटने से मनुष्य को होता है। पागल कुत्ते के काटने की अपेक्षा पागल गीदड या भेडिया के काटने से इसके होने का प्रमाण दुगुना अधिक होता है। जब कुत्ता पागल बनता है तब वह बिना कारण भौकता है, दूसरे कुत्तो पर या मनुष्यो पर हमला करता है। बहुत दूर तक



जल सन्त्रास का जीवाणु (Rabies virus)

इधर उधर दौडता है और घास, लकडी, कोयला, पत्थर आदि अनाहार्य चीजो को भी खाता है। रोग के प्रारम्भ से १० दिन मे उसकी मृत्यु होती है। पागल कुत्ते के मुह से लार अधिक टपकती है। इस लार मे ही रोग का विष होता है। काटने पर मुख की लाला दश के छेदो मे गिरती है जिससे रोग का सक्रमण होता है।

सचयकाल—पागल जानवर के काटने पर साधारणतया एक-दो मास मे रोग प्रादुर्भूत होना है। यह काल दशो की सख्या, दश का स्थान और गहराई, दशस्थान पर वस्त्र का होना या न होना इत्यादि अनेक बातो पर न्यूनाधिक (पन्द्रह दिन से तीन वर्ष तक) हुआ करता है।

पागल कुत्ते मे रोगनिदान—

रोग प्रतिषेध की दृष्टि से कुत्ते मे रोग निदान करना बहुत आवश्यक है। यदि कोई जानवर काटे तो उसको बाध रक्खो, जान से मत मारो।

प्रतिषेध—रोग होने पर कोई इलाज नही, परन्तु काटने पर निम्न इलाज करने से प्रतिषेध होता है—

(१) **स्थानिक चिकित्सा**—दश स्थान से रक्त निकलवाकर पश्चात् साबुन के पानी से या रसकर्पूर के (१ १०००) घोल से दशस्थान को साफ धो डालो और अन्त मे भूयिक (नाइट्रिक) का कार्बोलिक अम्ल से या तप्त लोहे से जलवाओ।

प्रत्यालर्क मसूरी (Antirabic Vaccine)—विशेष पद्धति से बनाई हुई मसूरी की १४-२१ सुई प्रतिदिन एक के हिसाब से त्वचा मे दी जाती है। इस टीका से उत्पन्न हुई क्षमता वर्ष सवा वर्ष तक टिकती है।

टीका लगवाने के दिनो मे तथा इसके बाद दस दिन तक मद्य सेवन, अधिक व्यायाम, खेल-कूद इत्यादि थकावट उत्पन्न करने वाले व्यवसाय न करने चाहिये।

परम क्षम लसिका (Hyper immune serum)—अत्यधिक पागल श्वान-शृङ्गाल दष्ट व्यक्तियो मे रोग प्रतिबन्धन मे स्थानिक चिकित्सा और टीका से भी अनेक बार सफलता नही मिलती। उनमे उनके साथ-साथ परमक्षम लसिका भी प्रयोग किया जाने लगा है। इससे रोग प्रतिबन्धन मे ही अधिक सफलता नही अपितु टीका का औषधि क्रम काल भी छोटा कर सकते है। ★

प्लीहोदर पीलिया रोग

कवि०डा० रामकृष्ण उपाध्याय आयुर्वेदतीर्थ, एम० ए० एस० एफ०

कारण एव सम्प्राप्ति—

अशितस्यातिसंक्षोभाद्यानयानातिचेष्टितैः ।
अतिव्यवायभाराध्व वमनव्याधिकर्शनैः ॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात् प्रवर्तते ।
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत ॥

अर्थात् भोजन करने के तुरन्त बाद सवारी पर चढने मे अथवा सवारी पर चढते हुए शारीरिक चेष्टाओ को अधिक मात्रा मे करने मे जिनसे शरीर मे उत्तेजना उत्पन्न हो जाय, अत्यन्त मैथुन करना, अधिक भार ढोना, अधिक पैदल चलना तथा वमन या अन्य किसी भयकर रोग से शरीर के अत्यन्त दुर्बल हो जाने पर उदर के बाये भाग मे रहने वाली प्लीहा अपने स्थान से हटकर वृद्धि को प्राप्त होजाती है । अथवा रस धातु के बढ जाने मे रक्त प्लीहा को बढा देता है । (चरक स उदर चिकित्सा अ० १३)

ल्यूकीमिया नामक रोग मे प्लीहा वृद्धि अत्यधिक हो जाती है तथा श्वेत रक्त कण (W B C) की भी वृद्धि हो जाती है। मलेरिया, टायफायड, कालाजार, राजयक्ष्मा आदि रोगो मे भी प्लीहा वृद्धि हो जाती है परन्तु इसमे श्वेत रक्त कण वृद्धि के बजाय कम होते हैं जिसे ल्यूको-पीनिया कहते है ।

बढी हुई प्लीहा की आकृति—

बढी हुई प्लीहा स्पर्श करने मे कठिन हो व वेदना-रहित तथा कछुए के आकार की उठी हुई दिखाई पडती है । प्रारम्भ मे ही इसकी उचित चिकित्सा व्यवस्था न करने पर यह वृद्धि पाकर कुक्षि, जठर व अग्न्याशय को घेर कर उदर में वृद्धि कर देता है ।

प्लीहा वृद्धि के लक्षण—

श्वासकासपिपासास्यवैरस्याध्मानरुग्ज्वरैः ॥२५॥
पांडुत्वच्छर्दिमूर्च्छार्त्ति दाहमोहैश्च संयुतम ।
अरुणाभं विवर्णं वा नीलहारिद्रराजितम् ॥६॥
उदावर्तरुगानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् । ७॥
प्लीहवद्दक्षिणात्पार्श्वात् कुर्याद्यकृदपि च्युतम् ।

प्लीहा रोगी को श्वास, कास, तृषा, मुख मे विरसता अफरा, शूल, ज्वर, पाण्डु छर्दि, मूर्च्छा, सर्वाङ्ग वेदना, दाह तथा मोह की उत्पत्ति होती है । उदर का वर्ण काला लाल अथवा विकृतवर्ण वाला नीली या हल्दी के समान पीत वर्ण के रेखाओ से युक्त हो जाता है। प्लीहोदर मे भी वात पित्त कफ का सम्बन्ध होता है और जैसे— उदावर्त वेदना व आनाह वात के कारण, मोह, तृषा-दाह तथा ज्वर पित्त के कारण, गुरुता, अरुचि तथा कठोरता कफ के कारण होता है ।

महर्षि चरक ने बताया है कि प्लीहा वृद्धि होने पर दुर्बलता, भोजन मे अरुचि, अजीर्ण, मल मूत्र मे रुकावट, आख के सामने अन्धकार होना, प्यास की अधिकता, अग-मर्द (सर्वाङ्ग वेदना), वमन, मूर्च्छा, अगो मे अवसाद, कास, श्वास, मन्द ज्वर, आनाह, मन्दाग्नि, कृशता, मुख की विरसता, सन्धियों मे पीडा व उदर वायु जन्य पीडा होती है । उदर का ऊपरी भाग रक्त वर्ण विवर्ण हो जाता है तथा नील, हरित और हल्दी के समान पीत वर्ण की रेखाये अस्पष्ट सिराये उभरी हुई दिखाई पडती है ।

दौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रग्रहतम प्रवेशपिपासा-ङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकास श्वास मृदुज्वररानाहाग्नि-नाशकार्श्यास्य वैरस्यपर्व भेद कोष्ठवातशूलानि, अपि चोदरमरुणवर्णविवर्णं वा नीलहरित हारिद्रराजिमद्भ-वति । (च स चि अ. १३)

चिकित्सा—

प्लीहोदर मे वात आदि दोषो का विचार करके विधिपूर्वक स्नेहन एव स्वेदन करना चाहिए । फिर उपयुक्त समय पर उस दिन रोगी को दिन मे दही के साथ भोजन कराकर बाई भुजा की कूर्परगत सिरा का वेध कर रक्त

निकालना चाहिए। रोगी को पुनः शक्ति प्राप्त हो जाने पर पुनः स्नेहन करके विरेचन द्वारा शोधन करना चाहिए। तत्पश्चात् शुक्ति भस्म को दूध के साथ अथवा करञ्ज के क्षार से कांजी में घुलाकर बिड लवण एवं पीपल चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए। या सहजन के छाल का क्वाथ सैंधव लवण, पीपल चूर्ण तथा चित्रक चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए। या हिंग्वादि चूर्ण में यवक्षार एवं घृत मिलाकर सेवन करावें।

पीपल एवं सोंठ १-१ भाग, दन्तीमूल २ भाग हरड़ चूर्ण २ भाग, बिड लवण १/२ भाग—इसे गरम जल के साथ पिलाना चाहिए।

केर के पत्तों को पीसकर और तेल मिलाकर प्लीहा पर बांधकर फिर मूसल से पीडन मर्दन करने से च्युत प्लीहा अपने स्थान पर चली जाती है। इन दिनों केवल रोगी को दूध ही देना चाहिए।

चरक ने भी प्लीहोदर चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, निरूह और अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने को कहा है। इससे लाभ न मिलने पर बांई भुजा में सिरावेध करने को कहा है। सिरावेध कूर्पर के मध्य में करना चाहिए। यथा—

स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम्।
समीक्ष्य कारयेद्बाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम्॥—चरक

सुश्रुत ने भी ऐसा ही निर्देश किया है।

विडङ्गादि क्षार—वायविडंग, चित्रक मूल, सोंठ, सेंधा नमक और बच इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर एक भाग के बराबर गाय का घी मिलाकर नए मिट्टी के सकोरे में बन्दकर कपड़मिट्टी कर देवें। फिर आग में फूंक देवें। इस प्रकार बने क्षार को दूध के साथ प्लीहा या गुल्म रोग में पिलाने से लाभ होता है।

रोहितकादि योग—रोहितक काण्ड को यवकूट कर, हरड़ के क्वाथ में गोमूत्र में सात दिन तक भिगोकर फिर हाथ से मसल कर छान लेना चाहिये। इसके सेवन से कामला गुल्म, प्रमेह, अर्श, प्लीहा एवं सभी प्रकार के उदर रोग ठीक होते हैं। यदि ७ दिन के बदले २१ दिन तक गुड मिला सन्धान करें तो अधिक गुणकारी होता है।

रोहितक घृत—रोहितक त्वक् २५ पल, छोटी बेर २५ इन दोनों को यवकूट कर ४ गुने जल में क्वाथ कर लेना चाहिए। चौथाई शेष रहने पर छानकर उसमें फिर पीपर, पीपरामूल, चव्य, चित्रकमूल और सोंठ प्रत्येक एक पल करके बराबर मिलाकर कल्क बना लेवें। इस क्वाथ और कल्क में एक प्रस्थ गोघृत विधिपूर्वक पाक करें। इससे प्लीहा वृद्धि में शीघ्र शांति होती ही है अन्य उदर रोग भी नाश होते हैं।

बस्ति कर्म—

अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे॥८६॥
पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरबस्तयः।
रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते॥८७॥
यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः।

वात-कफ प्रधान प्लीहोदर में वैद्य को अग्नि से दाह करें। पित्तज प्लीहोदर में जीवनीयगण से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिये। फिर क्षीर प्रधान निरूह बस्ति का प्रयोग, रक्तमोक्षण, वमन द्वारा संशोधन व दुग्धपान कराना चाहिए। तथा अग्नि को दीप्त करने वाले अम्ल, तिक्त कटु रस से युक्त यूष या मांसरस के साथ लघु व सुपाच्य अन्न का सेवन करना चाहिए।

षट्पल घृत—पिप्पली, पिप्पली मूल, चित्रक, सोंठ, यवक्षार, सेंधा नमक इन ६ वस्तुओं को पलभर लेकर एक प्रस्थ घी और एक प्रस्थ दूध लेकर सबको एकत्र पका लें। यही षट्पल घृत है। प्लीहा, गुल्म, अग्निमांद्य आदि उदर रोग निश्चय ही ठीक होते हैं।

इसके अतिरिक्त प्लीहोदर में प्लीहान्तक क्षार चूर्ण, प्लीहान्तक चूर्ण, रोहितारिष्ट, ताम्र भस्म, मण्डूर भस्म, प्लीहान्तक वटी, पर्पटाद्यरिष्ट, कुमार्यासव, अभयारिष्ट, आरोग्यवर्द्धिनी, अश्वकंचुकी रस, नीबूद्राव, उदरामृत योग, लघु शंख द्राव, शंखद्राव व शंख भस्म आदि का भी प्रयोग किया जाता है। कर्कटिका अर्बुद (कैंसर) होने पर प्लीहा को शल्य क्रिया द्वारा निकाल देना चाहिये। श्वेत रक्त कणों की वृद्धि व लाल रक्त कणों की कमी होने पर एक्स-रे का प्रयोग नहीं करना चाहिये। लाल रक्त कण की वृद्धि हेतु लौह एवं विटामिनों के यौगिकों का प्रयोग करना चाहिये। आवश्यकता होने पर रक्त अन्वेचन (रक्त प्रदान) करें। प्लीहा वृद्धि के साथ-२ जीर्ण ज्वर, काला ज्वर आदि अन्य कोई बीमारी हो तो उसकी भी समुचित चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिये।

कामला में औषध एवं पोषण – एक अध्ययन

श्री पी एस अंशुमान एच पी ए रीडर (काय चिकि विभाग), श्री के पी सिह एच पी ए, विभागाध्यक्ष–काय चिकि वि, श्रीमती के० जी० आशरा एम०डी०, व्याख्याता–काय चिकि०वि०, श्री ए० एस० पण्डया बी०एस०ए०एम० डिमोन्स्ट्रेटर–काय चि०विभाग, शेठ जी० प्र० सरकारी आयुर्वेद कालेज, भावनगर [गुज०]

आयुर्वेद के ग्रन्थो मे कामला को स्वतन्त्ररूप से एव पाण्डु मे आनुसगिक रूप से पित्तकर आहार सेवनजन्य रोग के रूप मे वर्णित किया पाया जाता हे ।

आयुर्वेद के वर्णन के आधार पर कामला को निदान सेवन से प्रकुपित पित्त द्वारा रक्त एव मास के विदग्ध होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न माना जाता हे । इसके दो प्रमुख प्रकार माने गये हैं । यथा—

(१) वहुपित्त या कोष्ठाश्रित कामला—इस अवस्था मे पित कोष्ठ मे वढकर कामला करता है । मल-मूत्र मे पित्त वढा मिलता है ।

(२) रुद्धपथ या शाखाश्रित कामला—इस अवस्था मे कफ मिश्रित वायु पित्त को अवरुद्ध कर उसे कोष्ठ से वाहर शाखादि मे फेक (फैला) कर उत्पन्न करते है । इसमे कफादि आवरण द्वारा मार्गावरोध प्रमुख घटना हे । पुरीष मे पित्त की कमी मिलती हे ।

यहा पर कुछ कामला के रोगियो का चिकित्सा वर्णन आहार योजना के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत किया है ।

पद्धति एवं साधन—

इस अध्ययन मे प्रस्तुत आतुर स्थानिक आयुर्वेद कालेज से सलग्न श्रीमती तापीवाई आयुर्वेदिक हास्पीटल भावनगर (गुज०) के काय चिकित्सा विभाग के ओ पी डी /आई पी डी. मे चिकित्सार्थ आये रोगियो मे से लिये गये । रोगविनिश्चय के लिए मूत्र मे बीएसपी उपस्थिति तथा रक्त मे सिरम व्लुरुबीन प्रमाण वृद्धि को आधार मानकर चला गया । साथ ही शास्त्रीय लक्षणो मे से प्राप्त लक्षण भी लिपिवद्ध किये गये ।

औषध के रूप मे—(१) आरोग्यवर्धिनी, पुनर्नवा-मण्डूर, चन्द्रप्रभा, कामलाहर रस एव यकृत्प्लीहारि लोह प्रत्येक २५०-२५० मि ग्रा प्रति मात्रा २ वार गुडूच्यादि या पथ्यादि क्वाथ से ।

(२) कुटकी चूर्ण, पीपर चूर्ण, यवक्षार प्रत्येक ५०० मि ग्रा, लोह भस्म, मण्डूर भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक १२५ मि ग्रा प्रति मात्रा २ वार मधु से ।

(३) त्रिफला चूर्ण ३ ग्राम प्रतिदिन १ वार । पथ्य भोजनादि की योजना निम्नलिखित ढङ्ग से की गई—

(क) १ ग्लूकोज शर्वत एव नीवू २५० मि ली २ या ३ वार ।

२ चने की रोटी या थेपला, ढोकढा आदि १५० से २०० ग्रा तथा लौकी, टिंडोरा आदि शाक उबाले हुए १०० ग्रा प्रतिदिन १ या २ बार आवश्यकतानुसार ।

३ खट्टे मीठे फल, मौसमी आदि १-२ नग या १५०-२०० ग्रा । अथवा—

(ख) १. इक्षुरस या शर्करा शर्वत एव निम्बू २५० मि ली २-३ वार ।

२ मूली की भाजी १०० ग्राम, कढी १-२ कटोरी, भात १ कटोरी, चपाती २-४ नग आवश्यकनानुसार ।

३. फल १५०-२०० ग्राम अगूरादि ।

यह औषध एव पथ्य योजना ३-४ पक्ष तक प्रयोग कर प्रतिपक्ष अवलोकन के आधार पर परिणाम प्राप्त कर यहा प्रस्तुत किये गये है—

चर्चा—इन आतुरो मे उपलब्ध लक्षण नीचे की तालिका मे दर्शाये अनुसार मिले—

क्रम	लक्षण/सदर्भ	कोष्ठाश्रित	शाखाश्रित	उपलब्ध आ.सं.
१	हारिद्र नेत्र (च,अ)	+	+	२०
२	भ्रश हारिद्र त्वक् (च,अ)	+	+	२०
३	हारिद्र नख (च,अ)	+	+	२०
४	हारिद्र आनन (च,अ)	+	+	२०
५	भेक वर्ण (च,अ)	+	—	—
६	हतेन्द्रिय (च,अ)	+	—	—
७	दौर्वल्य (च,अ)	+	(क्रमशः वलक्षय)	२०
	वलक्षय (सु)	—	+	--
८	सदन [शैथिल्य] (च)	+	+	२०
९	तृषा (अ)	+	—	५
१०	दाह (च,अ)	+	+	२
११	तन्द्रा (सु)	+	—	३
१२	अग्निमाद्य (च)	—	+	१२
१३	अविपाक	+	+	१२
१४	अरोचक	+	+	१२
१५	हृद्गौरव (च)	—	+	१२
१६	पार्श्वशूल (च)	—	+	१५
१७	हिक्का (च)	—	+	—
१८	श्वास (च)	—	+	२० (श्रमजनित)
१९	आटोप (च)	—	+	५
२०	विवन्ध (च)	—	+	१२
२१	मल वैवर्ण्य			
	पीत म.प्र. (अ)	+	—	८
	श्वेत म.प्र. (च)	—	+	१२ (यदाकदा)
	तिलपिप्टवत म.प्र (च)	—	+	१२ (यदाकदा)
२२	पीत मूत्र प्र (अ)	+	+	२०
२३	कम्पित	+	—	१८

मूत्र परीक्षा द्वारा सभी मे वी एस पी मौजूद मिला तथा रक्तगत सिरम व्लुरवीन प्रमाण नीचे की तालिका मे दर्शाये अनुसार था। तालिका मे प्रथम, द्वितीय, तृतीय अवलोकन दिये गये है। इनमे से प्रथम चिकित्सारम्भ समय का है। शेष १५-१५ दिन पर परीक्षण द्वारा प्राप्त गणन है।

क्रम	घटक	सि० व्लु० प्रमाण/आतुर न०						
	गणन प्रकार	.२-५	५-८	.९-१५	१६-२५	२६-५	५१-१०	१०१-२०
[क]	प्रथम प०							
	(१) टोटल	०	०	०	५	८	९	२
	(२) डायरेक्ट	०	०	५	३	८	२	०
	(३) इनडायरेक्ट	०	२	६	१	५	१	०
[ख]	द्वितीय प०	१						
	(१) टोटल	१	३	२	१	०	३	०
	(२) डायरेक्ट	५	८	६	१	०	०	०
	(३) इनडायरेक्ट	१४	५	१	०	०	०	०
[ग]	तृतीय प०	०	०	०	०	०	०	०
	(१) टोटल	१४	६	०	०	०	०	०
	(२) डायरेक्ट	१८	२	०	०	०	०	०
	(३) इनडायरेक्ट	१९	१	०	०	०	०	०

[प्रस्तुत स्थल पर प्राकृत प्रमाण इस प्रकार माना गया है—टोटल ०.५ से १.५, १.५–२.५ (शङ्कास्पद), डायरेक्ट ०.१ से ०.८, इनडायरेक्ट ०.३ से ०.५]

—शेषांश पृष्ठ ३१८ पर देखें।

कुष्ठरोग निवारण

वैद्य मोहर सिंह आर्य आयु० बृह०

कुष्ठ सज्ञा—'कुष्णातीति कुष्ठम्' शरीर की त्वचा आदि धातुओ का नाश करने के कारण इस रोग को कुष्ठ कहते है। कुष्ठ शब्द—'कुष्ठ निष्कर्षे' धातु से बना है। कुष्ठ शब्द का सामान्य अर्थ शरीर की धातुओ मे कोथ की उत्पत्ति है। कोथ कुष्ठ का प्रत्यात्म लक्षण कहा है—'कुष्णात्यङ्ग इति कुष्ठम्' यह शरीर के अवयवो पर फूट निकलता हे, उसे विकृत कर देता है। कुप शब्द का सामान्य अर्थ फाडना है। समय पर उचित उपचार न होने से यह रोग सम्पूर्ण शरीर को फाड देता है। अत इस रोग को कुष्ठ कहते हे। और भी पढिये—'कुष्णातिवपु इति कुष्ठम्' शरीर को विकृत करने वाली व्याधि को कुष्ठ कहते है। आचार्य वाग्भट ने लिखा है—

त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्य दुष्टा कुष्णमुशन्तितम् ।
कालेनोवेक्षितम् यस्मात्सर्वं कुष्णातितद्वपु· ।।

— इस रोग मे त्वचा से लेकर गम्भीर धातुओ तक मे विकार उत्पन्न होता हे।

आचार्य चरक, सुश्रुत भेल तथा काश्यप ने कुष्ठ रोग को त्वचा को नष्ट करने वाला स्वीकार किया हे और शरीर को विकृत करने वाला माना है। जैसाकि इसकी सज्ञा से स्पष्ट हे।

पर्याय—१ सस्कृत–कुष्ठ, २ हिन्दी–कोढ, ३. अरबी–ज (जु) जाम, ४ अंग्रेजी–लेप्रोसी (Leprosy)

कुष्ठ का त्रिदोष निदान—

'त्रयोदोषा युगपत प्रकोप आपद्यन्ते'

तीनों दोप एक साथ प्रकुपित हो जाते है।

त्वगाद्यश्चत्वार शैथिल्य आपद्यन्ते'

त्वचा, मास, रक्त और लसीका इन चारो मे प्रविष्ट होकर उनकी क्रिया मे शिथिलता उत्पन्न कर देते है।

तेषु शिथिलेषु त्रयोदोष· प्रकुपित स्थानम् ।
अभिगम्य अवतिष्ठमाना तानेव त्वगादीनम्
दूषयन्त कुष्ठानि अभिनिर्वर्तयन्ति ।।

इन चारो (त्वचा-रक्त-मास-लसीका) के शिथिल होने से प्रकुपित दोष स्थाई रूप से उनमे अवस्थित हो जाते है, जिससे वे चारो ही स्थाई रूपेण दूषित हो जाते है और समय पाकर कुष्ठ रोग को प्रकट करते है।

सभी प्रकार के कुष्ठो मे तीनो दोपो की विकृति होती है, ऐसा चरक, सुश्रुत, भेल एव काश्यप ने स्वीकार किया है। प्रकुपित तीनो दोप चार दूष्यो को विकृत कर कुष्ठ रोग को उत्पन करते हें। कहा भी है—

'कुष्ठाना सप्तको द्रव्य सग्रहा'

कुष्ठ रोग मे विकृत होने वाले त्वचा-मास-रक्त तथा लसीका मे चार दूष्य है। इन दूष्यो पर तीनो दोप आक्रमण कर कुष्ठ उत्पन्न करते हे।

सम्प्राप्ति—

१–वातदयस्त्रयो (दोषा) दुष्टास्त्वग्ररू मासमम्बु च
दूषयन्ति स कुष्ठाना सप्तको द्रव्य संग्रह' ।।
अत· कुष्ठानि जायन्ते सप्तश्चैकादशैव च ।–चरक

अपने प्रकोपक कारणो से वात, पित्त और कफ ये तीनो दोप कुपित होकर त्वचा, रक्त, मास और शरीरस्थ जलीय धातु को दूषित कर देते है। ये ही सब कुष्ठो के उत्पादक कारण है।

२–तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिल प्रवृद्धस्तिर्यग्गा शिरा सम्प्रतिपद्य समुद्भूय बाह्यमार्ग प्रति समन्तात् विक्षिपति। यत्र-यत्र च दोपो विक्षिप्तो नि रसति तत्र-तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति एव उत्पन्नस्त्वचि दोप-स्तत्र तत्र-च परिवृद्धि प्राप्य अप्रतिक्रियमाणो अभ्यन्तर प्रतिपद्यते धातून् दूपयन्। (सुश्रुत)

विशेप वचन—पूर्वोक्त कुष्ठ के बाह्य हेतु कहे गये है। इन बाह्य हेतुओ के सेवन से त्रिदोप (वात-पित्त-कफ) तथा चार दूष्य (त्वचा-रक्त-मास-लसीका) दूषित होकर कुष्ठ रोग को उत्पन्न करते हैं।

एक प्रश्न—रक्त लसीका त्वक् मास दूष्य दोपास्त्र-योमला । विसर्पाणा समुत्पत्तौविज्ञेय सप्त धातव ॥

रक्त, लसिका, त्वचा तथा माम मे दूष्य और वात, पित्त तथा कफ ये तीनो दोप मिलकर सात धातुये विसर्प की उत्पत्ति कराती हे । अर्थात् ४ दूष्य तथा ३ दोप ये ७ विसर्प के कारण हे ।

'वातादयस्त्रयो, दुष्टास्त्वगवत मामसम्बु च ।'

तीन दोष और चार दूष्य मिलकर कुष्ठ की उत्पत्ति कराते हे ।

विसर्प तथा कुष्ठ के उत्पादक हेतु द्रव्य सप्तक ह । प्रश्न हे—फिर इन दोनो मे भेद क्या है ?

उत्तर→मापेक्ष निदान

कुष्ठ	विसर्प
१ कुष्ठ चिरक्रिया वाले है ।	१ विसर्प अचिरक्रिया वाले हैं ।
२ स्थिर एव निर्बल रक्त पित्त वाले दोपोसे हे ।	२ विसर्पण शील प्रबल रक्तपित्त वाले दोपो से होता ह ।
३ कुष्ठ के हेतु गुरु की अवज्ञा तथा चोरी आदि कहे है ।	३. विसर्प के हेतुओ मे ऐसा कथन नही हे ।
४ कुष्ठ त्रिदोपज ही होता है ।	४ विसर्प १-१ दोपज भी होता है ।

कुष्ठ सख्या—

'कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च'

कुष्ठ अठारह प्रकार के होते है—

विशेप वचन—चिकित्सा की सुविधा के लिये कुष्ठ के १८ भेद माने ह । अन्यथा आचार्य चरक ने निदान-स्थान मे कुष्ठो की सख्या अपरिगणित कही ह । यथा—'स सप्तविधोऽष्टदशविधोऽसख्येयविधो वा भवति ।' वह कुष्ठ सात, अठारह प्रकार का तथा असख्य प्रकार का होता है ।

'सप्त महाकुष्ठानि' सात महाकुष्ठ होते है ।

'एकादश क्षुद्रकुष्ठानि' ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ होते है ।

'एवमष्टादशकुष्ठानि भवन्ति' इस प्रकार कुल मिला कर १८ प्रकार के कुष्ठ होते है ।और भी—

'एतान्यष्टादशोक्तानि कुष्ठानि' (मन)

आयुर्वेद वाङ्मय मे सुश्रुत ने सात महाकुष्ठ और ११ क्षुद्र कुष्ठो का वर्णन उपलब्ध है ।

चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शार्ङ्गधर, भावमिश्र, माधव, काश्यप, भेल सभी आचार्यो ने कुष्ठ सख्या १८ मानी है ।

कुष्ठ नामानि

चरक	सुश्रुत	वाग्भट	काश्यप
महाकुष्ठ ७			
१ कपाल	१ अरुण	१ कपाल	१. सिध्म
२ औदुम्बर	२ औदुम्बर	२. औदुम्बर	२. विचर्चिका
३ मण्डल	३ ऋष्यजिह्वक	३. मण्डल	३ पामा
४ ऋष्यजिह्व	४ कपाल	४ ऋष्यजिह्व	४ दद्रु
५ पुण्डरीक	५. काकणक	५ पुण्डरीक	५ औदुम्बर
६ सिध्म	६ पुण्डरीक	६ दद्रु	६ कपाल
७ काकणक	७. दद्रु	७ काकणक	७ स्थूलारुष्क
क्षुद्र कुष्ठ ११			
१ एक कुष्ठ	१. स्थूलारुष्क	१ एक कुष्ठ	१. मण्डल
२ चर्म कुष्ठ	२ महाकुष्ठ	२ चर्मकुष्ठ	२ विपज
३ किटिभ	३ एक कुष्ठ	३ किटिभ	३ पौण्डरीक
४ विपादिका	४ चर्मदल	४ विपादिका	४ श्वित्र
५ अलसक	५ विसर्प	५ अलसक	५ ऋष्यजिह्व
६ दद्रु	६ परिसर्प	६ सिध्म	६ शतारु
७ पामा	७ पामा	७ पामा	७. औदुम्बर
८ विस्फोटक	८ सिध्म	८ विस्फोटक	८ काकणक
९ शतारु	९ किटिभ	९ शतारु	९ चर्मदल
१० विचर्चिका	१० विचर्चिका	१०.विचर्चिका	१० एककुष्ठ
११ चर्मदल	११ रकसा	११ चर्मदल	११ विपादिका

विशेप वचन—सिध्म को Pityriasis versicolor, किटिभ को Psoriasis, विपादिका को Rhagabs दद्रु को Ringworm पामा को Eczema शतारु को Rupia विर्चिचिका को Pemphigus चर्मदल को Zeroderma, और श्वित्र को Leucoderma कहते है ।

[१] चारो सहिताओ मे १८ प्रकार के माने है किंतु नामकरण मे अन्तर हे ।

[२] चरक ने सिध्म को महाकुष्ठ तथा सुश्रुत ने क्षुद्र कुष्ठ लिखा है ।

[३] सुश्रुत ने दद्रु को महाकुष्ठ और चरक ने क्षुद्र कुष्ठ लिखा है।

[४] चरक मे महाकुष्ठ नाम का कोई कुष्ठ नही है, सुश्रुत ने क्षुद्र कुष्ठो में एक महाकुष्ठ पढा है।

[५] सुश्रुत के अतिरिक्त अन्य तीन सहिताओ मे अरुण का उल्लेख नही है। मण्डल का वर्णन सुश्रुत मे नही है।

[६] वाग्भट ने दद्रु को महाकुष्ठ तथा सिध्म को क्षुद्र लिखा है।

[७] चरक मे स्थूलारु, विषज तथा श्वित्र का उल्लेख भेदो मे नही है।

[८] काश्यप मे चर्माख्य अलसक तथा विस्फोट का वर्णन नही है।

[९] काश्यप ने श्वित्र का वर्णन कुष्ठो मे किया है किन्तु चरक मे श्वित्र का वर्णन पृथक् किया है।

[१०] चरक ने दारुण, चारुण तथा श्वित्र तीन भेद किये है। सुश्रुत ने दोषानुसार श्वित्र के ३ भेद किये है।

दोषानुसार कुष्ठ भेद सारणी

१ वात प्रधान—कपाल (चरक), अरुण (सुश्रुत)
पित्त प्रधान—औदुम्वर (चरक) औदुम्वर (सुश्रुत)
कफ प्रधान—मडल (चरक), मडल (सुश्रुत)

२ वातपित्ताधिक्य—ऋष्यजिह्व (चरक), ऋष्यजिह्व (सुश्रुत) पित्त प्रधान मानता है। पुण्डरीक को सुश्रुत श्लेष्म प्रधान मानता है।
पित्तश्लेष्माधिक्य कफ वान—पुण्डरीक (च) सिध्म
सर्व दोपज—काकणक

३ चरक	सुश्रुत
१ औदुम्वर (पित्तज)	१ उदुम्वर पित्तज
२ कपाल (वातज)	२ अरुण (वातज)
३ मण्डल (कफल)	३ ऋष्यजिह्व (पित्तज)
४ ऋष्यजिह्व (वातपित्तज)	४ कपाल (पित्तज)
५ पुण्डरीक (कफपित्तज)	५ काकणक (पित्तज)
६ सिध्म (वातकफज)	६ पुण्डरीक (कफज)
७ काकणक (त्रिदोपज)	७ दद्रु (कफज)

सभी कुष्ठो को सभी आचार्यो ने त्रिदोपज माना है। फिर भी दोप विशेप कुष्ठ विशेप के लक्षणो का ज्ञान होता है।

एकादश क्षुद्र कुष्ठ दोपानुसार

चरक		सुश्रुत	
एक कुष्ठ	(वातकफज)	एक कुष्ठ	(कफज)
चर्माख्य	"	स्थूलारुष्क	"
किटिभ	"	किटिभ	(पित्तज)
वैपादिका	"	महाकुष्ठ	(कफज)
अलसक	"	विसर्प	(पित्तज)
दद्रु	(कफपित्तज)	परिसर्प	(वातज)
चर्मदल	(पित्तकफ)	चर्मदल	(पित्तज)
पामा	"	पामा	"
विस्फोट	"	सिध्म	(कफज)
शतारु	"	रकसा	"
विचर्चिका	(कफज)	विचर्चिका	(पित्तज)

चरक ने वातज कुष्ठ १, पित्तज १, कफज २, त्रिदोपज १, वातपित्तज ६, कफपित्तज ६ तथा वातकफज १ माना है। सुश्रुत ने वातज २, पित्तज ६, कफज ७ कुष्ठ माने है।

कुष्ठ के पूर्वरूप

		चरक	सुश्रुत	काश्यप
१	अस्वेदनम्	+	+	×
२.	अतिस्वेदनम्	+	+	+
३.	पारुष्य	+	+	×
४	अतिश्लक्ष्णता	+	×	+
५	वैवर्ण्य	+	×	+
६	कण्डू	+	+	×
७	निस्तोद	+	×	×
८	सुप्तता	+	+	×
९	परिदाह	+	×	×
१०	परिहर्ष	+	+	+
११	लोमहर्ष	+	+	+
१२	खरत्व	+	×	+
१३	उष्मायण	+	×	×
१४	गौरव	+	+	+
१५	श्वयथु	+	×	+
१६	विसर्पाश्मनम्	+	+	+
१७	कायछिद्रे पुऽवदेह	+	×	×
१८	पक्वदग्ध दृष्टक्षतभम	+	×	+

आचार्य काश्यप ने निम्न तीन लक्षण और लिखे हैं—

१ अलीन, २ उष्णोच्छ्रित वृद्धि, ३ अनेक सस्थान मडल

आचार्य भेल ने निम्न दो लक्षण और लिखे हैं—

१ समान मण्डल, २ चिरभेदी।

विशेष वचन—कापाल कुष्ठ दुखदायी होता है। इसके रोगी १५-२० वर्ष तक दुख भोगते हैं।

२. औदुम्बर लक्षण [चरक]

१ ताम्र वर्ण त्वक्—ताम्र जैसे वर्ण का।

२ ताम्रखररोम राजीवद्ध वहल—लाल व खुरदरे रोमयुक्त ताम्रवत्।

३ अतीव वहल—वहुत से।

४ रक्तपूय लसीकायुक्त-गाढे रक्त, पीप, लसीकायुक्त

५ कण्डू—खुजलीयुक्त।

६ क्लेद—गीलापन होता है।

७ कोथ—सडान-सडनयुक्त।

८ दाह—जलनयुक्त।

९. पाक—पकने वाला।

१० आशुगति—शीघ्र फैलने वाला।

११ समुत्थानभेदी—शीघ्र फूटने वाले।

१२ सन्तापक्रिमी—उष्ण तथा क्रमि युक्त।

१३. पक्वोदुम्वरफल वर्णाभ—पकी उदुम्बर के फल सदृश।

काश्यप सहिता मे निम्न ४ लक्षण और मिलते हैं—

१ बन्धुजीव कुसुमवत् मण्डल, २ अस्रावी, ३ जडस्पर्शी, ४ अनेक औदुम्वरवत्।

भेल सहिता मे इस कुष्ठ को मण्डलाभ तथा असाध्य कहा है।

विशेष वचन—इसे गलित कुष्ठ भी कहते हैं। इस रोग मे रुग्ण के हाथ-पाव की अगुलिया गिर जाती है। नासिका गलकर बैठ जाती है। पलके-भौहे आदि के लोम झड जाते है। रोगी लगडा-लूला वन जाता है।

३. मण्डल कुष्ठ लक्षण [चरक]

१ स्निग्ध—चिकना

२ गुरु—भारी

३ उत्सेध—ऊचा उठाव युक्त

४ श्लक्ष्ण—जिसके किनारे चिकने हो

५ स्थिर—स्थायी

६ पीनपर्यन्त—मोटे

७ शुक्लरक्तावभासी—श्वेताभरक्तवर्ण

८ शुक्लरोमराजी युक्त—श्वेत लोमो से व्याप्त

९ बहुल-वहुल—अतीव घना

१० शुक्लपिच्छिलस्राव—श्वेत चिपचिपा स्राव

११ वहुक्लेद—गीलापन युक्त

१२ कण्डूक्रिमिणी—खाज एव क्रमि युक्त

१३ सक्तगति—शनै शनै फैलने वाला

१४ समुत्थानभेदी—ऊचा उठकर फूटने वाला

१५ परिमण्डलवत—गोलाकृति युक्त

काश्यप सहिता मे ७ लक्षण और लिखे हैं—

[१] वन्धुजीव कुसुमवत् मडल, [२] दाह, [३] कडू [४] वेदना, [५] घनोत्सन्न, [६] चिरभेदी

४ ऋष्यजिह्वक लक्षण [चरक]

१ परुष—कठोर

२ अरुण वर्ण—अरुण वर्णयुक्त

३ वहिस्तरश्यावानि—वाहर भीतर श्याव वर्ण

४ नीलपीत ताम्रभासी—नील-पीत-ताम्र चूर्णाभ

५ आशुगतिसमुत्थानि—शीघ्र फैलने वाला

६ अल्प कण्डू—थोडी खुजली

७ अल्पक्लेद—अल्प सडाद

८ अल्प क्रमि—अल्प क्रिमि युक्त

९ दाह वहुल—अधिक जलन युक्त

१० ऋष्यजिव्ह प्रकाशयुक्त—ऋष्य [रीछ] जिव्हावत्

११ भेद वहुल

१२ निस्तोद वहुल—सूई चुभने की पीडायुक्त

१३. पाक वहुल—अति पकने वाला

१४ शूकोपहत—

१५ सवेदना—वेदना युक्त

१६ उत्सन्न मध्य भाग—मध्य भाग से उठा हुआ

१७ तनु—पतला

१८ कर्कश—खरस्पर्श

१९ पीडिका युक्त—फुसी वाला

२० दीर्घ परिमण्डल—गम्भीर मण्डलो मे युक्त

सुश्रुत ने एक लक्षण 'खर' अधिक लिखा है। काश्यप

संहिता मे वैवर्ण्य तथा गौर वर्ण, दो लक्षण और लिखे है। वाग्भट ने 'बहुक्रिमि' का उल्लेख अधिक किया है।

५ पुण्डरीक लक्षण [चरक]

१ शुक्ल रक्तावभासी —श्वेत लाल आभा वाले
२ रक्त युक्त—लाल किनारो वाले
३ रक्तराजीगिरामतत—लाल रेखाओ से व्याप्त
४ उत्सेध—फूले हुए-उठे हुए
५ बहुबहलरस—बहुत गाढे रक्त युक्त
६ बहुपूयलसीका—पीप एव लसीका युक्त
७ कण्डू—खुजली
८ क्रिमी—कृमि
९ दाह—जलन
१० पाक—पकने वाले
११ आशुगति—शीघ्र फैलने वाला
१२ समुत्थानभेदी—शीघ्र उत्पन्न होकर फटने वाले
१३ पुण्डरीक पलाशवत्—रक्त कमल पखुडी सदृश
१४ पुण्डरीक मडलवत्
१५ महाशयसमुद्भेतजात   १६ चिराद्भेदी

विशेष वचन—इस कुष्ठ के पित्त तथा कफ की प्रधानता से दो भेद माने गये है। चरक का पुण्डरीक पित्त प्रधान है और सुश्रुत का पुण्डरीक कफ प्रधान है। यथा-'पुण्डरीक प्रकाशानि पुण्डरीकाणि श्लेष्मणा' आचार्य वाग्भट ने भी इसका वर्णन किया है।

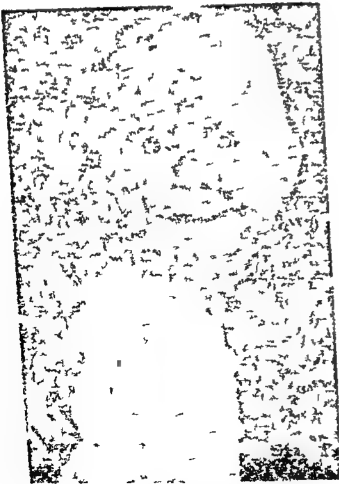
६–सिध्म लक्षण (चरक)

१ परपत्वक्—वाह्य किनारे कठिन होते हैं।
२ अरुणवर्ण—अरुण वर्ण युक्त
३. विशीर्ण—खण्डित
४ बहिस्तनु—पतले
५ अत स्निग्ध—भीतर चिकनापन
६. शुक्लरक्तावभासी—श्वेताभ रक्त काति युक्त
७ बहू—बहुत
८ अल्पवेदना—थोडी वेदना
९. अल्प कण्डू—थोडी खुजली
१०. अल्पदाह—थोडी जलन
११ अल्पपूयलसीकास्रावी—पीप एव लसीका अल्प
१२ लघुसमुत्थान—कम उठे हुए
१३ अल्पभेदी—कम फटने वाले
१४ अल्प कृमि—कम कृमियुक्त
१५ अलाबु पुष्पवत्—तुम्बीपुष्प सदृश

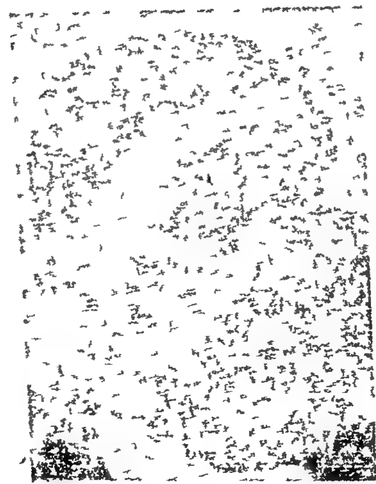
सुश्रुत ने श्वेत, अपाकी तथा प्रायश. उर्ध्वका मे ये तीन लक्षण अधिक कहे हैं।

काश्यप ने रजोध्वस्तसलाम्बुकारणशल्या पुष्पी पुष्प सदृश लक्षण और लिखे है।

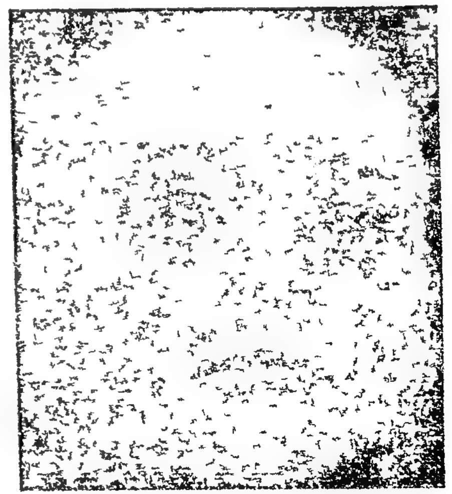
भेल संहिता मे १ महितम २ पक्वलोष्ठवत् ३ उत्थितत्वक् ४ रूक्षमण्डल ये चार लक्षण और लिखे हैं।



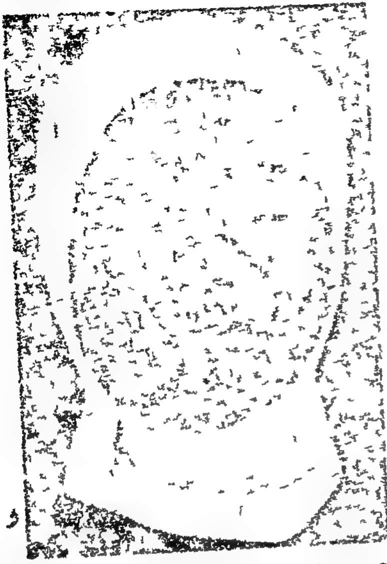
एक बच्चे के मुख मण्डल का स्थायी एग्जीमा



कुष्ठ रोगी



तीव्र एग्जीमा


मुख मण्डल का तीव पामा (विसर्प)

(७) काकणक लक्षण (चरक)

१. अपाक—पकता न हो
२ तीव्र वेदन—तीव्र वेदना से युक्त हो
३. त्रिदोषलिंग—तीनो दोषो के लक्षण हो,
४ काकणन्तिक वर्णम्—घु घची के वर्ण का हो
५. सर्वकुष्ठलिंगयुक्तम्—सभी कुष्ठो के लक्षण हो
६ पापाचाराद्—पाप कर्म से हो
७. विभिन्न वर्णाति—अनेक वर्णयुक्त हो
८. असाध्य—असाध्य होता है ।

सुश्रुत ने 'अतीवरक्त कृष्णवर्ण' लक्षण और लिखे है ।
कारयप ने 'खर' लक्षण और लिखा है ।
भेल सहिता मे 'चिरेणप्रत्याख्येय' लक्षण और लिखा है ।

विशेष वचन—सुश्रुत ने काकणान्तिका वर्ण के विषय मे कहा है—'काकणान्तिकाफलस दृगान्यतीव रक्तकृष्णानि

एकादश कुष्ठो के लक्षण समुच्चय (चरक)

१ एक कुष्ठ (Erythrodermias) अस्वेदन महावास्तु यन्मत्स्यसकलोपमम्, तदेककुष्ठम् । जिस कुष्ठ मे स्वेद न आये अधिक स्थान मे फैला हो और मछली की त्वचा के सदृश (काला, लाल) हो, उसे एककुष्ठ कहते हैं ।

२ चर्म कुष्ठ (Xeroderma Pigmentosa)—'चर्माख्य बहल हस्तिचर्मवत्' जो हाथो के चमडे के समान खर स्पर्श वाला और मोटा-स्थूल हो उसे चर्म कुष्ठ कहते है ।

३ किटिभकुष्ठ (Psoriasis)—'श्याव किणखरस्पर्श परुषं किटिभ स्मृतम्' जो कुष्ठ श्याव (काला) वर्ण का तथा भरे हुए व्रण स्थान सदृश, खर—कर्कश स्पर्श युक्त हो, उसे किटिभ कुष्ठ कहते हैं ।

४ विपादिका (Rhagades)—'वैपादिकं पाणिपादस्फुटन तीव्रवेदनम्' जिसमे हाथ-पाव की त्वचा फट जाये और तीव्र वेदना हो उसको वैपादिक कुष्ठ कहते है ।

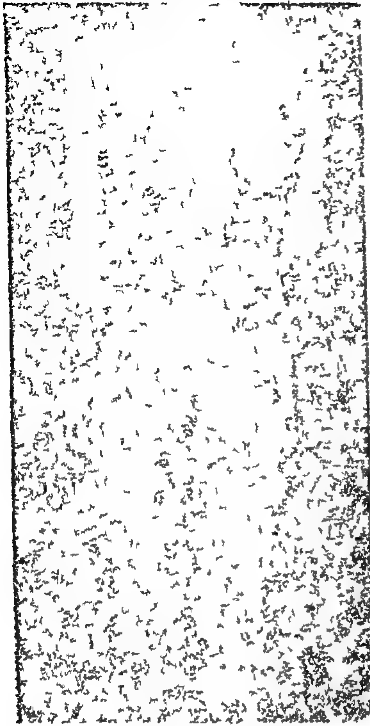
५—अलसक (Lichen)—कण्डूमद्भिः सरागैश्च गडैरलसक चितम् । जो कण्डू युक्त लाल वर्ण आभा वाली ग्रन्थियो से युक्त हो उसे अलसक कुष्ठ कहते है ।

६—दद्रु (Ringworm)—सकंडूरागपिडक दद्रुमण्डल मुद्गतम । खुजली युक्त लाल उभरी हुई फु सियो से युक्त कुष्ठ को दद्रु कहते है ।

७—चर्मदल (Excoriation)—रक्तवर्ण का, शूल, खुजली और स्फोटो से युक्त चर्मदल नामक कुष्ठ होता है । यह फट जाता है और स्पर्श से इसमे अत्यधिक कष्ट होता है ।

८—पामाकुष्ठ (Scabies)—छोटी-छोटी बहुत सी पिडकाये स्रावयुक्त और जो खुजली एव जलन से युक्त होती है, उन्हे पामा कहते है । ये पिडकाये ही जब तीव्र दाह युक्त फोडो के साथ-साथ एवं नितम्ब प्रदेश मे हो तो कच्छू कहते हैं ।


सूक्ष्म जीवाणुजन्य एग्जीमा



क्षय जीवाणुजन्य छितरा हुआ कुष्ठ

९–विस्फोट (Bullac)—श्याव वा रक्तवर्ण पतली त्वचा युक्त स्फोटो को विस्फोट कहते हे ।

१०–शतारु (Erythemas)—लाल, श्याव वर्ण के दाह युक्त बहुव्रण युक्त कुष्ठ को शतारु कहते ह ।

११–विचर्चिका (Eczema)–खुजली तथा श्याववर्ण बहुत स्राव युक्त पिडका को विचर्चिका कहते है ।

विशेप वचन—चरक ने निदान स्थान मे वर्णित सात महाकुष्ठो को ही कुष्ठ माना है, क्षुद्र कुष्ठो को चर्म रोग समझना चाहिए । जैसाकि चरक मे पढा है—सप्त विधमेव कुष्ठ'

क्षुद्र कुष्ठो के विपय मे चरक तथा सुश्रुत के मन्तव्य मे निम्न अन्तर हे—चरक १ चर्मकुष्ठ २ वैपादिका ३ अलमक ४ कच्छू ५. विस्फोट ६ शतारु के स्थान पर १ स्थूलारुष्क २ परिसर्प ३ रकसा ४ विसर्प ५ महा-कुष्ठ ६ सिध्म का वर्णन सुश्रुत ने किया हे ।

सुश्रुतोक्त कुष्ठ लक्षण समुच्चय

१. स्थूलारुष्क—इसमे अरु षि-फु सिया स्थूल मूल युक्त तथा सम्पूर्ण व्रण कठिनतायुक्त होते हे । यह सधियो मे उत्पन्न होता है । अतिशय कष्टसाध्य है ।

२ परिसर्प—इसमे शरीर के ऊपर धीरे धीरे फैलने वाली स्रावयुक्त पिडिकाये निकलती है ।

३ रकसा—इसमे सम्पूर्ण शरीर मे कण्डू युक्त एव स्राव रहित पिडिकाये पैदा होती है। (यही सूखी खुजली है)

४ विसर्प—इसमे त्वचा, रक्त तथा मास दूपित हो कर विसर्प रोग के तुल्य शरीर मे फैल जाता है । मूर्च्छा, विदाह, अरति, तोद, पाक आदि विकार होते है।

५ महाकुष्ठ—इसमे त्वचा का सकोच, भेदनवत् वेदना, स्पर्श ज्ञान का अभाव और अगो मे असामर्थ्यता ये लक्षण होते हैं ।

६ सिध्म—कण्डू युक्त, श्वेत वर्ण, वेदनाहीन, सूक्ष्म सघर्पण से इसमे से रज के तुल्य त्वचा निकलती है । प्राय यह ऊर्ध्वकाय होता है ।

रसादि धातुगत कुष्ठो के लक्षण

१ रसधातुगत—कुष्ठ मे स्पर्श कम विदित होना, स्वेद आना, थोडी कण्डू होना, त्वचा विकृत वर्ण होना तथा त्वचा मे रूक्षता ।

२. रक्त धातुगत—कुष्ठ मे त्वचा की सुन्नता, रोमाच होना, स्वेद की अति प्रवृत्ति, खुजली तथा दुर्गन्ध आना ।

३ मासगत—कुष्ठ मे कुष्ठ का चकत्ता स्थूल, मु ह सूखना, कर्कशता, फु सिया निकलना, सूई चुभने की सी वेदना, फोडे निकलना, कुष्ठ का मडल कठिन होना ।

४ मेदोगत—कुष्ठ मे दुर्गन्ध, मैल की अधिकता, पूय, किमी उत्पन्न होना, शरीर अवयवो का फटना ।

५-६. अस्थि एव मज्जागत—कुष्ठ मे नासा भग, नेत्र लाल, कृमि उत्पन्न होना, स्वरभग ।

७ शुक्रगत—कुष्ठ मे कुहनी के नीचे का हाथ निश्चेष्ट होना, अङ्गो की गति का क्षय, भेदनवत् पीडा, घाव का फैलना तथा उपरोक्त रसादि धातुगत कुष्ठ के भी लक्षण होते हे ।

विशेप ज्ञातव्य—स्त्री के आर्तवगत और पुरुप के शुक्रगत बीज भाग कुष्ठ द्वारा दूपित होने पर उनकी जो सन्तान होती हे वह भी कुष्ठी होती हे ।

साध्यासाध्य लक्षण

१ तत्रादिबलप्रवृत्त पौण्डरीक काकण चासाध्यम् ।

यह सुश्रुत (नि. ५) का वचन है—आदिबल प्रवृत्त

(सहज) पौण्डरीक तथा काकण कुष्ठ इनको असाध्य माना है, शेष को साध्य कहा है।

२. 'काकणं नैव सिध्यति'—यह चरक (चि ७) का वचन है—काकण कुष्ठ असाध्य है।

विशेष वचन—चरक, वाग्भट, माधव तथा भावमिश्र ने केवल १ काकण कुष्ठ को असाध्य माना है।

असाध्य लक्षण —जो तीनो दोषो के सभी लक्षणो से युक्त हो, रोगी दुर्बल हो, तृषा तथा दाह अधिक हो, जठराग्नि मन्द हो—कुष्ठ स्थान को जीवाणु-कृमि खा गये हो, जो अस्थि मज्जा और शुक्र तक प्रविष्ट हुआ हो, वह कुष्ठ असाध्य होता है। (चरक)

जो रोग असाध्य हो गया हो वह साध्य नही होता है। साध्य रोग भी कभी २ अपथ्य सेवन और मिथ्या उपचार से असाध्य होजाता है। साध्य कुष्ठो की चिकित्सा न करने मे त्वचा, रक्त, मास तथा नसीका कोथ (सडाद) क्लेद और अधिक स्वेद के कारण कृमि पडते है। वे क्रिमी त्वचा आदि को भक्षण करते तथा वातादि दोष उनको फिर दूषित करते हुए उपद्रव उत्पन्न करते है।

सुख साध्य—एक दोष प्रधान वा वातकफ प्रधान कुष्ठ सुख साध्य होता है।

कृच्छ्र साध्य—कफ पित्त और वात पित्त प्रधान कुष्ठ कृच्छ्र साध्य होता है।

कुष्ठ निवारण निर्णय—

[१] वात प्रधान कुष्ठ रोग मे—घृत का प्रयोग करे।

एतदर्थ—(१) पञ्चतिक्त घृत गुग्गुलु (४) तिक्त घृत (३) महातिक्त घृत (४) खदिर घृत (५) निम्ब घृत आदि विशेष लाभप्रद हैं। हमारे अनुभव मे पञ्चतिक्त घृत गुग्गुलु सर्वोत्तम है। अनुवासन वस्ति श्रेष्ठ है।

वातनाशक उपायो मे तैल सर्वोत्तम कहा है। यथा—'तैल वातहराणाम्' किन्तु तैल त्वचा को विकृत करने वाला कहा है। यथा—'त्वग्दोषकृदचक्षुष्यम्' तैल त्वचा तथा नेत्रो के लिए हानिकारक है।

घृत पित्तशामक एवं रक्तशोधक है। अत कुष्ठनाशक द्रव्यो से सिद्ध होने पर और अधिक लाभप्रद होजाता है। तैल का उपयोग अभ्यङ्ग के रूप मे किया जा सकता है एतदर्थ महामरिच्यादि तैल प्रयोग करे।

[२] कफ प्रधान कुष्ठ रोग मे—वमन करावे। कफ नाशक उपायो मे वमन उत्तम माना है। यथा—'वमन श्लेष्महाराणाम्' कफ से रोगी की छाती भरी हुई हो, तव वमन उत्तम सिद्ध होता है। एतदर्थ मदनफल ६० ग्राम को यव खण्ड कर २ लीटर जल मे उवाले। जव पानी १ लिटर रह जाय तव उतार कर छान ले। इसमे मधु ६० ग्राम, पीपल चूर्ण ६ ग्राम मिलाकर धीरे धीरे सब पिला दे।

[३] पित्त प्रधान कुष्ठ मे—विरेचन तथा रक्तमोक्षण कराना श्रेष्ठ है। विरेचन से पहले वमन कराना भी उत्तम है। वमन, विरेचन से कोष्ठ शुद्ध हो जाता है। रक्तमोक्षण से विकृत रक्त निकल जाता है।

पित्त प्रधान कुष्ठ रोगी को महामञ्जिष्ठादि क्वाथ, तिल घृत, महातिक्त घृत, निम्ब घृत आदि दे। रक्तपित्त नाशक उपायो का प्रयोग भी करे।

कुष्ठ मे दोष यदि —

१ त्वचागत हो तो शोधन तथा लेपन करे।

२ रक्तगत हो तो सशोधन, लेपन, कषायपान करे। रक्त विस्रावण करे।

३ मासगत हो तो शोधन, आलेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण, मद्यपान अवलेहपान करे।

४ मेदोगत हो तो सशोधन एव रक्तमोक्षण करावे।

कुष्ठ चिकित्सा सिद्धान्त—

(१) निदान परिवर्जनम्—रोग उत्पादक हेतुओ का परित्याग करना।

(२) कुष्ठ रोग त्रिदोषज ही होता है। अत तत्तद् लक्षणो से दोषो के वलावल को देखकर सर्वप्रथम वढे हुए दोष की, फिर अनुवन्ध की चिकित्सा करे।

(३) सव प्रकार के कुष्ठ मे प्रथम रुग्ण को स्नेह दे।

(४) वातोल्वण मे कुष्ठनाशक औषधियो से सिद्ध तैल वा घृत देवे।

(५) त्वचागत दोष होने पर शोधन तथा लेपन करे।

(६) रक्तगत दोष होने पर संशोधन, लेपन, कषायपान, दूषित रक्तमोक्षण करे।

(७) मासगत दोष होने पर शोधन, आलेपन, कषाय पान, रक्तमोक्षण, आसवारिष्टपान, मन्थपान तथा अवलेह का सेवन करावें।

(८) मेदोगत दोष होने पर यदि रोगी साहसी,

पथ्यसेवी एव चिकित्सा के सब उपकरणो से सम्पन्न हो तो उसका रोग याप्य रहता है। ऐसी स्थिति मे सशोधन रक्तमोक्षण करावे।

सर्वं त्रिदोषज कुष्ठ दोषाना च बलाबलम्।
यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठाना क्रियते क्रिया॥

सब कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं किन्तु प्रत्येक कुष्ठ के उसके लक्षणो का बोध कर कौन दोष बलवान और कौन दोष निर्बल है, यह विचारकर दोषानुसार चिकित्सा करे।

विमर्श—बढे हुये दोष की चिकित्सा पहले करे, अनुबन्ध दोष की चिकित्सा बाद मे करे।

१० स्थिर, कठिन त्वग्रोग, मण्डल कुष्ठादि मे नाडीस्वेद, प्रस्तर स्वेद अथवा मास पोटली द्वारा स्वेदन कर रक्त के उत्क्लेश को नष्ट करे।

११ कुष्ठस्थल मे विकृत रक्त को निकाल कर वहा लेपो का प्रयोग करे।

१२ वात कफ प्रधान कुष्ठो मे—कफ का वमन से, पित्त का विरेचन और रक्तमोक्षण से हरण करे। तिक्त एव कषाय रस प्रधान द्रव्यो का प्रयोग करे।

१३ पैत्तिक कुष्ठो मे—तिक्त द्रव्यो से सिद्ध घृत दे। रक्तपित्तनाशक बाह्याभ्यन्तर उपचार करे।

१४ रोगास्तस्योपजायन्ते सन्तर्पणनिमित्तजा।
कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च · · ·। —च० सू० २३

कुष्ठरोग सन्तर्पणजन्य है और यह 'कुष्ठ दीर्घरोगाणा' शरीर मे चिरकाल तक रहने वाला है तथा विरुद्ध आहार-विहार रूप अपथ्य से उत्पन्न होता है। अत कुष्ठ की चिकित्सा का सर्वप्रथम सिद्धान्त 'निदान परिवर्जन' है। कुष्ठ रोग का निदान विपरीत अपतर्पण चिकित्सा करें। यथोक्त चरक—'तथापूरणनिमित्ताना व्याधिना नान्तरेणापतर्पणम्' (च० चि० २/४२)

अपतर्पण चिकित्सा-तीन प्रकार की कही है—

[१] लघन, [२] लघन पाचन तथा [३] सशोधन

१—लघन—जब दोषो का अल्प बल हो तब करे। २—लघन-पाचन (सशमन)—बल तथा दोष मध्यम होने पर करे। इससे बढे हुये दोषो का शमन होता है। ३—सशोधन (दोषावसेचन)—रुग्ण का बल तथा दोषो की अधिकता होने पर सशोधन (अपतर्पण) इससे बढे हुए दोषो को शरीर से बाहर निकालते हैं। इससे रोग समूल नष्ट होकर शरीर का शोधन हो जाता है।

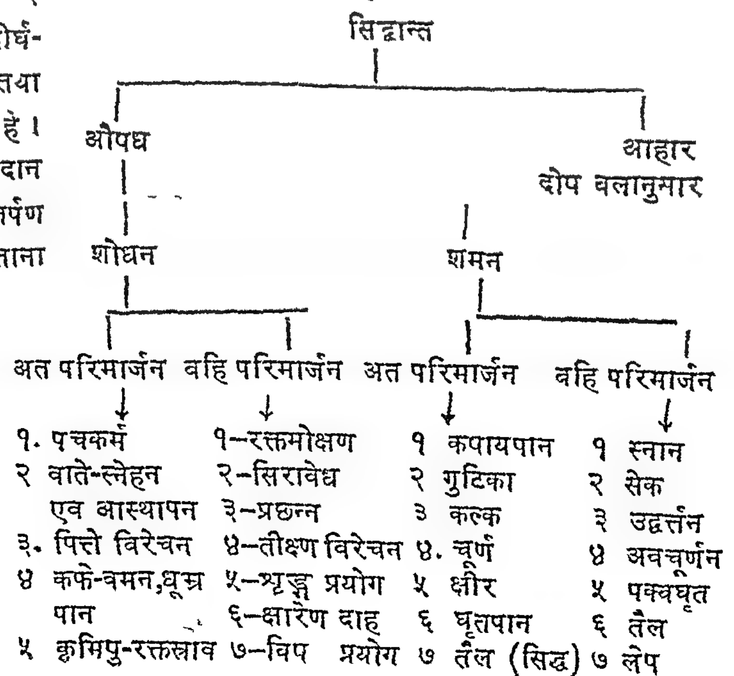
सशोधन चिकित्सा के भेद—दो प्रकार की है,१ अत चिकित्सा २ बाह्य चिकित्सा।

अत सशोधन मे रक्तनिर्हरण सर्वश्रेष्ठ है। यदि दूषित रक्त एक ही स्थान पर एकत्र है तो पछने लगाकर रक्तस्राव करावे। यदि सम्पूर्ण शरीर का रक्त दूषित है, तो शिरावेधन कर रक्त निकालें। स्मरण रहे—बलवान रोगी का स्नेहन-स्वेदन कर रक्त निकालें। बालक दस वर्ष से छोटा और ७० वर्ष से ऊपर वृद्ध एव निर्बल का रक्त न निकाले। अशुद्ध रक्त निकाल देने के पश्चात् रोगी को भोजन करावे और स्नेहपान द्वारा स्निग्ध कर वमन, विरेचन, निरूहण तथा शिरोविरेचन (नस्य) द्वारा शरीर का शोधन करे।

शोधनोपचार इस प्रकार करे—एक-एक पक्ष (१५-१५ दिन) के पश्चात् वमन, एक-एक मास के अन्तर से विरेचन करावें। प्रति तीसरे मास पर शिरोविरेचन नस्य कर्म करावे और प्रति छ मास पर शिरावेध करावें।

संशमन [व्याधि विपरीत] चिकित्सा—

शमन चिकित्सा अन्त परिमार्जन तथा बहि परिमार्जन रूप मे की जाती है।



कुष्ठनाशक विशिष्ट अनुभूत योग

[१] अहिवध रस (र यो सा)—शुद्ध गन्धक ६४० ग्राम, शुद्ध पारद या वनौषधि से जारित ताम्रभस्म और नाग भस्म ३२०-३२० ग्राम लेकर एकत्र खरल करे। फिर उसमे कज्जली १२० ग्राम मिलाकर बडे पके घडे मे डालकर ढक्कन लगाकर सन्धि स्थान पर गुड+चूने की पट्टी से अच्छी तरह बन्द करे। फिर चूल्हे पर चढाकर ३६ घण्टे तक मन्द-मध्यम और तीव्र अग्नि देवें। स्वाग शीतल होने पर भस्म को निकाल ले।

फिर बलवान अति पुष्ट युवा काले नाग को पकड-कर उसे क्लोरोफार्म सुंघाकर मूर्च्छित कर उसके मुख द्वारा उदर मे ३६० ग्राम लाल चूर्ण भरे। ऊपर से ४० ग्राम बच्छनाग चूर्ण भर दे। पश्चात् पुन ३२० ग्राम हरताल भर कर सर्प मुख को बन्द करें। तत्पश्चात् ५० लीटर जल आ सके इतने बडे घडे के भीतर गुड+चूने का लेप करे। सूखने पर ४० ग्राम बच्छनाग चूर्ण तथा बावची, भिलावा और इन्द्रयव का चूर्ण ६४०-६४० ग्राम बिछावें। फिर साप को बक्री सदृश बनाकर रखे। ऊपर से आक और थूहर की छोटी-छोटी प्रशाखाये और घी कुंवार का गूदा ६४०-६४० ग्राम डालकर, ढक्कन लगा गुड+चूने से अच्छी तरह मुख बन्द करे। पश्चात् चूल्हे पर चढाकर १ प्रहर तक मन्दाग्नि दे। फिर १ प्रहर तीव्र अग्नि दे और अन्त मे १ प्रहर तक मन्दाग्नि देवे।

स्वागशीतल होने पर लोहे की कढाही मे १६२० ग्राम घी के साथ उक्त सर्प भस्म को डालकर चूल्हे पर चढाकर तेज अग्नि देवे। अच्छी तरह घृतादि का पाक होने पर फिटकरी का फूला और सुहागे का फूला ८०-८० ग्राम मिलाकर उसमे से थोडा-थोडा चूर्ण ३-४ बार कड़छी से चलाते रहने से कढाही के भीतर अग्नि बन कर सब घी जल जायेगा, स्वाग शीतल होने पर ताम्र भस्म मिश्रण मिलावे। एक दिन खरल कर रखना।

मात्रा—१२५ से २५० मि० ग्राम तक।

अनुपान—तिक्त घृत या महामञ्जिष्ठादि क्वाथ।

सूचना—मात्रा क्रमश वढावे। प्रथम चार दिन तक १२५ मि० ग्राम की मात्रा मे एक समय दे और १२५ मि० ग्राम दूसरे समय दे। फिर पाचवे दिन से २५० मि० ग्राम की मात्रा मे चार दिन दे। इस प्रकार प्रति चौथे दिन १२५ मि० ग्राम तक बढाकर ५०० मि० ग्राम की मात्रा दिन मे २-३ बार दे। यह मात्रा ७ सप्ताह तक दे। ७ सप्ताह पर्यन्त देने से पूर्णतया लाभ न हो तो रोगी को पुन यथावश्यक शोधन देकर पूर्वोक्त क्रम से सात सप्ताह पुन उपयोग करावे। भोजन मे लवणरहित जौ का दलिया गोघृत मिलाकर दे। यह अहिवध रस असाध्य गलित कुष्ठ और तीनो दोषो से उत्पन्न सारे शरीर मे व्याप्त प्रबल कुष्ठ को भी दूर करता है।

[२] कुष्ठकुठार रस (र० यो० सा०)—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध गुग्गुल, लोह भस्म, शुद्ध कुचला, चित्रक मूलत्वक्, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध वत्सनाभ, शुद्ध भल्लातक प्रत्येक १०-१० ग्राम ले। कृष्णाभ्रक शतपुटी ११० ग्राम तथा करञ्ज बीज मज्जा ५५ ग्राम ले।

सर्वप्रथम पारद गन्धक की निश्चन्द्र कज्जली बनावे। काष्ठौषधियो का सूक्ष्म श्लक्ष्ण वस्त्रपूत चूर्ण करे। शिलाजीत एव गूगल को त्रिफला के क्वाथ मे गलाकर पूर्वोक्त तत्वो के चूर्ण के साथ खरल करे। इक्कीस दिन घृत कुमारी स्वरस मे घोटकर रख ले।

मात्रा—२५० से ५०० मि० गाम तक ५ बार दे।

अनुपाक—गव्य घृत १० गाम+मधु २० ग्राम।

सहपान—महामञ्जिष्ठादि कपाय।

गलितकुष्ठ के रोगियो के कान, नाक, अगुलिया गल गई हो, देह सड गई हो, देह मे से भयङ्कर दुर्गन्ध निक-लती हो, मक्खिया भिनभिनाती रहती हो, उनको भी यह नव जीवनदान देता है।

सूचना—कभी-२ इस औषधि के अधिक मात्रा मे या अधिक समय तक सेवन करने से देह मे दाह उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था मे पातील गरुडी की जड, गुड-हल के फूल और धनियाँ को समभाग मिलाकर सबके समान मिश्री मिला कूट-पीसकर वस्त्रपूत चूर्ण बनाकर १० ग्राम से १५ ग्राम तक दिन मे २ बार सेवन करे। अथवा—नागबला मूल का चूर्ण घी शहद मे मिला चाटे।

[३] महामञ्जिष्ठादि क्वाथ—मञ्जिष्ठा, मुस्ता, कुटज, गुडूची, कूठ, शुण्ठी, भारङ्गी, कण्टकारी, वचा, निम्ब, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, हरीतकी, विभीतक, आमलक, पटोल, कुटकी, मूर्वा, विडङ्ग, असन, चित्रक, शतावरी, त्रायमाण, पिप्पली, इन्द्रयव, वासा, भृङ्गराज, देवदारु,

पाठा, खदिर, रक्त चन्दन, त्रिवृत, वरुण, किरात, वाकुची, आरग्वध, शाखोटक, वकायन, करञ्ज, अतिबला, वला, इन्द्रवारुणी, यवास, सारिवा (श्वेत या कृष्ण) पर्पट प्रत्येक समभाग ले, यवखण्ड करे। इसमे से २५ ग्राम चूर्ण ले, १६ गुने जल मे १६ घण्टे भिगो दे। फिर चूल्हे पर चढाकर मन्दाग्नि से क्वाथ करे। चतुर्थांश शेष रहे तो छान लें। पश्चात् इसमे पिप्पली चूर्ण तथा गुग्गुल का प्रक्षेप देकर पिलावे।

यह क्वाथ उत्तम रक्त शोधक, सारक कीटाणुनाशक, विषहर, आम पाचक, कफघ्न, पित्तनाशक, वातहर और धातुगत, ज्वरनाशक है। महाकुष्ठ की प्रबलावस्था मे अनुपान रूप मे देते रहने से रोग वश मे आ जाता है।

सूचना—इसके सेवन काल मे धूम्रपान, चाय, शराब तथा मास आदि का त्याग करे।

[४] महातिक्त घृत—सतौना की छाल, अतीस, अमलतास का गूदा, कुटकी, पाठा, नागरमोथा, खस, हरड, बहेडा, आवला, परवल पत्र, कद्दु, निम्ब की अन्तर छाल, पित्त पापडा, धमासा, रक्त चन्दन, पीपल, पद्माख, हल्दी, दारुहल्दी, वच, इन्द्रायण, मूली, शतावर, काली सारिवा, इन्द्रयव, वासामूलत्वक, जवासा, मूर्वामूल, गिलोय, चिरायता, मुलहठी तथा त्रायमाण १०-१० ग्राम ले, कूट पीस वस्त्रपूत चूर्ण बना कल्क बनावे। पश्चात् कल्क और कल्क से चार गुना घृत, घृत से दुगुना आवलो का रस या क्वाथ और घृत से ७ गुना जल ले। सबको मिलाकर घृत पाक विधि से घृत सिद्ध करें।

मात्रा—६ से १२ ग्राम तक २ वार दे।

उपयोग—इस घृत का सेवन करने से रक्त तथा पित्त प्रधान कुष्ठ नष्ट होते है। इसके सेवन से पूर्व संशोधनों द्वारा रोगी को दोषमुक्त करावे।

[५] आरोग्यवर्धिनी रस—मात्रा ३७५ मि० ग्राम से १५०० मि० ग्राम तक। अनुपान—जल, त्रिफला हिम, महामञ्जिष्ठादि क्वाथ।

उपयोग—यह सम्पूर्ण कुष्ठ तथा वात, पित्त एव कफजन्य विविध ज्वरनाशक है। यह पाचन, दीपन, पथ्यकारक, हृद्य, मेदोहर, मल शुद्धि कर, क्षुधावर्धक है।

[६] पञ्चतिक्त घृत गुग्गुल—निम्बत्वक्, गुडूची, वासापत्र पुष्प, पटोलपत्र, कण्टकारीमूल ४००-४०० ग्राम। उपर्युक्त द्रव्यो को कूटकर ३२ लीटर जल मे क्वथित कर अष्टमाश जल अवशिष्ट रहने पर उतार तथा निचोटकर वस्त्रपूत करे। फिर इसमे शुद्ध गुग्गुल २५० ग्राम और गोघृत ८०० ग्राम मिलाकर पकावे। पाक सिद्ध हो जाने पर पाठा, विडङ्ग, देवदारु, गजपिप्पली, यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार, शुण्ठी, हरिद्रा, शतपुष्पा, चव्य, कुष्ठ, तेजोवती (तेजबल या मालकागनी), मरिच, इन्द्रयव, यवानी, चित्रक, कुटकी, शुद्ध भल्लातक, वचा, पिप्पलीमूल, मञ्जिष्ठा, अतिविषा, अतिविषा कृष्ण, अजमोद १०-१० ग्राम ले। वस्त्रपूत चूर्ण बनाकर उपर्युक्त कषाय मे आलोडित कर चूल्हे पर चढाकर घृत सिद्ध करे।

मात्रा—२० से १०० बूंद दिन मे २ वार।

अनुपान—खदिरारिष्ट या अमृत भल्लातक रसायन।

इससे विषदोष, प्रवल वातरोग, सन्धि-अस्थि-मज्जादि गम्भीर धातुगत कुष्ठ विकार, नाडीव्रण, अर्बुद, भगन्दर, गण्डमाला, ऊर्ध्वगत सर्वविकार, गुल्म गुदरोग प्रमेह राजयक्ष्मा अरुचि श्वास पीनस कास शोष हृद्रोग पाण्डुरोग गलविद्रधि एव वातरक्त नष्ट होता है।

[७] रसमाणिक्य—मात्रा ४० से १२० मि० ग्राम तक। अनुपान – मधु + घृत।

उपयोग— इसके सेवन से गलित कुष्ठ वातरोग भगदर नाडीव्रण दुष्ट व्रण विचर्चिका भयङ्कर व्रण पुण्डरीक कुष्ठ चर्मदल, विस्फोट तथा मण्डल कुष्ठ नष्ट हो जाते है।

[८] गन्धक रसायन—गोदुग्ध मे ३ वार शोधित गन्धक ६४० ग्राम ले, उसको पत्थर के खरल मे डालकर दालचीनी. तेजपात, छोटी इलायची तथा नागकेशर इन प्रत्येक के वस्त्रपूत चूर्ण को रात्रि मे द्विगुण जल मे भिगो प्रात हाथ से मलकर वस्त्र से छाने हुए जल से, गुडूची स्वरस से, हरीतकी तथा विभीतकी के क्वाथ से, आवला, भृङ्गराज आदि के स्वरस से ८-८ दिन मर्दन करे। अर्थात् प्रत्येक जल, क्वाथ या स्वरस मे ८-८ दिन भावना दे। कुल ८० भावना दे। प्रत्येक भावना मे ६ घटे मर्दन करके छाया मे सुखाने के वाद दूसरी भावना दे। अत मे समभाग मिश्री मिला खरलकर रखना चाहिए।

मात्रा—१ ग्राम प्रात सायंकाल।

अनुपान—जल, दूध, खदिरारिष्ट, मजिष्ठादि क्वाथ।

उपयोग—इसके सेवन से सब प्रकार के कुष्ठ, नाडी-

व्रण, नासूर, भगन्दर और शूल, अग्निमांद्य आदि पेट के रोग दूर होते हैं। वीर्य बल तथा शरीर की पुष्टी होती है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

[९] खदिरारिष्ट—मात्रा—२० से ५० मि० लि० तक समभाग जल मिलाकर प्रात सायकाल। सर्व कुष्ठ रोगो मे प्रयोग करें।

[१] गलत्कुष्ठारि कवच—सोमल, रसकपूर, हिंगुल दालचिकना प्रत्येक १०-१० ग्राम, जयपाल मज्जा ४० ग्राम ले। सबको एकत्र खरल करे। एकरस होने पर २ अण्डो की पीतता (जरदी) डालकर मर्दन करे। पश्चात एनामिल के पात्र मे डालकर निर्धूम उपलो की मन्दाग्नि पर चढाकर लकडी से चलाते रहे। जरदी पक कर तैल छूटने लगे तब पात्र को उतार ले। शीतल होने पर १२५ मि० ग्रा० प्रमाण औषधि के कवच भर लें।

मात्रा—१ कवच प्रात- जल से दे।

सूचना – इस औषधि के सेवन कराने से पूर्व रोगी को शोधन करावे अथवा निम्न मलशोधक योग दे—

गुलाब के फूल और कुटी सौंफ १२०-१२० ग्राम मिलाकर ५ लिटर जल मे उबाले। चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार, मसलकर छान ले। इस जल मे से आधा लें, उसमे चावल ६० ग्राम डालकर पका ले। इसमे मुनक्का कालीमिर्च, शक्कर तथा घी मिलाकर खावे। इसी प्रकार सायकाल शेष जल मे चावल पकाकर खावे। इस तरह ४-६ दिन दे, फिर कवच दे। सायकाल गरम खिचडी बिना घी मिलाये खावे। उस दिन भोजन एक ही समय दे। पुन २ दिन उपर्युक्त विधि से मुन्जिस के क्वाथ मे बनाये मीठे चावल खाये और चौथे दिन औषधि दे। इस प्रकार से गलितकुष्ठ, दुष्ट नाडीव्रण, भगन्दर, अस्थि क्षय, हड्डी का सडना आदि दूर होते है। विशेषकर यह रसायन उपदंश, गलितकुष्ठ उपदंश-जनित रक्तविकार, न सूखने वाली पूयमय विद्रधि आदि को २१ दिन के भीतर सुखाकर दूर करता है। यह गलितकुष्ठ के घाव शीघ्र सुखाता है।

कान, नाक, अंगुलिया आदि गल गये हो, देह बिलकुल सड गयी हो, स्थान-स्थान से रस चूता रहता हो, मक्खियां भिनभिना रही हो, देह मे से मुर्दे के समान दुर्गन्ध निकलने के हेतु से दूसरे व्यक्ति पास भी न आ सकते हो और रोगी भयङ्कर कष्ट भोग रहा हो, ऐसी घातक परिस्थिति वाले अनेक रोगियो को इस रसायन ने जीवनदान दिया है।

औषधि सेवनकाल मे पहले घी नही देना चाहिये। मुंजिस के दिनो मे तो देना ही पडता है। किन्तु अनेक रोगियो को जब दाह बहुत बढ जाता है, तब घी कुछ अंश मे देना ही पडता है। जब तक दाह अधिक न बढे तब तक घी न दे। जिस दिन जुलाब दे, उस दिन घी न दे।

(११) तुवरक तैल योग—यथाविधि तुवरक फल (मराठी मे कडूकवीठ) की गूदी से निकाले हुए तैल को ५ बूंद की मात्रा मे लेकर गाय के घी १२ ग्राम मे मिला प्रात —साय खाये। प्रति चौथे दिन ५-५ बूंद तैल बढाते चले। जब तक सहन होता रहे, बढावे। जब सहन न हो जी मिचलाने लगे तो तैल की मात्रा घटा दे। इस प्रकार ३ मास तक या इससे अधिक काल तक सेवन कराये। इससे तर कपडे को कुष्ठ व्रण पर रखे।

पथ्य मे यदि केवल गोदुग्ध और मीठे फलो (मुसम्बी, अनार, अंगूर सेब आदि) का रस पीवे तो अच्छा है अन्यथा जौ, गेहूँ की रोटी, पुराने शालि चावल का भात, गोदुग्ध के साथ खावे। अम्ल, लवण, कटु पदार्थ सर्वथा त्याज्य है।

इस तैल के अभाव मे बाजार मे मिलने वाले चालमोगरा तैल का उपयोग कर सकते है।

कुष्ठ की लक्षण अनुसार चिकित्सा

(१) एककुष्ठ चिकित्सा—

चिकित्सा सूत्र—स्थानीय क्षेत्र को स्वेदित करे। स्थूल, कठिन मत्स्यवत् चर्म लेप करे। यदि रोगारम्भ शिर से हो, तो शिरोबस्ति से कार्य ले।

स्थानीय स्वेदन कर्म—गोमूत्र १ लिटर ले। इस पात्र के मुख पर एक छिद्रयुक्त ढक्कन रख चारो ओर से कपडमिट्टी कर दे। ढक्कन के छिद्र मे एक नलकी लगा पात्र को आंच पर रख नलकी द्वारा आक्रान्त स्थान पर वाष्प दे। इससे स्थूलता एव कठोरता दूर होती है।

स्वेदनोपरान्त—मयूरतुत्थ ५ ग्राम को २०० मि लि उष्णोदक मे मिलाकर घोल तैयार करे। इस घोल मे स्वच्छ वस्त्र को भिगोकर रुग्ण स्थान पर रखे। जब वस्त्र शुष्क हो जाय, तो दूसरा वस्त्र भिगोकर रख दे। इस प्रकार २४ घण्टे करे। इससे मृत त्वचा उतरने लगती

है। फिर रुग्ण स्थान को स्वच्छ कर देखे कि उस स्थान पर कही खुरण्ट शेष है, तो पुन इस घोल का पूर्ववत् प्रयोग करे। रुग्ण स्थान मे सूचीतोदन अनुभव हो, तो तुत्थघोल लगाना वन्द कर दे। तदोपरान्त—

चण्डमारुतम्—हिंगुल ४ भाग, सज्जीर १ भाग, रससिन्दूर १ भाग, रस कपूर २ भाग, गन्धक ४ भाग।

पाचो द्रव्यो को कूट-पीस सूक्ष्म श्लक्ष्ण वस्त्रपूत चूर्ण कर ले। यह चूर्ण १ भाग, गोघृत १० भाग मिलाकर नित्य एक बार रुग्ण स्थल पर लेप करें। दूसरे दिन चणक चूर्ण से रुग्ण स्थान को स्वच्छ कर पुन लेप लगावें। अथवा—

स्वर्णक्षीरी बीज २०ग्राम, जयपाल अशुद्ध ४० ग्राम, भल्लातक अशुद्ध ४० ग्राम हरताल ५ ग्राम, मैनसिल ५ ग्राम ले। पातालयन्त्र विधि से तैल प्राप्त करे। इस तैल को रुग्ण स्थल पर लगावे। इससे शिर स्थानीय एक कुष्ठ मे तुरन्त लाभ होता है। दद्रु मे भी लाभप्रद है।

अन्त प्रयोज्य भेषज

(१) चण्डमारुतम्—मात्रा—२ से ४ चावल तक।

अनुपान—मधु और त्रिकुटा चूर्ण।

रक्तविकार, पक्षवध, किटिभ, एककुष्ठ नाशक है।

(२) आरोग्यवर्द्धिनी वटी—मात्रा—१ से ४ गोली।

अनुपान—महामजिष्ठादि क्वाथ।

गुण—'मण्डल सेविता सैषा हन्ति कुष्ठान्यशेषत।'

४९ दिन तक सेवन करने से सर्व प्रकार के कुष्ठो को समूल नष्ट करती है।

(२) चर्मकुष्ठ--

इसे Xerodermia और गजचर्म कहते है।

[१] कण्डूनाशक तैल—पारद और द्विगुण गन्धक मिलाकर की हुई कज्जली २४० ग्राम, नीलेथोथे का फूला १२ ग्राम, कालीमरिच का कल्क ४८० ग्राम, सरसो का तैल २ लिटर और धतूरे के पत्तो का रस ८ लिटर लेवें। सवको मिला मन्दाग्नि पर चढाकर तैल पाक करे। धतूरे का रस जल जाने पर ऊपर-२ मे तैल को निकाल लें। फिर खरल या किसी दूसरे पात्र मे तल भाग मे वचे हुए द्रव्यो के किट्ट का मर्दन करे। पश्चात् उसमे थोडा तैल मिलाकर सवको एक रस वना वोतलो मे भर ले।

उपयोग—इस तैल का उपयोग करने के समय वोतलो को हिलाकर थोड़ा तैल कटोरी मे निकाल ले। उसमे से मालिश करने मे एक सप्ताह मे असाध्य गजचर्म, चर्मरोग, कण्डू, दाह, कुष्ठ, सन्धिवात आदि विकार नष्ट हो जाते हैं और त्वचा मुलायम वन जाती है।

सूचना—रोगी को तैल लगाने के पश्चात् निवात स्थान मे बैठाकर स्वेद देवें। त्रिफला, वायविडङ्ग और अजवायन डालकर उवाले हुए जल की स्थानीय भाप दे। प्रस्वेद आ जाने के आधे घटे वाद साबुन लगाकर निवाए जल से स्नान करावे।

(१) सत्यनाशी तैल—स्वर्णक्षीरी के बीजो को कोल्हू मे पेलकर तैल निकलवा ले। उस तैल की मालिश रुग्णस्थल पर दिन मे ३-४ वार करें।

(३) भल्लातक तैल—अशुद्ध भिलावा, अशुद्ध गुग्गुल, वावची तीनो को समभाग ले। सावधानी से कूटकर, एक हाडी मे भरकर उस पर छलनी की जाली लगाकर मुद्दट वाध, पातालयन्त्र विधि मे तैल निकाले। उस तैल को कवच मे भरकर दें तथा लगावे।

(४) रसमाणिक्य मजिष्ठादि क्वाथ के साथ दे।

(३) किटिभ कुष्ठ—

इस रोग मे त्वचा कृष्णाभ एव विवर्ण और मोटी होजाती है। आक्रान्त स्थलो पर चकत्ते उभर आते हैं। यह रोग स्राव रहित होता है। इसमे कण्डू भी नाम मात्र होती है। त्वचा पर धूसरत्व दिखाई देता है। यह वात कफ प्रधान होता है। आधुनिक (Psoriasis) कहते हैं।

औषधि व्यवस्था—१ मन.शिलादि लेप लगावें।

२ चण्डमारुतम्—लगावे (इसी लेख मे पहले देखें)।

चण्डमारुतम् १ भाग, शतधौत गोघृत १० भाग ले—दोनो को भलीभाति घोट लें। इसका लेप एक वार नित्य रुग्णस्थल पर लगावे। दूसरे दिन चणक के आटे से यह स्थान स्वच्छ करके पुन लेप लगावे। साबुन का उपयोग न करे।

अन्त प्रयोज्य भेषज के रूप मे गन्धक रसायन १ भाग, करञ्ज बीज चूर्ण १-१ भाग ले। दोनो को एकत्र खरल कर मधु से दिन मे दो वार चटावें।

यह योग सचित्र आयुर्वेद मे वैद्य वासुदेव द्वारा लिखा है। सिद्ध मेडिसन का प्रयोग है। हमने इस योग का चर्म रोगो पर विपुल प्रयोग कर सदैव सफलता प्राप्त की है। इससे फिरङ्गोपदश तक को नष्ट किया है। उत्तम

उदरशोधक, विषघ्न, कृमिनाशक है। आभ्यन्तर प्रयोगार्थ मात्रा १२५ मि ग्रा, कवच मे वन्द कर देना चाहिए।

सज्वीर वनाने की विधि सिद्ध योग सग्रह (यादव जी त्रिकम) मे देखे। किटिभ कुष्ठ मे वाह्य तथा आभ्यन्तर सेवनार्थ दे। विश्वसनीय योग है।

(४) विपादिका कुष्ठ—

१ विपादिकाहर मलहम—जीवन्ती (डोढीशाक) के मूल, मजिष्ठ, दारुहल्दी और कवीला १६०-१६० ग्राम तथा नीलाथोथा ४० ग्राम मिला, जल में पीसकर कल्क करे। फिर कल्क, गोघृत १२८० ग्राम, तिल तैल १२८० मि लि गोदुग्ध २५६० मि लि और जल १०२४०मि लि मिलाकर मन्दाग्नि पर पाक करे। फिर स्नेह को वस्त्र मे छानकर, पुन थोडा गरम कर राल तथा मोम ३२०-३२० ग्राम मिलाकर मलहम वना ले। इसे लगाने से विपादिका (हाथ पाव की त्वचा फटना) चर्मकुष्ठ किटिभ और अलसक आदि नष्ट हो जाते हैं।

विपादिका रोग चाहे जितना पुराना हो, त्वचा कटकर रक्त आता हो, चाहे पूयोत्पत्ति हो जाने से कण्डू-वेदना, स्पर्शासहत्व आदि लक्षण हो इन सव लक्षणो व सहरोग को दूर कर देता है। अधिक शोथ शूल होने पर गेहूँ के आटे की पुल्टिस वाधकर (पुल्टिस मे ५००-५०० मि ग्राम खुरासानी यवानी चूर्ण मिलाकर वाधने से शोथ व शूल कम होता है) फिर इस मलहम को लगावे। स्थानिक रक्त विकृति अधिक हो तो जलौका द्वारा रक्त निकलवाये।

२ मधु-मोम, सैंधव लवण, गुड, गूगल, गेरू, घी, आक का दूध इनका लेप करने से पुरानी से पुरानी विवाई ठीक हो जाती हैं।

३ राल, मधु तथा तिल का तैल, इनका लेप करे।

४ जायफल जल मे पीसकर लेप करे।

(५) अलसक कुष्ठ—

विपादिकाहर मलहम लगावे।

(६) दद्रु-दाद-दिनाए—

खुजली सहित उत्पन्न हुई लालवर्ण की पिडका को दद्रु कहते है। (च०)

आचार्य सुश्रुत ने दद्रु का वर्णन महाकुष्ठो मे किया है। चरक ने क्षुद्रकुष्ठो मे उल्लेख किया है।

दद्रु के दो भेद देखे जाते है—एक श्वेत सिता तथा दूसरा कृष्ण असित होता हे। कृष्ण असित को साधारण वोल-चाल मे काला दाद कहते है। काला दाद कष्टसाध्य होता है। दद्रु कुष्ठ अलसी पुष्प के सदृश अथवा ताम्र वर्णवत्, फैलने वाली छोटी-२ पिडकाओ से युक्त होता है।—सु

उभार, घेरा, खुजली तथा देर मे उत्पन्न होना ये सामान्य लक्षण हे।

चिकित्सा सिद्धान्त—१ शरीर का शोधन करावें।

२ दद्रु स्थान को रगडकर लेप आदि लगावे।

३ विरेचन कराना श्रेष्ठ है।

१ दद्रुघ्नीवटी (अनु०)—राल, गन्धक, चौकिया सुहागा, डेली कपूर, चकवड और खुरासानी अजवायन समभाग-लेकर सवका-पृथक्-पृथक् वस्त्रपूत चूर्ण कर फिर गोघृत मे घोटकर २-२ ग्राम की गोलिया वना ले।

दाद को समुद्रफेन या कण्डे से खुजलाकर इस वटी को गोमूत्र या नीवू के रस में घिसकर लेप करे। लेप दिन मे ३ वार करे। इससे सद्य लाभ होता है।

२ एडगजादि लेप—चकवड वीज, सेंधव लवण, सर्षप, वायविडङ्ग, वावची, करजवीज प्रत्येक समान भाग लेकर वस्त्रपूत चूर्णकर मठा मे घोटकर लेप करने से दाद, कृमियुक्त कुष्ठ एव मण्डल कुष्ठ नष्ट होते हे।

३ चण्डमारुतम्—देखो किटिभ चिकित्सा मे।

४ जगली अजीर का दूध दाद पर दिन मे ३ वार।

अन्त प्रयोज्य भेपज—

१ चण्डमारुतम्—(देखो किटिभ कुष्ठ चिकित्सा)।

२ दद्रुहर मिश्रण—आरोग्यवर्धिनी चूर्ण ३६ ग्राम, अष्टामृत पर्पटी चूर्ण १२ ग्राम, किशोर गुग्गुल २५ ग्राम, गन्धक रसायन १२ ग्राम, रसमाणिक्य १२ ग्राम। एकत्र खरलकर ६४ मात्राये वना १-१ मात्रा प्रात-साय जल या दूध से दे। दाद, पामा तथा त्वचा विकार नाशक है।

(७) चर्मदल कुष्ठ—

१ चर्मरोगारि तैल—शीशम की पकी लकडी जो भीतर से काली हो उसका वुरादा ३ किलोग्राम, नारियल के खोपडे के ऊपर का कठोर छिलका, वावची वीज, भिलावा ये तीनो १-१ किलोग्राम, चित्रकमूल की छाल, नौसादर, चोक (सत्यानासी की जड) ये तीनो ५००-५०० ग्राम तथा गन्धक और मैन्सिल २५०-२५०

ग्राम ले, इन सब द्रव्यो का यवखड चूर्ण कर पातालयन्त्र विधि से तैल निकाल लेवे। इस प्रकार निकाला हुआ तैल १ लिटर ले। फिर सखिया, नीलाथोथा दालचिकना ये तीनो ६०-६० ग्राम ले, पीसकर उक्त १२० मि लि तैल मे मिला मर्दन करे। बाद ६८० मि लि तैल मे मिला ले।

उपयोग— इस तैल का प्रयोग करने के समय वोतल को हिला लेवे। थोडा सा निकाल निवाया कर पीडित स्थान पर मर्दन करे। इस तरह दिन मे ३-६ वार मर्दन करते रहने से भयङ्कर चर्मदल का भी विनाश हो जाता है।

सूचना—चर्मदल और मोटा हो जाने से उस स्थान के रोम कूप वहुधा कार्य करने मे असमर्थ हो जाते है। ऐसी अवस्था मे औषधि का वाह्य प्रयोग विशेप लाभ नही पहुचा सकता। अत पहले ७८ दिन तक ईसवगोल की पुल्टिस वाधकर उस रुग्ण स्थान को मृदु बना लेवे। फिर इस तैल का प्रयोग करे।

२ अन्त प्रयोज्य भेषज के रूप मे इस तैल के साथ गन्धक रसायन मञ्जिष्ठादि क्वाथ के साथ दे।

३. वैरोजा, राल, लोध, कवीला, मन सिल, अजवायन, गन्धक समभाग वस्त्रपूत चूर्ण वना गोमूत्र मे खरल कर वर्त्तिका वना गोमूत्र मे घिसकर लेप करें।

(८) पामा तथा कच्छू—

छोटी छोटी वहुत सी पिडकाये जिनसे स्राव निकलता रहता है, खुजली एव जलन से युक्त होती हैं, उन्हे पामा कहते है (च०)। ये पिडकायें ही जव तीव्र दाह युक्त फोडा-फुन्सियो के समान हाथ तथा नितम्ब प्रदेश पर होती हैं तो उसे कच्छू कहते है (मा० नि०)। सुश्रुत ने भी पामा का ही भेद कच्छू कहा है। चरक तथा वाग्भट मे कच्छू नाम का उल्लेख नही किया।

पामा नामक कुष्ठ मे असख्य पिडकाये-फुंसिया होती हैं। इनमे अतिशय कण्डु, क्लेद, आर्द्रता तथा वेदना अधिक होती है। वे पिडिका छोटी छोटी श्याव काली अरुण वर्ण की तथा वहुत सी होती है। प्राय गुह्य अवयव, चूतड, हाथ तथा कुहनियो पर होती है (वाग्भट)।

आजकल जिस रोग को खुजली कहते हैं। सुश्रुतोक्त पामा तथा कच्छू के साथ खुजली समान है।

विशेष उपक्रम—१ विरेचन विशेष लाभप्रद है। एरण्डतैल-स्वादिष्ट विरेचन दे।

१ रसादि लेप—पारद, गन्धक, जीरा, काला जीरा, हल्दी, दारुहल्दी, कालीमरिच, सिन्दूर तथा मैनसिल समभाग लेकर पारद गन्धक की कज्जली बनाकर तथा शेष द्रव्यो का वस्त्रपूत चूर्ण कर सवको एकत्र मिला शतधौत गोघृत चूर्ण से तिगुना डालकर घोट लें। कुछ दिन रखकर फिर लगाने से विशेष लाभ करता है। यह पामा कच्छू के लिए परमौषधि है। इसमे समभाग चकवड बीज तथा वावची और मिलाने से विशेष लाभप्रद है।

२. पामारि लेप—पारद, गन्धक, मन शिला, ताल पत्रक, हिंगुल, मृदारसङ्ग, तूतिया, वाकुची, कृष्णमरिच समभाग ले। पारद गन्धक की कज्जली बनावे, शेष द्रव्यो का वस्त्रपूत चूर्ण करे। पीछे सबको एकत्र खरलकर चूर्ण से ८ गुना शतधौत गोघृत मिला घोटकर रख लें।

इसके लेप से पामा कच्छू शान्त हो जाते हैं।

३. गन्धक द्रव—गन्धक तथा चूना कलई १-१ भाग जल १६ भाग मिलाकर एक मिट्टी के पात्र मे डालकर पकावे। आधा शेष रहते, उतार कर छान ले। पामा तथा चर्म विकार पर लगावे। विशेष हितकर है।

४. खुजलीना—आवलासार गन्धक (भागरे के रस मे शोधित) सोनागेरु, कालीजीरी प्रत्येक समभाग ले, तीनो को पृथक् पृथक् कूट पीसकर वस्त्रपूत कर ले। फिर इसकी ३ पुडिया वनाले। १ पुडिया दही के साथ खा ले। दूसरी पुडिया ३ घण्टे के पश्चात् दही के साथ ले। तीसरी पुडिया को शुद्ध सरसो के तैल ६० मिली० मे मिलाकर सम्पूर्ण शरीर पर अभ्यङ्ग करे।

पथ्य—दिन भर दही पीते रहे। दही अम्ल न हो, सायंकाल चावल दही तथा शर्वत खस मिलाकर खाये।

लाभ—इसके प्रयोग से एक दिन मे ही हर प्रकार की खाज नष्ट हो जाती है। अधिक सर्दी के दिनो मे सावधान रहे। यह योग सर्दी कर सकता है।

५ चमत्कारी योग—शुद्ध पारद, गन्धक, कालीमरिच, मुर्दासङ्ग तूतिया हल्दी कवीला वावची ६-६ ग्राम लें। पारद गन्धक की कज्जली करे शेष द्रव्यो का वस्त्रपूत चूर्ण कर ले। मुर्गी का एक अन्डा लेकर उसकी सफेदी निकाल ले। कज्जली सहित चूर्ण अण्डे मे डालकर पीतता मे मिला दें। फिर अन्डे का मुंह दूसरे अडे के खोल से वन्द कर उड़द के आटे का दो अगुल मोटा

लेप कर दे । फिर निर्धूम अगारो मे रखकर पकावे । अडे को उलट-पलट करते रहे । जब लेप का आटा लाल हो जाए तो निकाल ले । शीतल होने पर औषधि निकाल कर खरल कर ले ।

प्रयोग विधि—६ ग्राम औषधि शतधौत गोघृत मे मिलाकर केवल हाथो पर मलकर आग पर सेके ।

इससे आर्द्र या शुष्क नई या पुरानी खाज कच्छू २-३ वार केवल हाथो पर मलकर सेकने से समस्त शरीर की खुजली दूर हो जाती है । समस्त शरीर पर औषधि लगाने की आवश्यकता नही है ।

६ एक लोहे की कढाही मे सरसो का तैल १२० ग्राम डालकर आच पर रखकर गर्म करे । जब तैल इतना गरम हो जाए कि जलने लगे तो कडाही को उतार कर उसमे तत्काल ही मैनसिल का चूर्ण २५ ग्राम डाल दे । थोडा ठडा होने पर एक मिट्टी के कोरे पात्र को पानी से भरकर इसमे तैल डाल दे । रात भर ढका रहने दे । दूसरे दिन प्रात देखे, तमाम औषधि पानी पर तैरती मिलेगी । इसको हाथ से निकाल कर रख ले । खुजली पर लगाने से एक ही दिन मे दूर हो जाती है । दो-तीन दिन लगाना उत्तम है ।

(९) विस्फोट कुष्ठ—

१ मदयन्त्यादि लेप—मेहदी पत्र या बीज, मुर्दासङ्ग, पपडिया कत्था समभाग लेकर वस्त्रपूत चूर्ण बना ले । चूर्ण से चार गुना चमेली का तैल मिलाकर घोट ले । इसे विस्फोट पर लगावे । वालको के मुह, सिर पर जो स्रावयुक्त कडूमय फुन्सिया हो जाती है, उन पर लगाने से वहुत लाभ होता है ।

२ वृहत्मरिच्यादि तैल (यो० र०) ।

(१०) शतारु कुष्ठ—

१ मितादि लेप—दुग्ध पाषाण चूर्ण को गुलाव जल मे खूव घोटकर उसका चतुर्थ भाग प्रत्येक कपूर, मुर्दासङ्ग तथा पुष्पाजन (सफेद) लेकर सवके चौगुने शतधौत गोघृत मे घोटकर दिन मे तीन वार लगावे । इसमे चन्दन का तैल दुग्धपाषाण के वरावर छोडकर घोट देने से और भी लाभ होता है । इसे दाहयुक्त कुष्ठ पर लगावे ।

(११) विचर्चिका—

विचर्चिका एक दु खदायी एव दुराग्रही रोग है । आयुर्वेद शास्त्र मे इस रोग का वर्णन एकादश क्षुद्रकुष्ठो मे किया गया है ।

हाथ मे उत्पन्न हुई पिडकाए विचर्चिका कहाती है । हाथो का सार तथा रूक्ष चर्म फट जाता है तो उसे विचर्चिका कहते है और पाव मे त्वचा फट जाती है तो उसे विपादिका (विवाई फटना) कहते है ।

विचर्चिका दो प्रकार की होती है—१. शुष्क विचर्चिका तथा २ स्रावी विचर्चिका ।

शुष्क विचर्चिका—इनमे कोई स्राव नही होता, भुसी सी उतरती रहती है । खुजलाने पर केचुलीवत् पपडी सी उतरती है । पपडी व भुसी के नीचे त्वचा लाल निकलती है । दूसरे ही दिन वही लाल त्वचा शुष्क होकर पपड़ी वन जाती है । यह रोग मण्डलवत् चारो ओर वढता है । इसमे खुजली तीव्र होती है ।

स्रावी विचर्चिका—इसमे त्वचा पर छोटे-२ दाने निकलते है । इन दानो का वर्ण गहरा भूरा रक्ताभ होता है । इन दानों से फूटने पर पूय निकलती है । दाने खुजलाने से फूट जाते है । इनमे दाह एव खुजली वहुत होती है । रुग्ण स्थल के चकत्ते वढते रहते है । जिस स्थान पर भी पीप लग जायेगी वही उकवत वन जायेगा । पीप सूख कर पपडी खुरण्ट वनकर चिपक जाता है । पपडी के नीचे जल सदृश पूय एकत्र हो जाता है, जो वहता रहता है । पपडी के नीचे त्वचा लाल होती है । रोग पुराना होने पर रुग्ण स्थान काला पड जाता है

अन्त प्रयोज्य भेपज—

१ प्रात काल—रसमाणिक्य १२५ मि ग्रा उदयभास्कर १२५ मि ग्रा । दोनो को एकत्र खरल कर एक मात्रा । अनुपान—गोघृत ६ ग्राम, मधु १२ ग्राम । सहपान महामञ्जिष्ठादि क्वाथ ।

२ मध्याह्न—रसमाणिक्य १२० मि ग्रा अनुपान—महामञ्जिष्ठादि क्वाथ ।

३ सायकाल—आरोग्यवर्धिनी वटी २ गोली उष्णोदक

४ भोजनोपरात—सारिवाद्यरिष्ट समभाग लें, यथा विधि जल मिलाकर पिलावे ।

वाह्यप्रयोज्य भेपज—

१. चम्बलान्तक तैल—नीलाथोथा, कवीला, वावची, मुर्दासङ्ग, तालपत्रक प्रत्येक ३०-३० ग्राम, नारियल का

छिलका १ किलोग्राम ले। सब द्रव्यो को यवकुट कर ले। फिर एक देगची तांबे की, उसमे एक ईट रखे। ईट के ऊपर चीनी का प्याला रखे। ईट के चारो ओर द्रव्य चूर्ण डाल दे। देगची के मुह पर एक पीतल का पात्र रखे जो देगची के मुह पर फिट आ जाए। फिर गेहूँ के चूर्ण से दोनो की सन्धि बन्द करदे। पात्र को चूल्हे पर चढा दें। नीचे बेरी की लकडी जला, मध्यम आच दे। ऊपर के पात्र मे पानी भर दे। जब पानी गरम हो जाए तो उसे बदल दे। ठण्डा पानी भर दे। चार घण्टे आग देकर बन्द करे। शीतल होने पर सावधानी से सन्धि खोलकर प्याला निकाल ले। यह तैल से भरा होगा।

प्रयोग विधि—विचर्चिका, चम्बल को साबुन से साफ करे। पपडी तथा खुरण्ट को दूर करें। फिर रुई की फुरैरी से तैल लगाये। कुछ दिन के लगाने से पुराना दाद, चम्बल, विचर्चिका नष्ट हो जाता है।

२ लोध्रादि लेप—पठानीलोध, फिटकरी, मुर्दासग, तूतिया और जायफल समभाग लेकर कपडछन चूर्ण बना कर तीन गुने भेड के घी मे मिलाकर खूब घोट ले। इसे विचर्चिका, अपरस, उकौता और विपादिका मे लगावे।

३ वटफल प्रक्षेप—वट के फल को पीसकर लेप करे।

४ विचर्चिका लेप—अलकतरा १० ग्राम, सरसो का तैल १० मि लि, मिट्टी का तैल १० मि लि फिटकरी ५ ग्राम, सुहागा, काली मरिच, कपूर देशी, मुर्दासङ्ग ५-५ ग्राम ले, कपडछन चूर्ण कर, नीम के डडे से घोटे। यदि तैल कम पडे तो तीनो को समभाग मे मिलाकर यथावश्यक और डाले। यदि विचर्चिका मुह पर हो तो, मिट्टी के तैल के स्थान मे चूने का पानी मिलावे। यह मलहम दोनो प्रकार की विचर्चिका को नष्ट करता है।

५ सिक्थादि तेल—सर्षप तैल २५० मि लि को गर्म कर उसमे मोम देशी ३० ग्राम छोडकर गलावे। तदनन्तर गूगल १२ ग्राम छोडकर गलावे। तब तूतिया, मैनशिल का वस्त्रपूत चूर्ण, सिन्दूर १२-१२ ग्राम छोडें, फिर घोट कर रखे। यह विचर्चिका, कच्छू नाशक है।

६ सेहुड के डडे का खोल बनाकर इसमे सरसो को पीसकर भर दे। आग पर पकाकर फिर सरसो को लेपवत् प्रयोग करे। विचर्चिका नाशक है।

७ चडमारुतम्—देखो किटिभ कुष्ठ मे।

गलित्कुष्ठ

पूर्वाचार्यों ने गलत्कुष्ठ या गलित कुष्ठ नामक व्याधि का वर्णन नही किया। रस रत्न समुच्चय तथा आयुर्वेद प्रकाश मे गलत्कुष्ठ नाम से पृथक् सक्षेप मे लिखा है। गलत्कुष्ठ का प्रत्यात्म लक्षण 'स्पर्शनाश' है। दूसरा प्रमुख लक्षण "अङ्गपातन" (अङ्गों का गिरना) है।

आचार्य चरक ने स्पर्शनाश का निर्देश किसी भी कुष्ठ के लक्षणो मे नही किया है। कुष्ठ के पूर्वरूप मे सुप्तता तथा स्पर्शाज्ञत्व का उल्लेख अवश्य किया है। इन दोनो ही लक्षणो (पूर्वरूपो) का उल्लेख वातरक्त मे आचार्य चरक ने किया है—आचार्य सुश्रुत ने "अङ्गप्रदेशानां स्वाप." शब्द से स्पर्श नाश का वर्णन किया है। त्वचा का रसगत कुष्ठो मे स्पर्श हानि का वर्णन किया है।

गलतकुष्ठ के लक्षण—

पादयो श्वयथुस्तोदो गलन्त्यगुलयो यदि।
नासिका स्वरयोर्भङ्गो गलत्कुष्ठस्य लक्षणम् ॥

यदि पञ्जो टखनो और पिडलियो मे शोथ के साथ पांव या हाथ की अगुलिया गलने लगी हो और रोगी की नाक बैठ गई हो तथा स्वर भेद हो गया हो, तो इस रोग को गलत्कुष्ठ समझना चाहिए।

चिकित्सा क्रम—सर्व प्रथम रोगी को एक सप्ताह तक स्नेहपान कराये एतदर्थ—

प्रथम चार दिन तिक्त घृत (सु०) २५ ग्राम दे। फिर तीन दिन २० ग्राम की मात्रा मे प्रतिदिन प्रात काल देते रहे। इन दिनो मे खाने के लिए पुराना चावल गो-दुग्ध के साथ देते रहे। दो दिन विश्राम देकर तीसरे दिन अर्थात् प्रारम्भ से १० वे दिन प्रात काल रोगी भरपेट दही, भात, शक्कर मिलाकर खाने। पश्चात् मदनफल २५ ग्राम ले दुग्ध आधा लिटर तथा जल आधा लिटर मिलाकर दुग्ध अवशेष रहने तक उबाले। फिर छानकर इसमे यष्टिमधु चूर्ण १२ ग्राम मिलाकर पिलावे। इससे वमन होगा।

वमन के दिन पेया, दूसरे दिन विलेपी और तीसरे दिन मुद्ग यूष तथा भात दे। फिर प्रकृति पथ्याहार दे। वमनोपरात पुन स्नेहनार्थ तिक्त घृत ३ या २ दिन देकर विरेचन दे। विरेचनार्थ इच्छाभेदी रस शरबत चीनी के साथ दे। इस प्रकार सम्यक् शोधनोपरात आभ्यन्तर

भेषज दे। आवश्यकता हो तो रक्तमोक्षण करावे।

औषधि व्यवस्था—

प्रात काल—तुवरक तैल योग (सि. यो स)।

मात्रा—५ बूद से प्रारम्भ कर प्रति चौथे दिन ५ बूद बढाकर १५ बूद तक ले जायें, अनुपान रूप मे गोदुग्ध की मलाई मे लपेट कर दे या पञ्चतिक्त घृत से दे। रोगी जितनी मात्रा मे सहन कर सके उतनी मात्रा मे ही औषधि बढावें। अधिक मात्रा से जी मिचलाने लगता है, वमन भी हो जाती है। ऐसी स्थिति मे मात्रा कम करदे। स्नान के पश्चात् इसी तैल का समस्त शरीर पर अभ्यङ्ग करावे।

मध्याह्न—गलत्कुष्ठारि रस ५००मि. ग्रा., चालमोगरा चूर्ण ३ ग्राम दोनो को मिलाकर मधु के साथ दे।

सायकाल—कुष्ठकुठार रस रसमाणिक्य महातालकेश्वर प्रत्येक १२५ मि ग्रा.। को एकत्र खरल कर एक मात्रा बनाकर वृहत्मञ्जिष्ठादि क्वाथ से दे।

सोते समय—आरोग्यवर्धिनी २ गोली उष्णोदक से।

५ भोजनोपरान्त—खदिरारिष्ट।

रोगी को केवल गोदुग्ध और मौसम्बी मीठी, निम्बू मीठा अनार, सेव, केला और मीठा अगूर आदि मीठे फलो का रस दे। अम्ल लवण कटु पदार्थ, अन्न न दे।

कुष्ठ में सफल चिकित्सा-व्यवस्था

प्रात काल—महातिक्त घृत २५ ग्राम की मात्रा मे बृहत्मञ्जिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से दे।

मध्याह्न—राजतालेश्वर रस २५० मि० ग्राम, रस माणिक्य १२५ मि० ग्राम दोनो को मिलाकर एक मात्रा बनाये और पञ्चतिक्त घृत के अनुपान से दे।

सायङ्काल—वृहद् पचनिम्बादि चूर्ण ६ ग्राम को वृहत्मञ्जिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से दे।

सोते समय—आरोग्यवर्धिनी २ गोली उष्णोदक से।

भोजनोत्तर—खदिरारिष्ट ३० मि ली समभाग जल।

(२) लेप—रसकर्पूर, कम्पिल्लक, कर्पूर, मृद्दारशृङ्ग, सङ्गजराहत, कत्था, सफेदा काशगरी, सुहागा भुना, फिटकरी फूला, गन्धक प्रत्येक २०-२० ग्राम, शतधौत गोघृत २०० ग्राम। चूर्ण द्रव्यो का वस्त्रपूत चूर्ण कर सभी को गोघृत मे मिलाकर मलहम बना ले।

(३) अभ्यङ्ग—महामरिच्यादि तैलम्। अथवा—महातिक्त घृत गुग्गुल २५ ग्राम कोष्ण गोदुग्ध से।

मध्याह्न—अहिवध रस १२५ मि० ग्राम को पञ्चतिक्त घृत के अनुपान से।

सायङ्काल—कुष्ठहर रस २ गोली को खदिरारिष्ट या महामञ्जिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से।

सोते समय—आरोग्यवर्धिनी २ गोली उष्णोदक से।

भोजनोत्तर—खदिरारिष्ट २ तो समान जल मिलाकर

दोषानुसार उपचार

[१] वातोल्वण कुष्ठ—

प्रात काल—आरोग्यवर्धिनी २ गोली उष्णोदक से।

मध्याह्न—पञ्चतिक्त घृत गुग्गुल १० ग्राम वृहत् मञ्जिष्ठादि क्वाथ से। सायङ्काल—महातालेश्वर रस २५० मि ग्रा खदिरारिष्ट ३० मिली के अनुपान से।

सोते समय—आरोग्यवर्धिनी १ गोली उष्णोदक से।

भोजनोत्तर—खदिरारिष्ट ३० मि.ली समभाग जल।

[२] पित्तोल्वण कुष्ठ—

प्रात काल—महातिक्त घृत २५ ग्राम को मञ्जिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से। मध्याह्न—बृहत् पचनिम्बादि चूर्ण ६ ग्राम को जल के अनुपान से।

सायङ्काल—आरोग्यवर्धिनी वटी २ गोली को सारिवाद्यरिष्ट २० मि० ली० के अनुपान से।

[३] कफोल्वण कुष्ठ—

प्रात काल—सर्वांगसुन्दरी गुटिका ३ ग्राम को पटोलमूलादि क्वाथ से। मध्याह्न—महातालकेश्वर रस २५० मि ग्रा., माणिक्य १२५ मि ग्रा—सारिवादि क्वाथ से दे।

सायङ्काल—आरोग्यवर्धिनी २ गोली उष्णोदक से।

[४] गलित्कुष्ठ—

प्रात काल—महापचतिक्त घृत २५ ग्रा, गोदुग्ध से।

मध्याह्न—गलत्कुष्ठारि रस १/२ ग्राम को खदिरारिष्ट ३० मि० ली० के अनुपान से।

सायङ्काल—महातालेश्वर रस १२५ मि० ग्रा०, रसमाणिक्य १२५ मि० ग्रा०। दोनो को मिलाकर मधु या चालमोगरा तैल के अनुपान मे दे।

सोते समय—आरोग्यवर्धिनी २ गोली को जल से।

भोजनोत्तर—खदिरारिष्ट ३० मिली, समभाग जल।

दाद (दद्रु)

कवि० डा० रामकृष्ण उपाध्याय एम०ए० एस०एफ०,
ए०एस०एफ०, आयु०तीर्थ [कलकत्ता], नाड़ि रत्न
प्राध्यापक-द्रव्य-गुण विभाग, राज आयु० कालेज,
गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार।

दाद को दद्रु अथवा दीनाद व अंग्रेजी मे इसे Ring worm या Tinea भी कहते है। आयुर्वेद के दृष्टिकोण मे दाद की भी कुष्ठ रोग मे ही गणना की गई है। कुष्ठ रोग मे ही दाद, खुजली आदि साधारण त्वचा के रोग व कोढ दोनो का ही आयुर्वेद मतानुसार ग्रहण किया गया है। इनमे अन्तर जानने के लिए क्षुद्र कुष्ठ व महाकुष्ठ दो भेद कहा गया है। महाकुष्ठ सात प्रकार के होते है तथा क्षुद्र कुष्ठ ग्यारह प्रकार के होते हैं इन ११ क्षुद्र कुष्ठो मे से ही एक रोग दाद है जिसका हम वर्णन करेंगे। क्षुद्र कुष्ठ के लिए त्वक् रोग (Deseases of the skin) व महाकुष्ठ के लिए Leprosy कहा गया है। 'कुष्णातीति कुष्ठ' अर्थात् शरीर के त्वचा आदि धातुओ के नाश करने के कारण ही इस रोग को कुष्ठ कहते हैं।

हेतु—

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च।
भजतामागतां छर्दि वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥१॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम्।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ॥२॥
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम्।
नवान्नदधिमत्स्यानि लवणाम्लनिषेविणाम् ॥३॥
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीर गुडाशिनाम्।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ॥४॥
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पाप कर्म च कुर्वताम्।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मासमम्बु च ॥५॥
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रह।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ॥६॥
—च०चि० ७

अर्थात् विरुद्ध अन्नपान व द्रव और स्नेह तथा गरिष्ठ पदार्थो के सेवन करने वाले, उपस्थित वमन व अन्य वेगो को रोकने वाले, अत्यधिक भोजन करने के उपरान्त व्यायाम करने वाले, अत्यधिक अग्नि का सेवन करने वाले, धूप, परिश्रम तथा भय से पीड़ितावस्था मे बिना विश्राम किये ठंडा पानी पीने वाले, अपक्व पदार्थो का भोजन करने वाले, अध्यशन करने वाले, पञ्चकर्म मे कुपथ्य करने वाले, नवीन अन्न दही, मछली, लवण व अत्यन्त खट्टे पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने वाले, भोजन का परिपाक हुए बिना मैथुन करने वाले व दिन मे सोने वाले, ब्राह्मण, माता-पिता तथा आचार्य लोगो का तिरस्कार करने वाले एवं नीच कर्म करने वाले व्यक्तियो मे वात, पित्त एवं कफ—ये तीनो दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मास और शरीरस्थ जलीय धातुओ को दूषित कर सात (महाकुष्ठ) व ग्यारह (क्षुद्र कुष्ठ) कुष्ठो को उत्पन्न कर देते हैं जिनमे से दाद भी एक है।

मिथ्याऽऽहारविहारेण विशेषेण विरोधिना।
साधुनिंदावधाऽन्यस्वहरणाद्यैश्च सेवितैः ॥१॥
पाप्मभिः कर्मभिः सद्य प्राक्तनैश्चेरिता मला।
सिराः प्रपद्य तिर्यग्गास्त्वग्लसीकासृगामिषम् ॥२॥
दूषयन्ति श्लथीकृत्य निश्चरन्तस्ततो बहिः।
त्वचं कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टा कुष्ठमुशन्ति तत् ॥३॥

अर्थात् इस जन्म मे मिथ्या आहार-विहार करने से, विशेषकर विरोधी आहारो एवं विहारो के सेवन करने से, साधुजनो की निन्दा करने से तथा उनका वध करने से, दूसरो के धन सम्पत्ति का हरण एवं विनाश आदि पाप कर्म करने से अथवा पूर्वजन्म कृत पापो के उदय हो जाने पर वातादि दोष कुपित होकर तिर्यग्गामिनी सिराओ मे पहुचकर त्वचा, लसीका रक्त तथा मांस को दूषित करते हैं और उनको शिथिल करके बाहर निकल कर त्वचा पर विवर्णता उत्पन्न कर देते हैं। उस विकार को कुष्ठ कहते है। (अष्टाङ्ग हृदय)

सुश्रुत ने भी इन उपरोक्त हेतुओ को ही कुष्ठ की उत्पत्ति कारण बताया है। इन उपरोक्त कारणो से प्रकुपित हुए पित्त और कफ दूषित वायु के साथ तिर्यग्गामिनी सिराओ के द्वारा बाह्य रोग मार्ग मे चारो तरफ फैल जाते हैं। जिस जिस स्थान पर ये दोष पहुचते है,

वहा मडलो की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार के त्वचा मे फैले हुए दोष की चिकित्सा न करने पर बढ़कर आन्तरिक धातुओ मे प्रविष्ट हो जाते है। अर्थात् प्रथम त्वचा मे ही कुष्ठ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। बाद मे दोष आन्तरिक धातुओ मे प्रविष्ट होने लगते है।

लक्षण—

सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्। [च०चि०]

अर्थात् खुजली सहित लाल वर्ण की पिडिकाओ से युक्त उभरे हुए मडल को दद्रु कहते है।

दीर्घप्रताना दूर्वावदतसीकुसुमच्छवि'।
उत्सन मण्डला दद्रुः कण्डूमत्यनुषङ्गिणी ॥२४॥
[अष्टाङ्ग हृदय]

अर्थात् दद्रु की जडे दूब घास के समान लम्बी होती है, वर्ण अतसी पुष्प के समान होता है। चकते उभरे हुए होते है, कडू अर्थात् खाज होती रहती है तथा जीवन भर बनी रहती है अथवा बीच बीच मे शान्त होकर पुन होती रहती है।

दाद प्राय वर्षात् के दिनो मे अधिक लोगो को होता है वह भी उन लोगो को जोकि अपनी देह व वस्त्र को साफ सुथरे नही रखते। अन्य ऋतुओ मे भी कई लोगो मे देखा गया है। यह रोग कमर, गुप्ताङ्गो मे विशेष रूप से वैसे सम्पूर्ण शरीर मे कही भी हो जाता है। कफ



[a] अगुलियो के बीच मे खरवा
[b] श्लेष्मिक कला का सक्रमण

पित्त की विकृति से दद्रु रोग हो होता है। दाद का एक अन्य भेद होता है —

कच्छ दाद — जिनके हाथ पैर व बगल मे तथा कमर मे फुन्सिया हो, उसे कच्छ दाद कहते। इसमे दाह होता है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से दो प्रकार का होता है। नम व शुष्क। नम कच्छ मे फुन्सियां होती है। उससे पानी जैसा पूय का रिसाव होता रहता है। शुष्क कच्छ दाद मे प्राय उभरी हुई फुन्सिया अनेक नही होती अथवा वे उतने सूक्ष्म व एकाकार हो जाती है कि प्रथक प्रथक



नवजात शिशु की पीठ पर सक्रमण



[c] नाखून के जोड पर सक्रमण

न दिखाई देकर एकसा दिखाई देती है तथा प्रभावित पूरा चर्म खड उभरा हुआ, अत्यन्त सूक्ष्म दानेदार लाल, काला या नीला वर्ण का हुआ करता है।

चिकित्सा--

(१) अर्क तैल--आक पत्र स्वरस, हल्दी का गाढा रस समान भाग लेकर समान भाग ही सरसो के तैल मे विधि के अनुसार तैल बनाकर दाद से प्रभावित स्थान को अच्छी तरह साफ व शुष्क कर दिन मे ३-४ बार थोडा थोडा मर्दन करने से लाभ होता है।

(२) कच्छ राक्षस तैल मन मिला, हीराकसीस आमलासार गन्धक सेंधानमक, स्वर्णमाक्षी, पाषाण भेद, पीपल, कलिहारी, कनेर, वायविडङ्ग, दालचीनी (इसके स्थान पर अखरोट का छिलका भी लिया जाता है), नीम पत्र सब समान भाग लेकर जल की सहायता से महीन पीस लेते है तथा आक और थूहर का दूध ४-४ गुना, गोमूत्र १६ गुना, सरसो तैल ४ गुना डालकर यथाविधि तैल पाक करते है। इसके लगाने से असाध्य कच्छ, दाद, पामा, खुजली व सभी प्रकार के चर्म रोग नष्ट हो जाते हैं।

(३) कूठ, वायविडङ्ग, चक्रमर्द बीज, तिल, सैंधानमक व सरसो सभी को नीबू के स्वरस मे पीसकर गोली बनाकर रखे। इसे जल मे घिसकर दाद पर लगाने से ठीक हो जाता है।

(४) चक्रमर्द (पवाड) के बीज को काजी अथवा नीबू के स्वरस मे सडाकर फिर बारीक पीसकर दाद पर लगाने से लाभ होता है। मेरा अनुभूत है।

(५) जिसके पूरी देह पर ही दाद हो गया हो उसे चक्रमर्द का साग खिलाते हैं तथा चक्रमर्द के उबले पानी से स्नान कराते हैं व ४ नम्बर की औषधि को लगाने से भी लाभ होता है। यह मेरा कई रोगियो पर अनुभव प्राप्त है।

(६) लाक्षा, सोठ, मरिच, पीपल, पवाड बीज, विरोजा, कूठ, सरसो, हल्दी तथा मूली के बीज को तक्र मे पीसकर दाद पर लगाने से अच्छा लाभ करता है।

(७) चकवड बीज, वायविडङ्ग, अमलतास की जड पीपर और कूठ इन सबके कषाय के पान करने, स्नान करने अथवा लेप करने मे दाद ठीक होता है।

(८) चकवड बीज, गर्जरस (राल एव करायल), मूली बीज। इन तीनो को अलग अलग काजी मे पीसकर दाद या अन्य चर्म रोग पर लेप करने से दाद ठीक होता है।

(९) एडगजादि लेप—चकवड बीज, कूठ, सैंधा नमक, सरसो, वायविडङ्ग। इन सबको समान भाग लेकर काजी मे पीसकर लेप करने से कृमि-कुष्ठ, मण्डल कुष्ठ, दद्रु कुष्ठ शान्त होते हैं।

(१०) दद्रुहर लेप—आमलासार गन्धक, कच्चा सुहागा, सफेद कत्था, राल सब ५-५ तोला मिलाकर कपडछन चूर्ण करे। फिर ५ तोले गूगल का बारीक चूर्ण मिलाकर नीबू के रस मे तीन घटे तक खरल कर उसकी गोली बना ले।

उपयोग—इस गोली को गोमूत्र या नीबू के रस मे घिसकर लगाने से लाल-काला, नया या पुराना दाद नष्ट हो जाता है।

(११) दद्रु दमन मलहम—क्राइसोफेनिक एसिड ४ ड्राम, कार्बोलिक एसिड ४ ड्राम, सेलिसिलिक एसिड २ ड्राम, पीली वेसलीन १६ औस लेकर सबको खरल कर मलहम बना ले। यह २-४ दिन मे दाद नष्ट कर देता है। मलहम वाले हाथ से आख स्पर्श न करे।

(१२) गन्धक रसायन १-२ रत्ती की मात्रा मे समान भाग मिश्री मिलाकर दूध के साथ खिलाना चाहिये। इसी प्रकार दाद व अन्य चर्म रोग मे आरोग्यवर्धिनी, समीर पन्नग, नारसिंह चूर्ण, भृङ्गराजासव तथा खदिरारिष्ट का भी सेवन करना चाहिए।

पथ्यापथ्य—खट्टा, मीठा व तीते पदार्थों का सेवन नही करे। रोगी के कपडे, तौलिये, बिस्तर आदि का प्रयोग नही करना चाहिए। इसके प्रयोग मे आने वाले सभी वस्त्र को गर्म खौलते पानी मे सोडा डालकर कुछ समय उबालकर फिर साफ करना चाहिए। रोगी से स्पर्श नही करना चाहिये। विशेषकर दाद से प्रभावित अग का तो स्पर्श करना ही नही चाहिए। न रोगी का झूठा भोजन ही किसी को खिलाना चाहिये।

—※※—

त्वचा रोग और आयुर्वेद

वैद्य सम्पतराज जोशी भिषगाचार्य

वैद्य प्रभारी—राजकीय आयुर्वेदिक औषधालय, पाचला सिद्धा (नागौर) राज०

तत्र सप्तत्वचोऽसृज ॥ अष्टाङ्गहृदय शारीर । ३/८१

इस महाभूतसम शरीर मे रक्त का धातूष्मा से परिपाक होने पर सात त्वचाये उत्पन्न होती हैं—

त्वचा नाम

अष्टाङ्गहृदय	सुश्रुत	चरक
१ भासिनी	१ अवभासिनी	१ उदकधरा
२ लोहिनी	२ लोहिता	२ असृग्धरा
३ श्वेता	३ श्वेता	३ सिध्म
४. ताम्रा	४ ताम्रा	४ कुष्ठ दद्रु उद्भवा
५. त्वग्वेदिनि	५ वेदिनी	५. अलजी विद्रधि उत्पन्ना
६. रोहिणी	६. रोहिणी	
७ मासधरा	७ मासधरा	६ कृष्ण

आधुनिक मत से त्वचाये दो प्रकार की है। बाह्य एव अन्त त्वचा । इनको कमश इपीडरमिश एव डरमीश कहा है । ये दो प्रकार की त्वचाये सात होती है तथापि बाह्य त्वचा मे पाच, अन्त त्वचा मे दो स्तर मिलते है । अत कुल ये भी सात होती है । प्राच्यो एव आधुनिको का तत्वत ज्ञान साम्य हो जाता है ।

त्वचा नाम	अधिष्ठान	रोग
१ अविभासिनी	सर्व वर्णो को स्पष्ट करती है ।	क्षुद्ररोग सिध्म पद्म कटक
२. लोहिता	—	न्यच्छ तिल
३ श्वेता	—	व्यङ्ग चर्मदल अजमली
४ ताम्रा	रग द्रव्य वाले स्तर	किलास कुष्ठ
५ वेदिनी	—	कुष्ठ विसर्प
६ रोहिणी	—	श्लीपद गलगड
७ मासधरा	—	अर्श भगन्दर विद्रधि

आयुर्वेद मे त्वचा एव रक्त के बारे मे अनेक स्थलो पर वर्णन भरा पडा है । रक्ताल्पता पाडु आदि की अवस्थाओ मे विवर्णता कृशता रूक्षता कठोरता आ जाती है । इसकी वृद्धि होने पर नेत्रो मे रक्तता व शिरापूर्णता शिराओ का विस्फार आदि स्पष्टतया दिखाई देते है । आयुर्वेद मे त्वक रोग पृथक से निर्देशित नही कर रक्तज रोगो के रूप मे लिखे है । रक्त दुष्टि से ही त्वचा विकृति सभव होती हे । इसी कारण रक्तशुद्धि कारक द्रव्य त्वग्रोगो मे लाभकारक होते हे ।

रक्त उत्पत्ति स्थान एव समानता—

रक्त की उत्पत्ति के स्थान यकृत् एव प्लीहा से पित्त से मिश्रित यह रक्त अतिशय रूप से उत्पन्न होता है, बढता है । 'तुल्य वीर्य उभेह्यते रसतो द्रव्य ततस्तथा'

रक्त व पित्त ये दोनो वीर्य तथा रस व द्रव्य मे समान धर्मी है । चरकाचार्य ने पित्तस्य शोणित समानत्वात् कहा है । शीत काल मे रक्त प्रकोप होने से पित्त का भी प्रकोप होता है। चक्रपाणिदत्त जी ने भी दुष्ट रक्त का साम्य पित्त ही कहा है । रोग निदान के लिए शरीर ज्ञान परमावश्यक है । कुष्ठ आदि त्वचा के रोग त्वचा रोगाधिष्ठान के चौथे पाचवे छटे भाग मे होते है । इसी कारण से त्वचा के रोगो मे ऊपरी बाह्य अन्तर भाग मे औषधि लेप आदि से कोई लाभ नही होता । व्याधि की वैकारिक परम्परा का ज्ञान आवश्यक हे । आज की इस स्थिति मे इसका वैज्ञानिक अनुशीलन भी आवश्यक है । त्वचा रोगो की पैथोलोजी समझना आवश्यक है—

स एव कुपितो दोष समुत्थान विशेषत ।
स्थानान्तर गतश्चैव जनयन्त्यामयान् बहून् ॥

वात दोष विवरण

भेद	स्थान	कार्य	विकृति से रोग
[१] प्राण	[१] हृदय	[१] प्राणावलवन, अन्न प्रवेश	[१] श्वास हिक्कादि
[२] उदान	[२] कठ	[२] भापण गीतादि	[२] कठ कर्ण शिर मुख दन्तादि
[३] समान	[३] आमाशय, पक्वाशय	[३] अन्नपाचान रसमलादि विवेचन	[३] मदाग्नि अतिसार गुल्म
[४] व्यान	[४] सर्वकाय	[४] रससवहन	[४] सर्वाङ्ग एकाङ्ग घात
[५] अपान	[५] गुदा (योनि-स्त्री)	[५] मलमूत्र शुक्र रज गर्भ निष्कासन	[५] गुदा वस्ति के रोग

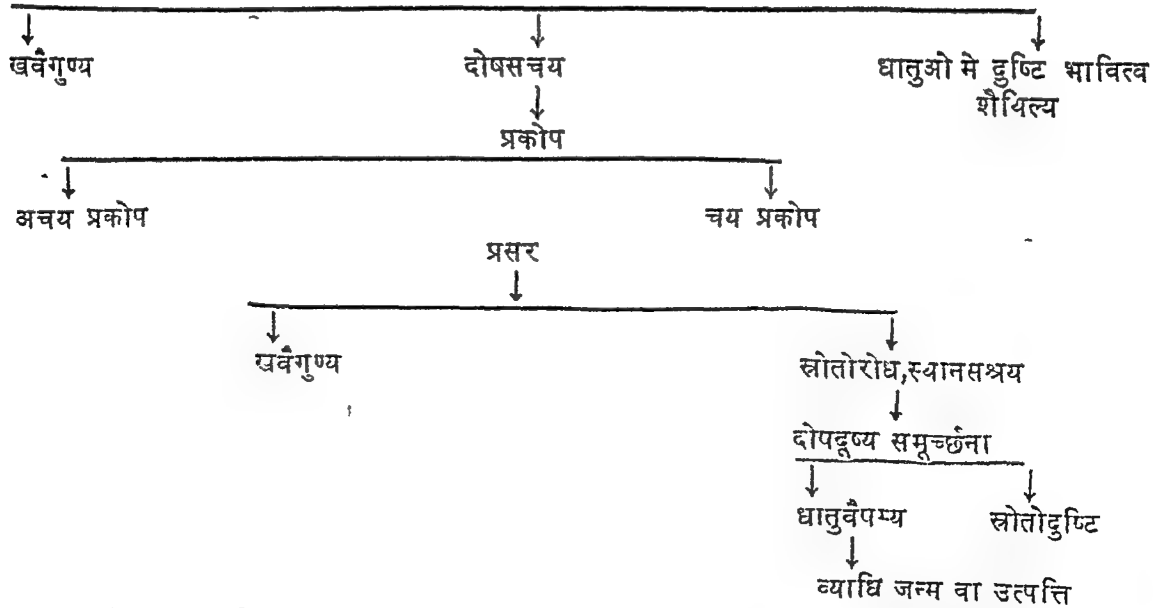
पित्तदोष विवरण

[१] पाचक पित्त—
स्वाशये पाचक पित्तमग्नि रूप तिलोन्मितम् ।
[२] भ्राजक पित्त —
भ्राजक कातिप्रद यत्तु लेपाभ्यङ्गादिपाचकम् ।
[३] रञ्जक पित्त—
रञ्जक तु यकृत्प्लीहोम्तद्रस शोणितम् नयेत् ।
[४] आलोचकपित्त—
आलोचक स्थित नेत्रे रूपदर्शनकारि तत् ।
[५] साधकपित्त—
साधक हृदये तिष्ठेन्मेधाप्रज्ञाकर च तत् ।

कफदोष विवरण

१ अवलाम्वककफ अतोऽवलम्वक
२. क्लेदककफ —श्लेष्मायस्त्वामाशयसंश्रित ।
क्लेदक सोऽन्नसङ्घातक्लेदनात् ॥
३ वोधक कफ—रस वोधनात् वोधको रसनास्यस्तु ॥
४ तर्पक कफ — शिर सस्थोऽक्ष तर्पणात् '' तर्पक ॥
५ श्लेष्मक—श्लेष्मक सम्यक्श्लेषणात्सन्धिपु स्थित ।

रोग उत्पन्न होने से पूर्व वसन्त ऋतु मे वमनादि द्वारा कफ का हरण, शरीर मे विरेचन द्वारा पित्त का हरण, वर्षाकाल मे स्नेहपान वस्ति आदि उपायो से वात दोप का सशमन कर देना चाहिए।



धातुओ मे दुष्टि भावित्व की स्थिति पूर्व मे ही निदानो द्वारा हो सकती है। जिसका उदाहरण स्पष्टतया कुष्ठादि मे मिल जाता है। 'कुष्ठ –त्वगादयश्चत्वार शैथिल्यमापद्यन्ते'। साधनो का अभाव या दुर्भाग्य है कि हमारे देश मे पचकर्म चिकित्सा का पर्याप्त अभाव है। यदि जिला स्तर पर भी १-१ आयुर्वेदीय आदर्श पचकर्म चिकित्सालय की स्थापना की जावे तो अनेक कष्टसाध्य कुष्ठादि रोगियो का भला हो सकता है।

अर्म

वैद्य श्री अशोक भाई तलाविया "भारद्वाज" आयुर्वेदाचार्य B S A M.
सुवर्ण चद्रक प्राप्तकर्ता—शुद्ध आयु मडल-गुजरात,
भारद्वाज औषधालय, स्वामीनारायण मदिर, सावरकुण्डला (भावनगर)

श्री वैद्य अशोक भाई तलाविया आयुर्वेद जगत के महान विद्वान हैं। आपके लेख विद्वता से ओत-प्रोत होते हैं। नेत्रभिष्यन्द का एक उपद्रव अर्म (Pterygium) है जिसके बाद मे और भी उपद्रव उठ खड़े होते हैं। इस अर्म रोग का तलाविया जी ने अच्छा वर्णन किया है।

आप मूल मे गुजराती भाषा के लेखक हैं। इस कारण हिन्दी लेखो मे कही-कहीं भाषा दोष हो सकता है। यद्यपि कम्पोज तथा प्रूफ रीडिंग के समय इनमे पर्याप्त सुधार कर देते है। फिर भी कोई भाषा दोष रह जावे एतदर्थ क्षमाप्रार्थी है।

आगामी वर्ष 'धन्वन्तरि' का विशाल विशेषांक "पुरुष रोग चिकित्सांक" प्रकाशित किया जा रहा है उसका विशेष सम्पादन आप ही कर रहे हैं। —दाऊदयाल गर्ग

महर्षि सुश्रुत ने अर्म पाच प्रकार का बताया है। जैसे कि—प्रस्तारि अर्म, शुक्लार्म, रक्तार्म, अधिमासार्म, और स्नायु अर्म।

निदान—

यह रोग तम्बाकु आदि नशीली वस्तुओ के सेवन, अति स्त्री प्रसङ्ग, तप्त भूमि पर नगे पाव चलना, आवश्यकता न होने पर भी चश्मे का प्रयोग करना, दुखती हुई आखो से लिखना, पढना आदि कारणो से नेत्र बिलकुल रक्त की तरह सुर्ख होजाते है।

इस रोग की उत्पत्ति के कारणो का विश्लेषण करते समय यह ध्यान देने की बात है कि जहा यह रोग पथ्य विकृति के कारण होता है वहा बाह्य कारण भी इस रोग को पैदा करते हैं। आचार्य ने कफ प्रकोपक पथ्य का उल्लेख करते हुए बताया है कि अधिक गुरु, मधुर, स्निग्ध दुग्ध सेवन, गन्ने का रस ,द्रव पदार्थों का अति सेवन दधि घृत मे तली हुई पूरी आदि खाद्य, दिवास्वप्न हिमपात के समय, दिन तथा रात्रि के पूर्व भाग मे, भोजन के तत्काल बाद तथा वसत ऋतु मे कफ का प्रकोप होता हे। इस प्रकार उपरोक्त कारण इस रोग की अभिवृद्धि कर सकते है विशेष कर नेत्राभिष्यन्द के समय।

आगन्तुक कारणो का उल्लेख करते समय निम्न बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है—

[१] रेत उडकर आखो गिरना [२] नेत्राभिष्यन्द के उपचार के समय रही हुई असावधानी के कारण [३] नेत्राभिष्यन्द या नेत्र क्षत के समय कठोर द्रव्यो का सेवन [४] मसूर प्याज, लहसुन, मछली, तेजमिर्च, मसाला आदि पदार्थों का अधिक सेवन [५] नेत्र क्षत का सम्यक् उपचार करना [६] आघात होने या कोई शल्यका गिर जाने पर तत्काल उचित उपचार न करना।

लक्षण—

नाक के कोने से अर्म की शुरूआत देखी जा सकती है। श्वेत पटल मे रक्ताभ रङ्ग की पतली डोरी बनती है। उसे हम मासवृद्धि भी कहते है। यह वृद्धि धीरे-धीरे आगे बढती है। नेत्र लाल होता है। वेदना अल्प होती है। आखो से उभार जैसा लगता है। जब यह वृद्धि श्वेत पटल मे स्थिर रहती हे तब तक वेदना की अनुभूति अल्प रहती हे, मगर जब श्वेत पटल से आगे कृष्ण पटल मे अर्म पहुचता है तब वेदना होती है और आगे जब दृष्टि मे अर्म पहुचता है तब दृष्टि हानि होती है। कभी यह रोग एक नेत्र मे होता हे तो कभी दोनो नेत्रो मे भी होता है।

सुश्रुत मतानुसार पाच प्रकार का अर्म है। उसके लक्षण इस प्रकार है—

१ प्रस्तारि अर्म—पतला, विस्तीर्ण, कृष्ण, रक्त अथवा श्वेत अर्म को प्रस्तारि अर्म कहते हैं ।

२ शुक्लार्म—श्वेत और मृदु अर्म को शुक्लार्म कहते है और धीरे-२ उसकी वृद्धि होती है ।

३ रक्तार्म—कमल की तरह कोमल रक्तार्म होता है।

४ अधिमास अर्म— पृथु, विस्तीर्ण और पटल अधिमास अर्म होता हे और यकृत की तरह लगता है ।

५ स्नायु अर्म—स्थिर, प्रसारि और अधिक मास युक्त और शुष्क अर्म-को स्नायु अर्म कहते हैं।

चिकित्सा—

अर्म की चिकित्सा से पूर्व निदान परिवर्जन कराना अति आवश्यक है । जब अर्म श्वेत पटल मे रहता है तब औषधि उपचार मे यह रोग ठीक हो जाता हे । मगर जब अर्म कृष्ण पटल मे आ जाता है और आगे दृष्टि मे फिर देखा जाता है तब शस्त्र क्रिया अनिवार्य हो जाती है । हमने देखा हे कि अर्म की शस्त्रक्रिया कराने से भी यह रोग होता हे। दो तीन बार शस्त्रकिया मे भी यह नष्ट नही होता । इसलिये शुरू होते ही इनकी औषधि व्यवस्था करानी चाहिये । शास्त्रीय उपचार अनेक है—

१ चन्द्रोदय वर्ति—इस वर्ति को नेत्र मे लगाने से अर्म दूर होता है ।

२ पुष्पहर अञ्जन (रसनत्रसार)—यह प्रसिद्ध अञ्जन है, लगाने से लाभ होता हे ।

३ स्वर्ण माक्षिक भस्म २ रत्ती, वशलोचन २ रत्ती, त्रिफला चूर्ण १ माशा, और यष्टीमधु १ माशा—१ मात्रा तीन बार मधु से लेना चाहिए ।

४ त्रिफला जल से नेत्र प्रक्षालन कराये ।

मेरी अनुभूत चिकित्सा—

यहा हम अनुभव प्रस्तुत करते है ।

[१] महा मजिष्ठादि क्वाथ—क्वाथ विधि से दो बार, सुबह शाम देवे ।

[२] किशोर गुग्गुल—१-१ गोली ३ बार पानी से ।

[३] त्रिफला गुग्गुल—१-१ गोली ३ बार पानी से ।

[४] त्रिफला बिन्दु—त्रिफला, दारुहरिद्रा और पुनर्नवा का क्वाथ बनाकर विधिवत् काढा तैयार करना चाहिए और बाद मे त्रिफला चूर्ण और मधु मिलाकर बिन्दु तैयार करना चाहिए । इस बिन्दु से दृष्टि ठीक होती है । अर्म की यह अनुभूत औषधि है ।

[५] त्रिफलाघन—१ तोला सुबह-शाम दूध से ।

[६] त्रिफला जल से नेत्र प्रक्षालन करना उचित है ।

[७] सप्तामृत लौह २ रत्ती, स्वर्ण माक्षिक २ रत्ती, आयु वर्धनी १ रत्ती, १ मात्रा, तीन बार मधु से देना ।



पृष्ठ २६२ का शेषांश

सूत्रगत बी एम पी अवलोकन निम्नानुसार रहे—

क्र	घटक	बी एम पी प्रमाण			
		+++	++	+	—
१	प्रथम अ०	११	७	२	०
२	द्वितीय अ०	३	२	६	६
३	तृतीय अ०	०	०	१	१६

प्रमुख लक्षणो के आतुर स मे ह्रास निम्नानुसार रहा—

क्र	घटक	आतुर स० प्रति अवलोकन		
		प्रथम	द्वितीय	तृतीय
१	नख नेत्रत्वक पीतता	२०	१२	२
२	अग्निमाद्य/अविपाक आरोचकादि	१२	६	२
३	द० पार्श्वशूल	१५	१२	६
४	मलवैवर्ण्य	२०	१४	१
५	पीत मूत्रता	२०	१४	१

इस प्रकार अवलोकनो से स्पष्ट है कि प्रयुक्त औषध एव आहार पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुए ।

आभार—प्रस्तुत कार्य मे मिले सहयोग के लिये लेखक सस्था के आचार्य श्री एम० एच० बारोट का आभारी है ।





नेत्र के संक्रामक रोगों का परिचय एवं चिकित्सा

डा० धनञ्जय सिंह आयुर्वेदाचार्य, काय एवं सामान्य शल्य चिकित्सक,
आरोग्य सेवा सदन, डोहरी-शिवपुर (मिर्जापुर)

—***—

नेत्र श्लेष्मकला के रोग —

१ नेत्र श्लेष्मकला शोथ (Conjunctivitis)

२ रोहा या Trachoma or Granular Conjunctivitis

३ पैनस (Pannus)

४ अर्म (Pterygium)

नेत्र श्लेष्मकला नेत्र के वाह्य भाग की तथा पलकों के भीतरी भाग को आच्छादित करने वाली झिल्ली होती है। जो भाग नेत्र के श्वेत मंडल को आच्छादित करती है, उसे नेत्रीय (Bulbur) तथा जो भाग पलक के भीतरी भाग को आच्छादित करता है उसे Palpebral कहते हैं। जहां नेत्रीय तथा वलीय श्लेष्मला मिलती है उसे तोणिका (Fornix) कहते हैं।

नेत्र श्लेष्मकला शोथ (Conjunctivitis)--

नेत्र श्लेष्मकला शोथ कारणो के अनुसार कई प्रकार का होता है तथा उसी के अनुसार चिकित्सा भी की जाती है।

कारण— वायु मंडल के अन्दर धूल के कण, पूयोत्पादक जीवाणु, गोनोरियल जीवाणु, रोहिणीजन्य जीवाणु इत्यादि रहा करते हैं। अगर किसी प्रकार इनका सम्पर्क नेत्र से हो गया है या गन्दे हाथ वस्त्र से पोंछ लिया गया तथा गन्दगी का सम्पर्क नेत्र से हो गया तो उसी प्रकार का श्लेष्मकला शोथ उत्पन्न होता है। अगर धूल के कण, धूप का प्रभाव इत्यादि के कारण नेत्र श्लेष्मकला शोथ हुआ तो इसको सामान्य प्रकार का श्लेष्मकला शोथ तथा किसी जीवाणु के सम्पर्क मे आने से श्लेष्मकला शोथ हुआ हो तो उसी के अनुसार नामकरण किया जाता है। जैसे गोनोरियल श्लेष्मकला शोथ इत्यादि

लक्षण—नेत्र श्लेष्मकला मे सूजन होती है, श्लेष्मकला लाल रंग की हो जाती है अर्थात् नेत्र लाल हो जाता है। नेत्र से द्रव का स्राव होता है, कभी कभी द्रव (आसू) के स्थान पर पूय मिश्रित द्रव निकलता है। स्राव के कारण दोनो पलकों का आपस मे चिपक जाना, नेत्रो मे भारीपन, दर्द, बैचैनी तथा प्रकाश असह्यता हो जाती है। रोगी अपना नेत्र बन्द रखने मे ही आराम महसूस करता है। ये लक्षण अन्य नेत्र रोग मे भी हो सकता है इसलिये इसे अन्य नेत्र रोगो से अलग कर लेना उत्तम है।

स्थानिक चिकित्सा—

(१) नेत्र स्नान प्रक्षालन—नेत्र को दिन मे कई बार टङ्कण विलयन (१ औंस मन्दोष्ण पानी मे ५ से १० ग्राम बोरिक एसिड पाउडर) से प्रक्षालन करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने इसे अक्षिधावन नाम से निर्दिष्ट किया है। इस कर्म का प्रयोग रोग की तीव्र अवस्था मे न करके जीर्णावस्था मे करने का निर्देश किया है।

न चानिवन्ति दोषेऽक्षिण धावनं सम्प्रयोजयेत्।
दोष प्रति निवृत्त' सत् हन्याद दृष्टेर्बलं तथा ॥

—सु० सू०अ०१८

(२) शीतोपचार—पीडित नेत्र पर ठंडा (शीत) जल का सिंचन या त्रिफला भिगोकर गुलाब जल या बर्फ की पोटली बनाकर क्रियायें की जाती हैं। आचार्य सुश्रुत ने इसे 'सेक' नाम से निर्दिष्ट किया है। नेत्र को बन्द करके बकरी दुग्ध, मातृस्तन दुग्ध अथवा औषधियो के शीत कषाय से या क्वाथ ठंडा करके नेत्रो के ऊपर धार के रूप मे छोडना लाभकर है या इन्ही तरल पदार्थों को कपडे मे भिगोकर प[illegible]ी रखी जाती है।

सेकस्त्व सूक्ष्म धाराभि सर्वस्मिन्नयने हितः।

उष्णोपचार—अभिष्यन्द मे शीतोपचार से लाभ न होने पर उष्णोपचार करे। इसके लिये गर्म जल मे कपडा भिगोकर निचोड ले तथा गर्म सेक पलक वन्द करके ऊपर मे करे। आयुर्वेद मे नेत्र का मृदु स्वेदन प्रशस्त माना गया है, जिसके लिए कपडा, रुई तथा हथैली सेककर तथा वाष्प स्वेद काम मे लाया जाता है।

(४) द्रव निक्षेप विन्दु या आश्च्योतन—आखो मे वूद वूद डालने वाली कई प्रकार की दवा प्रचलित है। इनमे 'डावर' की आईनोला का भी प्रयोग किया जाता है।

सुश्रुत ने नेत्र बिन्दु गुलाव जल १ वोतल ७५० मि० ली०, कपूर ३ माशा, अफीम १ तोला, रसौत ४ तोला के अनुपात मे मिलाकर, छानकर वोतल मे रख ले तथा दो-दो वूद डालने को कहा है। इससे नेत्रस्राव, कड्डू एव लाली ठीक हो जाती है।

(५) साम्भर छांग पयो वाऽपि गूलाश्च्यो तनमुत्तमं।
मधुक रजनी पथ्या देवदारु च पेषयेत्॥ —सुश्रुत

मुलेठी, हरिद्रा, हरॅय एव देवदारु को समान भाग लेकर जल या वकरी के दूध मे घिसकर अजन करने से वाताभिष्यन्द रोग मे विशेप लाभ होता है।

(६) गुलाव जल मे फिटकरी के लावे का चूर्ण डाल कर घोल ले तथा छानकर दो-दो वूद उपयोग करे। प्रतिदिन डालने से रोग होने का भय नही रहता।

(७) नीम के पत्ते, त्रिफला, पठानी लोध समभाग पीसकर गुनगुना गर्म कर सुहाता-सुहाता कपडे मे रखकर पुल्टिस शाम को वाँधे।

(८) पान के पके पत्तो को पीसकर घी (गाय का शुद्ध घी) मे हलुवा पकाकर गर्म-गर्म सुहाता ही रात्रि मे पलक के ऊपर लेप करे।

(९) लाल चन्दन एक चम्मच घिसा हुआ, १ मासे रसौत, १ रत्ती अफीम, आधा रत्ती केशर-ये सव घिसकर एक मे मिलाकर गर्म करने के पश्चात् पलक के ऊपर रात्रि मे सोते समय लेप करे।

रोहा (Trachoma or Grannular conjunctivitis)—

इस रोग मे वच्चे ज्यादा परेशान होते है।

कारण—यह रोग भी सक्रामक है। अगर इस रोग से पीडित व्यक्ति का स्राव हाथ, वस्त्र इत्यादि के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति के नेत्र तक पहुचता है तो उसको भी यह रोग हो जाया करता है। इस रोग का कारण एक विशेष प्रकार का वाइरस है जिसे विषाणु कहते है। इस प्रकार के रोग का आक्रमण वर्त्मीय श्लेष्मकला पर ही विशेष रूप से होता है। नेत्रीय श्लेष्मकला पर इसका आक्रमण नही के समान होता है।

लक्षण—रोगी पलक को उलट कर देखा जाय तो वहा पर दानो की उपस्थिति पाई जाती है एव ये दाने सावूदाने जैसे होते है। पलको मे शोथ, रोगी नेत्र वन्द रखता है, द्रव या द्रव मिला पूय का स्राव दर्द, नेत्र खोलने मे असमर्थता इत्यादि लक्षण मिलते है। कभी-कभी नेत्र श्लेष्मकला शोथ तथा पोथकी (रोहे) का एक साथ आक्रमण भी हो सकता है।

चिकित्सा—

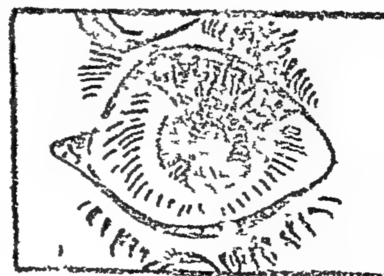
(१) सर्वप्रथम वोरिक पाउडर तथा हल्के गर्म जल से सेक करना चाहिये तथा दोनो पलको को उलट कर किसी जीवाणुनाशक घोल से साफ कर लो।

(२) तत्पश्चात् उसमे कार्टिसोन युक्त कोई जीवाणु नाशक मलहम लगाकर नेत्र वन्द कर ऊपर से कॉटन पैड रखकर वेण्डेज से वाध देना चाहिये। अगर रोग एक नेत्र मे हुआ हो तव एक नेत्र का तथा दोनो मे हो तो दोनो की चिकित्सा करनी चाहिए।

(३) उपयुक्त क्रिया करने के वाद एण्टिवायटिक्स औपधिया खाने को देनी चाहिए तथा दर्द हो तो दर्द-नाशक औपधियो का उपयोग करना चाहिये। यह क्रिया ३-४ दिन तक अवश्य ही करनी चाहिए। आवश्यकता हो तो और लम्बी चिकित्सा करनी चाहिए।

पोथकीजन्य शिराजाल (Pannus)—

कारण एव लक्षण—पैनस रोग का मुख्य कारण रोहो के विष है। इस रोग मे स्वच्छ मण्डल (Cornea) मे ऊपर की ओर लाल रग की आपस मे समानान्तर



← पोथकीजन्य शिराजाल

रक्त नलिकायो का उत्पन्न होना है तथा ये नलिकाये मध्य तक आती है। इस कारण स्वच्छ मडल मे धु धलापन आने लगता है। अगर रोग पुराना होता है तो रक्त नलिकाये स्वच्छ मंडल के चारो ओर उपस्थित रहती है और स्वच्छ मण्डल धु धला तथा कमजोर पड जाता है। अगर इस प्रकार का लक्षण मिले तो स्वच्छ मडल व्रण (Corneal ulcers) से इसको पृथक कर लो। यह विकृति एक या दोनो नेत्रो मे हो सकती है।

इसमे पलको का फूला हुआ होना, रोगी नेत्र को सदैव बन्द रखता है, नेत्रो मे दर्द होता है, पीडा सहन नही होती है, नेत्रो का लाल होना तथा कभी कभी मन्द ज्वर की उत्पत्ति देखी गयी है।

चिकित्सा—

(१) स्थानिक औषधियो के रूप मे एण्टिवायटिक्स मलहम का प्रयोग करना चाहिये।

(२) खाने के लिये, सल्फा ग्रुप की औषधिया तथा पैनसिलीन १० लाख इन्जेक्शन के रूप मे प्रतिदिन देनी चाहिए।

(३) यह रोहा रोग के कारण होता है, अत जब रोहा के दाने अधिक बडे हो तब शस्त्रकर्म करना चाहिये।

(४) यदि रक्त नलिकाये कम न हो तथा स्वच्छ मण्डल का धु धलापन मौजूद रहे तो नेत्र प्रवाह बढाने की दृष्टि से डायोनीन का प्रयोग करना चाहिये।

सावधानी—(१) यह छुआछूत का रोग है, अत स्वस्थ आदमी को रोगी से दूर रखना चाहिये।

(२) रोगी द्वारा प्रयुक्त, रूमाल, तौलिया इत्यादि का प्रयोग अन्य लोग कदापि न करें।

अर्म (Pterygium)—

इसको सामान्य बोलचाल की भाषा मे नाखूना कहते हैं। यह नासिका अथवा कर्ण की तरफ से स्वच्छ मण्डल की ओर बढता हुआ समद्विबाहु त्रिभुज के आकार की श्लेष्मकला पर मास वृद्धि है। इसका समुचित उपाय न किया जाय तो यह तारा (pupil) की तरफ उत्तरोत्तर वृद्धि करता है तथा तारा को ढक कर दृष्टिनाश कर देता है। अक्सर यह एक तरफ से ही बढता है वह भी नासिका की तरफ से। कभी-कभी यह दोनो तरफ से भी बढता है। (इसी पृष्ठ पर चित्र देखे)



चिकित्सा—औषधि से कोई लाभ नही होता। तारा को ढकने से पहले ही शस्त्रकर्म कराकर रोग से छुटकारा पाना चाहिये।

 पृष्ठ ३२४ का शेषाश 

कुछ अन्तर पड जाता है तो धीरे-धीरे दशा सुधार पर आती है। ज्वर घटना, मु ह का रंग बदलना आदि आरोग्यता के चिह्न प्रगट होने लगते है तथा रोगी धीरे धीरे स्वस्थ होजाता है।

प्लेग की चिकित्सा—

जल धनिया (यह एक प्रचलित वस्तु है) इसको लगभग २ या २॥ तोला भर ताजी लाकर, बिना पानी डाले पीसकर रुपये रुपये के आकार की दो टिकिया बनालो और रोगी को सीधे हाथ की बीचो बीच कलाई मे दोनो ओर दोनो टिकिया बाध दे और २-३ घटा बाद खोल देवें। दोनो ओर छाले पड जावेगे। उन पर गौ का घृत या मक्खन चुपडते रहे। छालो को समय पर फूटने दे। इसी से प्लेग जनित जितने उपद्रव रोगी को दुख दे रहे होगे वह सब शात हो जावेगे ओर रोगी को शर्तिया आराम हो जावेगा। यह प्लेग का शतशोनुभूत योग है। इससे अनेक कष्ट साध्य रोगी आराम हुए है जो रोगी बेहोश थे वह भी छाले फूटते ही होश मे आगये। यह प्लेग की अद्भुत औषधि है।

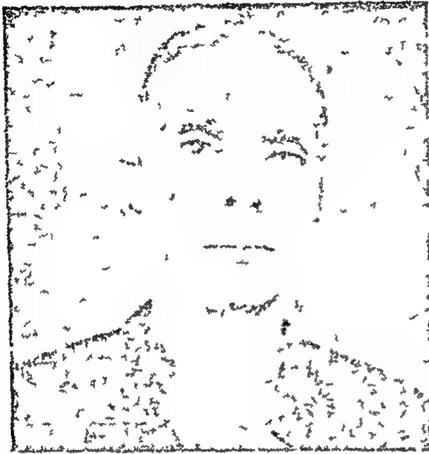
रोग शुरू होते ही पेशाब ज्यादा लाने वाली दवाई, देवें। जिससे रोग का विष बाहर निकलता रहे।

प्लेग



श्री प० नन्दकिशोर शर्मा वैद्य रत्न
पो० आगर (मालवा) वाया उज्जैन
(मध्य-प्रदेश)





इसका वर्णन इतिहास से भी प्राप्त है। ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व यह एथेन्स शहर मे हुआ था, जिससे हजारो मनुष्यो को काल कवलित होना पडा। इसके पश्चात् मिश्र मे पहुच कर अनगिनत जाने ली। ईस्वी सन् १६७० के आस-पास इग्लैड को पछाडा। मुगलकालीन इतिहास की प्रतिया जिला शाजापुर के अन्तर्गत कस्वा पिपलौन कलाँ से जागीरदार श्री मुमताज मोहम्मद साहव के यहा हमारे पिता श्री शालिगराम जी व उनके वडे भाई श्री मुन्नालाल जी कामदार थे, मेरी शिक्षा, दीक्षा भी वही पर हुई। शाला अध्ययन के पश्चात् विशेष जानकारिया लेने की सदैव से इच्छा रही। इस कारण अतिरिक्त समय मे मै भी कार्य करता था। उक्त हिस्ट्री उर्दू भाषा मे होने से मैने उर्दू की तालीम ली और उक्त इतिहास को पढा जिसकी स्मृति अनुसार जानकारी प्रस्तुत है। चूकि पिपलौन कलाँ ठिकाना ग्वालियर स्टेट का था व सन् १९५० मे जागीरदारी समाप्त होने से कोई प्रतियां इस समय उपलब्ध नही हैं।

उक्त मुगल कालीन इतिहास को अवलोकन करने से पता चलता है कि भारत मे प्लेग १३४५ के आस-पास हुआ। सन् १५६० मे वाराणसी इसका मुख्यालय वना। सन् १६१२ मे आगरा मे भी सक्रामक हुआ।

सन् १८१४ मे गुजरात, सन् १८२६ मे वरेली मे और सन् १८३७ मे हिमार मे मारातिक रूप से फैला। आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व यह वम्बई मे हुआ जिनका प्रमुख कारण जहाजो मे मरे हुए चूहे आना था। सन् १९०४ तथा सन् १९०७ का प्लेग तो वहुतो को याद होगा जिसमे शवो को गाडियो भरकर फेंका गया था और जलाने व दफनाने वाले तक नही मिल पाये थे। प्लेग सक्रामक रोग है और महा भयङ्कर है। प्लेग मे कीडे (पिस्सू) होते है जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखे जा सकते हैं।

प्लेग क्यो होता है ?

अकर्त्तव्य अर्थात् नही करने योग्य कार्य, जिन कार्यो के करने से देश, समाज व आत्मा की अवनति हो हो वह सव अधर्म है।

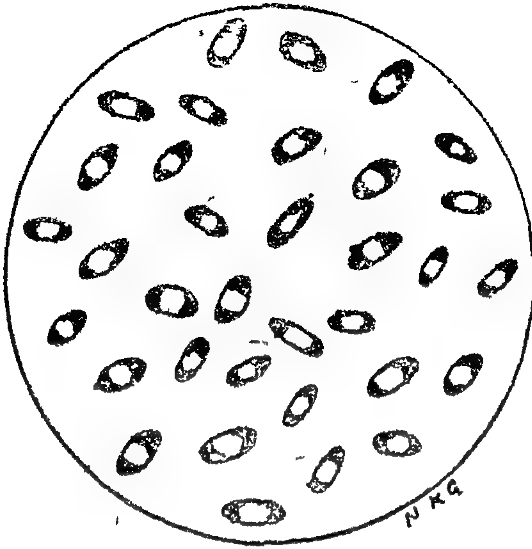
ऐसे रोगो के पैदा होने मे निम्न ४ कारण और हैं— (१) वायु का विगडना (२) जल का विगडना, (३) देश का विगडना (४) काल का विगडना।

(१) वायु के विगड़ने से बसत मे गर्म हवा चलती है, ग्रीष्म मे जाडा पडता है, वायु गोला होता है, उसके वहने पर आवाज होती है तथा २-३ दिशाओ मे चलता है। मिट्टी से मिला हुआ होने मे मानव शरीर मे विकार पैदा करता है।

(२) जल के विगड़ने से उसके स्वाभाविक गुण नष्ट हो जाते हैं—उसे जानवर भी नही पीते तथा कीडे पड जाते है। इसके पीने से विकार पैदा होने लगते है।

(३) देश के बिगडने पर—एमदम परिवर्तन होजाता है, आकाश मे पक्षी उडने लगते हैं, गीदड और कुत्ते रोने लगते है। चूहे आदि जानवर मरने लगते है। शहरो मे रौनक नही रहती। पहले जिस चीज को देखने से हर्ष होता था उसे देखकर जी खराव होता है।

(४) काल के विगडने पर—बसंत मे लू चलना, गर्मी मे जाडा पडना आदि विकृति होती हैं। डाक्टरो ने वतलाया है कि जमीन की सतह से ४०-५० इञ्च नीचे प्लेग के कीड़े होते हैं। पहले



प्लेग का जीवाणु

इन्हे पिस्सू खाते है। फिर ये पिस्सू चूहो से चिपट जाते है, कीडे बहुत ही छोटे होते हे। इसमे चूहे आदि बहुत मरते है। आकाश मे पक्षी बहुत उडने लगते है, आबोहवा एकदम बिगड जाती ह। प्लेग के समय जमीन खोदने पर एक बुरी तरह की गैस निकलती है, प्लेग का जहर हवा के सहारे बहुत जल्द अपना घातक रूप दिखलाता हे। प्रकाश और सफाई से हीन मकानो मे प्लेग बहुत जल्दी होता है। प्लेग के जहर से सब चूहे मर जाते है तो कीडे निकल जाते है और चूहे फूल जाते है। इस तरह से एक दूसरे से कीडे अपना प्रभाव दिखलाते है। हवा के साथ, कपडो के साथ और खाने पीने की चीजो के साथ कीडे एक दूसरे को लग जाते है। अधिकतर पैरो के सहारे कीडे शरीर पर आक्रमण करते हैं। रोगी के कपडो को छूने, उसके पास बैठने, नगे पाव फिरने और गदगी रहने आदि से कीडो को अपना असर दिखाने मे बहुत ही सुविधा होती हे। उचित तो यह है कि रोगी की किसी भी चीज से स्पर्श न किया जाय।

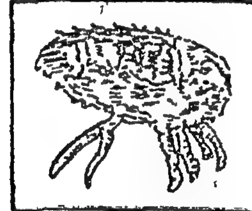
चिह्न—

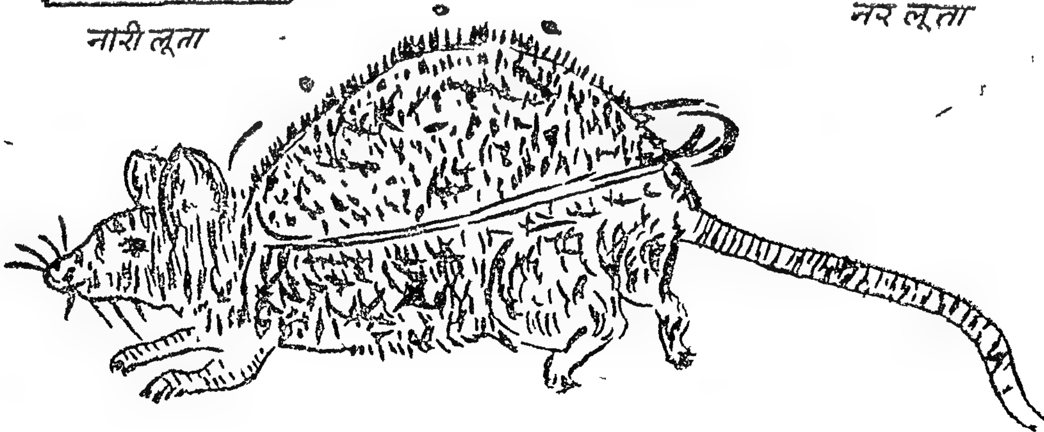
प्लेग के चिह्नो को निम्न दशाओ मे विभाजित कर सकते है—

(१) कठिन रोग (२) घातक रोग

प्लेग सरल तो होता ही नही है, वह हमेशा कठिन और







प्लेग (वातालिका) की लूताओं से युक्त चूहा

फूला हुआ शरीर, बाल तथा कान खडे, आंखें तनाव युक्त, घबराहट, बेचैनी से इधर उधर भागता हुआ, शरीर पर ऊपर लूतायें चक्कर काटती रहती हे। (ऊपर कोष्ठको मे नारी लूता एवं नर लूता)

घातक होता है। सन्निपात होने के कारण इसमे तीनो दोष विगडते हे यह वात याद रखने की है।

कठिन प्लेग—

जहर घुसने के ४ घटे से ३२ घटे वाद इसके चिह्न प्रकट होजाते है। शुरू मे कीडे जव खून मे मिलते है तो आलस्य आने लगता है वेचैनी होने लगती हे धीरे-२ खून के एकदम खराव होने पर तेज बुखार हो जाता है जिसमे टेम्परेचर १०२ से १०६ तक पहुच जाता है। तीनो दोष विकृत होजाते हैं।

शूल चलना, वेहोशी तथा अफरा उठना आदि उपद्रव होने लगते है। वाद मे सधि स्थानो मे गिल्टी निकलती है तथा ज्वर १०६ डिग्री तक पहुच जाता है। फेफड़े तथा हृदय सूज जाता हे तथा किसी को दस्त होने लगते है ३-४ दिन मे गिल्टी पक जाती हे। उचित उपचार होने पर रोगी के बचने की सभावना रहती है।

घातक प्लेग—

जहर घुसने के २-४ घटे वाद ही देह टूटने लगती है फिर तेज ज्वर होकर ११० डिग्री तक पहुच जाता है। रोगी वेहोश हो जाता है ३-४ घटे मे ही गिल्टी निकल आती है। यदि कान या आख के पास निकलती है तो रोगी को वहुत जल्द मार डालती हे। फेफडा सूजने से वोलती वन्द हो जाती हे तथा सास रुक-रुक कर आने लगती है। सारा शरीर नीला या काला पड जाता हे। इसमे १२ घटे के अन्दर रोगी मर जाता हे। कुछ रोगियो को खून की कै भी होती हे।

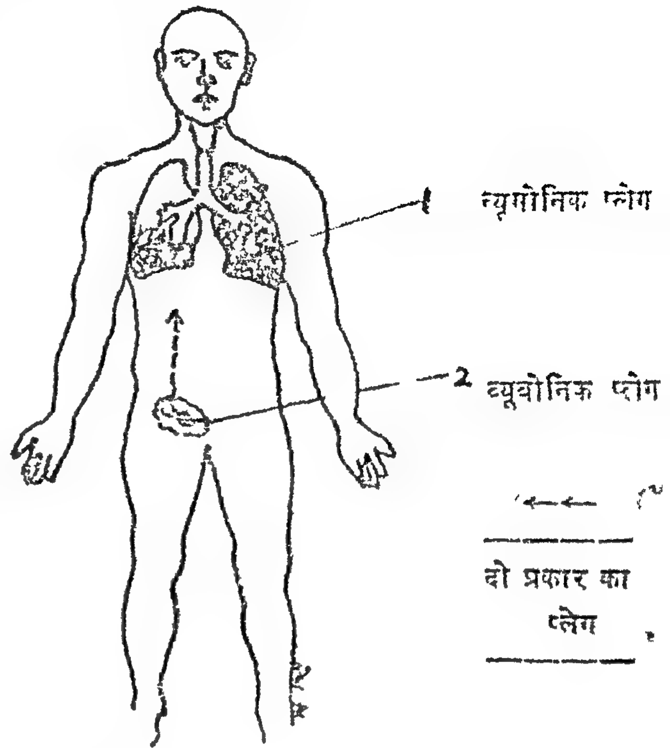
एलोपैथी से प्लेग के लक्षण—

डाक्टरी मत मे प्लेग कई तरह की होती है। जिस खास अङ्ग से उसका सवध होता है उसी के नाम से सवोधित करने लगते है। यहा भिन्न-भिन्न प्लेगो के लक्षण वतलाये जायेगे—

टाइफायड प्लेग—प्लेग के और चिह्नो के अलावा इसमे सन्निपात भी होजाता है—इसे भी टायफाइड प्लेग कहते हैं।

न्यूमोनिया प्लेग—न्यूमोनिया भी अगर साथ मे हो जाय तो न्यूमोनिक प्लेग कहते है।

हिमॉस्टेटिक प्लेग—इनमे उन्माद के सब चिह्न



प्रकट होते हैं।

व्यूवोनिक प्लेग—जगह-२ गाठ निकलने पर इस नाम से कहते हैं।

प्लेग के चार दर्जे—

१—इसे ८ दिन तक कभी-कभी २-३ सप्ताह तक जहर देह मे घुसने के वाद कोई खास चिह्न प्रकट नही होता, रोग प्रवल होने पर २-४ घटो मे कुछ चिह्न प्रकट हो जाते है।

२—हाथ, पैरो तथा सिर मे भयानक पीडा होती हे, जिस जगह निकलती है वहा भी कुछ पीडा होने लगती है। घवराहट, अरुचि, कमजोरी, शिथिलता, कै, दस्त आदि उपद्रव होने लगते है। इसके वाद गले या पांव या वगल मे गिल्टी निकलती है तथा ज्वर भी १०७ डिग्री तक हो जाता हे। प्यास, वेहोशी, आखो की लाली, मल का सूख कर कडा होना ये लक्षण भी हुआ करते हैं।

३—गिल्टियो मे दर्द होना, काले दस्त तथा लाल पेशाव होना, खून की कय, प्रलाप आदि चिह्न होते हैं। इस अवस्था मे रोगी मर जाता है।

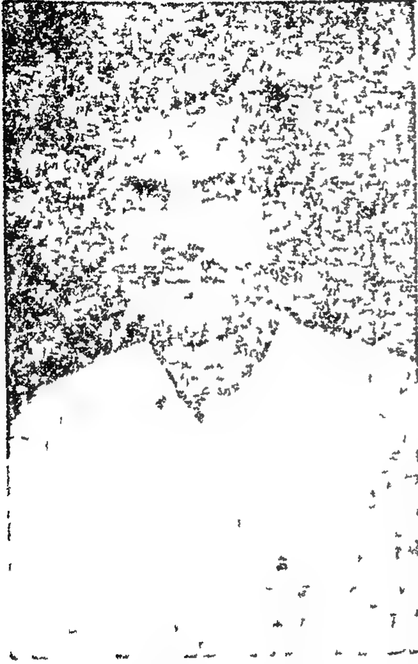
४—तीसरा दर्जा पार कर लेने पर अगर लक्षणो मे

—शेषाश पृष्ठ ३२१ पर देखे।

※ प्लेगनाशक अनुभूत प्रयोग ※

वैद्य आर० बी० त्रिवेदी आयु० भिषक्, जसराना पो० सासनी (अलीगढ)

—※★※—



कौडिया लोबान, श्वेत चन्दन, सेमल के पत्ते और जड़, नागरमोथा, गन्धाविरोजा, वच, भिलावे, गुग्गुल, लहसन, प्याज के छिलके, नीम और करञ्ज के पत्ते, हरड, वहेडा, आवला, वायविडङ्ग, गुड, कोहडा के फूल, जाय, हल्दी, कूट, सफेद सरसो, राल, और खस इन वस्तुओ की धूप देनी आवश्यक हे।

ज्वर के चढते ही महामृत्युञ्जय २-२ रत्ती तुलसी के क्वाथ मे ३-३ घण्टे से देना चाहिये। पसीना आकर जब ज्वर उतर जाय तब इसे वन्द करदो। ज्वर की अधिकता मे सन्निपातभैरव या मल्लसिंदूर देना आवश्यक हैं।

चाटने के लिये—तुलसी का रस, अदरख का रस, भागरे का रस—तीनो समान भाग लेकर उसमे उतना ही शहद मिलाकर हेमगर्भ गुटिका १॥ रत्ती, सोना वर्क १॥ रत्ती व ५ रत्ती शङ्ख भस्म मिलाकर चटावे।

गाठ पर—चूना २ भाग, पापड खार १॥ भाग, सज्जीखार १॥ भाग, थूहर की राख ६ भाग—इन सवको गुग्गुल के साथ घोटकर मरहम के समान वनाकर लगावे। जव ग्रन्थि फूट कर खून वहने लगे, तव हल्दी १/२ तोला, सफेद कत्था १॥ तोला, सगजराहत १ तोला, सबको कपडछन लेप करे।

यदि पेट मे दर्द भी हो, वमन भी हो तो रेशम, सुखाया हुआ नीवू, मोर के पख और मुहे का गुल्ला इन सवको जलाकर इसकी राख शहद मे मिलाकर चटावे।

प्लेग की गिल्टी पर लेपादि—

१—सखिया, हरताल वर्की, निर्विषी, मीठा तेलिया बरावर लेकर आक के दूध मे पीसकर गिल्टी पर लगा दें, वह शीघ्र ही बैठ जायगी।

२—पत्थर या पुराना रुपया गर्म करके गिल्टी के ऊपर बाध दे।

३—अफीम १ माशा, सखिया २ माशा, निर्विषी ३ माशा, चूना ४ माशा लेकर सवको घोटकर पानी से लेप कर दे। शीघ्र लाभ होगा, गिल्टी उठते ही लगावे।

४—जौक या सीगी लगाकर खून वाहर निकाल दे। ऊपर से नीम के पत्तो का भरता वनाकर रखे।

५—धतूरे के वीज, लहसुन इनको पीसकर गरमकर गिल्टी पर बाधे और प्रत्येक २-२ घटे के वाद इसे वदलते रहे।

६—भिलावा पीसकर गिल्टी पर लगावे, या भिलावे का तेल लगावे।

प्लेग ज्वर नाशक प्रयोग—शास्त्रीय प्रयोगो मे सजीवनी वटी, करजादि वटी, निम्बादि वटी, मृत सजीवनी सुरा, मृगमदासव, मल्लसिंदूर, मल्ल चन्द्रोदय प्रभृति प्रयोगो का योग्यानुपान से प्रयोग करे।

यदि मुह से खून आता हो तो गूलर का रस, पीपल की लाख, अडूसा, मुलहठी, महुआ, फालसे, नेत्रवाला, लाल चन्दन, तेजपात, देवदारु इनमे से जो भी मिले उनका काढा दे। अथवा रोहिषतृण, धनिया, जवासा, पित्तपापडा, प्रियगु, कुटकी क्वाथ दें।

दस्त वन्द करने को—कस्तूरी भैरव वेलगिरी और जीरे के साथ दें।

गहणी गजेन्द्र, जातीफलादि रस का भी प्रयोग किसी ज्वर-नाशक रस के साथ किया जा सकता है।

फेफडो के शोथ पर—एण्टीफ्लोजिस्टीन या अलसी का पलस्तर चढावे। तारपीन का तेल और मोम का तैल, अफीम मिलाकर मले। पसली का दर्द ठीक हो जायेगा।

वेहोशी की हालत मे—मुक्ता भस्म, मल्ल चन्द्रोदय, अकीक भस्म मिलाकर दें। यदि वेहोशी अधिक हो तो कालीमिर्च, सहजने के बीज वायविडग, मरुवे के वीजो की नस्य दें। सिर पर मूग के आटे की रोटी बनाकर तैल से चुपड कर बाध दे।

आखो की लालिमा पर—बकरी या स्त्री के दूध के फाहे कनपटी पर रखे, नीम के पत्तो की टिकिया घी मे गरम करके आखो पर बाधे।

हिचकी आने पर—गेरू, स्वर्ण भस्म, ताम्र भस्म चटावे। यथायोग्य अन्यौपधि भी दे।

प्लेग उपचार के कुछ प्रयोग—

१—निशोथ, विशल्या, मुलेठी, दोनो हल्दी, मजीठ, किरमाला, पाचो नमक, त्रिकुटा।

विधि—इनको पीसकर शहद मिलाकर सींग मे भर दे। इस विष-नाशक योग का पान, अंजन, लेपन और नस्य प्रयोग करने से विपका प्रभाव बहुत शीघ्र ही दूर हो जाता है। सुश्रुत सहिता मे इसे 'महागद' के नाम से पुकारा गया है।

२—विडग, पाठा, त्रिफला, अजमोद, हीग, तगर, त्रिकुटा, सब नमक, चित्रक।

विधि—इन सबको पीसकर गौ के सींग मे भर ऊपर से भी गौ के सींग से ढक कर १५ दिन तक रखे, तदुपरात औषधि निकाल कर काम मे ले। यह 'अजितागद' नाम से जाना जाता है। इसके सेवन कराने से स्थावर तथा जगम सभी प्रकार के विष नाश होजाते है।

३—देवदारु, मोथा, प्रपौण्डरीक (पुण्डरिया) कालानुसार्य (कालेयिक), कुटकी, धुनेरा हयामक, पद्माख, पुन्नाग, तालीस पत्र, सज्जी, स्योनाक, इलायची, श्वेत संभालू, शैलेय, कूट, तगर, प्रियगु, लोध, नेत्रवाला, स्वर्ण गैरिक, पोषण, मदन, सेंधा नमक।

विधि—इन सबको समान भाग ले तथा महीन पीस कर शहद मिलाकर सीग मे भर दे। इसे 'गरुड अगद' नाम से जाना जाता है। यह अत्यन्त विष नाशक है।

४—जटामासी, हरेणु, त्रिफला, सहिजना, मजीठ, मुलेठी, पद्माख, विडग तालीस पत्र सुगधिका इलायची तज, तेजपात, चन्दन, भारंगी, पटोल, भिलावे के फूल, पाठा, मृगादनी, इन्द्रायन का फल, गूगल, पालिंदी (निशोथ) अशोक, सुपारी, तुलसी की मजरी, किणही।

विधि—इन सबको पीसकर शूकर, गोह, मोर, सेह, बिलाव सावर और न्योला का पित्त तथा शहद मिलाकर सीगो मे भर दे, यह अत्यन्त विष नाशक अगद है। इसे 'ऋषभ अगद' के नाम से जाना जाता है। इसे भेरी और दुन्दभी आदि वाजो पर लेप करके उन्हे वजवाये तथा ऊंची-२ ध्वजाओ पर इसका लेप लगवावे। इससे विषैले कीटाणुओ का शीघ्र ही नाश हो जाता है तथा विष व्याप्त मनुष्य भी निरोग हो जाते है।

५—लाख, हरेणु रास, प्रियगु, दोनो सहजने, मुलेठी बडी इलायची।

विधि—सबको पीसकर इसमे हल्दी शहद और घृत मिलाले तथा उसे गौ के सीग मे बन्द करदे। इसे 'सजीवन अगद' नाम से जाना जाता है। इसे अजन नस्य और पेय औषधि की भाति काम मे लाने से मृत्यु के अधीन रोगी भी स्वस्थ हो जाता है।

६—बांस की छाल, अदरख, आवले, कैथ, कूठ, त्रिकुटा, वच, शिरस के फूल, करज बीज, तगर।

विधि—इन सबको पीसकर उसमे गौपित्त मिलावे, इस योग के प्रयोग मे चूहे, सर्प, मकडी तथा अन्य कीडो का विष नष्ट हो जाता है। इसका प्रयोग नस्य, लेप तथा अजन की भांति करना चाहिये। इसकी वर्ति का अजन करने से तथा इसका नाभि पर लेप करने से मल, मूत्र, अधोवायु और गर्भ इनकी रुकावट खुल जाती है। और केवल अञ्जन मात्र से काच, अर्म, कोथ और घोर पटल तथा फूली आदि नेत्र-रोग अल्प समय मे दूर हो जाते है।

७—शिरस की जड, पुष्प, पत्र, छाल और बीज इनका क्वाथ बना तथा लवण मिला शहद के साथ पीने से प्लेग के कीड़ो का विष नष्ट हो जाता है। **

अस्थि-क्षय

कवि० पं० द्वारिका प्रसाद शर्मा "दधिमथ"

पाश्चात्य विद्वान चिकित्सक इसमे क्षयरोग के जर्म्म होना सिद्ध करते है। भारतीय आयुर्वेद शास्त्र मे रोग का मूल कारण दोप वैपम्य है। जीवाणुओ को केवल रोग प्रसारण माना गया है। इसलिये इनकी छानवीन नही की गई है। परन्तु आयुर्वेद के मूलभूत वेदो मे विशेपकर अथर्व वेद मे इनका अधिक स्पष्ट वर्णन मिलता है। वेद तथा आयुर्वेद की सहिताओ (चरक-सुश्रुतादि) मे जीवाणु नाम लिखकर कृमि शब्द का व्यवहार किया है।

पूर्व लक्षण—अस्थि क्षय रोग के पूर्व मे जिस स्थान की अस्थि मे क्षय होता है, उसी स्थान के बाहरी भाग की त्वचा मे कुछ पीड़ा और शोथ मालूम होता है। फिर धीरे धीरे चिरकाल मे यह शोथ बढकर पकने योग्य हो जाती है, परन्तु उनके पकने मे बहुत समय लगता है, उन गाठो का वर्ण स्निग्ध, पाडु वर्ण और भद्दा सा होता है। पीछे यह गाठे अपने आप बहुत दिनो मे पकती हैं, पकने के बाद उनमे से गाढी पीली और सफेद रग की पीव निकलती है। उनमे पीडा तथा दाह अन्य व्रणो की अपेक्षा कम होती है। सब प्रकार के व्रणो को शोधन करने वाली तथा कृमिनाशक औपधियो का बराबर व्यवहार करने पर भी व्रण आराम नही होते। कभी कभी किसी व्रण रोपण औपधि से व्रण ऊपर से बढकर सूख जाता है, पर उसके भीतर पीप होती है, इसलिए फिर वह वैसा ही हो जाता है। इस रोग मे साधारण रूप से व्रण का औपरेशन करने से कोई लाभ नही होता, बल्कि औपरेशन से पीडा अत्यन्त बढकर रोगी अधिक कमजोर हो जाता है। इसलिए इसमे साधारण व्रण के समान औपरेशन करना उचित नही।

शरीर मे जिस अङ्ग की अस्थि मे यह रोग उत्पन्न होता है उसके समस्त दूपित भाग को अस्त्र से काटकर निकाल देना ही इसका सबसे अच्छा उपाय समझा जाता है। प्राय. औपरेशन करने पर उक्त हड्डी घुनी या गली सी निकलती है। यदि अस्थि का समस्त दूपित अश औपरेशन के द्वारा काटकर नही निकाला जाता, कुछ बाकी रह जाता है तो भी औपरेशन से कोई लाभ नही होता। किन्तु रोगी को महान कष्ट हो जाता है। प्राय देखा जाता है कि अनेक बड़े बडे शस्त्र विद्या विशारद नामी सर्जन इसके औपरेशन मे भ्रम मे पड़ जाते है, उनसे इसके औपरेशन मे प्राय भूले हो जाया करती है, जिससे कि क्षय वाली अस्थि का समस्त दुषित अश नही निकल जाता एव उनके बारम्बार उस अस्थि का औपरेशन करना पडता है। जिससे रोगी को महान कष्ट और निर्बलता बढ़ती जाती है। इसका किंचित् दूषित अश भी अस्थि मे शेप रह जाने से यह रोग किसी प्रकार आराम नही होता। इसलिए इसके सम्बन्ध मे बडे बड़े अनुभवी और विद्वान डाक्टरो का मत है कि पहले दूषित अस्थि को थोडा ही काटना चाहिए, यदि उसमे उसका बहुत थोडा भाग खराब हो गया हो तो उसको खुरच कर या रेत कर साफ कर देना चाहिये क्योकि अधिक हड्डी का भाग कट जाने से आरोग्य हड्डी के कट जाने का भय रहता है। इसी धारणा के अनुसार एक बार औपरेशन से ठीक न होने पर दूसरी बार औपरेशन किया जाता है तथा दूसरी बार ठीक न होने पर तीसरी बार औपरेशन करना पडता है। इस प्रकार सात-सात—आठ-आठ बार उस हड्डी का औपरेशन करना पडता है। परन्तु हमने बीसो जगह देखा है कि बड़े सर्जनो के द्वारा बारम्बार औपरेशन करने पर कोई लाभ नही होता। किंतु रोगी की यन्त्रणा की सीमा नही रहती। साथ साथ क्षय रोग के लक्षण भी शीघ्रता से बढने लगते है, फिर रोग सर्वथा असाध्य होकर रोगी बड़े ही कष्ट के साथ इस जीवन लीला को समाप्त कर देता है।

किन्तु एक या दो बार मे ही उक्त अस्थि का दूषित अश काटकर निकाल देने से कितने ही रोगी आरोग्य हो

जाते है। इसलिए इसका समस्त दूषितअंश निकाल देना ही इसकी उत्कृष्ट चिकित्सा समझी जाती है। पर उस अस्थि का कितना अंश दूषित हुआ है, इसका निर्णय करना बडा कठिन है। इसका निर्णय करने मे बडे बडे नामधारी डाक्टर चक्कर मे पड जाया करते है, जिससे कि रोगी को बहुत काल तक भयङ्कर कष्ट भोगना पडता है। अनेक डाक्टरो का मत है कि यदि व्रण मे पीप न पडी हो तो क्षय ग्रसित हड्डी को एकेलिशिश किया द्वारा अर्थात् उस हड्डी को इस प्रकार तख्ती आदि से बाधकर निश्चेष्ट कर देना चाहिये, जिससे उसमे किंचित भी हल-चल न हो। रोगी को बडी सावधानी से पलङ्ग पर रखकर उसके मल, मूत्र की व्यवस्था भी वही कर देनी चाहिए तथा उसको बढिया पौष्टिक, शीघ्र पचने वाले भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। इस प्रकार की सुव्यवस्था से विना पके ही व्रण सूखकर रोग कुछ काल मे आराम हो जाता है।

कही कही औषध चिकित्सा के द्वारा इस रोग मे विशेष लाभ होते देखा गया है। स्वर्ण भस्म, मुक्ता भस्म, पारद भस्म, वसन्त कुसुमाकर, स्वर्ण मालिनी वसन्त, मकरध्वज, स्वर्ण सिन्दूर, अभ्रक भस्म, रस सिन्दूर आदि रसायन औषधियो का इस रोग मे अच्छा उपयोग होता है। यदि रोगी अधिक कृश हो गया हो तो वसन्त कुसुमाकर, मृगाङ्क, स्वर्ण पर्पटी आदि औषधियो मे से कोई एक औषधि १—१ रत्ती की मात्रा से प्रात सायकाल शहद के साथ सेवन करानी चाहिये। स्वर्ण भस्म के अभाव मे लोह भस्म के साथ समान भाग सोने के वर्क मिलाकर देने चाहिये अथवा उत्तम लोह भस्म का ही कुछ दिनो तक नियमित रूप मे सेवन कराने से अस्थि क्षय रोग मे बहुत लाभ होता है।

यदि रोगी को ज्वर रहता हो तो बढिया अभ्रक भस्म अथवा स्वर्ण मालिनी वसन्त आदि औषधियो, वंश लोचन, दालचीनी, इलायची, सत्व गिलोय आदि अनुपानो के साथ यथोचित मात्रा मे सेवन करानी चाहिये। यदि रोगी को खासी और कफ की शिकायत हो तो च्यवनप्राश अवलेह, द्राक्षावलेह, वासक शर्बत, मधुयष्ट्यादि चूर्ण आदि औषधिया सेवन करानी चाहिए।

क्षुधा की मन्दता मे द्राक्षासव २ तोले की मात्रा से दिन मे २ बार देना चाहिये तथा अन्य क्षुधावर्द्धक औषधिया भी दी जा सकती है। यदि कोष्ठवद्धता (कब्ज) मालूम हो तो १० या १२ द्राक्षाओ को गाय के दूध मे पकाकर थोडी मिश्री व चीनी मिलाकर दिन मे एक या २ बार देना चाहिए। अधिक कोष्ठवद्धता होने पर २ तोले अडी तेल (कास्ट्रायल), १ छटाक गाय के गर्म दूध मे मिलाकर देना चाहिये अथवा हरड, निसोत, सनाय, गुलाब के फूल तथा सौंफ, इन सब औषधियो का चूर्ण बनाकर और मिश्री मिलाकर १ तोले की मात्रा मे गर्म जल के सेवन कराना चाहिये। यदि रोगी के शरीर मे कुछ वात की अधिकता हो तो योगराज गुग्गुल गोदुग्ध मे सिद्ध किया हुआ दशमूल का क्वाथ, शतावरी या अश्वगन्धा का क्वाथ बनाकर देना चाहिये। इसमे जहा तक हो पौष्टिक और रुचिकारक भोजन देना चाहिये। गाय का दूध या बकरी का दूध अधिक सेवन कराना चाहिये। मीठे और स्वादु फलो को भी अधिक सेवन कराना चाहिये तथा हरे और ताजे शाक, गेहू, उडद, मूग, पुराने चावल आदि खाद्य पदार्थ इसमे सब हितकर है।

अस्थि क्षय के व्रण की चिकित्सा

प्रतिदिन नीम के क्वाथ तथा अन्य सशोधक एवं जन्तु नाशक औषधियो के द्वारा नित्य प्रति व्रणो को स्वच्छ करावे तथा सशोधक औषधिया लगानी चाहिए। पीव के बिल्कुल साफ हो जाने पर सशोधक एव रोपक दोनो प्रकार की औषधिया मिलाकर लगाई जा सकती है। कभी कभी ऐसा करने से विशेष लाभ होता है।

अस्थि पर लगाने के कुछ लेप तथा मलहम—

(१) व्रण तथा शोथ की अवस्था मे नीम की पुल्टिस बनाकर बाधनी चाहिए। अधिक दाह और पीडा होने पर गूलर, पाखर, पीपल, बड एवं आम इन पाचो वृक्षो की अन्तर्छाल का बारीक चूर्ण करके उसको जल के साथ मिलाकर लेप करना चाहिए।

(२) नीम के स्वरस तथा गाय के घृत के द्वारा नीम का मलहम बनाकर लगाने से व्रणो की पीडा एव दाह कम हो जाती है।

—कवि० द्वारिकाप्रसाद जगदीशप्रसाद आयुर्वेदाचार्य
श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद भवन,
राजगांगपुर (सुन्दरगढ) उडीसा

अस्थि प्रदाह जन्य व्याधियां

वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु० बृह०

(१) अस्थिमज्जा शोथ—

(१) नूतन (Acute) यह रोग अचानक ही होता है, इसकी उत्पत्ति से अस्थि का प्रादाह तीव्र वेग से वढना प्रारम्भ हो जाता हे। यह दो प्रकार का होता हे। इस अवस्था मे अगर इसकी चिकित्सा करा ली जाती हैं तो यह आसानी से साध्य है अन्यथा पुराना होने पर इसकी चिकित्सा सफल नही होती हे।

(1) स्थानीय या साधारण नूतन अस्थि मज्जा शोथ—कभी-२ अस्थि पर चोट लगने या उसकी शल्य क्रिया के फलस्वरूप अस्थि मज्जा शोथ उपद्रव के रूप मे होता देखा गया हे। इस प्रकार की अस्थि मज्जा शोथ स्थानीय प्रकार के वर्ग मे आता है। यह अस्थि मज्जा शोथ असाध्य नही होती हे। इसकी चिकित्सा की जा सकती है। अत जब निदान द्वारा यह पुष्टि हो जाये कि रोगी इस रोग से पीडित है तो चिकित्सक के परामर्शानुसार औषधियो की व्यवस्था करनी चाहिए।

(11) सक्रामक अस्थि मज्जा शोथ—यह सक्रामक प्रकार का अस्थि मज्जा शोथ है जोकि किसी प्रकार की बीमारी के घाव या रक्त के द्वारा उस रोग के कीटाणु मज्जा मे प्रवेश करके इस रोग की उत्पत्ति का कारण होने है। कई बार यह देखा गया हे कि मियादी बुखार एव क्षय रोग के उपद्रव के फलस्वरूप इस बीमारी की उत्पत्ति होती है। इसके अलावा इस रोग की उत्पत्ति मे चोट लगे हुए घाव या अस्थि की शल्य चिकित्सा करते समय या करोटि अस्थि मे छिद्र करते समय लापरवाही की वजह से या घाव की मरहम पट्टी के समय प्रदाह की बीमारी के जीवाणु अस्थिमज्जा, झिल्ली व अस्थि जाल ऊतको मे प्रवेश कर जाते है। इस प्रकार का अस्थि मज्जा शोथ क्योकि सक्रमण से ही उत्पन्न होता है अत सावधानी का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(२) पुरातन (Chronic)—सक्रामक अस्थि मज्जा शोथ की सही चिकित्सा न होने पर या इसे साधारण रोग समझकर चिकित्सा व्यवस्था मे लापरवाही से या चिकित्सक के गलत परामर्श से यह रोग पुरातन अस्थि मज्जा शोथ मे परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार का जीर्ण अस्थि मज्जा शोथ चिकित्सा मे असाध्य माना गया है जिसकी चिकित्सा महगी तथा अधिक समय वाली होती है। अत क्या अच्छा हो कि जब यह मालूम हो जाये कि अमुक रोगी इस रोग से पीडित है कि जानकारी होते ही तुरन्त वैधानिक चिकित्सा से परामर्श लेना चाहिये। वह जिस प्रकार एव जिस समय औषधि लेने को कहे उसी समय औषधि लेते रहने से यह रोग पुरातन या जीर्ण अस्थि मज्जा शोथ मे परिवर्तित नही होता है।

लक्षण—

विशेषत —प्रथम प्रकार की व्याधि के लक्षण देखने मे मिलती हे तथा प्रदाह के लक्षण स्पष्टत. प्रगट होने लगते है—

(१) रुबॉर (Rubor)—प्रदाहित स्थान की लालिमा

(२) फन्कसिया लैसा (Functio Lesa)—प्रदाहित स्थान की कार्यक्षमता मे अवरोध।

(३) कालॉर (Calor)—प्रदाहित स्थान के रक्त परिभ्रमण मे वृद्धि।

(४) ट्यूमर (Tumor) - रोग प्रदाहित स्थान मे सूजन या शोथ।

(५) डोलर (Dolar)—रोग प्रवाहित स्थान मे भयङ्कर रूप से दर्द।

(२) अस्थि शोथ (Ostitis)—

अस्थि के प्रदाह की पूर्व अवस्था ही अस्थि शोथ है। यथा—अस्थ्यावरण कला शोथ (Peri-ostitis), अस्थिगत विद्रधि (Infective osteomyelitis), मज्जा शोथ (osteomyelitis)।

इस रोग मे मेरुदण्ड की अस्थिया, नलकास्थि का अग्रभाग, एडी की अस्थि, कलाई की हड्डी आदि ही अधिक आक्रान्त होती देखी गई है।

इस रोग के कारण और लक्षण अस्थिमज्जा शोथ जैसे ही है।

(३) अस्थिगत विद्रधि (Infective osteomyelitis)—

यह अस्थि मज्जा शोथ का ही एक रूप है, यह विद्रधि रूप मे इसमे मिलता है। स्वतन्त्र रोग नही है।

(४) अस्थिशूल—

उपर्युक्त सभी प्रकार के अस्थि रोगो मे जो पीड़ा होती है उसे अस्थिशूल के नाम से जाना जाता है।

(५) चिकित्सा—

सर्व प्रथम अस्थि प्रदाह की पीडानाशक औषधिया दे। घाव को जीवाणुनाशक औषधियो से धोकर मरहम मट्टी करें। पीड़ा अधिक है एव दर्द शामक औषधियो से दर्द काबू मे नही आ रहा हो तो संज्ञाहरण औषधियो का उपयोग करे।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

मुक्ता पिष्टी, पुनर्नवा मडूर, योगराज गुग्गुलु, प्रवाल पचामृत १२५-१२५ मि ग्रा.–एक मात्रा–दिन मे तीन बार शहद के साथ।

भोजन के बाद—सारिवाद्यासव—२-२ ढक्कन समभाग जल से।

लगाने हेतु—दशांग लेप का प्रयोग करे।

एलोपैथिक चिकित्सा—

(१) स्टेराइड थेरापी—

इन्जेक्शन डेक्सामीथासोन (Dexamethason) या इन्जेक्शन कार्टीकोस्टेराइड ४ से ८ मि ग्राम नस मे या मासान्तर्गत ६-१२ घण्टे बाद या टेबलेट डेक्सामीथासोन ४ मि ग्रा ४-१२ घण्टे पर अवस्थानुसार १ गोली या वच्चो को डेक्सामीथासोन ड्रोप्स ४-६ बूद ६-६ घटे से

(२) सल्फा ग्रुप—

टेबलेट सैप्ट्रान १-२ गोली १० घटे बाद, या सल्फाडाइजिन टेवलेट ०.५ ग्राम २ गोली, या सल्फाडाइमिडीन ०.५ ग्राम २ गोली दिन मे तीन बार, या सीरप सैप्ट्रान १/२ से १ चम्मच तक ६-६ घटे से।

(३) एम्पिसिलीन ग्रुप—

इन्जेक्शन वायोसिलिन ५०० मि ग्रा मासान्तर्गत या नस मे ६-६ घटे से या कैप्सूल एम्पिसिलीन ५०० मि ग्रा. दिन मे ३ बार या बच्चो का एम्पिसिलीन पीडियाट्रिक १-१ चम्मच ६-६ घटे मे।

(४) टेट्रासाइक्लीन और क्लोरमफैनीकोल ग्रुप—

रेवेरिन इन्जेक्शन (Reverin) २७५ मि. ग्राम नस मे ड्रिप के साथ ६-६ घटे से या टेट्रासाइक्लीन ५०० मि ग्राम के कैपसूल दिन मे ३ बार या टेट्राक्लोर (Tetrachlor) (टेट्रासाइक्लीन १२५ मि० ग्राम, क्लोरमफैनिकोल १२५ मि० ग्राम) २ कैपसूल ६-६ घटे से या बच्चो को टेट्रासाइक्लीन सीरप या टेट्राक्लोर सीरप १-१ चम्मच ६-६ घटे से।

(५) पेन्सिलीन ग्रुप—

क्रिस्टलिन पेन्सिलीन १० लाख मासान्तर्गत ६-६ घण्टे से (प्रयोग से पूर्व जाचकर लगायें) या क्रिस्टलिन पेन्सिलीन ४० लाख नस मे (I V) जी० एन० एस० ५०० मि० लि० के साथ ड्रिप विधि से एक साथ दे। बाद मे १० लाख ६-६ घटे से दे। या स्ट्रेप्टोपेन्सिलीन फोर्ट मासान्तर्गत।

(६) विटामिन्स तथा टॉनिक—

रोगी की जीवनी शक्ति को कायम रखने के लिए एवं शरीर को ताकत देने एवं कमजोरी शरीर मे नही आये इस हेतु विटामिन्स तथा टॉनिक का प्रयोग करायें।

☆ पृष्ठ ३३६ का शेषांश ☆

८-१० दिनो मे दाने साफ हो समस्त लक्षण मिट जाते है।

उपद्रव—१०% मे न्यूमोनिया, २०% मे अतिसार, २०% के कानो मे पीप का बहना, १०% के प्रोटीन ऊर्जा कुपोषाहार, २०% को अतिसार हो जाता है। इससे तन्त्रिका तन्त्र प्रभावित हो जाता है। यह बिन्दूक संक्रमण द्वारा फैलता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—सजीवनी वटी ७५ मि०ग्राम ब्राह्मी वटी ७५ मि० ग्राम। एक मात्रा। दिन मे ऐसी ४ मात्राओ का प्रयोग करे।

जावित्री, जायफल, लौंग, तुलसी पत्र आदि का घासा बना उसके साथ उपर्युक्त औषधिया दी जायें तो ठीक है।

खसरा का टीका—खसरा का प्रकोप होने की अवस्था मे बच्चे को खसरा का टीका लगा देना चाहिये। ये टीके शासकीय चिकित्सालयो मे उपलब्ध है।☆

मसूरिका

डा० जहान सिंह चौहान आयु० बृह०

पर्याय—बृहन्मसूरिका, मसूरिका ज्वर, वसन्त, चेचक, शीतला माता, वैरियोला आदि।

दुष्ट रक्त व दुष्ट पित्त से होने वाला यह भयङ्कर रोग अधिकतर बालकों को होता है। यह अति सक्रामक रोग है जो स्पर्श से फैलता है। उसमे मसूर के आकार वाली पिडकाये निकलती है। ज्वर अविराम बना रहता है। प्राय ज्वर होने के तीसरे-चौथे दिन पिडकाये निकलती हैं।

चरक मे शोथ के अध्याय मे मसूरिका की व्याख्या एक श्लोक मे दी गई है—जो पिडका पित्त तथा कफ के प्रकोप से सारे शरीर मे होती है जिसका प्रमाण मसूर के दाने के समान होता है उसे मसूरिका कहते है। प्राय वसन्त व ग्रीष्म मे मरक के रूप मे फैलता है।

सुश्रुत सहिता मे इसका वर्णन क्षुद्र रोगो के अन्तर्गत किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे यह रोग आजकल की तरह भयानक नही माना जाता था।

प्राय यह जीवन मे एक बार होता है। सक्रमण होने के पश्चात् इस रोग का विप या कीटाणु पुन घर के दूसरे सदस्यो पर आक्रमण करते रहते हे। पहले पिडकाये लाल वर्ण की होती है जो बाद मे पक जाती है।

निदान एव सम्प्राप्ति—

सक्रमण—विषाणु अधिच्छदाक्रमण (Epitheliotropic) होता हे। मसूरिका से पीडित रोगियो की पिडकाये जब सूख जाती है तथा जब उनके छिलके त्वचा से बाहर निकलते हैं तो उनमे उपस्थित विषाणु एक स्वस्थ मनुष्य के नासा तथा मुख द्वारा शरीर मे प्रविष्ट होते है। इसके विप के रक्त मे पहुचते ही ज्वर आदि लक्षण प्रकट हो जाते है।

मसूरिका जीवाणु रक्त मे गमन करता हुआ उपचर्म मे आकर रुक जाता हे। जिस स्थान पर वह ठहरता है उस स्थान पर उपचर्म की कोशाए रक्तमय तथा शोथयुक्त हो जाती हैं। त्वचा पर इसका स्पर्श करने से त्वचा के अधोभाग मे मसूर के आकार की छोटी छोटी ग्रन्थिया प्रतीत होती है। तत्पश्चात् इनमे द्रव भर जाता है। कुछ समय के पश्चात् यह द्रव पूयमय हो जाता है तथा पिडका बडी हो जाती है। पिडकाओ के फूट जाने पर पूय जमकर पपडी के रूप मे पिडका के ऊपर कई दिनो तक स्थित रहता हे। पपडी निकल जाने पर क्षत के चिह्न प्रतीत होते है।

संचयकाल—इसका सचयकाल १२-१३ दिन का होता है। दोप प्रकोप की न्यूनाधिकता तथा कीटाणु विप के बलाबल के अनुसार पिडकाये दूर या समीप एव रक्त से परिपूर्ण निकलती है।

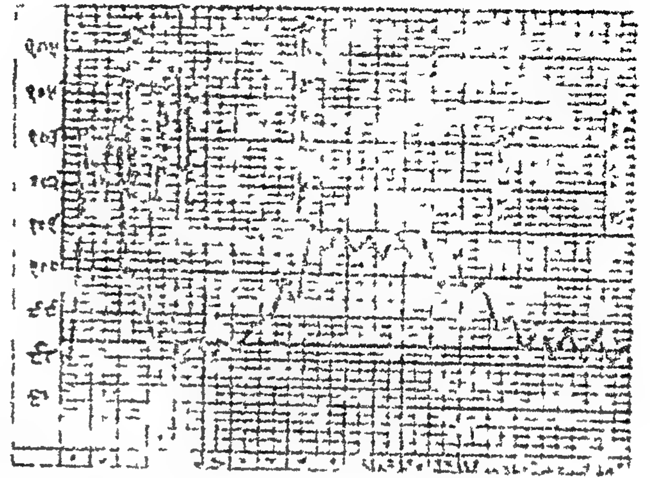
पूर्वरूप—ज्वर, गात्र पीडा, भ्रम, वैवर्ण्य, कण्डू, अरति, त्वक्शोथ, नेत्र लाल हो जाते हैं।

विशिष्ट लक्षण—

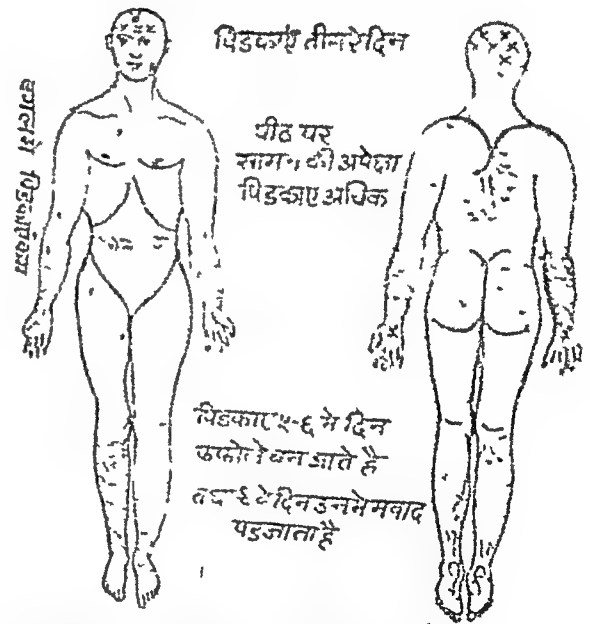
रोग का प्रारम्भ तीव्र ज्वर के साथ प्राय शीत लग कर होता है। कपाल, कटि एव पिण्डलियो मे तीव्र पीडा, हृल्लास, वमन, आक्षेप, प्रलाप आदि लक्षण ज्वर प्रारम्भ के समय होते ह। ज्वर की वृद्धि के साथ ही रोगी को प्यास, गर्मी, त्वचा की शुष्कता, लाल चेहरा, मलावृत जिह्वा आदि लक्षण होते है। सामान्य रूप से ३-४ दिन तक रोगी का तापक्रम १०३-१०४ डि० फा० तक निरन्तर बना रहता हे। रोगी के कटि तथा पीठ मे अतिशय वेदना होती है। प्राय तीसरे दिन ज्वर कुछ कम हो जाता है एव कठोर पिडकाये त्वचा के नीचे स्पष्ट दीखने लगती हे। सर्वप्रथम यह पिडकाये मस्तक एव कनपटी पर लक्षित होती है जो क्रम से पूरे चेहरे, अग्रबाहु, मणिबन्ध, मध्य शरीर, पीठ, उदर, अधोभाग, मुख की श्लेष्मकला एव नेत्रो के भीतर निकलते है। इस प्रकार ललाट पर सबसे पहले तथा पैरो पर अन्त मे पिडकाये

निकलती है। पिडकायें (दाने) निकलने के पश्चात् क्रम से ज्वरादि लक्षणो मे कमी आने से रोगी को कुछ आराम प्रतीत होने लगता है। पिडकाये निकलते समय शरीर मे कुछ खुजली होती है। छठवे दिन पिटकायें जल से भर जाती है। प्राय आठवे दिन उनमे पूय बन जाता है तथा विस्फोट होने पर तापक्रम तथा अन्य उपद्रव धीरे-धीरे कम हो जाते है। प्राय १२वे दिन पिडकायें सूख जाती है।

सामान्य रूप से २ सप्ताह तक उपर्युक्त क्रियाये होने के पश्चात् पिडकाये नष्ट हो जाती है तथा तीसरे सप्ताह मे रोगी अपने आप को स्वस्थ अनुभव करने लगता है। खुरण्ट निकल जाने के पश्चात् दाग बीच मे कुछ दबे से दिखाई देते है। अति प्रकोप होने पर जीवन-पर्यन्त त्वचा पर चिन्ह बने रह जाते है। इस रोग मे प्राय रोगी को मलावरोध रहता है। जीभ शुष्क तथा मैली रहती है। नाडी की गति स्थूल तथा तीव्र चलती है। प्राय दूसरे तीसरे दिन रोगी का तापक्रम १०३-१०४ डिग्री फा० तक हो जाता है। पिडकाये निकलने के पश्चात तापक्रम १००-१०१ डि० फा० पर चला जाता है। पुन पूय निर्माण के समय ७वे दिन से तापक्रम पूर्ववत् बढ जाता है। पूय सूखने पर शनै शनै तापक्रम कम हो जाता है।



चेचक मे ज्वर का सामान्य तापक्रम



चेचक की पिडिकाओ के निकलने का स्थलानुसार क्रम तथा विभिन्न अङ्गो मे काल क्रमानसार उसकी स्थिति

मसूरिका के भेद—

यह ७ प्रकार की होती है—

(१) असयुक्त पिडका—इसमे पिडकाये बहुत कम एव अलग होती है। ज्वर भी मन्द स्वरूप का आता है। एक सप्ताह बीतते बीतते पूय बनकर दूसरे सप्ताह तक पूय भर जाता है तथा तीसरे सप्ताह मे खुरट आ जाते है।

(२) सयुक्त पिडका—इसम पिडकाये एक दूसरे से सयुक्त रहती हैं। पिडकाये घनी और बहुत अधिक मात्रा मे निकलती है। इसमे ज्वर भी अधिक होता है। साथ ही त्वरित नाडी, अधिक प्यास, प्रलाप, नेत्राभिष्यन्द, कास, प्रवाहिका आक्षेप आदि इसमे लक्षण अधिक होते है। प्रारम्भ से ही इसमे अत्यधिक विपमयता होने के कारण यह प्रकार बहुत घातक होता है। पिडकाओ से गाढे रंग का बदबूदार पूय निकलता है। इसमे ८वे से १२वे दिन के मध्य रोग के अधिक उग्र होने से रोगी की प्राय मृत्यु हो जाती है। यदि इसमे कोई रोगी बच जाता है तो खुरटो के निकलने मे २ माह से कम समय नही लगता है।

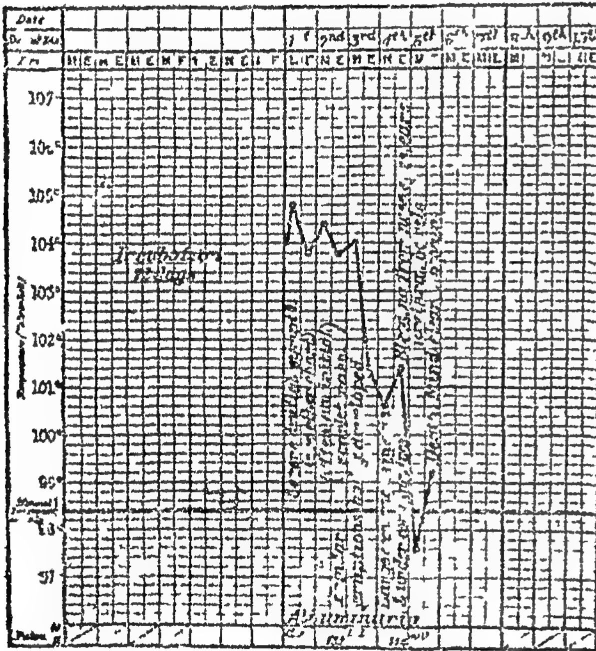
(३) अर्धसयुक्त पिडका—इसमे छुटपुट रूप मे कही कही पिडकाये सयुक्त मिलती है। इसमे लक्षण अधिक उग्र नही होते है, इससे रोगी की मृत्यु कम होती है।

इसे सेमीकन्फ्लूएन्ट कहते है।

(४) दलवद्ध अथवा गुच्छाकार –इसमे पिडकायें एक एक दल मे अनेक निहित स्थानो पर व्याप्त रहती है। यह अधिक घातक नही है। इसे कोरिम्वोज कहते है।

(५) सौम्य ममूरिका (Modified)—इसमे रोग का आक्रमण क्रमिक होता है, लक्षण क्रमश वढते है। द्वितीयावस्था मे पिडकाये नियमित निकलती हैं तथा इनमे शीघ्र पूय वनकर खुरण्ट आ जाता है। यह एक सौम्य प्रकार है, इसके रोगी अच्छे हो जाते हैं।

(६) साघातिक (Malignant)—इसमे सभी लक्षण वडे उग्रस्वरूप के होते है। पिडकाओ के निकलते समय



कृच्छ्रसाध्य-रक्तस्रावी मसूरिका का तापमान चार्ट

आक्षेप तथा वेहोशी होने लगती है। इसमे पिडकाओ का रग काला हो जाता है। मुख, गुदा, मूत्रेन्द्रिय से रक्त-स्राव होने लगता है। इसको रक्तस्रावी ममूरिका (Haemorrhagic) भी कहते है। इसमे वास्तविक विस्फोट निकलने के पूर्व ही प्राय रोगी की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु तीव्र विषमयता तथा रक्तस्राव के कारण होती है। इसमे प्राय हृदयावरोध होकर मृत्यु होती है।

(७) सामान्य (Benign)—इसे शीतला कहते है। सभी लक्षण मृदुस्वरूप के होते हैं। साथ ही सम्पूर्ण अङ्ग मे पिडकाये निकलती है। यह पिडकायें पूय निकलने से पूर्व ही सूख जाती है।

आयुर्वेद के अन्तर्गत –मसूरिका के ५ प्रकार यथा—

१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ रक्तज, सन्निपातज माने गये हैं। उक्त प्रकार माधवोक्त है। सुश्रुत ने मसूरिका के प्रकारो का वर्णन नहीं किया है। वस्तुत उन्होने इसे एक सूत्र मे समाविष्ट कर दिया है—दाहज्वररुजावन्तस्तीवा स्फोटा सपीतका। गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिका॥ हो सकता है कि उस समय यह घातक व्याधि एक क्षुद्र रूप मे रही हो।

गर्भावस्था की मसूरिका—यह प्राय ससक्त तथा रक्तस्रावी प्रवृत्ति की होती है। इसमे प्राय गर्भपात हो जाता है।

उपद्रव—

नेत्रगोलक (Cornea) की श्लेष्मकला मे दाह, शोथ और व्रण, कर्णदाह, अन्धापन, फुफ्फुसदाह, वृषण-दाह, कास, वृक्कदाह, रक्तस्राव, गर्भपात, विसर्प, सन्धि शोथ, विद्रधि, सिर के वालो का गिरना, ग्रीवा की लस-ग्रन्थियों का शोथ, न्यूमोनिया आदि उपद्रव हो जाते है। मस्तिष्क मे दोष आने पर सुषुम्ना शोथ, प्रलाप आदि विकार हो जाते हैं।

साध्यासाध्यता—

इस रोग मे उपद्रवो के होने पर मृत्यु अधिक होती है, विशेष रूप से वच्चे अधिक मरते है। घातक प्रकार दु साध्य, किन्तु सौम्य प्रकार सुसाध्य होता है। इसमे मुख्य उपद्रव न्यूमोनिया तथा व्राान्को-निमोनिया है।

सापेक्ष निदान—

पिडका दर्शन से पूर्व मसूरिका का पूर्ण लक्षण शीत-पूर्वक तीव्र ज्वर हुआ करता है। अत इस अवस्था मे फुफ्फुस पाक, सर्दी जुकाम (Common cold), इन्फ्लूएन्जा, मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर, घातक विषम ज्वर, हूपिंग कफ की कटारल अवस्था, सन्निपात आदि मे समता होती है। पिडिका उत्पत्ति के वाद रोमान्तिका का एव स्वल्पमसूरिका से पार्थक्य करना पडता है।

मसूरिका नाशक आयुर्वेदीय चिकित्सा—

रोग विनिश्चय होने के उपरान्त—त्रात्रीवटी, एलाद-रिष्ट तथा सर्वतोभद्र का उपयोग रक्तचन्दन, अडूसा

नागरमोथा, गुडूची तथा मुनक्का के शीतकषाय के अनुपान से देना चाहिए। इससे रोगी मे दाह तृष्णा, कण्डू आदि का शमन होकर शान्ति मिलती है। निम्न चिकित्सा क्रम इस रोग मे विशेष लाभकारी सिद्ध हुआ है—

प्रथम सप्ताह–(१) स्वर्ण माक्षिक भस्म १२० मि ग्रा १×२, प्रात साय काचनार की छाल के क्वाथ के साथ। (२) एलाद्यरिष्ट २० मि० ली० १×२ भोजनोपरान्त समान जल के साथ।

प्रथम सप्ताह के बाद—(१) रुदुकरा वटिका १२० मि०ग्रा० १×२ प्रात साय बासी जल के साथ। (२) निम्बादि क्वाथ ५० मिली० १ मात्रा प्रात १ बार। (३) हरिद्रा चूर्ण १ ग्राम १×२ दोपहर रात करेले के पत्तो के रस से।

मसूरिका नाशक अन्य योग—

(१) रुद्राक्ष १ ग्राम, काली मिर्च १ ग्राम–इन दोनो को पीसकर १ मात्रा मे प्रति दिन प्रात बासी जल के साथ देने से पिडकाजनित उपद्रवो की तीव्रता कम होकर शीघ्र रोगमुक्ति हो जाती है।

(२) निम्ब, पर्पटक, पाठा, पटोल, कटुरोहिणी, श्वेतचन्दन, रक्त चन्दन, उशीर, धात्री, वासा, दुरालभा–यह निम्बादिदि क्वाथ है–इसे शर्करा के साथ पिलावे।

(३) स्वर्ण माक्षिक भस्म+काचनारत्वक् क्वाथ प्रात साय दे।

(४) मसूरिका के पूय (क्लेद) को सुखाने के लिए पंचवल्कल चूर्ण की राख बनाकर बारीक छान कर पिडिकाओ पर छिडके।

(५) कदली बीज चूर्ण–१-२ ग्राम पानी के साथ देना लाभकारी होता है।

(६) अनन्तमूल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम चावल के धोवन के साथ दिन मे १ बार १ सप्ताह तक देते रहने से पर्याप्त लाभ मिलता है।

मसूरिका मे उपद्रवो के शमन तथा पूय के शीघ्र विशोधन के लिये—निम्ब छाल, अडूसा, कुटकी, चिरायता, पटोलपत्र, गुडूची, पित्तपापडा, नागरमोथा, यवासा इन सबको समान मात्र मे लेकर। २० ग्राम की मात्रा मे ४०० ग्राम पानी मे पकाकर १०० ग्राम शेष रहने पर मिश्री या मधु मिलाकर थोडा-थोड़ा कई बार पिलाये।

रोग मुक्ति के बाद शीघ्र शक्ति प्राप्त करने के लिए छागलादि घृत एव जीवनीय घृत का उपयोग ३ सप्ताह तक करने से रोगी शीघ्र स्वस्थता अनुभव करने लगता है। अथवा वसन्त मालती, प्रवाल, गुडूचीसत्व तथा सितोपलादि का योग भी घृत+मधु के साथ प्रात साय ३ सप्ताह तक सेवन कराना चाहिए।

मसूरिका के गड्ढो को दूर करने के लिये—मसूरिका तथा चेहरे पर पिडकाओ के निकलने से रोगी की आकृति कुरूप हो जाती है। बालको मे खुजलाने के कारण विद्रधि बन जाने पर बडे-बडे गड्ढे बन जाते है। इन्हे दूर करने के लिये निम्न औषधि योग लाभकारी है—

दारुहल्दी, हल्दी, चिरौंजी, मसूर की दाल, मुलैठी इन सबको बराबर मात्रा मे लेकर बकरी के दूध मे पीस कर उबटन के रूप मे लगाने से पर्याप्त लाभ मिलता है।

अथवा—चमेली के पत्ते, अखरोट की छाल, सरसो–इनको पानी मे बारीक पीस कर मक्खन मे मिलाकर सम्पूर्ण शरीर पर मालिश करने से गड्ढे व धब्बे समाप्त हो जाते हैं।

अथवा—शंख को गुलाब जल मे घिस कर बराबर मात्रा मे गुड मिलाकर उबटन करने से तथा बाद मे डाभ के पानी से धोने पर दागो के निशान समाप्त हो जाते हैं।

आधुनिक चिकित्सा—

मसूरिका की कोई भी विशिष्ट चिकित्सा नही है। इतना अवश्य है कि चिकित्सा से द्वितीयक संक्रमण (Secondary infections) तथा उपद्रवो से रक्षा होती है।

(१) रोगी को सबसे अलग रखना बहुत आवश्यक है।

(२) तरल आहार जो प्रोटीन से भरपूर हो, लाभकारी होता है।

(३) खाल और आख की रक्षा के लिये मृदु लोशन यथा–लिक्वड पैराफीन ड्राप आख मे डालना चाहिए तथा खाल पर ५-७% मरक्यूरोक्रोम अथवा पोटाशियम परमैगनेट का प्रयोग लगाने के लिये करना चाहिए।

(४) एण्टीबायोटिक, रोग प्रारम्भ के चौथे दिन से देना प्रारम्भ कर देना चाहिए। इससे द्वितीयक संक्रमण से बचाव रहता है।

(५) अन्य लाक्षणिक चिकित्सा आवश्यक है।

यकृत सत्व का मसूरिका मे लाभकारी प्रयोग—यकृत सत्व (Liver Extract) विशेष कर Proteolysed Liver Extract) का प्रयोग मसूरिका मे लाभकारी सिद्ध हुआ है। ज्वर आदि लक्षणो के अधिक तीव्र न होने पर अवस्थानुसार २-५ मि ली दिन मे एक वार पेशीगत ५ दिन तक, तत्पश्चात् आधी मात्रा मे प्रति तीसरे दिन ५ दिन तक देने से तीव्रता तथा उपद्रवो मे लाभकारी होता है। ज्वराक्रमण के उपरान्त जितना शीघ्र सूचीवेध दिया जा सके, उतनी ही लाभ की सम्भावना रहती है।

पेनिसिलीन तथा सल्फा ड्रग का उपयोग—सल्फाथियाजोल, सल्फामेराजिन, एल्कोसिन का प्रयोग उचित मात्रा मे पिडिका दर्शन से प्रारम्भ करना लाभकारी रहता हे। इसी प्रकार से पिडिका उत्पत्ति के उपरान्त प्रोकेन पेनिसिलीन ४ लाख यूनिट, स्ट्रेप्टोमाइसिन १/२ ग्राम का सयुक्त रूप मे सूचीवेध मासपेशीगत दिन मे १ वार पर्याप्त लाभ पहुँचाता हे। कुछ अनुभवी चिकित्सको की राय है कि पिडिका उत्पत्ति के पूर्व ही निदान हो जाने पर स्ट्रेप्टोमाइसीन १ ग्राम की दैनिक मात्रा ४ वरावर मात्राओ मे विभक्त कर देने से पर्याप्त लाभ मिलता हे। द्वितीयक उपसर्गो के प्रतिषेध तथा पिडिकाओ को शीघ्र सुखाने के लिये पेनिसिलीन जी क्रिस्टेलाइन २ लाख+डी एच स्ट्रेप्टोमाइसीन सल्फेट १ ग्राम, स्टेरीलाइज्ड ग्लिसरीन, विशुद्ध जल का संयुक्त प्रलेप प्रयोगार्थ काम मे लाना चाहिये। इस कार्य के लिये ओम्नोमाइसीन का प्रयोग अधिक लाभकर हो सकता है।

व्राडस्पेक्ट्रम एण्टीवायोटिक—एरिथ्रोमाइसिन, टैरामाइसिन तथा ओरियोमाइसिन का प्रयोग लाभकारी हे।

निम्न चिकित्साक्रम विशेष लाभकारी सिद्ध हुआ है—

(१) रोग के प्रारम्भ से ही विटामिन सी २५०-५०० मि० ग्रा० दिन मे २-३ वार।

(२) पिडिका निकलने पर—मेन्थोल १ ग्रेन, थाइमोल १ ड्राम, एसिड बोरिक २ ड्राम, एसिड सेलीसिलिक १ ड्राम, यूकेलिप्टस तेल २ ड्राम, कपूर तेल १ ड्राम, सन्दल तेल १ ड्राम, लिक्विड केल्सिस ४ ड्राम, आलिव आयल ४ ड्राम—इनका सयुक्त लेप तथा पिडिकाओ मे पूय की उत्पत्ति में नेवासल्फ पाउडर उपयोग करे।

(३) रोग के ६ वे तथा ७ वे दिन से—टेरामाइसिन २५० मि०ग्रा० की मात्रा प्रति ४-६ घण्टे पर मुख द्वारा अथवा १०० मि ग्रा की मात्रा प्रात साय पेशीगत सूचीवेध ६-७ दिन तक नियमित रूप से दे।

(४) खुरण्ट सूखने की स्थिति मे पुनः न० २ का लेप प्रयोग मे लावे। साथ ही मल्टीविटामिन ड्राप तथा टानिक का सेवन प्रारम्भ कराना।

(५) खुरण्टो के निकल जाने पर उनके दागों पर 'डफकालिन' अथवा 'केनालाग' अथवा हाइड्रोकार्टीजोन आइण्टमेण्ट २-३ वार हल्के हाथो से लगाये।

(६) सन्ताप, विषमयता एवं प्रलाप मे—पेनिसिलीन तथा प्रतिजीवी औषधियो का प्रयोग लाभकारी है।

(७) शिर शूल एव सर्वाङ्गवेदना—एरिप्रन फेनासिटीन, सेरीडान अथवा इरगापायरिन का उपयोग करना चाहिए। अथवा—फेनासिटीन १ ग्रेन, एसीटिल सेलीसिलिक एसिड २ ग्रेन कोडीनफास १/२४ ग्रेन, सिवाल्जिन आधा टेवलेट, विटामिन सी १०० मि० ग्राम—ऐसी १ मात्रा दिन मे ३ वार ३-४ दिन तक दे।

(८) रक्तस्राव—इसका प्रतिकार करने के लिए प्रारभ से ही विटामिन सी, कोगूलेण्ट सीरम, क्लाउडेन, विटामिन के आदि का उपयोग करना चाहिए। पिडिका उत्पत्ति के वाद से विटामिन सी १०० मि ग्राम, विटामिन के १० मि० ग्राम, क्लाउडेन टेवलेट १, कैल्शियम लैक्टेट १० ग्रेन—ऐसी १ मात्रा दिन मे ३ वार देते रहे।

पूयमयता एवं विद्रधि की स्थिति मे—पेनिसिलीन तथा सल्फाड्रग का मुख मार्ग से सयुक्त प्रयोग, साथ ही सूचीवेध के रूप मे पेनिसिलीन का प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त विद्रधि मे सचित पूय का शोधन तथा स्थानीय उपचार भी करना चाहिए।

मूर्च्छा तथा सन्ताप की स्थिति मे—गुदा द्वारा ग्लूकोज तथा नार्मल सैलाइन का उपयोग लाभकारी रहता है।

नेत्रो मे व्रण की स्थिति में—ओरियोमाइसीन, टैरामाइसीन आख के मलहमो का उपयोग। साथ ही प्रात साय आर्जीराल लोशन को आख में टपकाना, अधिक कष्ट की स्थिति मे इफकार्लिन अथवा वेटनोसाल एन ड्राप तथा आइन्टमेन्ट का उपयोग।

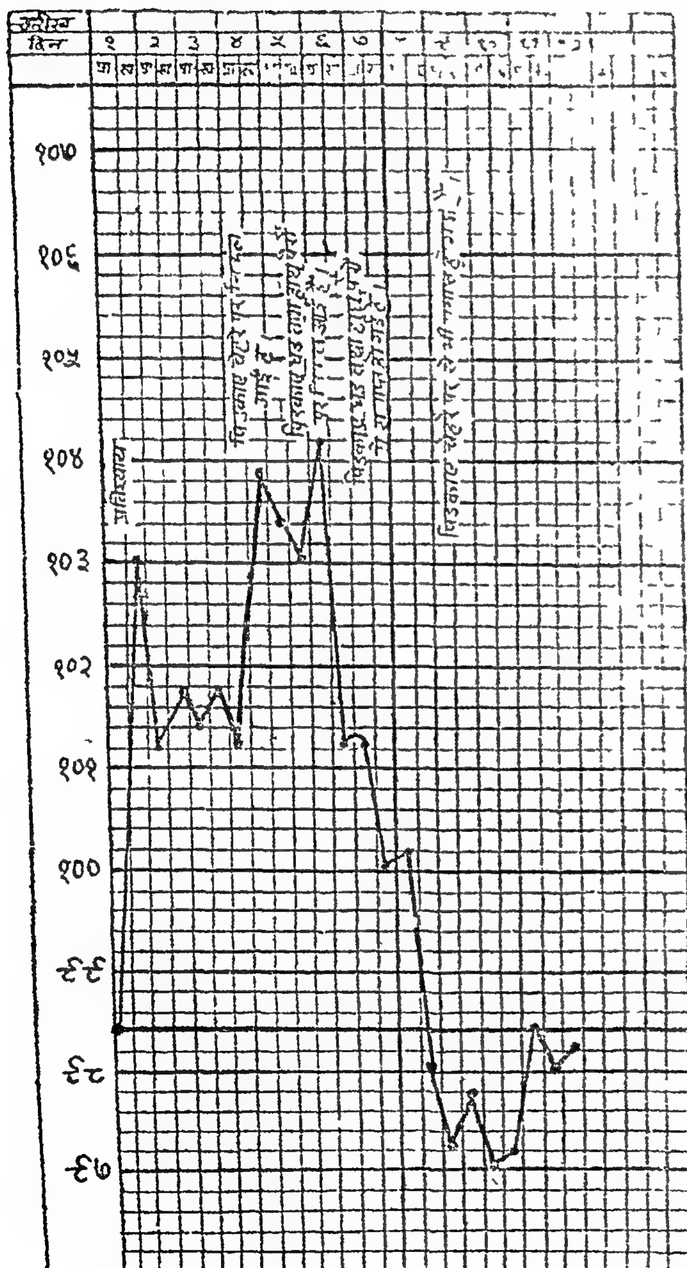
—शेषाश पृष्ठ ३४८ पर देखें।

❀ खसरा (MEASLES) ❀

श्री वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु०वृह०
श्री उमाशङ्कर आयुर्वेद भवन, सरदारशहर (राज०)

***

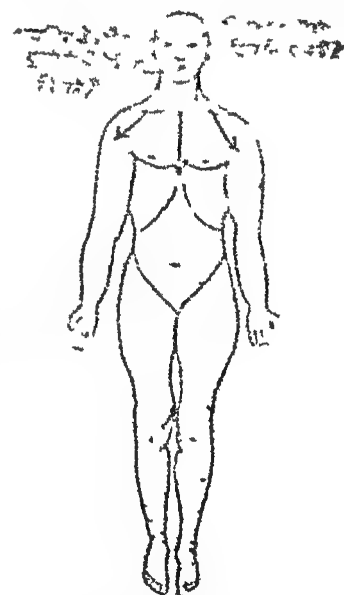
यह एक संक्रामक रोग है जो कि प्राय ६ महीने से ५ साल की आयु के बच्चे को अधिक आक्रान्त करता है। यह एक विषाणुजन्य बीमारी है, जिसकी प्रारम्भिक अवस्था १० से १२ दिन [illegible] है। [illegible] प्रारम्भ में खांसी, आंखों से पानी [illegible], [illegible] [illegible] होता है। तीसरे या चौथे दिन [illegible], [illegible] के पीछे छोटे-२ दाग दिखाई [illegible] है। धीरे धीरे ये दाने तमाम देह पर [illegible] जाते हैं। [illegible] बाद बुखार तथा अन्य लक्षण धीरे धीरे [illegible] जाते हैं लेकिन त्वचा पर दानों के [illegible] मिटने में कई दिन लग जाते है। ये दाने स्थायी नहीं होकर अस्थायी होते हैं। सम्पूर्ण देह में छोटे छोटे [illegible] वाली पिडकाए, जिनमें ज्वर, दाह, तृषा, [illegible] एवं [illegible] प्रसेक आदि लक्षण होते हैं रोमान्तिका [illegible] है।



खसरा मे ज्वर का तापमान चार्ट एवं पिडकाओ के निकलने का क्रम

लक्षण —

प्रारम्भ में सर्दी, जुकाम लगती है। बालक के सिर में दर्द होने लगता है। खांसी चलने लगती है। छींके आती रहती हैं एवं ज्वर भी तेज हो जाता है। आंख और नाक मे पानी बहने लग जाता है। गले एव नाक मे शोथ (सूजन) हो जाती है।



लघु मसूरिका (खसरा) मे पिडकाओ के निकलने की स्थिति

सप्ताह के अन्दर देह पर छोटे-छोटे दाने निकल आते हे। ये दाने सर्वप्रथम माथे, कनपुटी एव कान के पीछे प्रकट होते है, फिर धीरे धीरे ये समस्त देह मे फैल जाते हैं। कई दाने सयुक्त होकर बडे चकत्ते बन जाते है एव इसीके साथ ज्वर भी तीव्र होता जाता है। १-२ दिनो के बाद ये दाने मुझने लगते है। बुखार होकर तत्पश्चात् त्वचा पर से ही पपडी उतर जाती हे।

—शेषांश पृष्ठ ३३० पर देखें।

रोमान्तिका



वैद्य श्री अम्बालाल जोशी आयु०,
विशेष सम्पादक—'धन्वन्तरि ज्वर चिकित्सांक'





यह एक अति तीव्र सक्रामक रोग है। इसमे नासा कठ की श्लेष्मकला का प्रदाह होता है। चौथे दिन देह पर रक्त पिडिकाये निकल आती है। अधिकतर बच्चो का रोग है।

आरम्भ से लेकर रोग मुक्ति तक एक वर्ण की गहरी पिडकाये घने रूप से देह पर फैल जाती है। अधिकतर इसके निकलने का समय शीत एव वसन्त ऋतु है। प्रथम दिन से ही तापमान १०२–१०३ डिग्री तक हो जाता है। यह कफज रोग है जिसमे नासा, मुख तथा श्वसनमार्ग पीडित हो जाता है। दूसरे तथा तीसरे दिन ज्वर कम हो जाता है। परन्तु चौथे दिन फिर तेज होकर पिडकाये निकलती है, फिर तीन दिन ज्वर एकसा बना रहता है। फिर उतरने का क्रम होता है।

इस रोग मे प्रतिश्याय के लक्षण मिलते है। परन्तु इसमे तापमान अधिक होता है। नेत्रो मे लाली, अश्रुस्राव, नासास्राव, श्वास प्रणाली प्रदाह, कास तथा स्वरयन्त्र का पीडित रहना इसके लक्षण है।

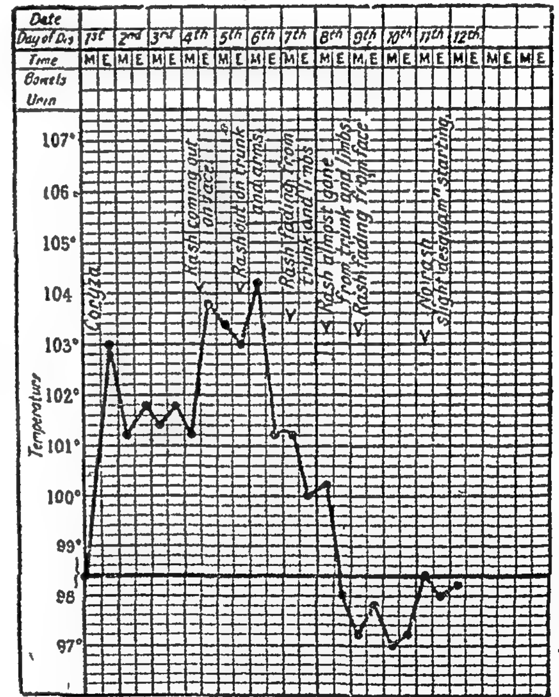
रोगारम्भ के चौथे दिन पिडिकाये निकलती है। आरम्भ मे कपाल के दोनो ओर बालो के किनारे, कान के पीछे तथा तदनन्तर शीघ्रता से सारे शरीर मे फैल जाती है जो दबाने से अदृश्य होजाती है। पिडिकाये घनी तथा पिगलाभ होती है। स्वरयन्त्र प्रदाह, अतिसार, वमन, शिर शूल, तृषावृद्धि, *व्याकुलता, निद्रानाश,* प्रलाप आदि लक्षण होते है।

सामान्यत कोई उपद्रव न होने पर पिडिकाये १० दिन मे मुर्झा जाती है और भुसी सी उतरने लगती है। बिना उपद्रव यह सुखसाध्य रोग है। परन्तु उपद्रवावस्था मे भयानक तथा मारक रूप धारण कर लेता है। जिसमे फुपफुस प्रदाह उपद्रव सबसे भयानक तथा मारक है।

रोमान्तिका मृदु, रक्तस्रावी, वातिक, पीडिकारहित तथा कृष्ण होती है। इनमे वातिक पीडिकारहित रक्तस्रावी तथा कृष्ण कृच्छ्र साध्य अथवा असाध्य है।

इस रोग मे श्वसन प्रदाह, आमाशय प्रदाह, मुखपाक मध्यकर्ण प्रदाह, अतिसार, मस्तिष्क प्रदाह आदि उपद्रव हो सकते है। जिनका तत्काल उपचार आवश्यक है अन्यथा ये लक्षण मारक सिद्ध हो सकते है। इसके सिवाय वृक्क प्रदाह तथा हृदय श्लैष्मिक कला प्रदाह भी कभी-कभी हो जाते है। अधिक उग्र होने पर पीडिकाये पूय से भर जाती है। चिरकारी कास रहता है। इससे बालक क्षीण देह होने लगता है।

इस रोग मे शृङ्ग भस्म, रसमाणिक्य उत्तम औषधि है। त्रिभुवनकीर्ति रस भी हितकर है। लक्ष्मीविलास रस नारदीय लाभ देता हे। उपद्रवो की चिकित्सा तदनुसार करे।



पथ्य मे—नमक नही दिया जाता तथा शीत वीर्य पथ्य नही देते। ज्वर उतरने पर शीतल पदार्थ दे सकते है।

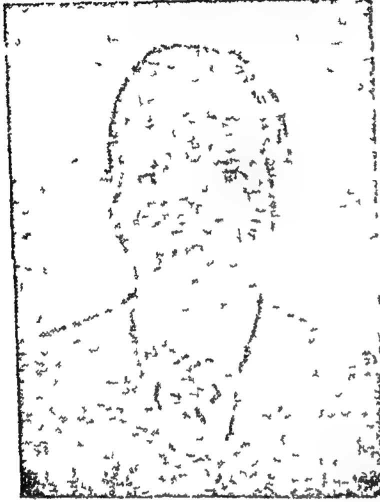
रोग से सुरक्षित रखने के लिए वे सभी उपाय करे जो सक्रामक रोगी मे किये जाते है जैसे एकान्त सेवन, कमरे का वातावरण ४० से उत्तापित, अशुद्धता निवारण, शीतल वायु प्रवेश निषिद्ध, अशुचि, वस्त्रो का त्याग आदि।

रोगी को स्नान तथा शीत वायु वर्जित है। पथ्य मे खजूर, मुनक्का बादाम काजू दिये जा सकते है।



औपसर्गिक मेह

वैद्य भानुप्रताप आर० मिश्र बी०एस० ए०एम०



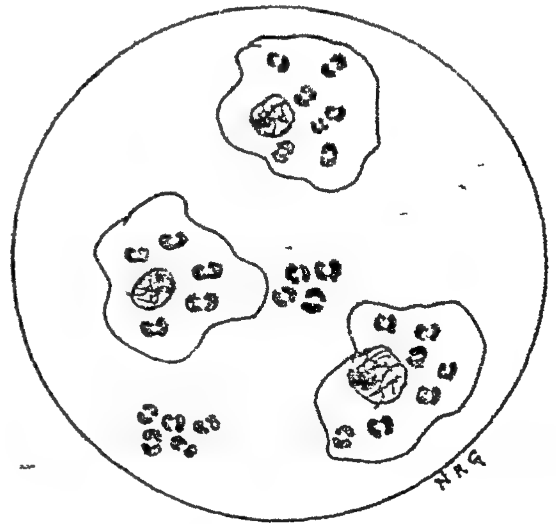
वैद्य भानुप्रताप आर० मिश्र लगन के धनी एवं परिश्रमी व्यक्ति है। आपकी उम्र कम ही है, फिर भी आपके लेखन कार्य की एक छाप है जो कि बरबस ही पाठकों को मोह लेती है। इस विशेषांक हेतु आपका लेख औपसर्गिक मेह प्राप्त हुआ है। लेख अध्ययनपूर्वक लिखा गया है, अनुभव की पुट यत्र तत्र सर्वत्र देखने को मिल रही है। भविष्य मे आपके और उत्तम लेख प्राप्त होंगे इसी आशा के साथ—

—वैद्य ओ० पी० वर्मा

चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांगहृदय तथा माधव निदान मे औपसर्गिक मेह का स्वतन्त्र वर्णन नही मिलता है। सर्व प्रथम भैषज्य रत्नावली मे औपसर्गिक मेह का स्वतन्त्र वर्णन मिलता। चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी द्वारा प्रकाशित माधव निदान के परिशिष्ट मे भृशोष्णवात के नाम से औपसर्गिक मेह का स्वतन्त्र वर्णन मिलता है। कविराज श्रीरामरक्ष पाठक जी ने भृशोष्णवात को ही औपसर्गिक मेह माना हे क्योकि भैषज्य रत्नावली मे वर्णित औपसर्गिक मेह तथा माधव निदान मे वर्णित भृशोष्णवात के निदान लक्षण मे अधिक साम्यता हे। औपसर्गिक मेह को ही व्रणमेह, पूयमेह, आगन्तुकमेह तथा भृशोष्णवात कहते है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे गनोरिया (Gonorrhaea) कहते हैं।

कारण—दुश्चरित्र, रजस्वला, गर्भवती, दूषित एव मलिन योनिवाली तथा औपसर्गिक मेह मे पीड़ित स्त्री के साथ सम्भोग करने से या इनके मूत्र किये स्थान पर मूत्र त्याग से, अधिक सुरापान एव उष्ण पदार्थो के सेवन से इसकी उत्पत्ति सभव होती है।

सम्प्राप्ति–जिस स्त्री की योनि अनेक रोगो के कारण तथा कडू युक्त हो अथवा रजस्वला हो तथा अनेक मनुष्यो



औपसर्गिक मेह के कारणभूत जीवाणु–गोनोकोक्काई

द्वारा जो सभोग कराती हो ऐसी स्त्री के साथ मनुष्य यदि सभोग करता है तो वह भयङ्कर औपसर्गिक मेह को प्राप्त करता है। मूत्र मार्ग की अन्त: श्लेष्मलकला मे व्रण होने से अत्यन्त क्लेद का स्राव होता हे। इसलिये इसे व्रणमेह भी कहते हे।

उत्क्राति काल—स्त्री पूयमेह से पीडित पुरुष के साथ

अथवा पुरुष पूयमेह से पीड़ित स्त्री के साथ सम्भोग करने के समय से लेकर सात दिन तक में औपसर्गिक मेह रोग उत्पन्न होता है।

लक्षण—

औपसर्गिक मेह में बार-बार शिश्न का उत्थान होता है। शिश्न के मुण्ड भाग में कण्डू होती है। मूत्रत्याग में असह्य वेदना और दाह होती है। लिंग की वृद्धि होती है तथा उसका अग्रभाग शोथ होने के कारण लालवर्णयुक्त हो जाता है। मुष्क प्रदेश में भी वेदना होती है। व्रण की तरह मूत्रमार्ग से पूय का स्राव होता रहता है। दिन-रात मूत्रमार्ग में दाह होने के कारण रोगी बेचैन रहता है। कभी कभी अन्दर ही शुष्क हो जाने के कारण मूत्रमार्ग बन्द हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मूत्र प्रवृत्ति बन्द हो जाती है अथवा स्वल्प छिद्र होने के कारण अत्यन्त दाह के साथ दो धार के रूप में, मूत्र प्रवृत्तिमार्ग बन्द होने के कारण चिमचिमाहट होती है तथा धीरे-धीरे पूय का स्राव होने लगता है और स्राव की मात्रा बढती जाती है। इस प्रकार औपसर्गिक मेह संसर्ग द्वारा मनुष्यों में फैलता रहता है। समय जाते दाह एवं वेदना कम होती जाती है। परन्तु व्याधि कष्टसाध्य हो जाती है।

औपसर्गिक मेह का विभेदक निदान—औपसर्गिक मेह का विभेदक निदान उष्णवात के साथ निम्नलिखित तालिका में दिया जा रहा है।

औपसर्गिक मेह	उष्णवात
(१) औपसर्गिक मेह किसी रोग का भेद नही है।	(१) उष्णवात मूत्राघात का एक भेद है।
(२) औपसर्गिक मेह गोनोकोकस (Gonococcus) के कारण होता है।	(२) उष्णवात अति व्यायाम, आतप अध्व, वातकारक रूक्ष अन्नपान के सेवन के कारण होता है।
(३) औपसर्गिक मेह में जननेन्द्रिय तथा जीर्णावस्था में सम्पूर्ण शरीर में होता है।	(३) उष्णवात वस्ति, मेढ्र, वृक्क में होता है।
(४) औपसर्गिक मेह में पूयस्राव होता है।	(४) उष्णवात में पूयस्राव नही होता है।
(५) औपसर्गिक मेह में पूयमिश्रित मूत्र अथवा पूय का ही स्राव होता है।	(५) उष्णवात में हरिद्रावर्ण या रक्त मिश्रित मूत्र या रक्त का ही स्राव होता है।
(६) औपसर्गिक मेह में कण्डू होता है।	(६) उष्णवात में कण्डू नही होता है।
(७) औपसर्गिक मेह में मूत्रल औषधि देने से कोई विशेष लाभ नही होता है।	(७) उष्णवात में मूत्रल औषधि देने से लाभ होता है।

औपसर्गिक मेह के उपद्रव—

शुक्रग्रन्थि, शुक्राशय, पौरुष ग्रन्थि में शोथ होता है। मूत्राशय में मूत्र का भरा रहना, मूत्र मार्ग के चारों ओर विद्रधि के फट जाने पर उग्रशोथ अथवा अत्यन्त दुःखप्रद नाडी व्रण की उत्पत्ति होती है। आमवात तथा औपसर्गिक नेत्राभिष्यन्द की उत्पत्ति होती है अतः अति शीघ्र औपसर्गिक मेह की चिकित्सा चिकित्सक को बडी सावधानीपूर्वक करनी चाहिए।

औपसर्गिक मेह की परीक्षा—इसमें गुह्य गोलाणु की आकृति वृक्क की भांति अर्थात् सेम के बीज की तरह होती रहती है। अतः रोगी की पूय से फिल्म बनाकर माइक्रोस्कोप (अणुवीक्षण यन्त्र) द्वारा परीक्षा की जाती है इसके अतिरिक्त रक्त द्वारा परीक्षा जिसे गोनोकोकस कम्पलीमेंट फिक्सम् टेस्ट कहते हैं किया जाता है।

चिकित्सा सूत्र—

प्रथमं मैथुनं त्याज्यमौपसर्गिकमेहिभिः।
यतस्तत्तु प्रधानं हि निमित्तं रोगसम्भवे॥
अतः सुखार्थिभिर्जातु न कार्या पांशुलारतिः।
श्वयथुघ्नं व्रणघ्नं वा तथा वातानुलोमनम्॥
मूत्रलं चान्नपानं यद् भेषजं सेव्यमेव तत्।
न कदाचित् क्रियामुग्रां विदध्यादत्र कांचन॥

—भैषज्य रत्नावली औपसर्गिक मेह प्रकरण

स्त्री सम्भोग त्याग दें तथा अपने जीवन का हित चाहने के लिये वेश्या और पुंश्चली (कुट्टिनी) स्त्रियों के



पूयमेह मे योनि की अंगुली द्वारा परीक्षा से पूय निकल कर बाहर आ गया है।

साथ कभी भी मैथुन नही करे। इस रोग मे शोथनाशक, व्रणनाशक, वातानुलोमक तथा मूत्रप्रवर्तक अन्नपान तथा औषध का प्रयोग करना चाहिए। इसमे कभी भी उग्र क्रियाये वर्जित है। इस प्रकार के उपचारो से औपसर्गिक मेह सक्रमण रोक सकते हैं।

औपसर्गिक मेह से पीडित रोगी को स्त्री सभोग का त्याग बिल्कुल कर देना चाहिये। वेश्या और पागुल (कुट्टिनी) स्त्री के साथ सम्भोग कभी भी नही करना चाहिए। क्योकि इससे पुन रोग सक्रमण होने का भय रहता है। औपर्गिक मेह के व्रण को शुद्ध फिटकरी से धोना चाहिये। शुद्ध फिटकरी जन्तुघ्न है। चमेली पत्र का क्वाथ शोथयुक्त इन्द्रिय पर लगाना चाहिये। इन्द्रिय को गरम क्वाथ मे डुबाये रखना अति उत्तम है। चमेली पत्र क्वाथ की जगह त्रिफला का प्रयोग भी किया जा सकता है।

औपसर्गिक मेह से पीडित रोगी को उत्तरवस्ति देनी चाहिये। इससे पूय एव औपसर्गिक मेह के जीवाणु का अनुलोमन होता है। तूतिया ३ ग्राम, फिटकरी १० ग्राम, नीम की ताजी पत्ती १२० ग्राम, त्रिफला १२० ग्राम, धनिया १० ग्राम एव अफीम ६ ग्राम को जवकुट करके रात को ३ किलोग्राम जल मे भिगो दे और प्रात क्वाथ विधि अनुसार क्वाथ बना ले। क्वाथ को छानकर उत्तर वस्ति देने हेतु काच की शीशी मे रख ले। इसकी उत्तर वस्ति देने से औपसर्गिक मेह मे लाभ होता है। सत्यानाशी के स्वरस को अच्छी तरह छानकर औपसर्गिक मेह मे उत्तरवस्ति देने से तथा लिंग प्रक्षालन करने से पूय का शोधन होता है। औपसर्गिक मेह का व्रण शीघ्र अच्छा हो जाता है। शतधौत घृत अथवा चन्दन का तैल लिङ्ग पर लगाने से दाह मे लाभ होता है।

आभ्यन्तर औषधि प्रयोग हेतु कन्दर्प रस, पूयमेहान्तक रस, हरिशङ्कर रस, महाभ्रवटिका, चन्दनादि वटी, चन्द्रप्रभा वटी, स्फटिकादि चूर्ण, उशीरादि चूर्ण, सहस्रवीर्यादि चूर्ण, तृणपचमूल क्वाथ, गोक्षुरादि क्वाथ, नागि-वायुगनादि क्वाथ, चन्दनासव, उशीरासव आदि योगो का उपयोग चिकित्सक को युक्तिपूर्वक करना चाहिए।

औपसर्गिक मेह की अनुभूत चिकित्सा—

(१) पचवल्कल क्वाथ यथावश्यक लेकर क्वाथ विधि अनुसार तैयार करके लिङ्ग का स्वेदन एव प्रक्षालन करना चाहिए।

(२) ताजी नीम की पत्ती १०० ग्राम अधकचरा कूटकर क्वाथ विधि अनुसार तैयार करके शुद्ध फिटकरी १० ग्राम और शुद्ध तूतिया ३ ग्राम मिला उत्तरवस्ति दें।

(३) शीतलचीनी २ दाना, छोटी इलायची १ दाना, शुद्ध तूतिया २५० मिग्रा० को चूर्ण कल्पना अनुसार चूर्ण तैयार करके यथावश्यक नवनीत मिलाकर शिश्नाग्र पर लेप करना चाहिये।

(४) सत्यानाशी पचाङ्ग २५० ग्राम को कल्पनानुसार क्वाथ निर्माण करके प्रात साय पीवे।

(५) चन्द्रप्रभा वटी २-२ गोली ३ बार पानी के साथ दे।

(६) पूयमेहान्तक रस २५० मिग्रा०, कन्दर्प रस २५० मिग्रा०, स्फटिकादि चूर्ण दिन मे ३ बार शर्बत अनार या अनार स्वरस के साथ देनी चाहिये।

—वैद्य भानुप्रताप आर० मिश्र
बी एस ए एम, आयुर्वेद मध्यमा
विवेचक—श्री बालाहनुमान आयु० महा विद्यालय,
लोदरा ता० विजापुरा जि० महेमाना (उ० गुजरात)

फिरंग

वैद्य मोहर सिंह आर्य आयु० बृह०



आयुर्वेद जगत मे श्री मोहर सिह आर्य को कौन नहीं जानता । आपने अनेको छोटे बडे विशेषांको का सम्पादन ही नहीं किया है, अपितु भारतवर्ष की आयुर्वेद विषय की प्रसिद्ध पत्र पत्रिकाओ मे आपके लेख ससम्मान प्रकाशित किये जाते हैं । काय चिकित्सा के माने हुए सुप्रसिद्ध विद्वान है । आपने ऐसा कौन सा आयुर्वेद का विषय है, जिस पर नहीं लिखा है

फिरङ्ग नामक प्रस्तुत लेख मे आपने अपने अनुभवो से पाठको को अवगत कराया हे । आशा है इनके अनुभवो का लाभ उठाकर पाठक लाभान्वित होगे । आप शतायु हो ऐसी भगवान धन्वन्तरि से कामना हे ।

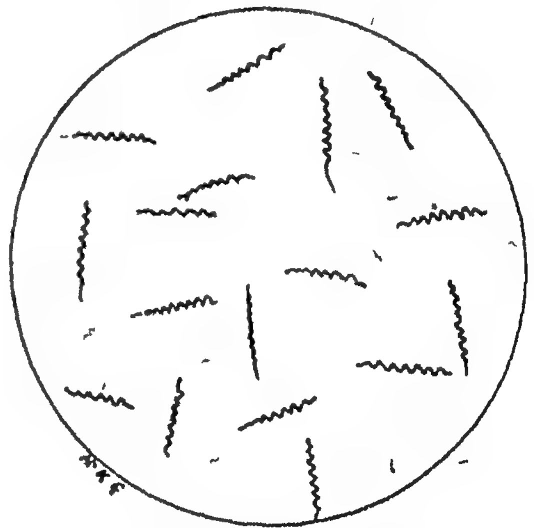
—वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु० बृह०

पर्याय—१ साधारण बोलचाल मे—गरमी, गर्मी, गहाडी रोग, २ आगल भाषा मे—सिफिलिस (Syphilis), ३ यूनानी भाषा मे—आतशक, बाद फिरङ्ग, आबला फिरङ्ग, ४ कतिपय लेखक—इसे उपदश कहते है ।

सज्ञा विवेचन—आयुर्वेद के प्राचीन साहित्य मे इस रोग का उल्लेख नही ह । सोलहवीं शताब्दी मे सर्वप्रथम भावमिश्र ने इस रोग का वर्णन 'भावप्रकाश' मे किया है । भाव मिश्र का कथन है—यह रोग फिरङ्ग नामक देश मे बहुलता से होता है, इसलिए इसकी सज्ञा फिरग है । इसे गध रोग भी कहते है, गन्ध का अर्थ ससर्गज रोग हे । यह आगन्तुक व्याधि है । यह रोग फिरगाक्रान्त पुरुष अथवा स्त्री के साथ मैथुन करने से होता है ।

फिरङ्ग—जिसके नाम पर इस रोग का नामकरण हुआ, यह जानकारी आवश्यक है । भारतवासी पश्चिमीय देशो को फिरङ्ग देश तथा इसके निवासियो को फिरङ्गी कहकर पुकारते थे । भारत मे जब फिरङ्गी लोग (पुर्तगाली) आये तो फिरङ्गी स्त्रियो के साथ मैथुन करने से यह रोग भारतीय पुरुषो तथा उनसे स्त्रियो मे फैल गया । भावमिश्र ने 'फिरङ्गिण्या प्रसङ्गात' लिख कर यह विशेषता प्रकट की हे कि फिरङ्गिणियो के साथ प्रसङ्ग करने से यह रोग विशेष होता है । फिरङ्गियो से प्राप्त होने के कारण इस रोग को फिरङ्ग कहते है ।

विमर्श—आधुनिक व्याधि विशारदो ने इस रोग का कारण स्पैरोकीटा पालिडा (Spirochaeta Pallida) अथवा ट्रिपोनेमा पालिडम् (Treponema Pallidum) नामक जीवाणु माना है ।



फिरङ्ग रोग का जीवाणु

सहायक कारण —वश परम्परा से सहज फिरङ्ग की उत्पत्ति होती हे । सहज फिरङ्ग का हेतु वीर्य या रज का फिरङ्ग से प्रभावित होना है ।

सचयकाल—सम्भोग से २ से ६ सप्ताह पर्यन्त होता है । साधारणतया २१ दिन के सचयकाल के पश्चात्

सक्रमण होता है अर्थात तृतीय सप्ताह मे लक्षण प्रकट होने लगते है।

लक्षण —

इस रोग के लक्षण तथा समय की दृष्टि से चार अवस्थाओ मे विभक्त किया जा सकता है—

प्रथमावस्था यह अवस्था मैथुन से तृतीय सप्ताह मे जननेन्द्रिय पर एक छोटा सा दाना उत्पन्न होकर प्रारम्भ होती है। (देखे सामने का चित्र)

पुरुषो मे—पुरुषो मे प्राय यह दाना शिश्नमणि या उसकी त्वचा के भीतरी स्थान पर होता है। यह सबसे अधिक अनुकूल स्थान है। शिश्नमणि (सुपारी) के चारो ओर भीतरी भाग मे कही भी घेरे के समीप उत्पन्न होता है। रोग वृद्धि क्रम से अन्य स्थानो पर भी यह दाना रोग उत्पन्न करता है। यथा—

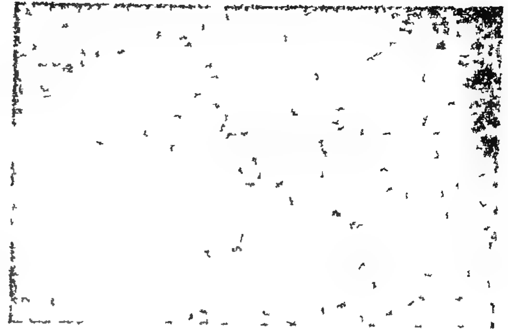
१ मणिच्छद की श्लैष्मिक कला, २ मणिच्छद द्वार, ३ शिश्न त्वचा, ४ मूत्रनलिका द्वार, ५ अण्डकोष और ६ मूत्र नलिका आदि पर भी सक्रमण हो सकता है। मैथुन की रगड से जहा कही भी क्षत होगा वही फिरङ्गाणु प्रविष्ट होकर पीडित कर देते है।

स्त्रियो मे—स्त्रियो मे प्राथमिक व्रण वृहद् भगोष्ठ के भीतरी भाग पर होता है। इसके अतिरिक्त क्षुद्र भगोष्ठ, भगाञ्जलिका, गर्भाशय ग्रीवा, योनिमार्गीय तुम्बिका द्वार, मूत्रनलिका द्वार और मूत्रनाल मे भी व्रण हो सकता है।

जननेन्द्रिय के अतिरिक्त रतिज व्रण स्त्री तथा पुरुषो मे प्राय होठो, तालूमूल ग्रन्थियो, जिव्हा, अगुलियो और स्तन आदि स्थानो पर प्रकट होते है।

जननेन्द्रियेतर भी कभी कभी फिरङ्ग का विष लग जाने से इस रोग का सक्रमण हो जाता है। यदि फिरङ्ग का विष होठ, स्तन, अगुलियो और जिव्हा प्रभृति पर लग जाये तो इन अवयवो पर भी व्रण बन जाते है।

व्रण—व्रण की आकृति प्राय मण्डलाकार गोलाकार होती है। आधार कठोर होता है। व्रण को दबाने पर रक्ताम्बुस्राव होता है। पूय या रक्त नही निकलता। व्रण वेदनारहित होता है। इसको कठिन व्रण (हार्ड शैंकर Hard Chancre) कहते है। इस व्रण के फूटने पर रक्त या पूय स्राव नही होता, अपितु लसिका का स्राव होता



है। इस स्राव मे रोग के कीटाणु विद्यमान होते है।

व्रण की उत्पत्ति के एक सप्ताह के भीतर जघाओ की ग्रन्थिया शोथयुक्त हो जाती है। वे कठोर हो जाती है, किन्तु इनमे पीडा नही होती, ग्रन्थि पकती नही।

प्रथमावस्था मे रोग के उग्र लक्षण नही होते। कभी कभी व्रण न होकर जननेन्द्रिय की किसी भाग की त्वचा लाल तथा मोटी हो जाती है। अत रोगी का ध्यान इस रोग की ओर नही जाता है। यदि ध्यान जाता भी है तो गुप्तरोग एव मैथुनजन्य व्याधि होने के कारण चिकित्सा की उपेक्षा कर जाता है। फलत. रोग बढकर सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाता है। यह प्रथमावस्था भाव प्रकाश मे वर्णित फिरङ्ग का बाह्य भेद है। इस अवस्था मे स्थानीय लक्षण मिलते हैं।

फिरङ्ग की प्रथमावस्था का निदान—

१ किसी रोगाक्रान्त के साथ मैथुन की घटना का विवरण।

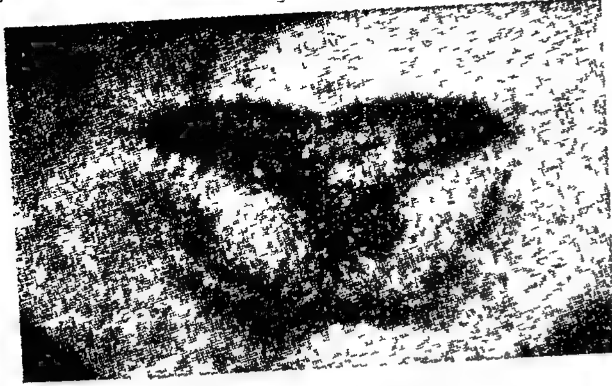
२ मैथुन के पश्चात् तृतीय सप्ताह के बाद व्रण का प्रकट होना।

३ वक्षण प्रदेश मे लसग्रन्थियो का बढना।

४ तिमिर भूमि परीक्षण—प्राथमिक व्रण को विशुद्ध वस्त्र से स्वच्छ कर रक्ताम्बु को १ काच की स्लाइड पर ले सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा रोग का निश्चय करे।

५ रक्त परीक्षा—रक्त परीक्षण उपयोगी सिद्ध होता है।

सूक्ष्मदर्शी यन्त्र के द्वारा जीवाणु परीक्षा एव रक्त परीक्षण की रिपोर्ट देखकर सुनिश्चित कर लो कि वास्तव मे रोगी फिरङ्ग से ही पीडित है।



निम्न ओष्ठ पर कठिनव्रण

द्वितीयावस्था—

यह अवस्था प्राय ६ सप्ताह पीछे प्रारम्भ होती है। अर्थात् रोग की प्रारम्भिक अवस्था के प्रकट होने से छ सप्ताह के पश्चात् रोग की द्वितीयावस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था मे रोग का विष समस्त शरीर मे पहुच कर रक्त को दूषित कर देता है। व्रण होने के तृतीय या चतुर्थ सप्ताह के पश्चात् वाह्य त्वचा पर दाने निकलते हैं। ये दाने नष्ट होने पर इनके स्थान मे कुछ समय तक ताम्रवर्ण का मास वर्ण के लाल चकत्ते प्रकट होते है। इनमे खुजली बहुधा नही होती। यह फिरङ्ग के दानो का विशेष लक्षण है। दानो का आकार वर्ण तथा परिमाण एक समान नही होता। ये दाने शिर, मुख, वक्ष, बाहु, कमर उदर, पाव, हथेली एव पावो के तलुओ पर समान रूप से होते है अथवा इन स्थानो पर छाले पडते हैं। ये छाले गोल, सर्पाकार, राख के वर्ण के होते हे। इनके किनारे साफ कटे हुए प्रतीत होते है। जहा त्वचा सदैव गीली रहती है और जहा श्लेष्मलकला तथा वाह्य त्वचा मिलती है, जैसे—मल द्वार, भग, होठ के किनारे वहां मस्से से निकल आते हे।

जङ्घाओ की ग्रन्थियो के अतिरिक्त ग्रीवा, कोहनी, कक्ष की लसिका ग्रन्थिया वढकर कठोर हो जाती हैं। गले मे भीतर शोथ हो जाता है। व्रण वन जाते हैं। लालास्राव होता है। रोगी प्राय वोलने तथा खाने पीने मे असमर्थ होता है। आतुर को ज्वर आकर सिर मे वेदना होती है। वाल गिरने लगते हैं। सन्धियो मे, हड्डियों मे रात्रि को विशेषतया पीडा होती हे। रक्ताल्पता के कारण पाण्डुता तथा दुर्बलता आ जाती है। कनीनिका प्रकोप होता है। आखें दुखने लगती है। दृष्टि घट जातीहै। प्लीहा वढ जाती है। इन सव लक्षणो से रोगी कुरूप हो जाता है। परिणामस्वरूप—

१ वाल गिरने से गञ्जा हो जाता है।

२ होठो के किनारे पर व्रण हो जाते है।

३ सम्पूर्ण शरीर पर फुन्सिया निकल आती हैं।

द्वितीयावस्था के अन्तिम लक्षण—१ अक्षिगोलकावरण शोथ, २ धमनी एव शिरा शोथ, ३- मस्तिष्क शिरा मे गाठ के कारण रक्त सचार अवरुद्ध होकर अर्दित हो जाता है। ४ हथेलियो, तलुवो तथा देह पर विचर्चिका, ५. पावो पर गोल व्रण हो जाते है।

द्वितीयावस्था का सक्षेप वर्णन—

१ व्रण—आकार, वर्ण तथा परिमाण मे समान नही होते।

२ फूटने पर कुछ समय तक ताम्र वर्ण वा लाल धव्वे होते है।

३ दाने शरीर के दोनो ओर समान स्थानो पर निकलते है।

४. इनमे कण्डू वा पीडा का नही होना।

५ बाह्य त्वचा की भाति कोष्ठ, जिह्वा, तालु तथा कपोल की श्लेष्मलकला पर भी छाले पडते है। ये छाले गोल, राख के वर्ण के, साफ कटे किनारे वाले होते है।

६ जहा त्वचा सदैव गीली रहती हे और जहा त्वचा एव श्लेष्म कला परस्पर मिलते है (जैसे—गुदा, भगोष्ठ आदि) वहा भी वडा छाला बन जाता है। जिसे Condyloma कहते हैं।



←

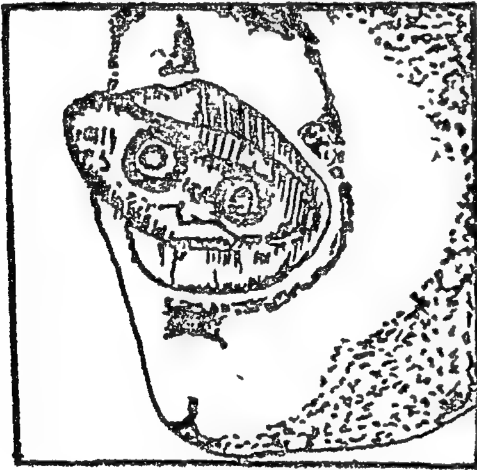
गुदद्वार तथा योनि द्वार पर उपदशज व्रण या छाले

७ कक्षा, कुहनी, ग्रीवा तथा वक्षण की लसग्रन्थिया फूल जाती है ।

८ ज्वर, शिर शूल, सन्धिशूल, पाण्डुता, दौर्बल्य, कनीनिका प्रकोप, बाल गिरना आदि लक्षण होते हे।

तृतीयावस्था—

फिरङ्ग की तृतीयावस्था प्रारम्भ होने का कोई निश्चित समय नही है । यह अवस्था व्रण के पश्चात् कभी कभी ६ मास मे प्रारम्भ होती है । रोग की प्रथमावस्था अथवा द्वितीयावस्था मे उचित उपचार होने से तृतीयावस्था उत्पन्न ही नही होती । यदि उचित नियमित चिकित्सा नही होती है तो रोग की तृतीय अवस्था ६ या ८ मास के पीछे कुछ वर्षो के पश्चात्



जिह्वा के किनारे पर फिरङ्गज व्रण

इसके लक्षण प्रकट होने लगते है । द्वितीय एव तृतीय अवस्था के मध्य के समय पर रोग के कुछ न कुछ लक्षण कभी कभी प्रकट होते रहते है । तीसरी अवस्था मे रोगाणु शरीर की धातुओ मे पहुच जाते हे ।

लक्षण—इस अवस्था मे त्वचा, उपत्वचा, लसीका-ग्रन्थिया, मासपेशिया, अस्थि आवरण, मस्तिष्कावरण, यकृत, प्लीहा, अण्डकोष ग्रन्थि आदि शरीर के विविध भागो मे ग्रन्थिया उत्पन्न होने लगती है जो गमा (Gumma) कहलाती है । यह ग्रन्थिया गाठदार तथा चपटी होती है । धीरे धीरे गमा सडकर फूट जाता है । इनमे भूरे रङ्ग का गाढा पीप-जमा रहता है । पूय निकल जाने पर गहरा व्रण वन जाता हे । ये त्वचा मे होते हे । गमा नाक मे होने से नाक बैठ जाती है । तालु मे होने से वहा छिद्र बन जाता हे जिससे खाना पीना कठिन हो जाता है । भोजन तथा जल आदि उस छिद्र से नाक मे आ जाता है । मस्तिष्क तथा सुषुम्ना मे जमा होने से पक्षाघात, पगुत्व, उन्माद प्रभृति विकार होते है । कान मे होने से बधिरता, आख मे होने से दृष्टिशक्ति नष्ट हो जाती हे । जिह्वा पर होने से जीभ फट जाती हे। रक्तवाहिनियो मे होने से उनकी दीवार मोटी हो जाती है । उनकी लचक जाती रहती है । मस्तिष्क की वाहिनियो मे ये विकार होने से अङ्गघात, पक्षाघात आदि अनेक लक्षण उत्पन्न होते है । इस अवस्था मे स्त्रियो मे गर्भस्थ शिशु मर जाने से गर्भपात होजाता है।

चतुर्थावस्था—

इस अवस्था मे मस्तिष्क सस्थान पर विशेष प्रभाव पडता है । इस अवस्था मे उन्माद और चलते समय लडखडा कर चलना—ये दो लक्षण प्रमुख है।

फिरङ्ग के विष का प्रभाव मस्तिष्क सस्थान पर रोगाक्रमण के पश्चात् तीन मास के भीतर भी हो सकता है अथवा २५-३० वर्ष के पश्चात् भी हो सकता हे ।

सहज फिरङ्ग—

कुलज फिरङ्ग जन्मजात होता है । जो स्त्रिया फिरग से आक्रान्त होती है, उन स्त्रियो को प्रारम्भ मे बार-बार गर्भपात होता हे । फिर धीरे-धीरे गर्भपात वन्द होकर कुछ समय तक अल्पजीवी बालक तथा अन्त मे दीर्घकाल के पश्चात् दीर्घजीवी बालक भी उत्पन्न होने लगते हैं । उन बालको मे जन्म से ही जो फिरङ्ग होता है वह सहज फिरङ्ग कहलाता हे । यदि गर्भिणी स्त्री को फिरग हो तो उसके बालक को भी फिरङ्ग हो जाता है किन्तु वह फिरङ्ग सासर्गिक फिरङ्ग कहलाता है । माता की जननेन्द्रिय मे सक्रमणशील ससर्ग से शिशु के जन्म के समय फिरङ्ग हो सकता है । जन्म के पश्चात् सक्रमित माता या धात्रि द्वारा अर्जित किया जा सकता है ।

लक्षण—बालक के जन्म से ३ सप्ताह से ३ मास तक रोग के लक्षण प्रकट होते है । बालक के नासिका, मुख मण्डल पर गुलाबी वर्ण की पिड़िकाये दिखाई पडने लगती है, जो धीरे धीरे फैलकर, परस्पर मिलकर व्रण का रूप धारण कर लेती है । बालक दुर्बल होने लगता


त्वचा पर विकीर्ण फिरगज विसर्प

है, शरीर का वर्ण श्वेत सा हो जाता है। मुख पर झुरिया दिखाई पडने लगती है। नख गिरने लगते है या विरूप हो जाते हैं। वाल गिर जाते है। मुख, होठ, नाक मे व्रण हो जाते है। दांत शीघ्र ही गिर जाते हैं। युवा होने पर तृतीयावस्था के लक्षण प्रकट होते है।

सहज फिरगी बालक प्राय शैशव अवस्था मे ही काल कवलित हो जाते हैं। यदि कोई माई का लाल जीवित रह भी जाये तो जवान होने पर दाढी मूछ देर से आती हैं अथवा आती ही नही। भौहो तथा नेत्र के पलको के वाल झड जाते है। पलक सूजे रहते है। दृष्टि मन्द पड जाती है, उनमे पीडा होने लगती है। रोगी उठ-बैठ, हिलडुल नही सकता। हड्डिया गल जाती है। टेढ़ी हो जाती है। मस्तिष्क विकृत हो जाता है।

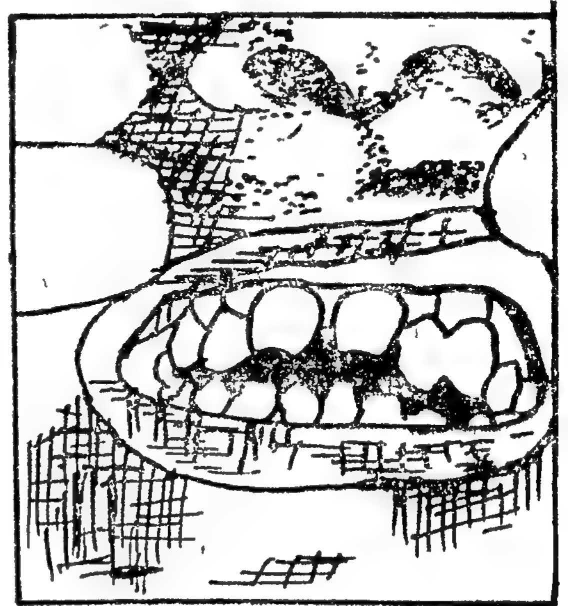
फिरग के उपद्रव—

१ नासाभग, २. अग्निमाद्य, ३ कृशता, ४ अस्थि शोथ, ५ अस्थिवक्रता, ६ वलक्षीणता इत्यादि। इसके उन्मत्तता, खञ्जता, पक्षाघात, आक्षेप, तीव्र शिर शूल आदि। स्त्रियो मे गर्भस्राव, गर्भपात, मृतगर्भजन्य फिरगी शिशु का जन्म प्रभृति।

साध्यासाध्यता—१ बाह्य सिरग नवीन तथा उपद्रव रहित हो तो साध्य होता है।

२ आभ्यन्तर फिरग कष्टसाध्य होता है।

४ क्षीण मनुष्य का उपद्रव युक्त समस्त शरीर मे व्याप्त असाध्य होता है।


हचिन्सन टीथ (सहज फिरग का एक निश्चित लक्षण)

सापेक्षरोग निश्चिति—

फिरग तथा उपदश दोनो रोग दूषित योनि मे मैथुन के पश्चात् जननेन्द्रिय पर व्रण वा विस्फोट के रूप मे प्रकट होते है। दोनो की चिकित्सा अलग अलग होती है। अतएव इनको आपस मे पृथक करना अत्यावश्यक है। अत दोनो के लक्षण निम्नलिखित है—

उपदश	फिरग
१—मैथुन के पश्चात तीसरे या चौथे दिन दाना उत्पन्न होता है।	१—मैथुन के पश्चात प्राय तीसरे सप्ताह मे दाना उत्पन्न होता है।
२—साधारणतया अनेक दाने होते है।	२—एक ही दाना होता है।
३—स्पर्श से मृदु प्रतीत होता है।	३—कठिन प्रतीत होता है।
४—दाहयुक्त, प्रचुर पूययुक्त, रक्त लसीका वहती है।	४—दाहरहित, लसीका स्रवित होती है।

उपदश	फिरङ्ग
५—व्रण के किनारे साफ, कटे हुए, भीतर से कुछ पीले, व्रण तल से ऊ चे होते ह।	५—व्रण के किनारे न साफ होते है न पीले और न ही तल से ऊ चे होते हैं।
६—व्रण अत्यन्त पीडायुक्त होते है।	६—व्रण पीडा रहित होते हैं।
७—व्रण मे ड्यूक्रे (Ducre) जीवाणु मिलते है।	७—ट्रिपोनेमा पैलिडम् (Treponema Pallidum) जीवाणु मिलते है।
८—व्रणस्रावजन्य स्थान पर त्वचा मे सुई से प्रविष्ट के समान व्रण हो जाता है।	८—ऐसा व्रण होता ही नही।
९—जङ्घा ग्रन्थिया फूलती है, पककर फूटती है, वेदना होती है।	९—ग्रन्थिया फूलती है, कठोर होती है, वेदना रहित···
१०—व्रण वढकर स्थानिक धातुओ का नाश करता है।	१०—ऐसा नही होता।
११—विप सर्वदेह मे नही फैलता।	११—विष सम्पूर्ण शरीर मे फैलता है।

फिरङ्ग रोग चिकित्सा सिद्धान्त—

स्नेहन-स्वेदनोपरान्त शिश्न की मध्यशिरा को वेधकर अथवा जौक लगाकर दूपित रक्त निकाल दे। सवल रोगी को वमन विरेचन कराकर कोष्ठ का शोधन करे। दुर्बल रोगी को आस्थापन वस्ति लगाकर कोष्ठ शुद्धि करें। व्रण वढने न पावे, शीघ्र शान्त हो, इसके लिए सावधानी से प्रयत्न करना चाहिए। तत्पश्चात् रुग्ण को इस लज्जाप्रद एव नीच कर्म से दूर रहने की शपथ दिलावे। रस कर्पूरयुक्त औपधि सेवन काल मे पथ्य का आग्रहपूर्वक पालन कराना चाहिए। फिरग के लक्षण एव चिन्ह समाप्त न हो जायें तव तक ब्रह्मचर्य का पालन करे।

फिरङ्गरोग चिकित्सा विधि—

१ मल को ढीला अथवा फुलाने वाला योग—हरड दल, वहेडा दल, आवला दल, गुलाव पुष्प, धनिया, सुण्ठी, उन्नाव, शाहतरा, उस्तोखद्दूश, गादरज वोया ३-३ ग्राम के यवखण्ड कर रात को ३०० मि० ली० गर्म जल मे भिगो दे। प्रातःकाल मलकर छान ले। इसमे मिश्री २४ ग्राम मिलाकर रोगी को पिलावे।

पथ्य—मू ग की दाल, चावल अथवा घी खिचडी दें।

२ शाहतरा, चिरायता, मुण्डी, शरपुङ्खा, उन्नाव, काली हरड, लाल चन्दन ७-७ ग्राम ले। इसमे शर्वत उन्नाव ५० मि० ली० मिलाकर पिलावे।

चौक को पीसकर सम्पूर्ण शरीर पर विशेषतया व्रणो पर लगावे। जव शुष्क हो जाए तो गर्म पानी से साबुन लगाकर स्नान करा दें।

विशेष—यदि शीत ऋतु हो तो लाल चन्दन के स्थान पर उशवा मगरवी डाले। यदि मलावरोध हो तो पीली हरड डालें। इस योग को एक सप्ताह सेवन करावे। इन योगो के सेवन काल मे घृत खूव खिलावें।

विरेचन योग—१ शुद्ध जयपाल वीज मज्जा, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक समभाग ले। पारद गन्धक की कज्जली वना, इसमे जयपाल मज्जा मिला खरल करे। तत्पश्चात् १ सप्ताह तक गुलाव जल मे घोटकर १२५ मि० ग्राम प्रमाण की गोलिया वनाले।

मात्रा—२ से ६ गोलिया। अनुपान—शीतल जल।

उपयोग—इससे विरेचन होकर रोग का विष निकल जाता है। साधारण रोग तो इस विरेचन से ही नष्ट हो जाता है।

२ शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, सुहागा, सु ठ, चीता, जयपाल १०-१० ग्राम ले। प्रथम पारद गन्धक की निश्चन्द्र कज्जली करे। चूर्ण्य द्रव्यो का वस्त्रपूत चूर्ण करें। फिर कज्जली मे मिलाकर घोट ले। पश्चात् जयपाल वीज को १-१ डालते हुए खरल करे। जव जयपाल समाप्त हो जाए तो लगातार २४ घण्टे खरल करे। अन्त मे नीवू के रस मे ६ घण्टे घुटाई करके १२५ मि० ग्राम की गोलिया वनाले। मात्रा—२ से ४ गोली, अनुपान—चीनी या खाड शीतल जल मे घोल कर दें।

सूचना—१ जयपाल बीज के भीतर से जीभी निकाल दे। मैं जयपाल को अशुद्ध ही डालता हू किन्तु घुटाई निरन्तर ४८ घण्टे कराता हू।

२ जब तक विरेचन करावे, शीतल जल पिलाते रहे। शौच जाने के पश्चात् आते ही एक गिलास ठण्डा पानी पिला दें। जब दस्त बन्द करने हो तो गरम पानी पिला दे दस्त बन्द। या मूग चावल की खिचडी खिलादें। दूसरे दिन सौंफ २५ ग्राम तथा गुलकन्द ६० ग्राम, आधा लिटर जल मे घोटकर दिन मे २-३ बार दें।

३ जयपाल बीज तथा कृष्ण मरिच समभाग लेकर सूक्ष्म पीसकर घृत कुमारी स्वरस मे ४८ घण्टे खरल कर १२५ मि० ग्राम प्रमाण की गोलिया बना ले। मात्रा—२ से ४ गोलिया ताजा पानी से दे।

गुण—उत्तम रेचक है। फिरङ्ग विष को बाहर निकालती हैं।

विशेष - जयपाल शुद्ध करने की आवश्यकता नही। मात्र जीभी निकाल दें।

४ मृदुरेचन—गुलाब पुष्प नवीन १०० ग्राम लेकर २ लीटर जल मे रात को भिगो दे। प्रात काल क्वाथ बनालें। जब जल चतुर्थांश शेष रहे तो मकरध्वज लें। फिर १०० ग्राम चावलो मे मिलाकर यथावश्यक घृत डालकर पुलाव बनावे। रोगी को खिलावे। इससे बिना कष्ट के दस्त हो जाता है।

सिद्ध योग—

सशोधनोपरान्त निम्नलिखित योग सेवन करावे—

१ जौहर मुनक्का (यूनानी सिद्ध योग सग्रह) मात्रा—१ से २ चावल तक कवच मे भरकर दे।

इसके सेवनकाल मे अम्ल तथा वातिक पदार्थ न दे। घी, दूध ले।

२ जौहरकला (यू० सि० स०)—मात्रा--२ चावल कवच मे दे।

३ उपदशवज्र कुठार (र० यो० सा०)—मात्रा—३ ग्राम। दही की मलाई मे लपटकर निगलें, ऊपर दही १२ ग्राम पिलावे।

पथ्य—मूग की दाल, चावल, घी दे। चने या गेहूँ की रोटी दे। लवण न दे।

४. उपदंश दावानल (र० यो० सा०)—मात्रा—१ से २ चावल। कवच मे भरकर दे।

५. सवीर वटी (सि० यो० स०)-१-२ गोली प्रात साय निगलवाकर मिश्री युक्त शीतल दुग्ध पिलावे।

६ उपदश सूर्य (र० यो० सा०) -मात्रा—१-२ गोली घृत या हलुवा मे निगल जावे।

७ मल्लादि वटी (रसतन्त्रसार) – मात्रा—१ गोली नागरवेल के पान के रस के साथ दे।

धूनी योग—

१. हरताल ८ ग्राम, अजवायन खुरासानी, अजवायन देशी ४-४ ग्राम, सिंगरफ रूमी १० ग्राम, कोयला कीकर १० ग्राम ले, सबको सूक्ष्म पीस लें। तीव्र कोयलो की आच पर ३ ग्राम औषधि डालकर आतशक के व्रणो को दिन मे एक बार धूनी दे।

२ पारद ३ ग्राम को पीले फूल वाली खरैंटी के रस के साथ दोनो हाथो की हथेलियो मे तब तक मर्दन करे जब तक कि पारद की चमक दिखाई देना बन्द न हो जाए। इसके पश्चात् हाथो को आच मे सेक ले। इस प्रकार यह क्रिया एक सप्ताह तक करता रहे। यह फिरग नाशक है। लवण तथा अम्ल पदार्थो का सेवन करना त्याग दें।

धूम्रपान योग—

१ हिंगुल, चौकिया सुहागा १०-१० ग्राम, मदनफल बीज २० ग्राम ले, अलग अलग सूक्ष्म चूर्ण बना छान ले। फिर पानी मे घोट १० टिकिया बना ले। प्रात. तथा साय १-१ टिकिया चिलम मे रखकर धूम्रपान करे। अशक्त रोगी को प्रात एक बार ही पिलावे। धूम्रपान के पश्चात् तुरन्त ही बबूल की दातुन चबाकर बबूल के पानी से गण्डूष करे।

२ रस कर्पूर, गन्धक तथा चावल समभाग ले, पीसकर कज्जली बना ५-५ ग्राम की ७ पुडिया बना लें। एक एक पुडिया चिलम मे रखकर, ऊपर बेरी की लकडी की आच रख धूम्रपान करे।

३ शिगरफ रूमी, सफेदा काशगरी, अकरकरा, हरे माजू ५-५ ग्राम ले, कूट पीस पानी के सयोग से ३ टिकिया बना ले। ३-३ घण्टे के अन्तर से तीनो टिकिया एक ही रात मे चिलम मे रख धूम्रपान करावें। इससे एक ही रात मे गम्भीर बढे हुए व्रण भर जाते है। इस

धूम्रपान से स्वेद आयेगा, घबराहट होगी, रात भर नींद नही आयेगी, यदि नींद आए भी तो सोने न दे। प्रात स्नान कर मुर्ग के चूजो का शोरवा पिलावे।

४ हिंगुल, अर्कमूलत्वक्, पुराना गुड, माजू हरे सम-भाग लेकर पीस ले। १२-१२ ग्राम की टिकिया बनाले। चिलम मे रखकर ७ दिन धूम्रपान करावे। धूम्र नासिका द्वारा निकाले।

व्रण प्रक्षालनार्थ—

१ रस कर्पूर ७५ ग्राम तथा नि-बूकाम्ल ३८ ग्राम मिलाकर १-१ ग्राम की टिकिया बना ले। एक टिकिया को १ लीटर जल मे घोल व्रण धोवे।

२ त्रिफला क्वाथ अथवा निम्ब पत्र कषाय से धोवें।

३ नीला थोथा १० ग्राम, फिटकरी २० ग्राम तथा कर्पूर २० ग्राम ले, पृथक-२ पीस बोतल मे भर ले। फिरङ्गजन्य लिंग शोथ होने पर २-४ बूद लिंग मे डाले अथवा फोहा रखे। सुपारी पर सूजन न हो तो पिच-कारी करे। इससे दाह होता है। यह सहन न हो सके जल और मिला ले।

फिरङ्गज व्रणनाशक मलहर—

१ रस कर्पूर, हिंगुल, सफेदा काशगरी, मुर्दासग, सिन्दूर, पीली कौडी भस्म १-१ ग्राम, मोम देशी १२ ग्राम, चमेली तैल ३६ मि० ली० ले। तैल तथा मोम को छोडकर शेष द्रव्यो का सूक्ष्म वस्त्रपूत चूर्ण बनाले। फिर मोम पिघलाकर चमेली तैल मे मिलावें। पीछे चूर्ण डाल घोट ले।

२ कर्पूर, सगजराहत २-२ ग्राम, मुर्दासङ्ग, तूतिया १-१ ग्राम, राल १५ ग्राम, कत्था श्वेत ६ ग्राम, मोम देशी ४ ग्राम, गोघृत ४८ ग्राम ले। चूर्ण द्रव्यो का सूक्ष्म वस्त्रपूत चूर्ण बना ले। मोम तथा घी को गरम कर चूर्ण डाल घोट ले। फिर मलहर को ७ वार पानी से धोले।

३ सूक्ष्मेला बीज १२ ग्राम, तूतिया ६ ग्राम, राल ६० ग्राम, शुद्ध हिंगुल १५ ग्राम, शुद्ध रसकर्पूर २४ ग्राम, शुद्ध मैनसिल ६० ग्राम, शुद्ध पारद २४ ग्राम, केशर ६ ग्राम, पिड हरताल ६० ग्राम ले कूट पीसकर वस्त्रपूत कर ले। फिर चतुर्थांश गोघृत शतधौत मिला घोट ले।

विशिष्ट अनुभूत योग—

१ भल्लातक वटी—रसकर्पूर, शुद्ध पारद १०-१० ग्राम, अजवायन खुरासानी ३० ग्राम, भल्लातक शुद्ध ४० ग्राम, पुराना गुड १०० ग्राम लें।

प्रथम गुड को आच पर गरम करे। जब नरम हो जाए तो इसमे पारद मिलाकर ओखली मे डाल मूसली से खूब कूटें। जब पारद तथा गुड मिलकर एकरस हो जाए तो भल्लातक डालकर कूटे। फिर शेष द्रव्यो का वस्त्रपूत चूर्ण कर मिलाकर कूटे, फिर १ लाख चोटे मारें। औषधि मोमवत बन जायेगी। आधा आधा ग्राम की गोलिया बना लें। गीली गोलियो पर रजत पत्रक चढा दे। प्रात २ गोलिया दही के मध्य रख निगल ले। अथवा कैंपसूल मे बन्द कर निगल ले, ऊपर दही ६० ग्राम पीले। इन गोलियो से पहले ही दिन लाभ विदित होगा। ७ दिन मे रोग प्राय. नष्ट हो जाता है। सेवन काल मे बेसनी रोटी घी के साथ रखें।

२ रस कर्पूर १० ग्राम, रजत पत्रक १० ग्राम ले, दोनो को ७२ घण्टे खरलकर यथाविधि सत्व प्राप्त करे। जो सत्व मिले वह और तल मे रही रजत दोनो को एकत्र खरल करे तथा पूर्ववत् सत्व पातन करे। यह क्रिया तीन वार करे। अन्त मे जो सत्व प्राप्त हो उसे खरल कर ले। मात्रा—२ से ४ चावल कैंपसूल मे भर कर दे। तैल, खटाई, मिर्चादि न दे।

सूचना—फिरङ्ग को नष्ट करने के लिए रसकर्पूर से उत्तम कोई द्रव्य नही। ✱

✶ पृष्ठ ३३५ का शेषांश ✶

रोगमुक्ति के पश्चात् अधिक दुर्बलता मे—फेरी-लेक्स (टी०सी०एफ०), सीरप मिनाडेक्स, फैराडाल, 'केपलर्स काडलिवर आयल माल्ट' आदि टॉनिक दे।

चेहरे के दागो तथा गड्ढो के निमित्त—डरमेस्टेनेक्स (Dermestenex) प्रतिदिन प्रात एव रात मे दागो पर १ से १॥ मास तक मलना चाहिए।

मसूरिका प्रतिषेध—

मसूरिका के प्रतिषेध के लिये सम्प्रति वैक्सीन का प्रयोग होना है। मसूरिका से पूर्णतया बचने के लिए प्रथम तीसरे वर्ष सातवे वर्ष, बारहवे वर्ष, बीसवे वर्ष तथा चालीसवे वर्ष टीका ले लेने पर प्राय जीवन भर के लिये इस रोग से मुक्ति मिल जाती है। ★

शिश्नमणि की संक्रामक व्याधियां

डा० वेदप्रकाश शर्मा त्रिवेदी आयु०, ए०एम०बी०एस०, एच०पी०ए०

आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सा प्रधान सुश्रुत सहिता मे शिश्नगत व्याधि के निम्न कारण वताये गये हैं—

१ अति मैथुन २ अति ब्रह्मचर्य ३ अति ब्रह्मचारिणी स्त्री से मैथुन ४. ऋतुमती से मैथुन ५ लम्बे कर्कश केश वाली स्त्री से सभोग ६ निविड केश वाली स्त्री मे सभोग ७ योनिरोग युक्त से सभोग ८ सकुचित योनि वाली स्त्री से सभोग ९ विस्तृत योनि वाली स्त्री से सभोग १० अप्रिय स्त्री से सभोग ११ अन्य मनस्क अर्थात् मैथुन मे अरुचि रखने वाली स्त्री से सभोग १२ जिसने दुष्ट जल मे योनि धोई हो उसके साथ मैथुन १३ जिसने योनि नही धोई हो उसके साथ मैथुन १४ स्वभाव से ही जिसकी योनि दूषित या विकृत हो उसके साथ मैथुन। इन कारणो के अतिरिक्त १५ शिश्न मे नख लगने से १६ शिश्न मे दन्त लगने से १७ शिश्न मे विष प्रवेश करने से १८ शिश्न मे थूक लगने से १९ शिश्न को कसकर वाधने से २० हस्त मैथुन करने से २१ तिर्यक योनि अर्थात् चौपाओ के साथ मैथुन करने से २२ अशुद्ध जल से शिश्न को धोने से २३ शिश्न को पीडन करने से १४ शुक्र का वेग रोकने से २५ मूत्र का वेग रोकने से २६ मैथुन के पश्चात् शिश्न न धोने से २७ एव अन्य कारणो से प्रकुपित दोष शिश्न मे प्राप्त होकर क्षतयुक्त अथवा अक्षत शिश्न मे शोथ उत्पन्न करते हैं जिसको निदान दृष्ट्या 'उपदश' कहते है।

अष्टाङ्ग सग्रहकार लिखते है कि अधिक दिनो से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले पुरुष द्वारा सहसा अतिक्रमण कर मैथुन का अतियोग भी इसका कारण है।

लोमयुक्त योनि के वाल मैथुनकाल मे शिश्न से रगड कर शिश्न मे क्षत कर देते तथा दोष शिश्न मे प्रवेश कर कुपित होते है। महर्षि अग्निवेश ने इसका वर्णन 'ध्वजभंग नाम' से किया है।

पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान मे मैथुनजन्य व्याधियो के वर्ग मे इसका समावेश है। उपदश का आधुनिक पर्याय क्या हो सकता है इसमे मतभेद है। किन्तु कुछ विद्वान सिफलिस (उपदश) या गनोरिया (फिरङ्ग) कहते है। किन्तु सिफलिस और गनोरिया मे अन्तर है। चरक-सुश्रुत मे फिरङ्ग का वर्णन नही मिलता।

उपदंश—

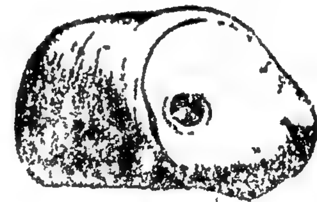
इसको सोफ्ट शेकर कहते है। इसके दो कारण माने हैं—(क) प्रधान कारण सन् १८८९ ई मे ड्यूक्रे नामक वैज्ञानिक ने वेसिलस ड्यूक्रे जीवाणु को इसका उत्पादक वताया।

(ख) सहायक कारण—(१) उपसृष्ट योनि स्त्री से मैथुन। (२) क्षत।

जीवाणु सचयकाल—३ से ७ दिन।

उपदश के सामान्य लक्षण—

(१) सचयकाल के पश्चात जननेन्द्रिय (शिश्न) पर स्फोट उत्पन्न हो जाता है।



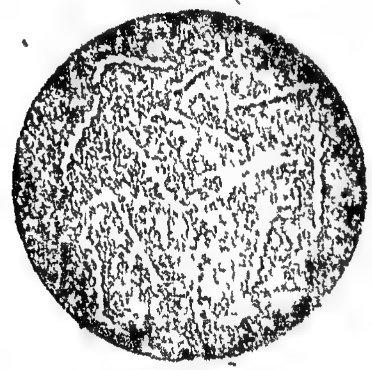
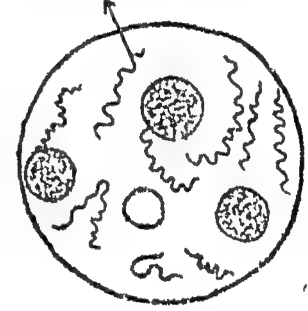
उपदंश-द्वारा आक्रान्त शिश्नमुण्ड

(२) इसके फूटने पर व्रण वन जाता है। उसकी निम्न विशेषताये होती है—

१ किनारे साफ कटे हुए होते है, २ व्रण मृदु होते हैं, इसे सोफ्ट शेकर कहते है, ३ गाढा पीला रस युक्त स्राव निकलता है। यह विषैला होता है। जहा स्पर्श करता है वहा व्रण वनाता है, ४ यह सदा शिश्न पर होता है। पुरुषो मे शिश्नमणि, शिश्नमणि की त्वचा का वाह्य भाग सीवनी एव शिश्नमणि मे, आन्तरिक मूत्रमार्ग मे व्रण वनते है, ५ विसर्पी—स्राव का स्पर्श होकर व्रण का विसर्पण होता है, ६. वंक्षण ग्रन्थि लसीका ग्रन्थिया शोथ युक्त होकर स्पर्शासह्य होती है, ७. व्रण समीपस्थ भाग मे रक्तिमा होती है।

भावी परिणाम - यदि य ग समय चिकित्सा की गई एव व्रण की स्वच्छता रखी गई तो तीन सप्ताह मे व्रण का रोपण हो जाता है अन्यथा उपेक्षा करने पर व्रणोत्पत्ति क्रम निरन्तर बढता चला जाता है। वक्षण की लसीका ग्रन्थिया भी निरन्तर शोथयुक्त होती चली जाती है। अन्ततोगत्वा वक्षण की ग्रन्थियो मे विद्रधि होकर व्रण बनते है तथा समस्त शिश्न शोथयुक्त हो जाता है। शिश्न मणि त्वचा आदि व्रण मय होकर गलकर गिरने लगते है।

उपदंश का सापेक्ष निदान—

उपदंशज व्रण	फिरङ्गज व्रण
१. इसको सोफ्ट शेंकर कहते है।	१. इसे हार्ड शेंकर कहते हैं।
२. मैथुन के ३ या ४ दिन बाद दाना पैदा होता है।	२ मैथुन के बाद प्रायः तीसरे सप्ताह मे दाना पैदा होता है।
३ साधारणतया अनेक दाने होते है।	३ साधारणतया एक ही दाना होता है।
४ दाहयुक्त प्रचुर पूय तथा लसिका का स्राव होता है।	४ दाहरहित केवल लसिका स्राव होता है।
५ व्रण के किनारे साफ कटे हुए भीतर से कुछ पोले और व्रण के तल से कुछ ऊंचे होते है।	५ किनारे न साफ, न पोले और न तल से ऊंचाई होती है।
६ अत्यन्त पीडायुक्त होता है।	६. पीडारहित होता है।
७ ड्यूक्रे का जीवाणु मिलता है।	७. ट्रिपोनेमा पालिडम जीवाणु मिलता है।
 उपदंश के जीवाणु	
८. अन्य स्थान पर पूय स्पर्श से व्रण बनता है।	८. ऐसा नही होता है।
९. व्रण की ओर की वक्षण लसीका ग्रन्थि फूलती है। वे मृदु, पकने वाली एव अत्यन्त वेदनायुक्त होती हैं।	९. दोनो ओर की ग्रन्थिया फूलती है। वे कठिन, न पकने वाली वेदनारहित होती है।
१०. दाना मृदु नरम होता है।	१०. दाना कठिन होता है।
११. उपचार न करने से व्रण अधिक बढकर स्थानिक धातुओ का नाश करता है परन्तु सार्वदैहिक लक्षण नही होते है।	११. उपचार न करने से भी स्थानिक विकृति नही बढती परन्तु विष समस्त शरीर मे फैलकर सार्वदैहिक लक्षण पैदा करता है।
१२. इसका वर्णन प्राचीन भारतीय आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे मिलता है।	१२ इसका वर्णन प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे नही मिलता है। यह व्याधि फिरङ्गियो द्वारा भारत मे आई है। इसका वर्णन भावप्रकाश निघण्टु मे लिखा है।

सुश्रुत मतानुसार उपदंश के भेद—

१ वातज——खुदरापन, त्वचा मे दरार, शिश्न मे कडापन या शिश्न मे सुन्नता, सूजन मे रूक्षता, विविध वातिक वेदना ।

२ पित्तज—ज्वर, पके गूलर के समान वर्ण, तीव्र-दाह आशुपाकी, पित्त की तीव्र वेदना ।

३. कफज—कडूयुक्त, कठिन, स्निग्ध शोथ, कफज वेदना ।

४ रक्तज—काली फुन्सियो की उत्पत्ति, अधिक रक्तस्राव, पित्तज उपदश के लक्षण, अत्यन्त तीव्र ज्वर, दाह, मुखशोष, प्राप्त होता है ।

५ सन्निपातज—सब दोषो के लक्षणो का प्रादुर्भाव, शिश्न का विदारण, शिश्न मे कृमियो की उत्पत्ति, मृत्यु ।

चरक के मतानुसार ध्वजभग के भेद—

१ वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४ रक्तज, ५ सन्निपातज ।

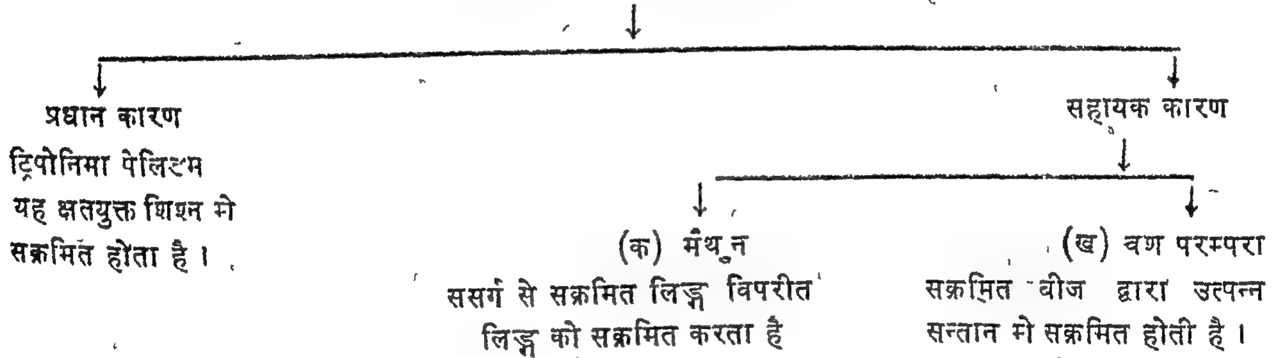
चरकोक्त ध्वजभग के लक्षण सुश्रुतोक्त उपदश के लक्षण के समान है ।

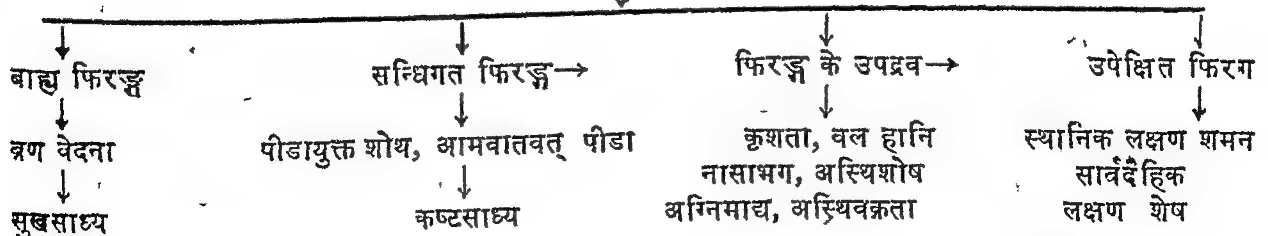
मैथुनजन्य उत्पन्न अन्य रोग—

उपदश के अतिरिक्त मैथुनजन्य अन्य रोग भी होते हे । यथा—(१) फिरङ्ग (Syphilis), (२) औपसर्गिक पूयमेह (Gonorrhoea), (३) गुह्य वक्षणीय कणार्बुद (Granuloma genito-inguinale), (४) बद (climatic bubo or lympho-granuloma)

फिरङ्ग नामकरण क्यो हुआ—

फिरग नामक देश मे अधिक होने से फिरङ्ग है। इसका सक्रमण सक्रमित दम्पत्ति के ससर्ग से होता है।





फिरङ्ग की अवस्थायें—

प्रथमावस्था—भावप्रकाश का बाह्य भेद है। उपसर्ग के ३ सप्ताह मे शिश्न पर दाना, फिर व्रण रूप मे परिवर्तन होता है।

द्वितीयावस्था—समस्त शरीर मे विष फैलता है। ३-८ सप्ताह मे लक्षण प्रकट होकर उपेक्षा करने पर २ वर्ष तक रहते है। निम्न लक्षण होते है—

(१) शरीर मे विषम वर्ण आकार के दाने, (२) शरीर के दोनो ओर समान स्थानो पर दानो का दर्शन, (३) दाने स्वय ठीक होकर लाल धब्बे बन जाते है। (४) कडू या पीडा नही होती, (५) शिश्न चर्म के अतिरिक्त ओष्ठ, जिह्वा, तालु, कपोल की श्लेष्मकला पर

गोज, राख के वर्ण के साफ कटे किनारे वाले छाले होते है। आर्द्र श्लेष्मकला परस्पर मिली होती हैं. (७) कक्षा, कूर्पर, वंक्षण की लसीका ग्रन्थिया फूल जाती हैं। (८) इनके अतिरिक्त सार्वदैहिक लक्षण होते है। यथा—(क) ज्वर (ख) शिर शूल (ग) सन्धिशूल (रात्रि मे अधिक होता है) (घ) पाडु व दुर्बलता (ड) कनीनिका प्रकोप (च) खालित्य।

तृतीयावस्था—व्रण के बाद ६ मास से ३ वर्ष तक रहती है। त्वचा, उपत्वचा, लसग्रन्थि, अस्थ्यावरण, अस्थि, पेशी, यकृत प्लीहा, वृषण आदि विभिन्न भागों में ग्रन्थिया बनने लगती हैं जिनको गमा कहते है। गमा के लक्षण निम्न हैं—

(क) फटने पर सूखा श्वेत पदार्थ निकलता है (ख) सडकर फूटने पर गोद के समान स्राव निकलता है (ग) नासाभग (घ) तालु विदर (ड) पक्षाघात (च) पगुत्व (छ) श्रुतिनाश (ज) दृष्टिनाश (ञ) जिह्वा विदर (झ) रक्तदाव वृद्धि।

चातुर्थावस्था—फिरगीय खञ्जता, फिरगगत सर्वागघात, उन्माद आदि नाडी सस्थानीय फिरग के कारण होते है।

औपसर्गिक पूयमेह (सुजाक)—

गोनोकोक्स जीवाणु ससर्ग द्वारा प्रविष्ट होकर मूत्र मार्ग मे शोथ उत्पन्न कर देता है। मैथुन के आठ दिन बाद लक्षण उत्पन्न होते है। जो निम्न हैं—

(१) मूत्र मार्ग मे शोथ, रक्तिमा, दाह, (२) सकष्ट मूत्र त्याग (३) रक्तयुक्त मूत्र (४) कटि गौरव, मलावरोध, ज्वर।

विशिष्ट चिकित्सा—

आयुर्वेदीय चिकित्सा मे मुख्यत पारद एव सोमल के योग प्रयोग मे लाये जाते हैं।

[१] पारद भस्म—मात्रा—१ चावल भर दिन मे दो बार। मुनक्का मे या कैपसूल मे दें। दातो से लगने पर दात गिरने का भय है।

[२] व्याधिहरण रस—आधी रत्ती से १ रत्ती दिन मे दो बार मधु या घी अनुपान-सहपान। र सा स

[३] उपदश सूर्य वटी—मात्रा मुद्गप्रमाण वटी १-२ गोली प्रात. घृत के साथ सेवन करे। वृ यो त

[४] त्रिपुर भैरव रस—मात्रा—आधी रत्ती से एक रत्ती तक मधु से प्रात साय। अनुपान—घृत। फिटकरी का फूला ही औषधि निर्माण कार्य मे लेवे। वै सा स

[५] उपदशारि कैपसूल-घटक—हिंगुल, हरताल, सोमल, दाल चिकना, मन:शिला, रस कपूर, मयूर तुत्थ समभाग लेवे।

विधि—समस्त द्रव्य वस्त्रपूत करके उत्तम हाडी मे ४ पहर तक मर्दन करे। फिर दो मिट्टी के प्याले ले। उनमे औषधि भरकर सम्पुट करके सूखने पर चूल्हे पर चढाकर नीचे बेरी की लकडी की अग्नि दे। चार पहर के बाद अग्नि बन्द करके स्वाग शीत होने पर ऊपर के प्याले मे लगा सत्व खुरच कर नीचे की बची दवा मिला कर पुन चार पहर तक हाडी मे खरल करे। फिर उपरोक्त विधि से सत्व उडावे। यह क्रम ७ बार करे। अन्त मे सूक्ष्म चूर्ण करलें।

मात्रा—१ चावल प्रमाण कैपसूल मे भरे। १-२ कैपसूल सेवन कराये। प्रात-साय अनुपान--जल। आहार—लवण रहित चने की रोटी।

व्रण प्रक्षालन- त्रिफला क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन करें।

व्रण का धूपन—व्रण प्रक्षालन के बाद निम्न द्रव्यो से व्रण का धूपन करे—

हरमल ८ ग्राम, खुरासानी अजवाइन ४ ग्राम, देशी अजवायन ४ ग्राम, सिंगरफ रूमी १० ग्राम, कीकर के कोयले १० ग्राम इनका सूक्ष्म चूर्ण करें। अग्नि पर तीन ग्राम चूर्ण डालकर नलिका द्वारा धूपन करे।

व्रण बन्धन—जात्यादि तैल द्वारा व्रण बन्धन करें। अथवा—उपदशारि मलहर लगाये—

उपदशारि मलहर—कर्पूर २ भाग, कत्था ४ भाग, सिंगरफ १ भाग, शतधौत गोघृत १६ भाग पृथक-पृथक द्रव्य वस्त्रपूत करके गोघृत मे मिलायें। व्रण धूपन के बाद तीन बार लगावें।

—✱★✱—

वृषण-अधिवृषण शोथ

श्री डा० वेदप्रकाश शर्मा ए०एम०बी०एस०
I/c राज० आयु० चिकि०, फीरोजावाद (आगरा)



वृषण शोथ (Orchitis) -

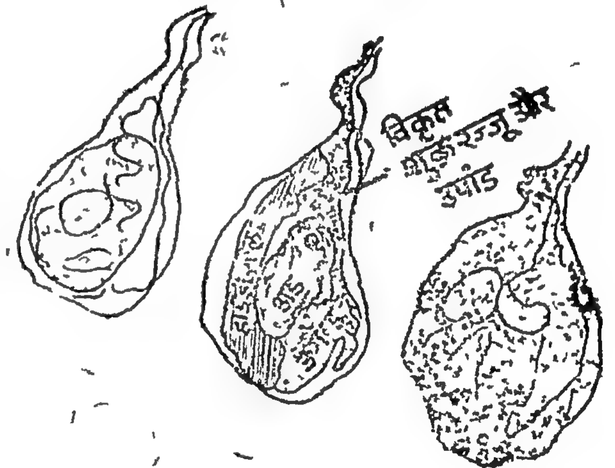
कर्णमूल ग्रन्थिपाक (Mumps) के साथ जब वृषण पाक होता है उस समय वृषण ग्रन्थि मे शूल होता है, वह फूल जाती है किन्तु उसमे पूयोत्पत्ति नही होती। वृषण मे रक्त द्वारा सक्रमण होता है, उसमे लसिकाओ की भरमार हो जाती है जिसके उपरान्त तन्तूत्कर्ष होकर कोषक्षय हो जाता है जो आगे चलकर बन्ध्यत्व क्लैब्य का कारण बनता है। ३० प्रतिशत रोग दोनो वृषणो मे होता है और शोथ तथा पाक होकर उभयपार्श्वी रोग से पुरुष में क्लैव्यता हो जाती है। एक ग्रन्थि में पाक होने पर क्लैव्यता नही होती। तरुणो में कर्णमूल ग्रन्थिपाक के साथ वृषणपाक मिलता है पर बालको में यह उतना नही मिलता।

अधिवृषण शोथ (Epididymitis)—

गोनोरियाजन्य मूत्रमार्गशोथ या अस्त्रप्रयोग व पुरस्थोच्छेदन के पश्चात् हो सकता है। साधारणतया गोनोकोकस, स्टेफिलोकोकस और इस्कीरिया कोलाई रोग का कारण होते हैं। किसी व्यक्ति को जब गोनोमेहजन्य उपसर्ग लग जाता है तब २-३ माग पश्चात् अधिवृषणो में पाक प्रारम्भ होता है। वृषण सूज जाते हैं, शूल होना है, वृषण रज्जु भी मोटी हो जाती है, (चित्र देखें) विवर्धित और स्पर्शासह होती है, पूय आती है, रोग शीतकम्प के साथ अकस्मात् प्रारम्भ होता है, ज्वर बढ जाता है।

अधिवृषण का यक्ष्माजन्य शोथ --

सक्रमण पौरुषग्रन्थि या शुक्राशय से शुक्रवहा द्वारा पहुचता है। प्रथम अधिवृषण का निम्न ध्रुव आक्रान्त होता है फिर सारे अधिवृषण को आक्रान्त कर वृषण में फैल सकता है। अधिवृषण कडा हो जाता है। किलाटी भवन (Caseation) और मृदु होने पर वृषण कोष के निम्न और पार्श्व भाग मे एक नाडी व्रण (Sinus) बन जाता है। चिकित्सा न करने पर रोग उभयपार्श्वी हो सकता है, रोग के विस्तार पर शुक्रवहा मोटी और ग्रंथिल (Nodular) हो जाती है। शुक्राशय भी विवर्धित और परिस्पर्श्य



हो जाते है। शुक्रवाहिनियो (Vasa deferens) के अधिच्छद को बहुत हानि पहुचती है। व्रण वस्तु के सकोच करने पर उनके सुषिरक मुड जाते हैं जिसके कारण शुक्रवहन मे गडबडी होकर क्लैव्यता हो जाती है।

तीव्रावस्था व्यतीत होने पर जीर्णावस्था प्रारम्भ होती है जो वर्षो रहती है। तन्तूत्कर्ष इस अवस्था का प्रधान लक्षण है जिसके कारण ऊति का शनैः शनैः क्रमिक नाश होता है।

चिकित्सा—कई मास तक यक्ष्मा रासायनी चिकित्सा आवश्यक है। एक ओर के रोग में अधिवृषणोच्छेदन और रोग बढ़ने पर वृषणोच्छेदन करना उचित है। ✿

कनफेड़

वैद्य ओ० पी० वर्मा
आयु० वृह०

कनफेड रोग बच्चो मे होता है। ५ से १६ वर्ष की अवस्था तक के बालको मे पाया जाता हे। लेकिन इस रोग को उम्र सीमा मे नही बाधा जा सकता हे। यह इससे भी बडी उम्र के बालक, बालिकाओ मे हो सकता है। इसके जीवाणु कान के आगे और नीचे गिल्टियो को प्रभावित करके उस स्थान पर शोथ (सूजन) उत्पन्न कर देते हैं। कभी कभी इसके पास की ग्रन्थिया यथा जिह्वा को प्रभावित करके उनमे सूजन उत्पन्न कर देती है, जिससे भोजन निगलने मे असुविधा होती है। इस रोग के प्रकोप से छोटे-बालको मे हल्का ज्वर भी आ सकता है। लेकिन बडे बालको मे बुखार तीव्र होकर निरन्तर कई दिनो तक चलता है। अक्सर कनफेड मुह के दोनो तरफ होकर सक्रमण होकर विषाणुओ द्वारा फैलता है। ये विषाणु प्राय पेरोटिड ग्रन्थि मे सूजन उत्पन्न कर देते हैं, जो कि कान के आगे तथा नीचे स्थित होती है। यह रोग एक सप्ताह बाद अपने आप ठीक होने लगता है। बालको के वृषण या अण्डाशयो मे कई बार उपद्रवस्वरूप यह शोथ उत्पन्न कर उनमे वन्ध्यत्व उत्पन्न कर देता है। इसकी रोकथाम या बचाव के लिए Mumps vaccine आता हे। इसको एक बार ही लगाना उचित है।

लक्षण—

(१) जबडे के कोण पर कान के नीचे सूजन उत्पन्न हो जाती है, जिसमे दर्द होने लगता है।

(२) धीरे-२ यह सूजन गले तक पहुच जाती है।

(३) छोटे बालको मे हल्का ज्वर आ जाता है, जबकि कई बार वयस्को मे बडा तीव्र ज्वर आ जाता है जोकि कई दिनो तक बना रहता है।

(४) भोजन करने मे कठिनाई महसूस करता है।

(५) कान के आगे और नीचे की ग्रन्थियो मे सूजन आ जाती है।

(६) कई बार अगर इसकी रोकथाम नही की जाती है तो यह बालको के वृषणो या अण्डाशयो मे शोथ उत्पन्न कर देती है जिससे कालान्तर मे बालक नपुसकता या वन्ध्यत्व से पीडित हो जाता है। इसलिए इस रोग के प्रति कभी भी लापरवाह नही होना चाहिये। यह रोग होते ही शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए।

(७) साधारणत यह रोग एक सप्ताह मे ठीक होने लग जाता है। लेकिन एक सप्ताह के बाद भी सक्रमण हो सकता है जिसका काल एक सप्ताह और होता है।

सक्रमण—इसके रोगाणु लार तथा मास मे विद्यमान रहते है। यह रोग निकट सम्पर्क तथा उसके थूक के द्वारा फैलता है। जब कोई स्वस्थ व्यक्ति इससे पीडित रोगी के पास ज्यादा रहता है, तो भी यह रोग होने की सभावना बनी रहती है। रोगी के थूकने से इसके जीवाणु वातावरण मे चारो तरफ फैल जाते हैं। जब कोई स्वस्थ इसके सपर्क मे आता हे तो वह इससे पीडित होजाता है।

परिचर्या एव उपचार—रोगी को यथासभव ठड से बचाना चाहिये, आराम कराना चाहिये। रोग मुक्त होने तक हल्का एव सुपाच्य भोजन दें। गले तथा चेहरे के पास क्रमश ठण्डी और गर्म पट्टिया बदलते रहना चाहिये। गले के पास जहां सूजन हो वहा पर प्लास्टर (बेलाडोना प्लास्टर) थोडा गर्म करके चिपका दे। दर्द हेतु दर्दशामक औषधियो की व्यवस्था करे।

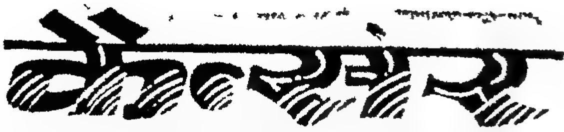
रोग से बचने के उपाय—

१. रोगी को अन्य व्यक्तियो से पृथक रखें।

२ रोगी के प्रयोग मे लाई गई वस्तुओ को रोगाणु-रहित औषधियो के प्रयोग से विसक्रमित कर ले।

३ रोगी के थूक या लार को नष्ट कर दे।

४ रोग के प्रकोप से कम से कम पन्द्रह बीस दिनो तक प्रसारकी सभावना रहती है अत. ध्यान रखें। ★



डा० रविकान्त गुप्ता बी०ए०एम०एस०
चिकित्सक-धर्मार्थ औषधालय, रावतपाडा, आगरा।

★—★

कारण—

(१) आम विष—आम विष की पित्त से मिलने की प्रतिक्रियास्वरूप अनेक मुख रोग, तृष्णा रोग, अम्लपित्त व अन्य पित्त विकार होते हैं। इसी प्रकार कफ के साथ मिलकर यक्ष्मा, पीनस, प्रमेह प्रभृति कफ रोग उत्पन्न होते हैं। वात से बहुत प्रकार के वात विकार होते हैं। मूत्र से संसृष्ट होने पर मूत्र रोगो की उत्पत्ति, शकृदगत होने पर कृमि रोग, रस रक्तादि के साथ पुष्टिजन्य तथा प्रदोषज विकारो को उत्पन्न करता है। माम धातु से संसृष्ट होने पर मांस दोषज विकार, मेद के साथ मेदोदोषज विकार, अस्थि के साथ अस्थि दोषज तथा मज्जा एव शुक्र के साथ आम संसृष्ट होने पर मज्जागत एव शुक्रगत विकार उत्पन्न होते हैं।

(२) बहिरागत विष—असयमजनित व्याधियो मे सिफलिश और गनोरिया प्रमुख हैं। इनके विष के शरीर मे बहुत समय तक रहने के कारण अर्बुद की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अत्यधिक धूम्रपान, नशीले पदार्थों का सेवन, आधुनिक निद्राकर औषधिया तथा विषैली दवाओ के सेवन के फलस्वरूप नाना प्रकार के विष शरीर मे इकट्ठे होते हैं। ये विष विकार शरीर की धातुओ के साथ ससृष्ट होकर विभिन्न प्रकार के दोषो की उत्पत्ति करते हैं। ये ही दोष बाद मे कैंसर के समान दुःसाध्य रोगो को पैदा करते हैं।

कैन्सर के लक्षण—

बोलने मे कठिनाई प्रतीत होती है। आवाज भारी हो जाती है। बार बार गला बैठता हो, सूखी खासी उठती हो तथा कभी कभी बलगम भी झडती हो, रोग बढ जाने पर श्वास दौर्बल्य, थकावट, क्षुधानाश, कृशता के भी लक्षण होते है।

विशेष लक्षण—

(१) छाती मे कोई गाठ या अङ्ग कडा होना।

(२) किसी मस्से या तिल के रङ्ग या आकार मे परिवर्तन।

(३) पाचनशक्ति व मलोत्सर्जन मे अचानक स्थाई परिवर्तन।

(४) लगातार खांसी व आवाज मे खरखराहट होना।

(५) शरीर मे किसी भी छिद्र से रक्त आना।

(६) कोई भी घाव या सूजन जो ठीक नही हो रही हो।

(७) शरीर मे अचानक स्थाई कमजोरी, वजन का कम होना।

चिकित्सा—

(१) अग्निदग्ध चिकित्सा—बाह्य रूप मे अर्बुद के होने पर यह प्रणाली लाभदायक है। नये अर्बुद को पूर्ण चन्द्राकार वलय यन्त्र द्वारा दग्ध किया जाता है। यह चिकित्सा रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे ही लाभप्रद है। हमारे प्राचीन एव अर्वाचीन ग्रन्थो मे अर्बुद की चिकित्सा अग्निदग्ध द्वारा की जाती है। लगभग १०% रोगी इस विधि द्वारा रोगमुक्त होते हैं।

(२) औषधि चिकित्सा—निम्नलिखित औषधिया प्राय सभी प्रकार के कर्कटार्बुद मे प्रयोग की जाती है—

१ आमवातारि वटी—भैषज्य रत्नावली
२ कामकला वटी—शार्ङ्गधर सहिता
३ कन्दर्पसार तैल—भै० र०
४ काचनार गुग्गुलु—भै० र०
५ गुञ्जाद्य तैल—चक्रदत्त
६ खदिरारिष्ट—र० त० सा०
७ चन्द्रप्रभा वटी—शार्ङ्गधर
८ तालेश्वर चूर्ण—रसयोग सागर
९ तालेश्वर रस—निघण्टु रत्नाकर
१०. तालेश्वर—रस चण्डासु
११ दिनार्ध रस—रसयोग सागर
१२ नित्यानन्द रस—रसेन्द्रसार सग्रह
१३ नृपतिवल्लभ रस—भै० र०
१४ मोहादि वज्रपाद रस—रसयोग सागर
१५ योगोत्तमा वटी—गद निग्रह
१६ लक्ष्मीनारायण रस—रसयोग सागर
१७ लक्ष्मीविलास रस नारदीय—भैष० रत्ना०

१८ वात परीक रस—रसयोग सागर
१९ विश्वम्भर रस—रसयोग सागर
२० वासारुद्र तैल—भैपज्य रत्नावली
२१ पञ्चतिक्त गुग्गुलु—वृ० यो० र०
२२ सोमेश्वर रस—भै० र०
२३ हेमाद्रि रस—रसेन्द्रसार सग्रह
२४ सर्वेश्वर वटी—रस कामधेनु
२५ कैन्सर गजकेशरी रस—र त सा [व.] सि प्र स

प्रस्तुत योग सभी प्रकार के कैन्सर मे प्रयुक्त होते हैं। यहा मैं तीन प्रमुख योगो का वर्णन कर रहा हू जो सर्वसुलभ हे। आशा है आ।र लोग इनसे लाभान्वित होगे।

(१) भुवन भास्कर रस—

अधिकार—कैन्सर (कर्कटार्बुद)

घटक—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल, सुवर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, खर्पर भस्म प्रत्येक १-१ भाग। वङ्ग भस्म, नाग भस्म, ताम्र भस्म प्रत्येक २-२ भाग, शतावरी, गोखरू, गुर्च, भल्लातक, शुण्ठी, चित्रक, कृष्ण मिर्च, छोटी पीपल, वाराही कन्द, विदारी कन्द १-१ भाग।

भावनार्थ—निम्वपत्र रस आमला का रस।

निर्माण विधि—पारा तथा गन्धक की निश्चन्द्र कज्जली बनाकर उनमे शेप भस्मो को मिलाकर मर्दन करें। तदनन्तर शेप द्रव्यो को मिलाकर कपडछन कर अच्छी तरह खरल करें। तदुपरन्त निम्ब पत्र रस एव आवला रस की १-१ भावना देकर छाया मे सुखा शीशी मे रखे। मात्रा—१ से २ रत्ती। अनुपान—विषम भाग शहद व घृत। समय—प्रात साय।

गुण—यह रस विपाक मे कटु, शीतोष्ण वीर्य, वल्य, वृहण रसायन अग्नि सदीपक विपघ्न शोणित शोधक सशामक है।

उपयोग—यह उत्तम रसायन है। इसका उपयोग अनुपान भेद से १८ कुष्ठ, प्रमेह, पाण्डु, वातरक्त, क्षय विद्रधि, ८० वात विकार, २० श्लेष्म बिकार तथा ४० प्रकार के पित्त रोग मे कर सकते हैं। कर्कटार्बुद की प्रथमावस्या मे यह लाभदायक है।

(२) काचनारासव—

ग्रन्थ निर्देश—भैपज्य रत्नावली के काचनार गुग्गुल पर आधारित किंचित परिवर्धित योग—

अधिकार—अर्बुदाधिकार।

घटक—कचनारत्वक २४ तोला, खदिरत्वक ८ तोला, सारिवा ८ तोला, शुण्ठी, विभीतक, आमलकी, मरिच, इलायची, पिप्पली, तेजपत्र, श्वेत पुनर्नवा, भल्लातक ८-८ माशा, धाय के पुष्प १२[छटाक ४ तोला, मुनक्का १ सेर, शर्करा ५ सेर, गुड २॥ सेर, जल २ द्रोण (२५ सेर ८ छटाक २ तोला)।

निर्माण विधि—शर्करा और गुड को जल मे घोल कर उसमे मुनक्का पीसकर मिलाने के वाद समस्त द्रव्यो को भरकर घडे का मुख वन्दकर १ मास तक जमीन मे गाढ दे। आसव तैयार होने पर निकालकर छानकर वोतल मे भरकर रखें। मात्रा—१ से २ तोला समभाग जल मिलाकर भोजन के वाद दो वार।

गुण—रस मे मधुर कषाय, विपाक मे कटु मधुर, वीर्य मे अल्प उष्ण, दीपन वल्य कफनाशक रक्तशोधक शोथहर पूयहर है।

उपयोग—काचनारासव का प्रयोग अर्बुद, अपची, ग्रन्थि गलगण्ड व्रण विद्रधि कुष्ठ आदि पर कर सकते हैं।

(३) गुञ्जाद्य तैल—

भैषज्य रत्नावली का यह योग अपची, अर्बुद, अर्श, नाडी व्रण, वाल्मीक आदि रोगो मे लाभदायक हे।

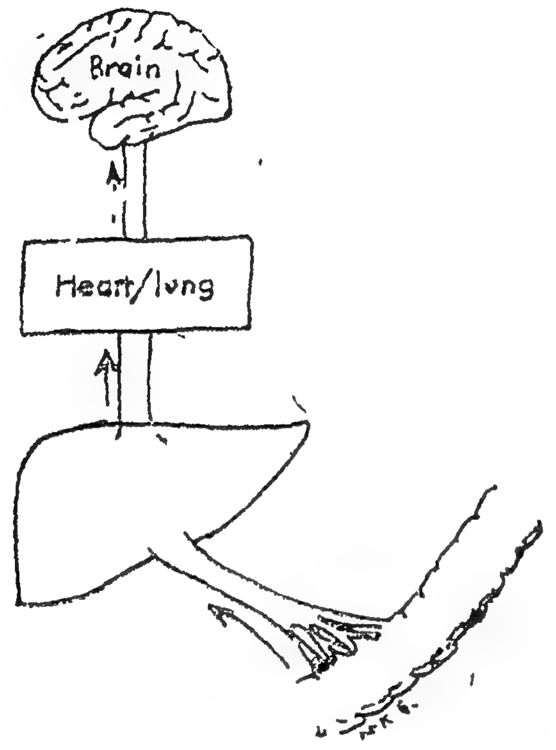
(४) अर्बुदारि लेप—सहजने की जड़ और वीज, सरसो तुलसी पत्र, कनेर, घास और इन्द्रयव की छाछ मे महीन पीस लेप करने से अर्बुद रोग शान्त होते है।

स्वानुभूत मेरा सफल प्रयोग —

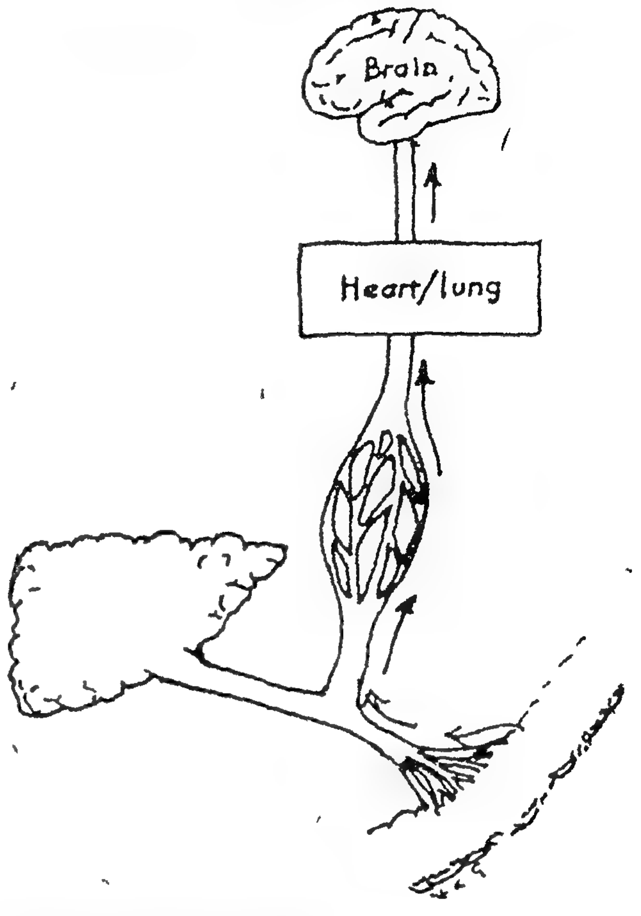
हीरा भस्म १ रत्ती के साथ सुवर्ण भस्म, मुक्तापिष्टी एव अभ्रक भस्म २-२ माशे मिलाकर ४८ पुडिया वना ले। प्रतिदिन सुवह १ पुडिया मलाई मिश्री के साथ देने से कर्क स्फोट (कैन्सर) आदि ग्रन्थिया गलकर नष्ट हो जाती है। मैंने कैन्सर की प्रथमावस्था पर इसका सफल प्रयोग देखा है एवं रोगी को आशातीत लाभ होता है, जीवन वच जाता हे। यह मेरा अनुभूत प्रयोग है।

—✱✱—

हैं। (१) यकृत प्लीहा मे सूजन आती है। (२) यकृत प्लीहा मे आगे जाकर ग्रन्थि हो जाती है। सूजन हो तब तक तो इलाज करना सही है लेकिन ग्रन्थि हो जाने के वाद इलाज करना बहुत ही कठिन वन जाता है। फिर



यकृत तन्तुओ का नष्ट होना—इनका प्रभाव हृदय, फुपफुस एवं मस्तिष्क पर भी पडता है।



कभी कभी यकृत तन्तुओ के नष्ट होने के अनन्तर अतिरिक्त केशिकायें वन रक्तसवहन चालू हो जाता है जिससे कैन्सर की समावना नही रहती।

भी आयुर्वेद मे इनके कई इलाज वताये गये हैं—रोगी को विलकुल हल्की खुराक देकर जठराग्नि को सम करे। फिर निम्न औपधि दे —

वृहद शख वटी, पुनर्नवादि क्वाथ, शख द्राव । इस इलाज से रोगी को जरूर फर्क हो जाता है। अन्त मे रोग न मिटने का मालूम हो जाए तो इसका आखिरी इलाज दुग्ध वटी ही है। अन्न और पानी विलकुल वन्द करके सिर्फ वकरी का दूध और औपधि दे ।

—गर्भाशय का कैन्सर—

गर्भाशय तथा योनि मे होने वाला गर्भाशय का रक्त गुल्म भयङ्कर प्रकार का कैन्सर है। शुरू मे इनमे शलाका प्रयोग करने से रोग मिटना सभव रहता है लेकिन रोग वढ जाने से गर्भाशय का आपरेशन कराके गर्भाशय को निकालना ही पडता है।

गर्भाशय मे व्रण (अल्सर) हो जाता है जिससे भी गर्भाशय का आपरेशन कराना पडता है। छोटी उम्र वाली महिला को रोग नवीन हो तो अल्सर दवाई के तथा उत्तरवस्ति के प्रयोग से मिटाया जा सकता है।

—स्तन-कैन्सर—

स्तन कैन्सर महिलाओ को ही होता है। क्वारी—व्रह्मचारिणी, विधवाओ को वहुत कम होता है। वच्चो वाली महिलाओ को खासतौर पर यह होता है। स्तन कैसर होने का कारण वहुत मामूली है। दुग्धवाहिनी मे अवरोध होने से और चोट लग जाने से स्तन कैन्सर शुरू हो जाता है। —शेपाश पृष्ठ ३५४ पर देखे।

कैन्सर रोग -एक विवेचन

डा० मन्मथनाथ पाण्डे जी०ए०एम०एस०

कारण—मुख्यत इस रोग का एक ही कारण है रस विदग्धता। इस रोग के कीटाणु क्षय एव कुष्ठ के कीटाणुओ की तरह अम्लग्राही है। इस विदग्धता से अम्ल रस की उत्पत्ति होती है जो विष के समान हे।

सहायक कारण—गुप्त यौन रोग बीडी, सिगरेट, शराब, जर्दा या अन्य मादक द्रव्यो का व्यवहार, मलादि वेगो का रोकना, गलत आहार विहार आदि। गुप्त यौन रोग शरीर मे स्थित रोग निवारक क्षमता को कमजोर कर देते हे। आजकल खाद्य पदार्थों मे मिलावट जगजाहिर है। सन्तुलित भोजन नहीं मिलता। ऐसी स्थिति मे शरीर का क्षीण होना और तरह तरह के भयानक रोगो से ग्रस्त होने मे क्या आश्चर्य हे।

जब भोजन ही दूषित हो तो ऊपर से नशीले पदार्थों का व्यवहार और भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होगा। यही कारण हे कि हमे आज लीवर कैन्सर, गर्भाशय केन्सर या अन्य कैन्सर का प्रकोप बढते हुए देखने को मिल रहा हे।

भेद—कैन्सर दो तरह का होता हे, एक आभ्यन्तर शरीर के भीतरी भाग मे जैसे—लीवर कैन्सर, गर्भाशय कैन्सर, कठगत कैन्सर, ब्लड कैन्सर आदि। दूसरा बाह्य-कैन्सर शरीर के बाह्य अङ्गो पर होने वाला कैन्सर जैसे पैर का कैन्सर, स्तन कैन्सर आदि।

चिकित्सा—

इस रोग के स्टेजेज़ (अवस्था) पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा। इस रोग मे शारीरिक रोग निवारक क्षमता तेज रफ्तार से गिरने लगती हे, रक्ताल्पता भी हो जाती है। तृतीयावस्था मे तेज बुखार, बेहोशी, बेचैनी भी होती है। किसी किसी मरीज के दात कोठ होते हुए भी पाये गये है। एक बिस्कुट भी खाने को देने पर मरीज बोलता है कि दात कोठ है नही टूट रहा है। ऐसी स्थिति मे सप्त धातु को शोधन करते हुए व्रण शोधन रोपण का उपाय करना होगा। मरीज की कमजोरी को दूर करने के लिए कोई रसायन शक्ति प्रदान करने हेतु अवश्य देना होगा। लीवर कैन्सर हो तो जो भी पिष्टी या भस्म ताकत के लिए समझ मे आवे अवश्य दें पर अनुलोमक दवा अवश्य दे, जिससे उदर मे गैस ज्यादा पैदा न हो और जो पैदा हो वह आसानी से बाहर निकल जाये। दीपन-पाचन पर भी ध्यान देना आवश्यक हे। पथ्य ऐसा दे जो हल्का हो, मल उदर मे ज्यादा पैदा न करे शक्तिदायक हो। इससे कई कार्य सिद्ध होगे। किसी तरह के कैन्सर मे अगर यह मालूम हो कि कैन्सर होने से पहले व्यक्ति विशेष मे सिफलिस या सुजाक हुआ है तो शुद्ध आर्सेनिक का प्रयोग करना श्रेयष्कर होता है। कैन्सर रोग मे पथ्य पर ध्यान देना आव-आवश्यक हे। नमक, मसाला छुडा दे। ★

पृष्ठ ३५८ का शेषाश

गर्भाशय और स्तन्याशय महिलाओ को होता है। गर्भाशय और स्तन्याशय का बडा निकट का सम्बन्ध है।

स्तनकैन्सर शुरू होते ही निम्न इलाज शुरू करे—सहिजन की छाल (त्वक्), पीपल वृक्ष की छाल, कचनार की छाल, वरुणा की छाल, रोहेडा की छाल, हल्दी, अजमोद, दारुहल्दी, पुनर्नवा इन सब औषधियो को समभाग लेकर काढा बनाकर १ माशा बोल और १ माशा शिलाजीत मिलाकर सुबह शाम पीना शुरू करें, फिर कैन्सर के तज्ञ वैद्य पचकर्म और सही इलाज शुरू करे। दुनिया भर मे कैन्सर का एकमात्र सफल इलाज पचकर्म हे।

योनि प्रदाह

डा० जहान सिंह चौहान आयु० बृह०

योनिशोथ, योनि प्रदाह, योनिपाक। अग्रेजी मे इसे वेजीनाइटिस (Vaginitis) कहते हैं। योनि के व्रणशोथ या सूजन को योनि प्रदाह या योनिशोथ कहते है। इस रोग मे योनि की आन्तरिक श्लेष्मिक कला लाल हो जाती हे और उसमे शोथ की उत्पत्ति हो जाती है। योनि की झिल्ली शुष्क एव लाल हो जाती हे उसमे जलन तथा पीडा होती हे, शरीर टूटता है और उसे ज्वर हो जाता है। सिर तथा पिण्डलियो मे पीडा के साथ-साथ २-३ दिन पश्चात लसदार पतला पानी आने लगता है।

सामान्य कारण—

यह रोग विभिन्न कारणो से उत्पन्न होता हे। इसी दृष्टि से इसके सामान्यता निम्न स्वरूप पाये जाते हैं—

(१) प्राथमिक योनिशोथ (२) द्वितीयक योनिशोथ। जीवाणु सक्रमण की दृष्टि से इसे २ विभागो (वर्गों) मे विभक्त किया जा सकता है—

[अ] जीवाणु-सक्रमण जनित योनिशोथ।

[ब] निर्जीवाणुक प्रकार अथवा ईस्ट्रोजन की कमी से होने वाला योनि प्रदाह। स्त्री की आयु के अनुसार निम्न वर्गों मे भी इसे बाटा जा सकता हे।

(१) बाल्यावस्था मे उत्पन्न होने वाला भगयोनि प्रदाह।

(२) प्रजनननोत्पादनक्षम-काल मे उत्पन्न होने वाला योनि प्रदाह-प्राय यह ट्रिकोमोनास-मोनिलिया, गोनोकोकस, पूयोत्पादक एव यक्ष्मा जीवाणुओ से उत्पन्न होता है।

(३) आर्तव-निवृत्तिकालीन योनि प्रदाह (Senile vaginitis)।

[अ] जीवाणु सक्रमण-जनित योनि प्रदाह--

यह पुन २ प्रकार का होता हे—

(१) बैक्टीरियल उपसर्ग जनित योनिप्रदाह—गोनोकोकस, पूयोत्पादक जीवाणु, यक्ष्मा जन्य जीवाणु (कभी-कभी), फिरङ्ग जीवाणु से होने वाला योनि प्रदाह का इसमे अन्तर्भाव होता हे।

(२) पराश्रयी जीवाणु जन्य—

इसके दो विशिष्ट प्रकार मिलते है—

[क] ट्रिकोमोनास जन्य योनि प्रदाह (Trichomonas Vaginitis)।

[ख] मोनिलियल जन्य योनि प्रदाह (Monilial Vaginitis) (इस जीवाणु का चित्र देखे—मुख पृष्ठ पर न.२)

(क) विशिष्ट जीवाणुजन्य योनिप्रदाह—

१— ट्रिकोमोनियासिस जन्य योनिप्रदाह (Trichomoniasis Vaginitis)

यह ट्राइकोमोनास वेजायनलिस नामक परजीवी जीवाणु के उपसर्ग से होता है। यह नासपाती के आकार का प्रोटोजुआ श्रेणी का जीवाणु हे जो प्राकृत स्थिति मे मलाशय मे निवास करता हे। इसके आगे के सिर पर ४ तन्तु (फ्लेजेला) होते हैं जो तीव्र शीतशील होते है। यह अत्यन्त चिकने तथा चमकदार होते हे। यह एक क्रियाशील जीवाणु हे। कुछ स्त्रियो (२० %) मे योनि के अन्तर्गत विना रोग उत्पन्न किये ही मिलता हे। यह गर्भावस्था मे विशेष रूप से मिलता है। यह जीवाणु पुरुष के मूत्र मार्ग मे भी रहता है जो मैथुन के द्वारा स्त्री की योनि मे प्रवेश कर जाता हे। अन्य स्त्रिया जो इससे पीडित रहती है उनके कपडे पहनने या तौलिये आदि के प्रयोग करने अथवा गन्दगी मे रहने एव स्वच्छता का ध्यान न रखने पर यह क्रियाशील जीवाणु स्त्री की योनि मे प्रवेश कर जाता है। इसके कारण योनिशोथ, मूत्रमार्ग शोथ, मूत्राशयशोथ, बर्थोलिन ग्रन्थि शोथ एव मलाशय शोथ भी उत्पन्न हो जाता है।

अधिकतर रोगिणीया इसी जीवाणु से ग्रसित पायी जाती है। यह सक्रमण किसी भी उम्र की स्त्री को हो सकता है। योनि की अम्लता की कमी मे भी यह रोग हो जाता है। ऐसी स्थिति मासिक धर्म के समय मिलती है। यदि सच पूछा जाय तो यह जीवाणु योनि तक किस प्रकार पहुचता है—यह अभी रहस्यमय बना हुआ है।

लक्षण एव चिह्न—

इस रोग मे योनिमार्ग से गाढा-क्षोभक एव झागयुक्त, हरिताभ-पीतवर्ण का स्राव निकलता है। इस स्राव से योनि मे खुजली होती है। इसमे योनिभित्ति स्पर्शासह्य, शोथ युक्त एव लाल दानो से भरी हुई मिलती है। कभी-कभी इसमे व्रण की उपस्थिति भी मिलती है। वार-वार मूत्र त्याग तथा मूत्रकृच्छता तथा मैथुनासह्यता मिलती है। योनि के आन्तरिक लाल दानो को छूने से रक्तस्राव होने लगता है। योनि ग्रीवा भी लाल हो जाती है।

निदान—इस रोग का सही निदान योनि स्राव को लेकर माइकोस्कोप के हाई पावर लैंस से देखने पर पता चल जाता है। इसके लिये योनिछत्रिका से एक पिपेट के द्वारा योनि के स्राव की १ बूद को काच के गरम स्लाइड पर सैलाइन के साथ मिलाकर कवर स्लिप रख कर माइक्रोस्कोप मे देखते है। स्लाइड की फिल्म मे ट्रिकोमोनास के सिरे स्पष्ट हिलते हुए दीखते हैं। साथ ही फिल्म मे अनेक अधिच्छदीय केशिकायें एव पूय सेल्स दिखाई देते है।

चिकित्सा—

रोग के विशिष्ट जीवाणुओ को स्थानिक तथा मुख से प्रयुक्त औषधियो से नष्ट करना चिकित्सा का प्रमुख उद्देश्य रहता है। आभ्यन्तरिक रूप मे—मेट्रोनिडाजोल २०० मि ग्रा की गोलिया प्रतिदिन ३ वार सप्ताह पर्यन्त देनी चाहिए। फ्लेजिल (एम वी) ऐसी ही टेवलेट है जिसे उपयुक्त मात्रा मे दिया जाता है। आवश्यकता पडने पर यही कोर्स पुन देते हे। यदि वार-वार उपसर्ग होता है तो पति की चिकित्सा भी 'फ्लेजिल' से ही करते है। साथ ही मैथुन के समय निरोध, प्रयोग का निर्देश दिया जाता है। फ्लेजिल का प्रयोग गर्भावस्था के प्रथम तीन मासो मे नही करते है। खुजली के लिये एविल या हिस्टाण्टिन टेवलेट दिन मे १-१ टेवलेट ३ वार दी जाती है। स्थानीय चिकित्सा के रूप मे—कोल्यो-सल्फात, एस वी सी (एम वी.), ट्राइकोसिड ओव्यूल, डेस्यूलान—इनमे से किसी १ गोली को रात्रि मे सोते समय योनि मे रखते है। 'स्टोवसिल' की २-२ गोलिया प्रति-दिन रात मे रखकर प्रात लैक्टिक एसिड के विलयन (१ पाइण्ट जल मे १ ड्राम की मात्रा मे) द्वारा योनि प्रक्षालन कराते हे। यह क्रम ६ सप्ताह तक जारी रखा जाता है। भगकडू के लिए 'हाइड्रोकार्टिजोन मलहम' लगाया जाता हे। 'पेनोट्रेनक्रीम' अथवा पिसियागोल (Piciagol) पाउडर का भी प्रयोग किया जा सकता है।

यदि रोगिणी को इस बीच मासिक धर्म भी होजाता है तब भी चिकित्सा-क्रम जारी रखा जाता है। इस काल मे गोलिया रखने का कार्य जारी रहता हे केवल डूस (योनि प्रक्षालन) वन्द रहता हे। इसके पश्चात् ३ माह तक आर्तव काल को छोडकर १-१ गोली नित्य योनि मे रक्खी जाती है।

नोट—दोनो चिकित्साक्रमो का साथ-साथ अवलम्बन करने से अति उत्तम लाभ मिलता है।

२—मोनिलियासिस जन्य योनि प्रदाह

यह यीस्ट श्रेणी के "मोनिलिया एल्विकन्स" नामक फफूदी के कारण होता है। यह जीवाणु अम्लीय माध्यम मे विशेप वृद्धि करता हे। इसीलिए यह गर्भावस्था तथा मधुमेह की उपस्थिति मे प्राय पाया जाता है। ४०% गर्भवती स्त्रिया इस रोग से पीडित होती है।

मोनिलियासिस ट्रिकोमोनियासिस के साथ-साथ भी मिल सकती है। आधुनिक युग मे एण्टीवायोटिक की वहुलता के साथ मोनिलियासिस भी वढती हुई देखी गई है। मूत्र मे शर्करा आने पर मोनिलियेसिस योनिशोथ सर्वाधिक रूप मे मिलता हे।

यह रोग स्त्री की योनि मे तो होता ही है बल्कि स्त्री की जाध, वगलो तथा नाखूनो मे भी मिल सकता है।

निदान—योनि प्रदाह की रोगिणियो के मूत्र की परीक्षा शर्करा के लिये अवश्य करानी चाहिए।

लक्षण एवं चिह्न—

इसमे योनि मार्ग से दही जैसा गाढा (पीताभ श्वेत स्राव) एव सफेद स्राव आता है। योनि तथा भग प्रदेश मे कडू तथा जलन (क्षोभ) होती है। कभी-कभी खुजली तथा कडू इतनी तीव्र हो जाती है कि रुग्णा को जरा

भी चैन नही मिलता है। रोगिणी को नीद नही आती है। योनि की दीवाल पर्याप्त रक्तवर्ण की, शोथयुक्त तथा भूरे रग के कृष्णाभ धब्बो से युक्त मिलती है। योनि मे दही जैसा श्वेत गाढा स्राव देखा जा सकताहै। एक अन्य प्रकार मे योनि लाल दिखायी देती है। यह तरल युक्त स्राव श्लेष्मा पूय के साथ मिला रहता है।

चिकित्सा—

योनि की पूर्ण स्वच्छता की ओर ध्यान दिया जाय। योनि एव भगप्रदेश को १% जेशियन वायोलेट के जलीय घोल का प्रलेप किया जाय। यह प्रलेप १ सप्ताह तक किया जाता है। निस्टेटिन १ लाख यूनिट की टिकिया अथवा 'माइकोस्टेटिन वेजाइनल टेबलेट की १ टिकिया १४ दिन पर्यन्त प्रतिदिन रात्रि को योनि मे रखनी चाहिये। भग कण्डू के निराकरण के लिये हाइड्रोकार्टीसोन मलहम का प्रयोग करना चाहिये।

मधुमेह अथवा मूत्र मे शर्करा की उपस्थिति मिले तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। यदि रोग के साथ-साथ ट्राइकोमोनासजन्य योनि प्रदाह की उपस्थिति मिले तो साथ मे पूर्वकथित ट्रिकोमोनास जन्य योनि प्रदाह की औपधि चिकित्सा भी करनी चाहिए।

(ख) सामान्य जीवाणुजन्य योनि प्रदाह—

इस प्रकार का योनि प्रदाह स्ट्रेप्टोकोकाई, स्टेफिलोकोकाई, ई० कोलाई आदि जीवाणुओ के उपसर्ग से होता है। इसके अतिरिक्त पेसरी, योनिवर्ति, उत्तरवस्ति, आघात एव वाह्य पदार्थों का योनि मे प्रवेश, योनि के शल्यकर्म आदि इसके सहायक कारण है। कभी-कभी पोटाशियम परमेंगनेट की दाहक गोलिया रख कर गर्भपात कराने के अनुचित प्रयोग से भी योनि प्रदाह हो जाता है। अधिक गरम जल से प्रक्षालन करने से भी योनि जल जाती है और योनि प्रदाह होजाता है। योनि प्रक्षालन मे क्षोभक पदार्थ की मात्रा अधिक होने पर भी योनि क्षतिग्रस्त होकर योनि प्रदाह हो जाता है।

लक्षण—

इसमे योनि सूजी हुई लाल प्रतीत होती है। योनि सदा भीगी हुई जलयुक्त रहती है। इसमे योनि स्राव, कृच्छ्रमैथुनता, मूत्रकृच्छ्रता, भगकडू, मूत्रमार्ग शोथ आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

'रोगिणी के स्वास्थ्य सुधार की ओर हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिये। योनि की प्रतिदिन सफाई के लिये लेक्टिक एसिड से योनि प्रक्षालन कर योनि मे ट्राई सल्फा क्रीम प्रतिदिन १ सप्ताह तक चुपडना चाहिए। तत्पश्चात योनि पर शुद्ध पैड बाध देना चाहिये। मुख द्वारा एम्पीसिलीन का प्रयोग विशेप लाभकारी होता है। टेरामाइसीन एव पेनिसिलीन के योगो का प्रयोग स्थानिक तथा आभ्यन्तरिक रूप मे किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ट्राइकोमोनास योनि प्रदाह की भी चिकित्सा साथ की जानी चाहिये।

जीवाणु को नष्ट करने के लिये उपयुक्त एण्टीवायोटिक या कीमोथेरापी औपधिया उचित मात्रा मे प्रयोग करनी चाहिये।

[आ] निर्जीवाणुक योनिशोथ या योनिप्रदाह—

इस प्रकार का योनि प्रदाह क्षोभक योनि-प्रक्षालनो (Douches) के प्रयोग से, पेसरी के निरन्तर प्रयोग, योनि भ्रश, वाह्यशल्य के अन्त प्रवेश, ईस्ट्रोजन की कमी आदि के कारण उत्पन्न होता है।

कभी-कभी गर्भाशय ग्रीवा से निकलने वाले क्षोभक स्राव अथवा जननागो सम्बन्धी नालव्रणो द्वारा मल एव मूत्र के संपर्क से भी योनि प्रदाह हो जाता है।

(१) ईस्ट्रोजन की कमी से होने वाला योनि प्रदाह— ईस्ट्रोजन की कमी से वालिकाओ मे भग योनिशोथ एवं वृद्धाओ मे आर्तव-निवृत्ति के अनन्तर वार्धक्य जन्य योनि शोथ या योनि प्रदाह मिलता है। इन दोनो प्रकार के योनि प्रदाह मे योनि की श्लेष्मिक कला पतली तथा उपसर्ग के अनुकूल हो जाती है। प्रत्येक का विवेचन आगे किया जा रहा है।

(२) वालिकाओ का भगयोनि प्रदाह (Vulvo-vaginitis)—यह रोग छोटी वच्चियो मे विशेप कर ५ वर्ष तक की अवस्था मे मिलता है। कुछ मे यह युवावस्था मे भी मिलता है। इसका उपसर्ग गोनोकोकस, ई० कोलाई तथा अन्य पूय उत्पादक कोकाय, ट्राइकोमोनास वेजीनेलिस, मोनिलिया एल्वीकन्स जीवाणु मे से किसी से भी हो सकता है। वालिकाओ मे योनि प्रदाह सूत्र कृमि के द्वारा हो जाता है।

लक्षण एव चिह्न—इसमे वालिकाओ की योनि सूजी हुई तथा लाल प्रतीत होती हे। उसकी योनि अधिक गर्म होती है। वह शोथ अथवा प्रदाह के कारण अतिशय वेचैन दिखाई देती है तथा भग तथा योनि स्थान को छूने देने मे असमर्थता व्यक्त करती है। वालिका अपनी योनि को वार-वार खुजलाती है। योनि से पूययुक्त स्राव होता है, कभी-कभी स्राव रक्तरजित भी होता है। वालिका को कष्ट एव जलन के साथ मूत्रत्याग होता है। भग प्रदेश शोथयुक्त एव रक्तवर्ण का होता है। योनि प्रदेश मे लालिमा, पूय एव स्राव लिप्तता मिलती हे। मूत्रमार्ग का द्वार वाहर की ओर खिच जाता है।

निदान—वालिका को मेज पर वामपार्श्व आसन की स्थिति मे लिटाकर दोनो पैरो को सिकोड कर कैथीटर प्रवेश कर पूय की ड्राप लेकर माइक्रोस्कोप मे ट्राइकोमोनास तथा डिप्लोकोकाई की उपस्थिति देखी जाती है। योनि के ऊपरी भाग मे कोई वाह्य वस्तु तो नही है। अगर हो तो टटोल कर निकाल ली जाती है।

चिकित्सा—योनिकला की क्षमता वढाने के लिये ईस्ट्रोजन का प्रयोग आवश्यक होता है। इसके लिये स्टिलवेस्ट्रोल २५ मि० ग्रा० की मात्रा मे प्रतिदिन मुख मार्ग से २ सप्ताह तक दी जाती है। अथवा ओवोसाइक्लीन २-५ मि० ग्राम का सूचीवेध मासपेशीगत प्रति १४ वें दिन दें। इसके साथ ही स्थानीय चिकित्सा हेतु ट्राई सल्फाक्रीम अथवा हाइड्रोकार्टीसोन मलहम का लेप करें। सक्रमण के अनुरूप सल्फाड्रग्स तथा एण्टीवायोटिक औपधियो का प्रयोग करे।

(३) वार्धक्यताजन्य योनिप्रदाह (Senile Vaginitis)—

आर्तवनिवृत्ति की दशा मे ईस्ट्रोजन की कमी हो जाती हे जिसके परिणामस्वरूप योनि की श्लेष्मिक कला मे शोथ हो जाता है। इसमे पूययुक्त गाढा रक्तमिश्रित स्राव निकलता हे। योनि कला शोथयुक्त लाल, स्पर्शासह्य एव श्वेत धव्वो से युक्त भरी हुई मिलती है। धव्वे व्रणयुक्त होते है। योनि मे खुजली एव जलन होती है। भग की त्वचा शनै शनै उछलती रहती है। आगे चल कर मैथुनासह्यता का होना तथा वार-वार कष्ट के साथ मूत्रत्याग आदि लक्षण पैदा होजाते हे। उपसर्ग ऊपर की ओर वृद्धिकर अन्त कलाशोथ (इडोमेट्राइटिस) हो सकता हे।

चिकित्सा—स्वच्छता की ओर ध्यान रखना चाहिए। १/२ प्रतिशत लैक्टिक एसिड के घोल से योनि प्रक्षालन करना चाहिए। भगक्षेत्र मे खुजली होने पर हाइड्रोकार्टीसोन मलहम का प्रयोग करे। अथवा डाइनोस्ट्रोल क्रीम का उपयोग किया जा सकता है। स्टिलवेस्ट्रोल ० ५ ग्राम प्रतिदिन मुख द्वारा २ सप्ताह तक दी जाती है। तत्पश्चात मात्रा धीरे-धीरे कम करते जाते है। पूर्ण सुधार होने पर देना बन्द कर देते हैं। साथ ही उपसर्गकारी जीवाणु के अनुसार केमोथेरापी या एण्टीवायोटिक औपधियो का प्रयोग करना चाहिए।

द्वितीयक प्रकार का योनि प्रदाह (Secondory Vaginitis)—

इसे परिक्षेत्रीय योनिपाक अथवा योनि प्रदाह कहते ह। इसमे ऐसे योनि प्रदाह आते है जिनका सम्बन्ध योनि से नही रहता है। इसके कारण निम्नवत् है—

(१) प्रजनन पथ के मारात्मक रोग। (२) क्षोभक औपधियो का प्रयोग। (३) नालव्रणो की उपस्थिति। (४) इण्डो सर्विसाइटिस का रोग होने पर। (५) प्रसवकाल अथवा गर्भपात के समय योनि मे विदार होने पर (६) योनि मे वाह्य द्रव्यो की उपस्थिति।

चिकित्सा—चिकित्सा कारणो के अनुरूप की जाती है।

विरल प्रकार का योनि प्रदाह—

यह वहुत कम वह भी गर्भावस्था मे मिल सकता हे। योनि मे पर्याप्त सूजन होती हे, तथा स्राव की पर्याप्त मात्रा मिलती है।

चिकित्सा—अव तक इसकी कोई चिकित्सा निर्धारित नही की गई है। यह स्वत कुछ समय वाद ठीक हो जाता है।

सभी प्रकार के योनिप्रदाह मे आयुर्वेदीय चिकित्सा

आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे इन रोगो का वर्णन इन नामो से उपलब्ध नही होता है। रोग के लक्षणो का वर्णन दोप एव दूष्य का विचार करते हुए वताया गया है। योनिप्रदाह की चिकित्सा मे योनि प्रक्षालन पर विशेप जोर दिया गया है। इसमे उत्तर वस्ति के द्वारा विविध प्रकार के वातहर द्रव्यो से वने कषाय से योनि का स्था-

निक प्रक्षालन, स्थानिक तैल घृतों का लेप, प्रलेप, पिचुधारण का निर्देश किया गया है। आयुर्वेद मे योनिप्रदाह का शमन करने के लिए योनि मे शीतल, पित्तशामक लेप या शीतल जल से योनि का परिषेक करते है। फिटकरी या टकण के विलयन से योनि का धावन करने से योनि प्रदाह मे लाभ होता है, शोथ घट जाता है अथवा सूटी मकोय, टेसू के फूल, खसखस का डोडा—प्रत्येक औपधि १८ ग्राम को २ लीटर पानी मे उबालें और छानकर सुरक्षित रखले। इससे प्रतिदिन २-३ वार योनि का डूस करें। डूस करने से पूर्व औपधि कपाय को गरम कर लेना चाहिए—

अङ्कोल की छाल, कनेर की छाल, चमेली के पत्ते, एव अमलतास—इनको समभाग लेकर गोमूत्र मे पीसकर उसमे सेंधानमक मिलाकर कुछ गरम कर योनि मे रखने से वेदना तथा शोथ मे कमी आ जाती है। निम्न प्रक्षालन द्रव्य का प्रयोग योनिप्रदाह मे पर्याप्त लाभकारी होता है—

धवपत्र, कमलपत्र, सुरमा, मुलेठी, जामुन की गुठली, आम की गुठली, कसीस, लोध्र, कायफल, तिन्दुक फल, अनार की छाल, फिटकरी, गूलर का कच्चाफल—यह औपधि प्रत्येक १५-१५ ग्राम की मात्रा मे लेकर बकरी के दूध मे पीसकर लुगदी बनालें। तत्पश्चात काले तिल का तैल १ किलो, गाय का दूध १ किलो २५० ग्राम तथा उपर्युक्त लुगदी—सबको एकत्र कर मन्द आच पर तैल मात्र शेष रहने तक पकावें और छानकर बोतल मे भर ले। इस औपधि योग का योनि मे पिचकारी लगाकर अथवा फाहे की औपधि मे तर करके पिचु के रूप मे योनि के अन्दर रखना चाहिए। यदि इस औपधि तैल को पीठ एव कमर पर मर्दन किया जाय तो पर्याप्त लाभ की आशा की जाती है।

जीर्ण योनि प्रदाह मे—वड, गूलर, पीपल, पाकर, पारस पीपल और माजूफल के क्वाथ मे योनि प्रक्षालन कराना लाभकारी होता है।

आयुर्वेदीय आभ्यन्तरिक योग —

सारिवादि कषाय नित्य पिलायें अथवा गुग्गुलु [illegible] वटी चित्रक के क्वाथ से १-१ गोली प्रातः साय दें। प्रवालपिष्टी का प्रयोग लाभकारी होता है। शिलाजित्वादि (लौ० ७०)-२ ग्राम की मात्रा मे प्रातः साय जल के साथ दें। साथ ही भोजनोपरान्त अशोकारिष्ट २-४ चम्मच जल के साथ दें। १२ ग्राम आंवले का रस मिश्री मिलाकर पीने से योनिप्रदाह मे बहुत लाभ मिलता है। सूरजमुखी की जड को तण्डुलोदक के साथ पिलायें। विदारी कन्द, गोखरू, कास की जड, कुश की जड, मुनक्का, मुलहठी, आवला—इनका क्वाथ कर ठण्डा करलें और मिश्री मिलाकर पिलावें। इससे योनि स्थित शूल तथा दाह का शमन होता है।

जीर्ण योनिशोथ मे—वङ्ग भस्म १२० मि० ग्रा०, अडे के छिलके की भस्म १८० मि० ग्रा०, सुपारी पाक ६० मि० ग्रा०-सवको मिलाकर ३०० मिली० दूध के साथ प्रात साय दें। साथ ही गर्भाशय तथा योनि को शक्ति देने वाली औपधिया सेवन करावें।

आयुर्वेदिक पेटेण्ट औपधिया—

इन्जेक्शन —योनि की खुजली मे मञ्जीठ इन्जेक्शन (निर्माता—बुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक फार्मास्युटिकल एव आदर्श फार्मेसी)।

मात्रा—१ मिली० सप्ताह मे २ वार मासपेशीगत।

योनिशूल एव योनिप्रदाह मे—

(१) इन्द्रायण इन्जेक्शन—निर्माता—बुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक फार्मास्युटिकल, जी० ए० मिश्रा फार्मेसी, आदर्श एव ए० बी० एम० रिसर्च इन्स्टीट्यूट।

मात्रा—१-३ मिली० प्रतिदिन या सप्ताह मे ३-४ वार मास मे। तीव्र रोग की अवस्था मे शिरामार्ग से दें।

(२) इन्जेक्सन सूर्यमुखी—निर्माता—बुन्देलखण्ड फार्मेसी। मात्रा—१-३ मिली० प्रति दूसरे दिन त्वचा या मास मे।

नोट—स्त्री रोग के सम्बन्ध मे विस्तृत अध्ययन के लिए लेखक की "स्त्रीरोग चिकित्सा" नामक पुस्तक देखे।

✦✦✚✦✦

डिम्बनलिका शोथ

डा० जहान सिंह चौहान आयु० बृह०

पर्याय—डिम्ब प्रणाली प्रदाह, सालपिन्जाइटिस (Salpingitis), डिम्बवाहिनी शोथ, बीज वाहिनी शोथ।

रोग परिचय—यह बीज वाहिनियो का व्रण शोथ है। डिम्बनलिका अथवा बीजवाहिनी शोथ प्राय दोनों ओर होता है। साथ ही किसी न किसी प्रकार के उपसर्ग से होता है। प्राय इसके साथ बीज वाहिनिया तथा बीज ग्रन्थिया दोनो ही प्रभावित हो जाते है। इस स्थिति को "बीजवाहिनी-ग्रन्थि शोथ" कहते है। सामान्य रूप से बीजवाहिनी स्वतन्त्र रूप से शोथयुक्त नही होती है।

कारण—

इस रोग के पैदा करने मे गोनोकोकल, पायोजेनिक तथा ट्यूबरकूलर सक्रमण जन्य उपसर्ग विशेष महत्व रखते हैं। बीजवाहिनी मे जीवाणु सक्रमण निम्न मार्गों से होता है—

(१) ऊर्ध्वगतिक उपसर्ग द्वारा—इसे Upward Spread कहते हैं। यह उपसर्ग क्रमश ग्रीवा और गर्भाशय गात्र मे होता हुआ बीजवाहिनी मे पहुच जाता है। यह प्रधान रूप से गनोरिया अथवा प्रसव या गर्भपात के समय स्ट्रैप्टोकोकस जीवाणुओ से होता है। मासिकस्राव के समय का उपसर्ग बडी तीव्र गति से बढता है। इस प्रकार का उपसर्ग सामान्य रूप से बालिकाओ मे जननागो की भली प्रकार सफाई न होने, अत्यधिक मैले कुचैले वस्त्रो आदि के पहनने से होता है।

(२) अधोगतिक उपसर्ग द्वारा—यह उपसर्ग बी० कोलाई जीवाणुओ से होता है। यह विशेष रूप मे आन्त्रपुच्छ शोथ के कारण होता है। कभी-कभी यह उपसर्ग स्ट्रैप्टोकोकस जीवाणुओ के द्वारा भी हो सकता है।

(३) रक्तसचार द्वारा—युवा स्त्रियो मे यक्ष्मा का उपसर्ग सामान्य रूप से इसी माध्यम से होता है। इसमे उपसर्ग का प्राथमिक स्थान फेफडो मे होता है। ट्यूबरकुलर पेरीटोनाइटिस मे जल सचय होने से डिम्बवाहिनी के झल्लरित भाग से सक्रमण बीजवाहिनी मे पहुच जाता है जिससे वहा शोथ पैदा हो जाता है। टौन्सिलाइटिस मे रक्तप्रवाह से सक्रमण प्राय विरल ही होता है।

सक्रमण (सेप्टिक) जन्य रोग गर्भपात या प्रसूति के बाद होता है। गर्भपात और बच्चा पैदा होने पर गन्दे वस्त्र या गन्दे औजार आदि के प्रयोग से उसके जीवाणु अन्दर प्रवेश कर जाते है और जो अङ्ग कटे-फटे होते है उनमे सडाव तथा पकाव पैदा हो जाता है। इसी प्रकार यह कीटाणु इस नली (फैलोपियन ट्यूब) मे प्रवेश कर वहा शोथ पैदा कर देते है।

विकृति विज्ञान—डिम्ब नलिका मे उपसर्ग पहुचने पर डिम्बनलिका मोटी और लाल होजाती है। नलिका के भीतर की श्लेष्मकला भी लाल एव सूजन से प्रभावित हो जाती है। कभी-कभी उसके अन्दर का सिलिएटिड इपीथीलियम भी नष्ट हो जाता है जिसके कारण स्त्री बाझ हो जाती है। इसमे डिम्बवाहिनी का मुख बन्द हो जाता है। डिम्बवाहिनी के झल्लरित भाग मे शोथ होने से वहा की इपीथीलियम नष्ट होजाती है और शोथ से उत्पन्न स्राव के द्वारा डिम्बवाहिनी का अन्तिम भाग भी बन्द हो जाता है। मुख के अवरुद्ध होने से स्रावी शोथ से उत्पन्न स्राव वहा एकत्रित होने लगता है।

तीव्र स्वरूप के उपसर्ग मे स्रावी अवस्था पूयोत्पादन में बदल जाती है। इस प्रकार का विकार पूययुक्त सालपिंजाइटिस का रूप ले लेता है। इस अवस्था मे रोग उत्पादक जीवाणु गहराई मे पहुच जाते है। साथ ही वाहिनी की दीवाल मे सूजन पैदा कर देते हैं, जिसके

कारण पैरिटोनाइटिस पैदा हो जाती है। इसी प्रकार आगे चलकर पेरीटोनियल एढेसन पैदा कर देते है। पूय के उदरच्छदकला (पेरीटोनियम) मे पहुचने पर पेरीटोनियल विद्रधि पैदा हो जाती है। आगे चलकर वहा पर एक कडे पिण्ड का निर्माण हो जाता है। कुछ रुग्णाओ मे वाहिनी का अन्तर्भित्तिक भाग तथा झल्लरित भाग भी वन्द हो जाता हे जिसके कारण डिम्बवाहिनी नलिका मे पूय भर जाता है इसे पायोसालपिन्क्स कहते है। जव डिम्ववाहिनी का झल्लरित भाग वन्द हो जाता है तव ओवम डिम्बवाहिनी मे नही आपाता है जिससे स्त्री को गर्भ धारण नही होता है। ऐसी स्त्रिया वाझ हो जाती हे।

रोग के प्रकार—

(१) तीव्र श्लेष्मस्रावी डिम्बनलिका शोथ (Acute Catarrhal Salpingitis)

(२) तीव्र पूययुक्त डिम्बनलिका शोथ (Acute Suppurative Salpingitis)

(३) जीर्ण अन्तरालित डिम्बनलिका ग्रन्थि शोथ (Chronic-interstitial Salpingo oopheritis)।

(४) जल डिम्बनलिका शोथ (Hydrosalpinx)।

(५) पूय डिम्ब नलिका शोथ (Pyosalpinx)।

तीव्र डिम्बवाहिनी शोथ—

प्रारम्भ मे शीत लगकर वुखार आता है। रोगिणी की नाडी तीव्र तथा तापक्रम १०३ डि० फा० (३९-३९॥ डि० सेन्टीग्रेट) हो जाता हे। जीभ शुष्क हो जाती है, किसी-किसी को वमन होता है। रोग के प्रारम्भ होते ही स्त्री अपने को अस्वस्थ अनुभव करने लगती है। उसके पेट के निचले भाग मे तीव्र शूल होता है जो चलने फिरने से अत्यधिक वढ जाता है। पेडू के नीचे का भाग इतना सख्त हो जाता है कि छूने मात्र से ही वहा दर्द होने लगता है, आर्तव विकृति हो सकती है। आर्तवस्राव काफी मात्रा मे तथा देर तक कष्टपूर्ण होता है। योनि से पूय अथवा श्लेष्मल स्राव होता है। निचले उदर भाग को छूने तथा दवाने पर वह फूला हुआ, कडा (Rigid) स्पर्शासह्य(tender)होता है। मैथुन के समय पर्याप्त कष्ट।

निदान—

(१) स्पर्श परीक्षा—रोगिणी के उदर को दवाने से वह फूला हुआ सख्त तथा शूलयुक्त प्रतीत होता है।

(२) रक्त परीक्षा—श्वेतकणो की सख्या वढी हुई मिलती है। योनिस्राव की सवर्धन परीक्षा करने पर उपसर्ग का होना निश्चित होता है।

(३) योनि परीक्षा—१ परीक्षा करने पर योनि मे पूययुक्त स्राव मिलता है। २ ग्रीवा से पूययुक्त स्राव आसानी से देखा जा सकता हे। ३ योनि छत्रिकाओ (Fornices) को दवाने पर पीडा का अनुभव होता हे। ४ पोस्टीरियर फोरनिक्स को दवाने पर दर्द तथा स्पर्श तरग की प्रतीति मे श्रोणि-विद्रधि का अनुमान होता हे।

(४) रोगिणी का इतिवृत्त—१ रोग के कुछ दिन पूर्व गर्भपात या प्रसवकाल तो नही रहा है। इन दोनो का वीजग्रन्थिशोथ से पूर्व होना आवश्यक होता है। २ प्रसूति के समय कोई विदर तो नही हुआ है। ३ गर्भपात के लिये यन्त्रादि का तो कोई प्रयोग नही क्रिया गया है। प्रसव या गर्भपात के समय अन्दर रुका हुआ अपरा तथा गर्भ सम्वन्धी कुछ अश भी इस रोग को पैदा करने मे सहायक होते हे। इनसे उपसर्ग तीव्रगति से प्रसारित होता हे।

विद्रधि की अवस्था मे—रक्त परीक्षा करने पर श्वेत कणो की सख्या वढी हुई मिलती है। श्लेष्मायुक्त अतिसार विद्रधि की ओर इगित करता है।

साध्यासाध्यता—यदि रोग का निदान प्रारम्भिक अवस्था मे हो जाता है और चिकित्सा सल्फा ड्रग तथा एण्टीवायोटिक औपधियो से की जाती है तो रोग ठीक हो जाता है। विलम्व होने पर अगो को स्वाभाविक स्थिति मे लाना कठिन हो जाता है। जव रोग श्रोणि तक ही सीमित रहता है तव तक रोगी के प्राण वचाये जा सकते हे। जव रोग का विस्तार पेरीटोनियम (उदरावरण) तक हो जाता है तव रोगिणी की मृत्यु का भय रहता है।

जीर्ण डिम्वनलिका शोथ—

यह तीव्र शोथ की आनुषगिक व्याधि हे। जव तीव्र डिम्वनलिका शोथ पर्याप्त समय तक चलता रहता है और उसकी चिकित्सा नही की जाती तो वह जीर्ण रूप धारण कर लेता है अथवा उपसर्गहीन प्रकार का होने पर उसका समय पर निदान न होने से वह जीर्णरूप धारण

कर लेता है। इसमे लक्षण भी तीव्रस्वरूप के नही होते हैं। ज्वर नही होता है। इस दशा मे मासिक स्राव की अनियमितता, रक्तक्षय, निरन्तरशूल, मेटोरेजिया, रक्ताधिक्य जन्य कष्टार्तव, पृष्ठशूल, प्रदर एव वन्ध्यत्व आदि अस्वास्थ्यकर लक्षण होते है। इस अवस्था मे सबसे प्रमुख लक्षण निचले उदर मे अस्पष्टशूल जो निरन्तर होता रहता है मिलता है। ऐसी रोगिणी कटि प्रदेश मे भी शूल का अनुभव करती है।

यक्ष्माजन्य शोथ मे आर्तवादर्शन और ज्वर होते है। जीर्ण शोथ एक भयङ्कर व्याधि है क्योकि इसके परिणामस्वरूप वाहिनियो मे व्रण वस्तु वन जाती है जिससे मार्ग बन्द हो जाता है और स्त्री बीज (ओवम) का गर्भाशय मे आना रुक जाता है। बीजवाहिनी मुख बन्द हो जाने से जलसचयजन्य विस्तृति (Hydrosalpinx) एव पूयसचयजन्य विस्तृति (Pyosalpinx) पायी जाती है। योनि से श्वेत रग का स्राव होता रहता है, स्वास्थ्य गिर जाता है और रक्ताल्पता पायी जाती है।

सापेक्ष निदान—डिम्बनलिका शोथ को निम्न रोगो से प्रथक करना चाहिए—

[१] तीव्र उण्डुक-पुच्छ शोथ (Acute Appendicitis)

[२] तीव्र श्रोणिच्छद पाक या शोथ (Acute Pelvic Peritonitis)

[३] तीव्र वृक्कगोणिका शोथ (Acute Pyelitis)

[४] श्रोणिगर्भाशयान्तःकला अस्थानता (Pelvic endometriosis)

[५] त्रिपुटी पाक (Diverticulitis)

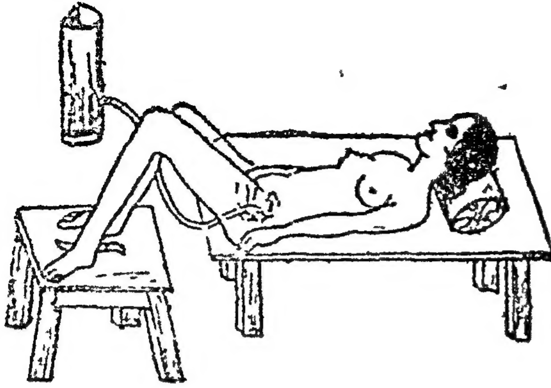
[६] मरोडयुक्त डिम्बपुटी (Twisted ovarian cyst)

इसमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण तीव्र डिम्बनलिका शोथ तथा तीव्र उण्डुकपुच्छ शोथ का अन्तर नीचे दिया जा रहा है—

तीव्र डिम्बवाहिनी शोथ	तीव्र उण्डुकपुच्छ शोथ
[१] इसमे उदर के निचले भाग मे दोनो ओर शूल मिलता तथा कठोरता भी मिलती है।	शूल प्रथम नाभि पर होता है, तत्पश्चात् दक्षिण वक्षण क्षेत्र मे होता है। इसी भाग मे कठोरता मिलती है।
[२] वमन या तो अल्प होता है अथवा बिल्कुल नही।	इसमे वमन एक निश्चित लक्षण है जो नाभि क्षेत्र मे दर्द उठने के पश्चात होता है।
[३] इसमे तापक्रम १०२-१०३ डि०फा० रहता है।	तापक्रम १०१ डि०फा० से अधिक नही जाता।
[४] नाडी की गति थोडी बढती है।	इसमे नाडी की गति बहुत अधिक हो जाती है।
[५] योनि परीक्षा मे दोनो पार्श्व को दबाने पर दर्द होता है।	योनि परीक्षा मे कुछ नही मिलता है।
[६] डिम्बवाहिनी क्षेत्र मे कुछ सूजन तथा स्पर्शासह्यता मिलती है।	कुछ नही।
[७] दक्षिण वक्षण खात मे अथवा उदर पर श्रोणिक विद्रधियो को छोडकर कोई सूजन नही मिलती है।	इसकी विद्रधि दक्षिण वक्षण खात मे स्पष्ट स्पर्श की जा सकती है।

औषधि चिकित्सा—

सक्रमण की तीव्रता घटाने के लिए जीवनीशक्ति तथा रोग निवारक शक्ति बढाने वाली औषधि व्यवस्था करनी चाहिए। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए–शिलाजतु, आरोग्यवर्धिनी, गन्धक रसायन, रसमाणिक्य, यशद भस्म, ताल भस्म, प्रवाल पिष्टी का मात्रानुसार प्रयोग करावें। साथ ही दशमूल क्वाथ, दशमूलारिष्ट, अशोकारिष्ट एव अभयारिष्ट का प्रयोग २० मिली० की मात्रा मे प्रतिदिन दिन मे दो वार करावें। कोष्ठशुद्धि के लिए मृदुविरेचक दे। अधिक दर्द की स्थिति मे नाभि के नीचे उष्णस्वेद, तिलकाष्टक का उपनाह सेक करे। डिम्बवाहिनी मे पूय का निदान होने पर पलाश क्षार का उपयोग करावें। उदर पर राई का लेप अथवा इसकी पुल्टिस बाधनी चाहिए। उदर पर तारपीन तेल अथवा धान की भुसी



उत्तर वस्ति

का सेंक करें। स्त्री को नाभि तक टब मे बैठाने से लाभ मिलता है। योनि पर बर्फ रखने से भी शान्ति मिलती है। गरम जल मे फिटकरी टङ्कण या बोरिक एसिड डालकर उत्तर बस्ति (ऊपर चित्र देखें) दें।

आधुनिक चिकित्सा —

रोगिणी को शय्या पर पूर्ण विश्राम देकर चिकित्सा करनी चाहिए। उसे पर्याप्त मात्रा मे तरल पदार्थ तथा क्षारीय मिश्रण आवश्यक होते हैं। रोग का निदान होने पर प्रारम्भ से ही पेनिसिलीन का विधिवत् प्रयोग कराना चाहिए। ग्रीवा और गर्भाशय से प्राप्त स्राव के सवर्धन (culture) से उपसर्ग के जीवाणुओ का निर्णय होने पर बी० कोलाई (B Coli) का उपसर्ग मिलने पर साथ मे सल्फाड्रग्स प्रयोग करना चाहिए। अथवा एम्पिसिलीन २५० मि० ग्रा० दिन मे ४ बार या ५ लाख यूनिट पेनिसिलीन + ० ५ ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन मासपेशीगत सूचीवेध द्वारा दिन मे २ बार ५ दिन तक देते रहना चाहिए। आवश्यकतानुसार एनाल्जेसिक तथा सेडेटिव औषधियों को उचित मात्रा मे दिया जा सकता है। साथ ही आंतों की शुद्धि के लिए मृदु विरेचक देते रहे। इस रोग मे आधुनिक चिकित्सक एनीमा प्रयोग उचित नही ठहराते है। वेदना शमन के लिए ऊपर बताये अनुसार एनाल्जेसिक औषधियों के साथ साथ उदर के निम्न भाग पर रबर की गरम पानी की थैलिया रखनी चाहिये।

तीव्र प्रकार के डिम्बनलिका शोथ की चिकित्सा मे शस्त्रकर्म नही करना चाहिये क्योकि इससे सक्रमण के प्रसार का भय रहता है।

रोग की जीर्णावस्था मे—शस्त्रकर्म द्वारा बीजवाहिनियो को अथवा बीजवाहिनी सहित बीज ग्रन्थियो को भी काटकर निकाल देना चाहिये। आवश्यकता पडने पर गर्भाशय का भी छेदन किया जा सकता है। यक्ष्मा-सह रोग की स्थिति मे यक्ष्मा की विशिष्ट औषधि चिकित्सा के साथ-साथ शस्त्र कर्म भी करना चाहिये।

यदि श्रोणि विद्रधि (पेल्विक एब्सिस) बन गई हो तो पूय का पूर्ण निर्हरण करने के लिये पश्चयोनि भित्ति छेदन करना चाहिये। आयुर्वेदीय चिकित्सा तीव्र डिम्बनलिकाशोथ के अनुरूप होती है।

डिम्बनलिका शोथनाशक आयुर्वेदीय पेटेण्ट औषधिया

इन्जेक्शन—(१) दुग्धप्रोटीन—इसके निर्माता-मार्तण्ड फार्मास्युटिकल्स, ए वी एम रिसर्च इन्स्टीट्यूट, सिद्धि फार्मेसी एव बुन्देलखण्ड आयु० फार्मास्युटिकल्स हैं।

मात्रा—२ मिली० प्रतिदिन या सप्ताह मे ३ बार मासपेशी गत्। ३ से ५ मिली० तक दिया जा सकता है। लडकियो मे—१ २ मिली० प्रतिदिन या १ दिन छोडकर।

(२) प्रदरारि—इसके निर्माता—मार्तण्ड, प्रताप फार्मा तथा आदर्श आयुर्वेदिक फार्मेसी।

मात्रा—२ मिली० मासपेशीगत १ दिन छोड कर दें।

विशेष—इसके साथ व १ दिन छोडकर 'विटासिल' का इन्जेक्शन देने से पर्याप्त लाभ की आशा की जानी चाहिए।

नोट—इन औषधियो के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये लेखक की "आयुर्वेद की पेटेण्ट औषधिया" नामक पुस्तक देखे। साथ ही स्त्री रोगो के सम्बन्ध मे जानकारी के लिये 'स्त्री रोग चिकित्सा' का अवलोकन करें।



मीरा प्रिन्टिङ्ग प्रेस, अलीगढ के आदेश से प्रतिभा प्रिन्टर्स, अलीगढ द्वारा मुद्रित।
प्रकाशक—निर्मल आयुर्वेद सस्थान, अलीगढ़।